शारीरक-विज्ञानम्

[हिन्दी-अनुवाद सहित]

प्रथम भाग

समीक्षाचक्रवर्तिविद्यावाचस्पति
पं. मधुसूदन ओझा जी

हिन्दी-अनुवादक
डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
रीडर, साहित्यविभाग
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी



राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

"शारीरक-विज्ञानम्"

(हिन्दी–अनुवाद सहित)

प्रथम भाग

समीक्षाचक्रवर्तिविद्यावाचस्पति
पं० मधुसूदन ओझा जी

हिन्दी–अनुवादक
डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
रीडर, साहित्यविभाग
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

प्रकाशक।

राजस्थान पत्रिका लिमिटेड
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरु मार्ग
जयपुर

संस्करण जनवरी 1990

मूल्य: 75/- पचहत्तर रुपये मात्र,

मुद्रक।

रसकपूर प्रिण्टर्स
दीनानाथजी का रास्ता,
जयपुर

प्रकाशकीय

वेद वाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा के "शारीरक विज्ञान" का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ मूल में दो भागों में प्रकाशित है। प्रथम भाग का अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है और द्वितीय भाग का अनुवाद कार्य चालू है। अनुवाद समाप्त होते ही शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित कर दिया जायेगा।

यह ग्रन्थ वेदान्त पर आधारित है। वेदान्त के नाम पर जो कुछ भी हम जानते हैं वह श्रीमद् शंकराचार्य के नाम से जानते हैं। ओझा जी का यह ग्रन्थ शंकर से दो कदम आगे साबित होगा। लेखक ने कई स्थानों पर शंकर के दृष्टिकोण को "साहस", "अतिसाहस" भी बताया है। यह हमारा दुर्भाग्य कहा जायेगा कि यह मूल्यवान ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया।

पं. मधुसूदन ओझा भारत में प्रचलित छः आस्तिक दर्शन शास्त्रों में तीन (न्याय, सांख्य और योग) को तो दर्शन ही नहीं मानते। वेदान्त और मीमांसा (पूर्व और उत्तर) को उन्होंने अवश्य दर्शन माना। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वेदान्त के साथ वेद विज्ञान की संगति बताई और शंकर के वेदान्त पर वहीं अंगुली उठाई जहां वेद विज्ञान के साथ उसकी संगति नहीं बैठती।

इस ग्रन्थ का अनुवाद और प्रकाशन अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। विशेषतः इसलिए कि ओझाजी महाराज की शैली को समझने वाले ही इक्के दुक्के मिल पाते है। संयोग से पं. शिवदत्त शर्मा का परिचय हुआ और उनके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। प. शिवदत्तजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत के साहित्य विभागाध्यक्ष हैं। वेद विज्ञान की शिक्षा उन्होंने अपने स्वनाम धन्य पिता महामहोपाध्याय पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी से प्राप्त की। उन्होंने अपने सेवाकार्य से दीर्घ अवकाश लेकर जयपुर में शारीरक विज्ञान का अनुवाद प्रारम्भ कर दिया जिसका मूर्त रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। इसको मैं महती उपलब्धि मानता हूं जो शर्माजी के सम्पर्क में आने से सम्भव हुई।

दर्शन शास्त्र एवं वेद के अध्येता के लिए ओझाजी की यह एक अमूल्य देन है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि विद्वज्जन इस ग्रन्थ के पारायण से अवश्य ही उपकृत होंगे। इसी आशा के साथ यह ग्रन्थ उन्हें समर्पित है।

क. च. कुलिश

पुरोवाक्

शारीरक–विज्ञान नामक दो भागों में पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ इस युग के ऋषिरूप महिमामण्डित समोक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझाजी महाराज की अनुपम ग्रन्थ-राशि में एक शीर्षस्थ कृति है। पूज्यपाद श्री ओझाजी महाराज ने किन परिस्थितियों में तथा किस परिवेश में अपने समग्र जीवन को वेद महासमुद्र के अवगाहन अन्वेषण में समर्पित किया और उसके फलस्वरूप कैसे दिव्य ग्रन्थों की रचना की इस बात का विशदीकरण अनेकत्र हो चुका है, जिनमें संस्कृत रत्नाकर पत्र का 'वेदांक', तथा अचिर प्रकाशित मेरे पुण्य श्लोक पितृचरण स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी द्वारा विरचित "मधुसूदनचरितामृत" नामक ग्रन्थ, परमादरणीय, वेद-विज्ञान मर्मज्ञ स्वनामधन्य श्री पं० मोतीलाल शास्त्रीजी द्वारा विरचित 'गुरु शिष्य संवाद, आदि अनेक सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं। यहां प्रासंगिक वक्तव्य यह है कि प्रस्थान त्रय नाम से प्रसिद्ध उपनिषद, श्रीमद्भगवद्गीता तथा वेदान्त सूत्र रूप जो वाङ्मय है, उस पर भी स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ रचना को श्री ओझाजी ने आवश्यक समझा और इन ग्रंथों पर अपनी लेखनी का सफल श्रम समर्पित किया।

वेदान्त सूत्रों पर भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य की भाष्य रचना के उपरान्त भाष्यों की एक परम्परा चली आ रही है उस शृंखला में 'शारीरक विज्ञान' नामक यह ग्रन्थ अपनी महनीय विशेषता धारण करता है।

यद्यपि अन्य भाष्यों के समान ही इस ग्रंथ पर भी शंकराचार्य के भाष्य का प्रभाव तो स्वाभाविक ही है, परन्तु अनेकत्र यह भी स्पष्ट हो रहा है कि श्री ओझाजी महाराज के इस ग्रंथ के बिना वेदान्त सूत्रों के अनेक स्थल अस्पष्ट रह जाते, अनेकत्र विपरीत अर्थ लिये जाते। इन्हीं दृष्टि भेद बिन्दुओं ने श्री ओझाजी महाराज को वेदान्त सूत्रों पर 'शारीरक विज्ञान" लिखने के लिए प्रेरित किया, यह स्पष्ट हो जाता है। हम 'शारीरक विज्ञान' के दूसरे भाग की भूमिका में श्री ओझाजी महाराज के द्वारा उद्भावित दृष्टि कोण का विशदता से विवेचन करने की चेष्टा करेंगे।

विगत अनेक वर्षों से श्री ओझा जी महाराज के द्वारा निर्मित साहित्य के विलुप्त होने का बड़ा भारी संकट सामने आ गया था। उनके मुद्रित ग्रन्थों का मिलना भी दुर्लभ हो गया था, अमुद्रित ग्रंथों की तो बात ही क्या। परन्तु जैसे विलुप्त होते हुए 'वेद विज्ञान'

को जगत् के संचालक ईश्वर ने ओझाजी महाराज को प्रकट कर विलुप्त होने से बचाया, वैसे ही उनके द्वारा विरचित अनुपम साहित्य के लुप्त होने का संकट जब उपस्थित हुआ, तब सर्व नियन्ता जगदीश्वर ने श्री कपूंरचन्दजी कुल्शि के हृदय में 'वेद विज्ञान' के स्नेह का अकुर डाला। श्रद्धास्पद श्रीमान् पंडित मोतीलाल जी शास्त्री महानुभाव के निकट सम्पर्क को प्राप्त करने वाले श्री कुलिश जी को सत्य का आभास हुआ और उन्हें लगा कि ज्ञान विज्ञान की यह अपार राशि लुप्त होने के कगार पर खड़ी है। उन्होंने सभी संस्कृत मर्मज्ञों का इसकी यथाशक्ति यथामति रक्षा के लिए आवाहन किया। वे स्वयं भी सर्वतो भावेन इस विद्या के मनन चिन्तन में परमानन्द का अनुभव करने में लग गए।

मैं काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के संस्कृत संकाय में अध्यापन कार्यरत हूं। मातृभूमि जयपुर में पारिवारिक प्रसंगवश आने पर श्री कुलिशजी का एक व्याख्यान सुनने का विश्वविद्यालय में अवसर मिला। उसके लिए मैंने जब अपने धन्यवाद उन्हें अर्पित किये, तब उन्होंने हमें भी कर्त्तव्य का बोध कराया कि इस वाङ्मय की रक्षा, प्रचार प्रसार में जो कुछ बन पड़े उसे करने का समय आ पहुंचा है। आवश्यकता इस बात की है कि श्री ओझा जी के ये अमूल्यग्रन्थ भाषान्तर के साथ मुद्रित करा दिये जायँ।मैंने अपने अनुवाद कार्य के लिए जब ग्रथों को देखना प्रारम्भ किया तो हिम्मत ही नहीं हुई कि किसी ग्रंथ का अनुवाद प्रारम्भ करूँ। क्योंकि ओझाजी महाराज के प्रस्थापित विषय अत्यन्त गहन गम्भीर है। मुझ जैसे अत्यन्त अल्पज्ञ व्यक्ति के लिए यह कार्य हाथ में लेना एक बड़ा साहस ही मैं समझ सका। परन्तु साथ ही यह भी लगा कि जिस ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा से यह कार्य उठाया गया है, वही शक्ति इसमें लगने वाले की प्रेरक भी अवश्य है। उसी का स्मरण कर यद्यपि यह विषय मेरे लिए कठिन अवश्य था तथापि पूज्यपाद श्री ओझाजी का ध्यान करते करते यह अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया गया और एक खण्ड का अनुवाद सहित मुद्रण प्रकाशित होकर आपके कर कमलों में जा रहा है।

इसके अनुवाद में अवश्य ही स्थान स्थान पर त्रुटियां और दुर्बलताएं स्वाभाविक रूप से विद्यमान मिलेंगी। उन सबके लिए मैं अवनत शिरसा क्षमा प्रार्थी हूं। श्रीमान् कर्पूर चन्दजी कुलिश महानुभाव को अपने हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूं कि मुझे उन्हें इस दिव्य अक्षर राशि के वर्ष व्यापी अवगाहन का अवसर देते हुए समस्त सुविधाएं तथा सर्वविध निश्चिन्तता दी।

इस महान् पुनीत कार्य में वर्ष भर मेरे साथ रहकर मेरे शिष्य श्री कलाधर पाण्डेय ने श्री कुलिश जी महोदय से निर्दिष्ट होकर लेखन तथा प्रेस के कार्य को सम्हाला अतः उसके प्रति शुभ कामना प्रकट करना अपना कर्तव्य मानता हूं। रसकपूर प्रिण्टर्स के संचालक भी सुरुचि पूर्ण मुद्रण को धैर्य से सम्पादित करने के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

वैदिक विज्ञान के नवयुग के लिए अपनी भक्ति भावना के साथ—

२२/६/८६

विनीत
शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

शारीरकविज्ञानम्

प्रथमो भागः

विषयावलिः

ॐ तत्सत्

अथ शारीरकविज्ञानम्

वेदान्तशारीरकसूत्राणां संक्षिप्तभाष्यम्

—○—

ब्रह्मशास्त्रार्थमीमांसासूत्राणां मधुसूदनः ।
संक्षिप्तार्थं निबध्नाति वेदार्थप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।
२. जन्माद्यस्य यतः
३. शास्त्रयोनित्वात् ।
४. तत्तु समन्वयात् । (ब्र. सू. १।१-४)

श्रुतं तावच्छान्दोग्य-बृहदारण्यक-तैत्तिरीय-कौषीतकैतरेय-कठ-माण्डूक्य-मुण्डक-प्रश्न-श्वेताश्वतरादिकं ब्रह्मोपनिषद्वाक्यम् ।

श्रुतं च तत्र जगज्जन्मादिकारणत्वेन किञ्चिद् ब्रह्मतत्त्वम् । कपिलकणादादिभिस्तु पारोवर्यविद्भिर्विद्वद्भिरखिलस्यास्य जगतः कारणत्वेन प्रधानपरमाण्वादिकं नाना युक्तिभिरनुमायोपदिश्यते । विदितवेदितव्याश्च ते महर्षयः प्रसिद्ध्यन्ति । न तेषामनुमानं भ्रान्तं संभाव्यते । तस्मादिदमौपनिषदं ब्रह्मतत्त्वमपि किं तावत् सांख्यादियुक्तिप्रसिद्धं प्रधानादिकमेवेहोपनिषत्सु शब्दान्तरेणाख्यायते, अर्थान्तरं वा । अथवा किञ्चिदन्यदेवेदं ब्रह्मतत्त्वमुपासनार्थमिहोपदिश्यते नत्विदं जगत्कारणम्—इत्येवमनेकधा भवत्यत्र संशयः । संदिग्धार्थश्च वेदशब्दः श्रुतोऽप्यप्रतिपन्नः स्यात् ।

हिन्दी अनुवाद

卐 मंगलाचरण 卐

श्रीमधुसूदन ओझा ब्रह्मशास्त्रार्थमीमांसासूत्रों [या वेदान्तसूत्रों या शारीरक सूत्रों] का संक्षिप्त अर्थ लिखते हैं जिससे कि वेद के अर्थ का ज्ञान सुगम हो सके।

१. अब ब्रह्म की जिज्ञासा प्रारम्भ की जाती है।
२. जिससे जगत् की उत्पत्ति आदि है।
३. शास्त्रों का कारण होने से (ब्रह्म कारण है)
४. शास्त्र का प्रारम्भ समन्वय के लिए है।

१. छान्दोग्य, २. बृहदारण्यक, ३. तैत्तिरीय, ४. कौषीतक, ५. ऐतरेय, ६. कठ, ७. माण्डूक्य, ८. मुण्डक, ९. प्रश्न, १०. श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में ब्रह्म प्रतिपादक वाक्यों को हमने सुन लिया है। और वहीं कोई ब्रह्म नाम का तत्त्व जगत् के जन्म, स्थिति, और लय का कारण है, यह भी सुन लिया है। परावरज्ञ विद्वान् कपिलकणाद आदि के द्वारा प्रधान परमाणु आदि को अनुमानप्रमाण से अनेक युक्तिपुरस्सर जगत् के उत्पत्ति स्थिति लय का कारण बतलाया गया है। ये महर्षिगण विदित वेदितव्य रूप में पूज्य और प्रसिद्ध हैं। अतः उनके उपदिष्ट अनुमान में भ्रान्ति होने की कोई सम्भावना नहीं है। तब प्रश्न यह उठता है कि यह उपनिषदों में सुना गया ब्रह्मतत्व क्या सांख्य आदि दर्शनों की प्रतिपादनपद्धति में प्रयुक्त हुए प्रधान आदि का उपनिषदों में केवल नये शब्द से कथनमात्र ही है या यह ब्रह्मतत्त्व एक नया ही अर्थ प्रकट करता है। अथवा यह ब्रह्मतत्त्व उपनिषदों में उपासना के उदात्त उद्देश्य से उपदिष्ट हुआ है। इस ब्रह्मतत्त्व का जगत् के उत्पत्ति स्थिति और लय से कुछ भी लेना देना नहीं है। इस प्रकार के अनेक सन्देह [उक्त उपनिषदों के सन्दर्भों में ब्रह्म शब्द को सुनने पर] उपस्थित होते हैं। वेद के शब्द भी, सुनने के उपरान्त यदि अर्थ के विषय में बुद्धि में सन्देह ही पैदा करें [निश्चय न करा सकें] तो निष्प्रयोजन ही हो जाते हैं।

(१) अतःकारणात् तद् ब्रह्म--इत आरभ्य विशिष्य ज्ञातुमिष्यते। तत्र ब्रूमः।
(२) तदेवेह ब्रह्मतत्त्वं विवक्ष्यते यतोऽस्य विश्वस्य जन्मस्थितिभङ्गं भवति।
(३) उपनिषद्वाक्यरूपस्य शास्त्रस्य तत्तात्पर्य्येणैवार्थगमकत्वात्।
(४) तत्तु शास्त्रस्य जगत्कर्तृत्वे तात्पर्य्यं ब्रह्मणि समन्वयात् सिद्धम्।

दृश्यन्ते हि तानि सर्वाण्येवोपनिषद्वाक्यानि ब्रह्मण्येव सामञ्जस्येनान्वितानि न प्रधानादौ। प्रधानाननुगतकतिपयधर्मप्रतिपादकत्वात्। तस्मात् प्रधानादिभ्योऽर्थान्तरमिदं ब्रह्म जगतो जन्मादिकारणं विद्यात्॥

इसीलिए यहीं से प्रारम्भ करके इसी [उपनिषदुक्त] ब्रह्मतत्व पर विशेष विचार प्रासंगिक है—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" [ब्र सू०-१]। यहाँ हमारा कथन है कि ब्रह्म शब्द से वही तत्त्व अभिप्रेत है जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है। [ब्र०सू०१]

क्योंकि ब्रह्मतत्व के प्रतिपादन को उद्देश्य बनाकर ही उपनिषद् वाक्यरूप शास्त्र अपने अर्थ के प्रतिपादक हो रहे हैं। [ब्र० सू० २]। जगत् के उत्पत्ति आदि के रूप में ब्रह्मतत्व को उपस्थित या प्रस्तुत करना ही उपनिषदों का उद्देश्य है, यह बात [ब्रह्म में वाक्यों के] समन्वय से सिद्ध होती रही है। [ब्र० सू० ४]। उपनिषदों के सभी वाक्य ब्रह्मतत्व में ही पूर्ण समन्वित होते हुए दिखाई दे रहे हैं, सांख्योक्त प्रधान आदि तत्वों में उनका समन्वय दिखाई नहीं देता क्योंकि [ब्रह्मतत्व में] कतिपय ऐसे धर्म भी प्रतिपादित हैं जो सांख्योक्त प्रधान नाम के तत्व में नहीं हैं। इसलिए समझना चाहिए कि [सांख्य आदि में प्रतिपादित] प्रधान आदि तत्वों से विलक्षण अथवा पृथक् ब्रह्मतत्त्व जगत् के उत्पत्ति स्थिति और लय के कारण के रूप में उपनिषदों में कहा गया है।

अपर आह। श्रुतं तावद्वेदान्तोपनिषच्छास्त्रम्। अथातः परमेतद् ब्रह्म तटस्थ–लक्षणतः स्वरूपलक्षणतश्च विज्ञातुमपेक्षामहे। यतोऽस्य विश्वस्य जन्मस्थितिभङ्गं तत्रोपनिषच्छास्त्रे प्रतिज्ञातम्। जगज्जन्मादेरेव प्रतिपाद्यतयोपनिषच्छास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्मतटस्थलक्षणनिरूपणपरतयैव हि सर्वेषां वेदान्तानामुदयात्। ननूपनिषद्भ्य एवास्य तटस्थलक्षणं विज्ञातमिति न तदर्था जिज्ञासाऽवकल्पते—इति चेन्न। तत्तु जगज्जन्मादिकर्तृत्वं ब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां समन्वयात् सिद्धं भवेत्। न तु तथैतान्युपनिषद्वाक्यानि सर्वाणि ब्रह्मण्येव समन्वितानि दृश्यन्ते। उपनिषत्स्वेव क्वचिदन्नात् क्वचिद्वा प्राणादाकाशाज्ज्योतिषो विज्ञानादानन्दान्महतोऽक्षरादन्यतश्चान्यतश्चैतस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गमुपदिष्टं दृश्यते। सांख्यादयश्चान्ये तन्त्रकारा अनेकधाऽस्मिन् जगत्कारणे विप्रवदन्ते। तस्मात् संशयोत्पत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थं सर्वेषां कारणवाक्यानां परस्परैकवाक्यतया समन्वयार्थं चोत्तिष्ठते ब्रह्मयाथार्थ्यजिज्ञासा। अत आवश्यकोऽयं ब्रह्मकारणता–विचारारम्भः।

एक अन्य मतानुसार इस सूत्रसन्दर्भ पर कुछ भिन्न विचार इस प्रकार है। यहां से आगे ब्रह्म के स्वरूप को हम स्वरूपलक्षण तथा तटस्थ लक्षण दोनों से जानने की अपेक्षा रखते हैं। जिससे विश्व की जन्म स्थिति और लय है, वह ब्रह्म है ऐसा उपनिषद् शास्त्र में प्रतिज्ञावाक्य मिलता है। जगत् का जन्मादि ही प्रतिपादन का विषय होने के कारण उपनिषद् वाक्यों का मूल कारण है। ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को बतलाने के लिए ही सारे वेदान्तों की रचना हुई है। यहां प्रश्न होता है कि उपनिषदों के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का ज्ञान हो चुका तब अन्य तटस्थ लक्षण द्वारा ब्रह्म के ज्ञान की इच्छा का होना तर्कशून्य हो जाता है, फिर अन्य वेदान्तरचनाओं की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि ब्रह्म लक्षण के उपनिषदों के द्वारा ज्ञात हो जाने पर भी उपनिषद् के वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मतत्त्व में ही समन्वय होता है, इस विषय को सिद्ध करने के लिए ब्रह्मसूत्र प्रभृति वेदान्तरचनाओं की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। वेदान्तसूत्रों के बिना उपनिषदों के सारे वेदान्तवाक्य ब्रह्म में ही समन्वित नहीं देखे जाते। उपनिषदों में ही कहीं जगत् का जन्म अन्न से कहीं प्राण से कहीं

आकाश से कहीं ज्योति से, कहीं विज्ञान से, कहीं आनन्द से, कहीं महान् से. कहीं अक्षर से, तथा अन्य से भी प्रतिपादित देखा गया है। यही बात जगत् के स्थिति और लय के विषय में भी है। सांख्य आदि अन्य शास्त्रकार जगत् के जन्म आदि के इस विवरण में परस्पर भिन्न मत उपस्थित करते देखे जा रहे हैं। अतः इस विषय पर अनेक कोटियों वाले सन्देह के उपस्थित हो जाने के कारण उसके निराकरण के लिए तथा जगत् की उत्पत्ति स्थिति लय का कारण बतलाने वाले वाक्यों की संगति समझाने के लिए ब्रह्म की यथार्थ जिज्ञासा होती है, अतः (ब्रह्मसूत्र रचनारूपी) इस ब्रह्मकारणता का विचार आरम्भ किया जा रहा है।

अपर आह । आरभ्यमाणेऽस्मिन् शास्त्रे आदित एव ब्रह्म ज्ञातुमिष्यते । न त्वन्यदारभ्य किञ्चित् तत्सम्बन्धेन ब्रह्मेह निरूप्यते । स्वतन्त्रं हीदं शास्त्रं ब्रह्मविज्ञानपरम् । तत्र ब्रूमः । ब्रह्मशब्देन तदुच्यते यतोऽस्य सर्वस्य जन्मस्थितिभङ्गं भवति । विज्ञानं हि ब्रह्म । विज्ञानादेवैतानि सर्वाणि जायन्ते, तिष्ठन्ति, संतिष्ठन्ते च । तत्र ननु कथं विज्ञानस्य कारणत्वम्-इति चेत्-शास्त्रयोनित्वादिति ब्रूमः । विज्ञानं हि शास्त्राणां योनिः । विज्ञानादेव हि सर्वाणि शास्त्राणि प्रभवन्ति । कथमवगम्यते इति चेद्-ब्रूमः तत्तु समन्वयादवगम्यते । विज्ञानसमन्वितान्येतानि शास्त्राणि दृश्यन्ते । नाविज्ञाता अर्था अत्रोल्लिख्यन्ते । तद्यथा तन्तुभ्य उत्पादितात्पटात् तन्तवो लभ्यन्ते, एवं विज्ञानत उत्पादिताच्छास्त्राद्विज्ञानान्युपलभ्यन्ते । विज्ञानजनितत्वाद्विज्ञानप्रभवत्वाच्च विज्ञानमयान्येतानि शास्त्राणि । अपि च शास्त्रयोनेरस्य विज्ञानस्य जगज्जन्मादिहेतुत्वमपि सर्वस्यास्य जगतो विज्ञानसमन्वयादेव लभ्यते । तदित्थं विज्ञानस्य शास्त्रयोनित्वाज्जगति च सर्वत्र समन्वयात्सर्वजनकत्वमुपपद्यते । अत्रायमभिसन्धिः । यः कश्चिदेव किञ्चित्क्वचित् कुरुते, स सर्वं तत् प्रागध्यवस्यति । अवश्यं च स कंचिदर्थं केनचिद्रूपेण पश्यति । सोऽयमस्याध्यवसायोऽर्थसाक्षात्करो वा विज्ञानसमन्वितो मनस्याकूयमानः शब्दसंघः । स एव च लिप्यादिभिर्बहिरिव नीयमानोऽन्येषामपि विज्ञानसाधनं भूत्वा शास्त्रमुच्यते । न च शास्त्रमुद्बुद्धमनुद्बुद्धं वा सर्वथानाकलयन् कश्चिदपि किञ्चित्कुरुते । अवश्यं चेदं स्वतः संभूयमानं जगज्जातमपि केनचिच्चेतनेन पुरुषेण किञ्चित्साक्षात्कृत्यैवाध्यवसायैव च विनिर्मितं विनिर्मीयते चेति प्रतीयते । प्रेक्षापूर्वकारित्वात् सर्वेषामर्थानाम् । तस्यायमध्यवसायोऽर्थः साक्षात्कारो वा भवेदेव सर्वविज्ञानसमन्वितं शास्त्रम् । यथा चेदं शास्त्रं तथा तदविरुद्धमेव च बहिरर्थसृष्टिर्भवतीति कृत्वा तदिदं विज्ञानं स्वसमन्वयेन शास्त्रं जनयित्वा विज्ञानसमन्वितमपि सर्वं बहिरर्थं जनयतीति लभ्यते । तेनास्य विज्ञानस्य सर्वजनकत्वमुपपद्यते । विज्ञानं च ब्रह्म । तस्माद् ब्रह्मैवेदं जगज्जन्मादिकारणमिति सिद्धम् ।

उपर्युक्त सूत्रों के विचार के सन्दर्भ में एक अन्य मत इस प्रकार उपस्थित होता है कि जिस ब्रह्मसूत्र शास्त्र की रचना का प्रारम्भ किया जा रहा है उसमें प्रारम्भ से ही ब्रह्म का ज्ञान ही अभीष्ट है। ऐसा नहीं है कि किसी अन्य विषय का प्रारम्भ करके उससे सम्बद्ध ब्रह्मतत्व का निरूपण किया जा रहा हो। यह ब्रह्म विज्ञान का एक स्वतन्त्र ही शास्त्र है। इस पर हमारा कहना है कि ब्रह्म उसे कहते हैं जिससे जगत् की उत्पत्ति स्थिति

श्रौर लय होता है। वह ब्रह्म विज्ञान ही है क्योंकि विज्ञान से ही यह सब कुछ उत्पन्न स्थित श्रौर लीन होता है। यदि यह प्रश्न हो कि इस सबका कारण विज्ञान कैसे है तो हमारा उत्तर होगा कि शास्त्र के कथन से। क्योंकि शास्त्रों का कारण विज्ञान ही है, विज्ञान से ही सारे शास्त्र उत्पन्न होते हैं। यह बात कैसे मालूम हुई? उत्तर में कहा जाएगा कि समन्वय की प्रक्रिया से विज्ञान में ही सारे शास्त्र समन्वित देखे जाते हैं। श्रभिज्ञात श्रर्थों का उल्लेख शास्त्रों में नहीं होता। तब जैसे तन्तुश्रों से उत्पादित वस्त्र से पुन: तन्तुश्रों का ग्रहण किया जाता है, वैसे ही विज्ञान के द्वारा उत्पादित शास्त्रों से विज्ञानों का लाभ प्राप्त किया जाता है. विज्ञान से समुत्पन्न होने के कारण तथा विज्ञान को उत्पन्न करने के कारण ये सभी शास्त्र विज्ञानमय हैं। पुनश्च शास्त्रों के उत्पन्न करने वाले इस विज्ञान को जगत् के जन्म श्रादि की कारणता भी विज्ञान के समन्वय से ही समझ में श्राती है।

उपर्युक्त सूत्रों के विचार के सन्दर्भ में एक श्रन्य मत इस प्रकार उपस्थित होता है कि उपनिषद् के वेदान्तवाक्यों के द्वारा शास्त्र के श्रवण के उपरान्त हम ब्रह्म को तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण से जानने की श्रपेक्षा रखते हैं। ब्रह्मतत्व के विषय में उपनिषद् वाक्यों की यह प्रतिज्ञा है कि ब्रह्मतत्व जगत् की उत्पत्ति स्थिति श्रौर लय का कारण है। क्योंकि जगत् के जन्मादि का प्रतिपादन ही उपनिषद्रूपी महाशास्त्र का प्रेरक है। ब्रह्मतत्त्व का तटस्थ लक्षण बतलाने के लिए ही सभी वेदान्तों की रचना मानी गई है।

इस प्रकार विज्ञान ही शास्त्र का कारण है श्रौर वही जगत् में भी सर्वत्र समन्वित है। श्रत: विज्ञान की सर्वजनकता सिद्ध होती है। यहां रहस्य यह है कि कोई भी कुछ भी करने से पूर्व उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, श्रवश्य ही वह किसी श्रर्थ को किसी रूप में देख रहा है यह ज्ञान या निश्चय विज्ञान से समन्वित होकर ही मनमें घूमने वाला शब्दों का समुदाय है। श्रौर वही लिपि श्रादि के माध्यम से बाहर प्रकट होता हुश्रा सा विज्ञान का साधन बनता हुश्रा शास्त्र शब्द से कहा जाता है। प्रकट या श्रप्रकट शास्त्र को या ज्ञान का बिना ध्यान में लिए कोई भी कुछ भी नहीं करता। श्रवश्य ही यह स्वत: समुत्पन्न जगत्समूह किसी चेतन पुरुष के द्वारा कुछ साक्षात्कार के उपरान्त ही निश्चय पूर्वक रचित तथा रचना की प्रक्रिया में है ऐसा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि संसार के सारे श्रर्थ विचारपूर्वक प्रतीत हो रहे हैं। उस पुरुष का यह ज्ञान श्रौर निश्चय श्रथवा साक्षात्कार सारे विज्ञानों से समन्वित शास्त्र है। इस प्रकार यह शास्त्र तथा उससे श्रविरुद्ध बाहर की सारी श्रर्थसृष्टि विज्ञानमय हो रही है यह मानकर इस विज्ञान का समन्वय करते हुए शास्त्रों की रचना, विज्ञान से समन्वित श्रर्थों के भी बाहर के श्रर्थों के रूप से यह सिद्ध करती है। इसलिए इस विज्ञान की सर्वजनकता भी सिद्ध होती है। विज्ञान ही ब्रह्म है। इसीलिए ब्रह्म ही जगत् की स्थिति श्रौर लय का कारण है यह सिद्ध होता है।

श्रपर श्राह। श्रुतं तावद्वेदशास्त्रम्। श्रुतं च तत्र जगत्कारणतया ब्रह्म नाम। श्रथातो हेतोर्ब्रह्मजिज्ञासा भवति यतो हेतोरस्य ब्रह्मणोऽन्यस्मात्कुतश्चिज्जन्मादि श्रूयते।

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।"

इत्यादि । आदि शब्देनाविज्ञेयत्वमनिर्वचनीयत्वम् ।

"यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् । यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितमिति ।"

शास्त्रयोनित्वं च तत्राख्यायते ।

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।"

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" इत्यादि ।

एतेन ब्रह्मविद्याशास्त्रस्य योनिर्ब्रह्मोदितं भवति ।
"ब्रह्मविद्यया हि सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते ।"

इति श्रुतिस्तु सर्वस्यैतस्यार्थजातस्य ब्रह्मविद्ययोत्पत्तिमाचष्टे, तेन ब्रह्मविद्या सर्वस्य योनिरुदिता भवति । तथा च नैतन्निर्धार्यते । ब्रह्मशब्दोऽयमनिर्वचनीयार्थवचनो वा जगद्वचनो वा, वेदशास्त्रवचनो वा, कारणवचनो वा, कार्यवचनो वेति । ततोऽयं ब्रह्ममीमांसावतारः क्रियते । ब्रह्ममीमांसायां तु तद् ब्रह्म वा तद्ब्रह्मविषयं संदिग्धवचनं वा समन्वयादुपपादयिष्यामः ।

[उक्त चार सूत्रों के सन्दर्भ में उपर्युक्त अर्थों के उपर्युक्त तात्पर्यार्थों के अतिरिक्त] एक अन्य मत है कि वेद और शास्त्रों का श्रवण हो चुका है । उनमें जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म के नाम का भी श्रवण हो चुका है इसी हेतु से ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा होती है, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य से भी जगत् की उत्पत्ति आदि सुनी गई है--

"जो सर्वज्ञ है सर्ववेत्ता है जिसका तप ज्ञानमय है उससे इस ब्रह्म नाम तथा रूप की उत्पत्ति होती है ।"--इत्यादि ।

जन्मादि में आदि शब्द से जगत् के कारण का अविज्ञेयत्व तथा अनिर्वचनीयत्व कथित हो रहा है ।

"यदि तुमने तिनके को भी भलीभाँति समझ लिया तब निश्चय ही तुम ब्रह्म का भी रूप जान गए । इसके विषय में तुम्हारा इससे सम्बन्ध तथा देवों में इसकी व्याप्ति का जो विवरण करने योग्य है हमें निश्चय है कि उसे भी तुम जान गए ।"

इसी सन्दर्भ में शास्त्रप्रतिपादित होना भी स्पष्ट होता है ।

"देवों में सबसे पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ जो कि विश्वकर्ता और भुवन का रक्षक है। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को सारी विद्याओं की मूल ब्रह्मविद्या का अध्यापन किया।"

"इस महान् भूत के ही निश्वास हैं, ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्वाङ्गिरस" इत्यादि। इस सन्दर्भ से ब्रह्मविद्या शास्त्र का कारण ब्रह्म को बतलाया गया है।

"ब्रह्म विद्या से सभी को उत्पन्न माना जाता है।" इस श्रुति के द्वारा तो समस्त अर्थसमूह ब्रह्मविद्या से उत्पन्न है, यह कहा गया, तथा ब्रह्मविद्या सबका कारण है, यह सिद्धान्तित किया गया परन्तु इसका निर्धारण या निश्चय नहीं होता कि यह ब्रह्म शब्द क्या ऐसे अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है जो अनिर्वचनीय है, अथवा ब्रह्म का अर्थ जगत् है, अथवा ब्रह्म का अर्थ वेद और शास्त्र है, या ब्रह्म शब्द से कारण को बतलाया जाता है या ब्रह्म शब्द कार्य का वाचक है। ब्रह्म शब्द के अर्थ के विषय में इन सन्देहों के कारण ब्रह्म की जिज्ञासा होती है और इसीलिए ब्रह्म शब्द के अर्थ की मीमांसा प्रारम्भ की जाती है, ब्रह्म मीमांसा में तो वह ब्रह्म, उस ब्रह्म का विषय, उसमें उपस्थित होने वाले सन्देह के शब्द आदि का समन्वय करते हुए युक्तियों से समझाया जाएगा।

अपर आह। अथातः परं ब्रह्म निरूप्यते। यतः खल्वाद्यस्य सर्वप्रथमोत्पन्नस्य जन्म भवति तद्ब्रह्म। नाना धारा हीयं सृष्टिः। कस्यांचिद्धारायां—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

इति सर्वतः प्रथमं हिरण्यगर्भः प्रजायते, य एते द्यावापृथिवी अन्तर्धत्ते। स ईश्वरः सर्वेषामुत्तरेषां जन्यजातानां जनको, यतो जन्यते तद् ब्रह्म, स परमेश्वरः।

अपरस्याम्—प्राणः प्रथमं भूत्वा, ततो रयिस्ततः सर्वं प्रजायते। स सर्वेषां जनकः प्राणो यतो जायते, तद्ब्रह्म। स प्रजापतिः स आत्मा।

अपरस्याम्—तेजःप्रथमं भूत्वा, तत आपस्ततोऽन्नं तत एतत्सर्वमिति क्रमः। तत्रेदमाद्यं तेजो यतो जायते तद्ब्रह्म तत्सत्। स आत्मा॥

एवमेतासु नाना धारासु सर्वत्रैवाद्यस्य यतो जन्मोपपद्यते, तद्ब्रह्म। ननु तत्प्रधानमपि संभवति, न ब्रह्मैवेति चेन्न। शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रमिति वेदवचनः शब्दः इह श्वेताश्वतराणामुपनिषदि श्रूयते—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।" इति।

तदेतेनाद्यपुरुषस्य जनकस्य वेदप्रभवत्वमाख्यायते। न च प्रधानं वेदानां प्रभवः संभवति, तस्य जडत्वात्। वेदानां तु विज्ञानमयत्वात्। ननु कथमस्य परब्रह्मणो वेदप्रभवत्वम्, कथं वाऽस्मै हिरण्यगर्भाय ब्रह्मणे तत्प्रदानं संभवति। परब्रह्मणो विज्ञान—

मयरूपत्वेन निष्क्रियतया वेदजननायोगात् । हिरण्यगर्भस्याद्यशरीरिणोऽप्यनेन निष्क्रियेण जननायोगादिति चेन्न । तत्तु समन्वयात् प्रतिपत्तव्यम् । अव्ययमक्षरं क्षरमिति हि त्रेधा विवर्तते ब्रह्म । तत्र विज्ञानमयमेतदव्ययं परब्रह्म खल्वक्षरे कर्ममयमूर्तौ हिरण्यगर्भे समन्वेति, कर्ममयेऽस्मिन्नक्षरे हिरण्यगर्भे ब्रह्मणि विज्ञानसमन्वयात् । तत्र यावद्विज्ञानं प्रस्फुरति स वेद इति व्यपदिश्यते ।। वेदाख्यविज्ञानप्रवर्तितश्चायमक्षरप्राणो यथा यथा कामयते, तपस्तप्यते, श्राम्यति वा, तथा तथा प्रजायते । यद्यत्र विज्ञानं न समन्वियात् स र्तह् कर्ममयः प्राणः स्वतो न प्रवर्तेत ।। प्रवृत्तं वा न विज्ञानं विना सम्यक् संदृब्धं कर्म-कुर्यात् । दृश्यते चेदं विज्ञानानुमोदितं सुष्ठु संदृब्धं सर्वम् । तस्मात् सर्वासामपि सृष्टिधाराणां विज्ञानसमन्वितत्वदर्शनादस्य विज्ञानस्यैव सर्वजगत्कारणत्वं प्रतिपद्यामहे ।।५।।

उक्त चारों सूत्रों की व्याख्या के सन्दर्भ में दूसरा एक मत इस प्रकार है कि अब यहाँ से आगे ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। जिससे सर्वप्रथम उत्पन्न आदि-तत्व का जन्म होता है वह ब्रह्म है । यह सृष्टि अनेक धाराओं वाली है, किसी धारा में—"सभी भूतों के पूर्व उन सबका एक स्वामी प्रादूर्भूत हुआ । उसने इस द्यावा पृथ्वी को धारणकर पृथ्वी को धारण किया, अब हम हवि से किस देवता का पूजन करें-" इस मन्त्र के द्वारा हिरण्यगर्भ की सबसे पहले उत्पन्न होने की घोषणा की गई है, जो कि हिरण्यगर्भ द्यावा और पृथ्वी को अपने भीतर रखे हुए है। वह हिरण्यगर्भ ईश्वर ही है जो कि आगे के उत्पन्न होने वाले सभी तत्वों का जनक है। जिससे जगत् उत्पन्न हो वही ब्रह्म है और वही परमेश्वर है ।

[यह सृष्टि की एक धारा का विवरण हुआ]

दूसरी धारा में 'प्राण' के सर्वप्रथम उत्पन्न होने का विवरण मिलता है । उससे 'रयि' नायक तत्व की उत्पत्ति बतलाई जाती है । तदनन्तर प्राण तथा रयि से समस्त चतुर्दश भुवनात्मक प्रपञ्च उत्पन्न होता है। इस धारा में प्राण तत्व को उत्पन्न करने वाला तत्व ही ब्रह्म कहा गया । वही प्रजापति है और वही आत्मा शब्द से भी कहा जाता है ।

सृष्टि की तृतीय धारा के विवरण में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला तत्व तेज नामक है, उससे आप तत्व, उससे अन्न तत्व और तब इनसे समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है। इस धारा में आदि में समुत्पन्न तेज नामक तत्व को प्रादूर्भूत करने वाला ब्रह्म है, सत् है, वह आत्मा है ।

इस प्रकार इन अनेक सृष्टिधाराओं में यह सर्वत्र देखा जा रहा है कि आदि तत्व को उत्पन्न करने वाले की ही ब्रह्म संज्ञा है। प्रश्न होता है कि आदि तत्व को उत्पन्न करने वाले की संज्ञा के विषय में सांख्योक्त प्रधान शब्द का व्यवहार क्यों न किया जाय उसे ब्रह्म क्यों न कहा जाय! इसका उत्तर है कि शास्त्र को यही अभिमत है । यहां शास्त्र शब्द वेद के लिए है। श्वेताश्वतर, उपनिषद् में सुना जाता है कि-"जो सबसे पहले ब्रह्मा

को उत्पन्न करता है और जो उसके लिए वेद का उपदेश करता है उस आत्मा और बुद्धि को प्रकाश पहुँचाने वाले देवता की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।"

इस मन्त्र के द्वारा सर्वजनक आदिपुरुष का वेद का उत्पादक होना कथित हुआ । सांख्योक्त प्रधानतत्व वेदों का उत्पादक नहीं हो सकता, क्योंकि वह जड है, और वेद विज्ञानमय है । प्रश्न होता है कि जिसे ब्रह्म कहा जा रहा है, वह वेद का उत्पादक कैसे हो सकता है, तथा उसने हिरण्यगर्भ को वेदों का उपदेश कैसे दिया ? क्योंकि परब्रह्म का स्वरूप विज्ञानमय होने के कारण वह क्रिया रहित है, उससे वेदों का उत्पादन कैसे सम्भव है । इस प्रश्न पर यह प्रतिप्रश्न नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार तो शरीरधारी हिरण्यगर्भ का ब्रह्म के द्वारा उत्पादन किया जाना भी सम्भव नहीं रह जाता । "समन्वय से" यह उत्तर दे दिया जाता है । ब्रह्म के तीन विवर्त होते हैं–अव्यय, अक्षर, क्षर । यह जो विज्ञानमय परब्रह्म है वही अव्यय है, वह कर्ममय मूर्तिवाले हिरण्यगर्भ में समन्वित होता है, वही अक्षर है । इस प्रकार विज्ञानमय परब्रह्म का समन्वय कर्ममय इस अक्षर हिरण्यगर्भ में हो रहा हे । वहाँ जितने अंश में विज्ञान प्रस्फुरित हो रहा है उसे वेद कहते हैं । वेद नामक विज्ञान से प्रचलित होता हुआ यह अक्षर प्राण जैसे-जैसे कामना करता है, तप करता है, श्रान्त होता है वैसे-वैसे सृष्टि की प्रक्रिया चलती जाती है । यदि वहाँ विज्ञान का समन्वय न हो तो वह कर्ममय प्राण स्वतः प्रचलित नहीं होगा । अथवा प्रचलित होने पर भी विज्ञान के अभाव में सम्यक् प्रकार से सम्बद्ध कार्य नहीं करेगा । हमें दिखाई दे रहा है कि दृश्य जगत् में सब कुछ विज्ञान से समर्थित तथा नियमबद्ध चल रहा है । अतः सभी, सृष्टिधाराओं का विज्ञान में ही समन्वय दिखाई देने के कारण विज्ञान ही समस्त जगत् का कारण है, यह हमारा निश्चय है ।

१. ईक्षतेर्ना शब्दम् ।
२. गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।
३. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।
४. हेयत्वावचनाच्च ।
५. स्वाप्ययात् ।
६. गतिसामान्यात् ।
७. श्रुतत्वाच्च (१।५-११)

ननु शब्दप्रमाणरूपो वेदस्तावद् विज्ञानमयस्याव्ययपुरुषस्य जगत्कारणत्वमाचष्टे इति प्रतिपादयन्त्यौपनिषदाः । सांख्यतन्त्रे तु प्रधानस्याव्यक्तस्य जगत्कारणत्वमाख्यायते । स एष विरोधः कथं परिहर्तव्य इति चेत् तत्र ब्रूमः ।

ईक्षतेर्ना शब्दम् ।

शब्दप्रमाणका वयम् । यदस्माकं शब्द आह तत् प्रमाणम् । तद्विरुद्धं सर्वमप्रमाणं प्रतिजानीमहे । शब्दः–शास्त्रं–वेदः । वेदे तावच्चेतनस्य कस्यचिज्जगत्स्रष्टृत्वमाख्यायते, न जडस्य । जगत्स्रष्टुः सृष्टेः प्रागीक्षतेः श्रवणात् । एवं हि श्रूयते—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत—बहुस्यां प्रजायेय । तत्तेजोऽसृजत"—

इति छान्दोग्यश्रुतिः ।

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ऐक्षत—लोकान्नु सृजै इति । स इमांल्लोकानसृजत ।"

इति ऐतरेयश्रुतिः । षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह—

"स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत । प्राणाच्छ्रद्धाम् । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम् । मनोऽन्नम् । अन्नाद्वीर्य्यं तपो मन्त्राः कर्मलोकाः लोकेषु नाम चेति"–प्रश्नाथर्वणश्रुतिः ।

तदित्थं सर्वेषामुत्पत्तिवाक्यानामैकरूप्येण समन्वयाच्चेतनद्रव्यस्य जगदुपादानत्वं शास्त्रोक्तमस्तीत्यवगच्छामः । अत एव च प्रधानादेरचेतनद्रव्यस्य जगदुपादानत्वमशास्त्रोक्तत्वान्नाभ्युपगच्छामः ॥१॥

१. ईक्षण के कारण वह चेतन है, वह शब्द प्रमाण के बाहर नहीं है [१–५]

२. गौण प्रयोग नहीं हैं वहां, आत्मा शब्द के कारण [१–६]

३. उसमें निष्ठावाले को मोक्ष का उपदेश होने से वह चेतन है [१–७]

४. चेतन की हेयता नहीं कही गई है [१–८]

५. उसी में लय होने से वह चेतन है [१–९]

६. सभी की गति वहीं बतलाना भी हेतु है।[१-१०]

७. श्रुति में सुना जाने से भी चेतन ही हेतु है [१-११]

शब्दप्रमाणरूपी वेद विज्ञानमय अव्यय-पुरुष को जगत् का कारणकहता है, यह उपनिषद के ऋषियों का प्रतिपादन है। सांख्यदर्शन की प्रक्रिया में तो अव्यक्त प्रधान को जगत् का कारण बतलाया जा रहा है, [वेद में अव्यय पुरुष और सांख्य में प्रधान के जगत् को कारण बतलाये जाने में विरोध उपस्थित हो रहा है,]

[पूर्व मत में चेतन को जगत् कारण माना जाता है तथा दूसरे मत में प्रधान को, जड़ को जगत् का कारण बतलाया जाता है] उसका समाधान क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर सुनिये—'इक्षतेर्नाशब्दम्" ।

हम शब्द प्रमाण पर चलने वाले हैं, शब्द हमें जो कुछ कहता है, हम उसे ही सन्देह रहित होकर स्वीकार करते हैं या प्रमाण मानते हैं । उसके विरुद्ध जो भी कुछ है उसको

अप्रमाण मानते हैं, यहाँ शब्द का अर्थ शास्त्र या वेद है । वेद में किसी चेतन को जगत् का कारण कहा गया है न कि जड़ को, क्योंकि सृष्टि के पहले जगत् के स्रष्टा ने ईक्षण किया [स ऐक्षत] यह वेद का कथन है । मन्त्र [मन्त्रार्थ] इस प्रकार है-"हे सौम्य यह सृष्टि प्रारम्भ से सत् ही है [इसका जो कारण है वह सर्वदा] सत्तावान् एक और अद्वितीय है। उसने ईक्षण किया [सोचा] कि मैं बहुतों में उत्पन्न होऊं," [छन्दोग्य उपनिषद्] ।

"निश्चय ही आदि में एक मात्र आत्मा ही था और कुछ भी अस्तित्व में नहीं था। उसने ईक्षण [विचार] किया कि लोकों को उत्पन्न करूँ । उसने इन लोकों की सृष्टि की ।" (ऐतरेय उपनिषद्) षोडश कला वाले पुरुष के वर्णन प्रसग में कहा गया है कि, "उसने ईक्षण किया, उसने प्राणतत्व उत्पन्न किया, प्राण से श्रद्धा उत्पन्न की, फिर आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी. इन्द्रिय, मन, अन्न उत्पन्न किये, अन्न से वीर्य, उससे मन्त्र, कर्म, लोक और लोकों के नाम उत्पन्न किये" [प्रश्नाथर्वणश्रुति] इस प्रकार जगत् को उत्पत्ति का विवरण देने वाले सभी वेद वाक्यों का समन्वय एक ही रूप में मिल रहा है और उनसे चेतन द्रव्य ही जगत् का उपादानकारण शास्त्रों में बतलाया गया है, यह हमारी समझ में आ जाता है । और इसीलिए सांख्यादि-दर्शनों में प्रतिपादित जो प्रधान आदि अचेतन हैं, उनको जगत् का उपादान कारण हम नहीं मानते ।

ननु तत्रैव छान्दोग्यश्रुतौ—

"तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त"—

इत्यचेतनयोरेवाप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात् सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते । लोकेऽपि प्रत्यासन्नपतनतां कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तथैवायं प्रत्यासन्नसर्गे प्रधाने गौणश्चेतनवदुपचारो भविष्यति । तस्माज्जगदुपादानद्रव्यस्य चेतनत्वं शास्त्राभिप्रेतमस्तीति नाभ्युपगन्तुं शक्यम् ।

इति चेन्नैतदस्ति आत्मशब्दात् ।

"सेयं देवतैक्षत । हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—

इत्येवं तत्रोत्तरवाक्ये प्रकृतस्य तस्येक्षितुः सद्द्रव्यस्यात्मशब्देन जीवत्वेनाभिधानात् चेतनस्यैव सतो जगत्कारणत्वावगमात् । जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता प्रसिद्धः । आत्मा हि नाम स्वरूपम् । स कथमयं चेतनो जीवस्तस्य प्रधानस्याचेतनस्य स्वरूपं भवितुमर्हति ।

प्रश्न होता है कि छन्दोग्य उपनिषद् में-"उसने तेज देखा, उसने जल देखा" इस सन्दर्भ वाक्य में अचेतन तेज और जल का चेतन के समान गौण अर्थ में व्यवहार दिखाई दे रहा है। अतः सत् का ईक्षण भी गौण अर्थ ही है यह प्रतीत हो रहा है । लौकिक व्यवहार में भी जर्जर नदी तट भाग के लिए, "यह तट [किनारा] गिरना चाहता है

जैसे वाक्यों में औपचारिक प्रयोग देखा जा रहा है उसी प्रकार उपनिषद् में भी यह सृष्टि की आरम्भिक अवस्था में मूल प्रकृति में जड़ होते हुए भी चेतन का औपचारिक व्यवहार सम्भव हो जाएगा। और इस प्रकार समस्त जगत् के उपादानकारणरूप द्रव्य का चेतन ही होना शास्त्र को अभीष्ट है, यह सिद्धान्त आदरणीय नहीं रह जाता। इस सन्देह के निवारण के लिए कहा गया–"आत्मशब्दात्"।

"इस देवता ने ईक्षण किया मैं इस जीव के द्वारा इन तीन देवताओं में प्रविष्ट होकर नाम तथा रूप का पृथक्-पृथक् संविधान करूं"। इस प्रकार वहीं आगे के वाक्य में उसी सत्तावान् द्रष्टा का आत्मा शब्द से जीव रूप में कथन हुआ है, अतः जगत् का कारण चेतन ही है यह शब्द प्रमाण से निश्चित हो जाता है। जीव चेतन ही है जो कि शरीर का अध्यक्ष है और यह भी प्रसिद्ध ही है कि वह जीव ही प्राणों को धारण करता है। अपने स्वरूप का नाम ही आत्मा है। इतना सब सामने आ जाने पर यह कैसे माना जा सकता है कि यह जीव उस अचेतन प्रधान तत्व का स्वरूप है।

किञ्च––अपरथा व्याख्यायते।

गौणश्चेन्न, आत्मशब्दात्॥ "स य एषोऽणिमा––ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।"

इत्युपसंहारवाक्ये प्रकृतं सदेवात्मशब्देनोपदिश्य चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेन परिचाययति "तत्त्वमसीति।" तस्माद तेजसोर्नामरूपव्याकरणादौ प्रयोज्यत्वेन निर्दिष्टयोर्विषयत्वादचेतनत्वे संभवत्यपि सतस्तस्यात्मशब्दोपपन्नस्य मूलकारणस्यायमीक्षकत्वनिर्देशो नास्ति गौण इति प्रतिपद्यामहे। अप्तेजसोरपि चैतत्सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेदमीक्षितृत्वमुच्यते–इति युक्तमुत्पश्यामः।

किञ्च––अपरथा व्याख्यायते––आत्मशब्दात्।

"यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गाः प्रतिष्ठेरन्, एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते।

"आत्मन एष प्राणो जायते"–"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।" "आत्मन एवेदं सर्वम्।"

इत्यादिषूत्पत्तिवाक्येष्वात्मशब्दं जगदुत्पादकद्रव्यं शृणुमः। आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम। तस्मादस्मिन् जगत्कारणे स ईक्षाव्यवहारश्चेतनत्वान्मुख्यो न गौण इति मन्तव्यम्॥

एक अन्य व्याख्या भी सामने आती है जो 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस सूत्र से सम्बद्ध है। उपनिषद् के "यह जो अणिमा है वही इस सब जगत् की आत्मा है, वह सत्य है। हे श्वेतकेतो, वह आत्मा तुम्हीं हो" इस उपसंहार वाक्य में प्रकरणागत सत् को ही आत्मा शब्द से कह कर चेतनता युक्त श्वेतकेतु का आत्मारूप से परिचय दिया गया,

और उस सन्दर्भ में 'तत्त्वमसि' यह 'महावाक्य' प्रादुर्भूत हुआ। अतः जल और तेज के ईक्षण का कथन करने वाले उपनिषद् वाक्य में नाम और रूप के व्याकरण (या सन्धि विग्रह करण) को ही मुख्य प्रयोजन बताते हुए उन स्थलों पर अचेतन के लिए चेतन व्यवहार को गौण प्रयोग मान लेने पर भी यहां आत्मा शब्द का प्रयोग मूल कारण के रूप में हो रहा है अतः वहां इसका प्रयोग गौण है इसकी कोई आशंका भी नहीं की जा सकती। [वह ईक्षण के द्वारा चेतना का उद्घोषक प्रयोग] गौण अर्थ में नहीं माना जा सकता। जल और तेज में भी जो चेतन धर्म ईक्षण का प्रयोग हुआ, वह भी इसी सद्रूप अभिव्याप्ति के कारण।

एक दूसरी व्याख्या के अनुसार [आत्मशब्दात्]–"जिस प्रकार जाज्वल्यमान अग्नि से सभी दिशाओं की ओर अग्नि के विस्फुलिङ्ग फैलते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सभी प्राण अपने-अपने आयतन की ओर फैलते हैं,-"

"आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है–"

"निश्चय ही उसी इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ,-"

"आत्मा से ही यह सब कुछ (उत्पन्न हुआ)" इत्यादि अनेक जगत् की उत्पत्ति के प्रतिपादक उपनिषद्वाक्यों में आत्मा-शब्द से जगत के उत्पादकरूप में द्रव्य ही श्रुत होता है। कहा ही जा चुका है कि आत्मा शब्द का अर्थ चेतन है। और इसीलिए जगत् के कारण के प्रतिपादक इन उपनिषद्वाक्यों में जगत् के कारण में इच्छा शब्द का जो व्यवहार हुआ वह जगत् के आदि कारण के चेतन होने के कारण मुख्य अर्थ ही है गौण अर्थ नहीं, यह मानना होगा।

ननु चायमचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः। आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्।

यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। एवं पुरुषात्मनो भोगापवर्गसंपादकत्वेनोपकारकेऽस्मिन् प्रधानेऽपि स्थाने स आत्मशब्दः स्यात्।

अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनविषयो भविष्यति भूतात्मेन्द्रियात्मेत्यादिप्रयोगवत्। तस्मादेतस्मादात्मशब्दादीक्षणव्यवहारस्य गौणत्वाभावः शक्य आस्थातुम् इति चेन्न।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्॥

श्रूयते हि—

"स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"—

इति मोक्षयितव्यस्य श्वेतकेतोस्तन्निष्ठामुपदिश्य —

"आचार्य्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य"—

इति मोक्षोपदेशः। यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं स्यात्तर्हि तत्त्वमसीत्युपदिशच्छास्त्रं मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति ग्राहयेत्। तदित्थमनर्थाय प्रवृत्तं शास्त्रमप्रमाणं स्यात्। तस्मादस्य मोक्षोपदेशस्याप्यन्यथानुपपत्त्या तस्मिन् सद्द्रव्येऽणिमन्ययमात्मशब्दो

नास्ति गौण इति प्रतिपद्यामहे। क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इत्येतावता यथेच्छं गौणत्वकल्पना नोपकल्पते, सर्वत्रानाश्वासप्रसंगात्। तस्मान्नाचेतनं प्रधानमस्य जगतः कारणं शास्त्रेणाभिप्रेयते इति सिद्धम्।

प्रश्न किया जाता है कि आत्मा शब्द तो अचेतन मूलप्रकृति या सांख्यदर्शनोक्त प्रधाननामक तत्व के लिए भी प्रयुक्त है क्योंकि सभी अर्थों का सम्पादन करने वाला आत्मा ही है। उदाहरणार्थ किसी राजा के अत्यन्तप्रिय सेवक का नाम भद्रसेन है, राजा उस सेवक को अपने लिए अत्यन्तप्रियता का शाब्दिकप्रकाशन "भद्रसेन मेरी आत्मा है" इस वाक्य के द्वारा करता है। उसी प्रकार पुरुष रूपी आत्मा के भोग तथा मोक्ष को सम्पन्न करने वाला होने के कारण अत्यन्त उपकारक इस मूलप्रकृति या प्रधान के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग उचित हो है।

यह भी सम्भव है कि एक ही आत्मा शब्द भूतात्मा, इन्द्रिय आत्मा आदि प्रयोगों में चेतन और अचेतन दोनों अर्थों का वाचक है, इसलिए इस आत्मा शब्द से ईक्षण का व्यवहार गौण नहीं है, यह नहीं माना जा सकता, यदि ऐसा कहें तो यह बात भी बनती नहीं। –"उसको निष्ठा रखने वाले को मोक्ष का उपदेश होता है। सुनते हैं कि–श्वेतकेतो तुम ही वह आत्मा हो"–इस तरह दया प्राप्त मोक्षणीय श्वेतकेतु को उसकी निष्ठा का उपदेश देने के उपरांत–"आचार्यवान् व्यक्ति ही जानता है, उसका वही विलम्ब है जब तक उसको मुक्ति नहीं मिलती, अब मिलेगी।"

इस प्रकार मोक्ष का उपदेश हुआ है। यदि अचेतन प्रधान सत् शब्द का वाच्य अर्थ होगा तब तो तुम वही हो यह उपदेश देने वाला शास्त्र वचन, जो मुमुक्षु पुरुष स्वयं चेतन है, उसे यह बतलाने लगेगा कि तुम अचेतन हो। और तब इस प्रकार अनर्थ में प्रवृत्त होने वाला शास्त्र प्रमाणरूप नहीं रह जायेगा। इसलिए मोक्ष के उपदेशक इस वाक्य में अन्य किसी भी अर्थ के संगत न होने के कारण उस अणिमा रूप सत् द्रव्य के लिए प्रयुक्त यह आत्मा शब्द गौण अर्थ को उपस्थित करने वाला नहीं माना जा सकता। आपने यदि कहीं किसी शब्द को अपने गौण अर्थ में प्रयुक्त देख लिया तो इसका अर्थ यह नहीं हो गया कि आप अपनी इच्छा से ही अन्य स्थलों पर भी गौण अर्थ ही है ऐसा आग्रह कर सकें। क्योंकि ऐसा होने पर तो सभी शब्दों के वाच्य अर्थों या मुख्य अर्थों पर से विश्वास उठ जायेगा, इसलिए उपनिषद वाक्यों का अभिप्राय या मुख्य अर्थ कभी भी अचेतन प्रधान तत्त्व को जगत् का कारण बतलाना नहीं माना जा सकता यह स्पष्ट हुआ।

हेयत्वावचनाच्च।

यदि ह्यचेतनं प्रधानमेवास्य जगतः कारणत्वेन शास्त्राभिप्रेतमभविष्यत्, तर्हि—

"स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो"—

इत्येवं चेतनद्रव्यस्य जगत्कारणत्वमादावाख्यायापि पश्चान्मुख्यमात्मानमचेतनमुपदिदिक्षुस्तस्य प्राङ्निर्दिष्टस्य चेतनद्रव्यात्मत्वस्य हेयत्वमवक्ष्यत्।

यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुरादौ तत्समीपस्थां स्थूलां तारामुख्यामरुन्धतीत्वेन ग्राहयित्वा तामथ प्रत्याख्याय वस्तुभूतामरुन्धतीमेव पश्चाद् ग्राहयति, तद्वदिहापि पूर्वोक्तं प्रत्याख्याय पश्चाद् याथार्थ्यमग्राहयिष्यत् ।

न तथा शास्त्रवाक्यं पश्यामः । तस्मान्नाचेतने प्रधाने शास्त्राभिप्रायो लभ्यते ।

–"और हेयत्व कथन के अभाव से" (ब्र.सू. १/८)

यदि अचेतन प्रधान या मूल प्रकृति ही जगत् के कारण के रूप में शास्त्र को अभीष्ट होती तो–"वह आत्मा" है, हे श्वेतकेतु, तुम वह हो ।"–इस प्रकार चेतन द्रव्य को प्रारम्भ में जगत् का कारण बतलाकर भी बाद में मुख्य अचेतन आत्मा के उपदेश करने की इच्छा से पूर्व निर्दिष्ट चेतन द्रव्य के आत्मा होने को त्याज्य बतला दिया गया होता । जैसे, अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारे को दिखलाने की विधि पूरी करने के लिए पहले आकाश में अरुन्धती के समीप में स्थित स्थूल तारा को, जो कि अमुख्य है, अरुन्धती के रूप में बतलाकर और बाद में उस स्थूल तारा के पास ही वास्तविक अरुन्धती का तारा स्थित है यह उसे बतलाया जाता है । उसी प्रकार यहाँ भी पहले चेतन को कारण बतलाकर बाद में उसे हेय कहा जाता, परन्तु शास्त्र में ऐसा नहीं मिलता । इसलिए अचेतन प्रधान को जगत् कारण मानने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है, यह सिद्ध होता है ।

।शास्त्रों में निगूढ़ तत्वों को हृदयङ्गम कराने के लिए विभिन्न शैलियों का उपयोग ऋषियों द्वारा किया गया है, उन्हीं में से एक शैली का नाम है "अभ्युपगम तथा अपवाद" विनीत छात्र और श्रोता की बुद्धि की सीमा को भलीभांति जानने वाला ऋषि यह जानता है कि इन लोगों को सर्वत्र व्याप्त अत्यन्त निगूढ़ आत्म तत्व का उपदेश हजम नहीं होगा । इसलिये कृपा के वशीभूत होकर ऋषि पहले श्रोता की अपनी अत्यन्त समीपस्थ नित्य परिचित वस्तु को उसके स्पष्ट रूप से जड़ होने पर भी समझाने की उत्सुकता में उस पर चेतन का आरोप करते हुए समझाता है । मुख्य अर्थ को छोड़कर गौण अर्थ में शब्द का प्रयोग करना सरलता से समझाने की एक शैली है, परन्तु इस शैली के प्रयोग काल पर्यन्त यह शैली गौण अर्थ प्रगट करने वाली शैली ही है, उसका अन्य प्रयोग अपने मुख्य अर्थ में ही है । केवल समझाने की शैली के रूप में हमने अचेतन पदार्थ में भी चेतना कहकर गौण प्रयोग द्वारा विषय को समझा दिया था, वह गौण अर्थ सीढ़ी ही बन सकता है मंजिल नहीं । यदि एक वाक्य के अचेतन को चेतन बताने वाले शब्दों के गौण अर्थ को ही प्रधानता दे दिए जाने का आग्रह अपनाया जाय तो उपनिषदों का जो वाक्य समूह स्पष्ट रूप से बिना गौणी लक्षण का आश्रय लिए मूल-तत्व को जड नहीं अपितु चेतन बतला रहा है उसकी संगति असम्भव है । जब सिद्धान्ततः जगत् का मूलकारण अचेतन नहीं चेतन है तब उस स्थिति में विनीत शिष्य और श्रोता को अत्यन्त निगूढ़ इस चेतन तत्व तक कैसे पहुंचाया जाय इस प्रयत्न में पहले अचेतन को भी चेतन कहकर ही समझाया जाता है । यह महान् आकाश ही जगत् का कारण

है, वायुदेव ही जगत् को बनाने वाले हैं, तेज या प्रकाश ने ही जगत् को बनाया है, जगत् का मूल उत्पादक अग्नि तत्व ही है, सबके आदि में स्थित होती हुई पृथ्वी ही समस्त जगत् का मूलकारण है—ये बातें उपनिषद् में ही कही गई हैं परन्तु अभ्युपगम शैली से कही गई हैं, अर्थात् असत्य को सत्य मानकर कही गई हैं, अचेतन पर चेतन को आरोपितकर कही गई हैं।

इस कथन शैली का उद्देश्य क्या है ? यही कि हम पृथ्वी, जल, तेज, और वायु, आकाश से सुपरिचित हैं, इनके द्वारा उत्पादित अनन्त वस्तुओं से समस्त ससार का जीवन प्रतिक्षण गतिमान है, तुम इन्हो पाँच चीजों को जगत् का कारण समझ लो। परन्तु यह समझे रहो कि अभ्युपगम के साथ अपवाद भी है। ये पाँचों महाभूत कभी भी ससार के मूलभूत कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ये मूलतः जड़ हैं। सांख्यदर्शन जड़ को ही संसार का मूलकारण मानता है। कारण को कार्यरूप में परिणत होने के लिए स्पन्दन या हलचल की अनिवार्य आवश्यकता है यह बात जड़ में कैसे हागी। स्पन्दन या हलचल तो चेतन से ही हो सकती है। सांख्यदर्शन इसके जवाब में तटस्थ चेतन पुरुष की प्रस्तुति करता है कि जड़ प्रकृति में अपना चैतन्य प्रतिबिम्ब डालने मात्र के लिए पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है। इस संयोग से जड़ प्रकृति का व्यवहार चेतन का ही हो जाता है और चेतन पुरुष का व्यवहार जड़ का सा हा जाता है। जैसे प्रकृति के अनन्त शरीर और रूप हैं वैसे चेतन पुरुष भी एक नहीं अनन्त हैं, यह कपिलमहर्षि द्वारा सांख्य दर्शन का द्वैत सिद्धान्त है। परन्तु वेदान्त दर्शन के सन्दर्भ में यह पहले ही समझ लेना पड़ता है कि साँख्य जहाँ द्वैतवादी है वहां वेदान्त में एक मात्र अद्वितीय चेतन को ही कारण बतलाने के कारण वह अद्वैतवादो है।]

प्रतिज्ञाविरोधोऽप्यन्यो हेतुश्चार्थः ॥

"उत तमादेशमप्राक्षोः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवति। इति। यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। सौम्य स आदेशो भवति।"

इत्येवं ग्रन्थेनोपक्रमे तावत् कारणविज्ञानात् सर्वं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञातम्। तद्विरोधः प्रसज्येत यदि प्रधानस्य कारणत्वमभ्युपगम्येत। अस्य हि प्रधानस्य सच्छब्देन जगत्कारणत्वेन च गृहीतस्य विज्ञानेन भोग्यवर्गे विज्ञातेऽपि भोक्तृवर्गस्याविज्ञातत्वादशेष-विज्ञानासंभवात्। नहि भोक्तृवर्गोऽपि भोग्यवर्गवत् प्रधानविकारोऽभ्युपगम्यते। तस्मात् प्रतिज्ञाविरोधप्रसङ्गादप्यचेतने प्रधाने शास्त्रतात्पर्य्यं नास्तीति प्रतिपद्यामहे।

इत्थमयं प्रतिज्ञाविरोधो नामान्यो हेतुश्चकारार्थत्वेन शंकरो भावयति। वस्तुतस्तु आत्मशब्दान्मोक्षोपदेशादवचनाच्चेति हेतुत्रयं गौणत्वाभावे क्लृप्तम्॥ स्वाप्ययादयस्तु पञ्चम्यन्ता ईक्षतिवदशब्दप्रतिषेधे हेतवः। इत्येवं प्रकरणविच्छेदार्थश्चकारो द्रष्टव्यः ॥९॥

इतीक्षत्यादिसूत्रचतुष्टयस्यैकं व्याख्यानम्॥

"हेयत्वावचनाच्च (ब्र० सू० १।८)"—इस सूत्र में चकार का अर्थ प्रतिज्ञा का विरोध भी अन्य हेतु है।

"क्या तुमने वह आदेश भी पूछा जिससे बिना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, अस्वीकृत भी स्वीकृत हो जाता है, भगवन् वह आदेश कैसा है. सौम्य, जैसे एक मृत्तिकापिण्ड के जान लेने पर मिट्टी से बना सभी कुछ ज्ञान में चला आता है, केवल वाणी का व्यवहार चलाने के लिए विकारों को अनेक नाम दे दिए जाते हैं, [घड़ा, कुल्हण, कप प्लेट दीवार, भवन, महल आदि आदि] मिट्टी से बने हुए पदार्थों का वास्तविक सत्य तो मृत्तिका ही होती है—हे सौम्य, आदेश इसी प्रकार होता है"।

इस प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ में विषय को प्रारम्भ करते समय कारण के ज्ञान से सभी कार्य पदार्थों का ज्ञान स्वतः हो जाता है, यह प्रतिज्ञा या सिद्धान्त स्थिर किया गया। यदि प्रधान नाम के तत्व को जगत् के कारण के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो इस प्रतिज्ञा का विरोध होता है। इस प्रधान तत्व को सत् शब्द से कथित मानकर और इसे जगत का कारण मानकर इसके विज्ञान से समस्त भोग्य पदार्थों के विज्ञात हो जाने पर भी समस्त भोक्ता वर्ग के अज्ञात ही रह जाने के कारण समस्त कार्य पदार्थों का ज्ञान असम्भव ही रह जाता है। ऐसा नहीं है कि जैसे समस्त भोग्य पदार्थ प्रकृति के विकार माने जाते हैं वैसे ही भोक्ता या पुरुष या आत्मा भी प्रकृति का विकार माना गया। तो इसलिए प्रतिज्ञात सिद्धान्त का विरोध होने के कारण भी अचेतन प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहने में उपनिषद् शास्त्र की रुचि नहीं है यह स्पष्ट हो रहा है।

उक्त सूत्र में जो "चकार" है उसका-ऊपर लिखा हुआ आशय श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य में बतलाया है। वास्तव में तो चेतन गौण नहीं है इस बात को बतलाने के लिए सूत्रों में पहले तीन हेतु दिए गये, उसके लिए आत्मा शब्द का प्रयोग होना, मोक्ष का उपदेश होना, तथा बाधित न होना। आगे के स्वाप्यय आदि जो पञ्चम्यन्त शब्द हैं वे ईक्षति आदि शब्द के द्वारा प्रतिषेध न किए जाने के कारण हैं। उक्त सूत्र का "च" शब्द यही अर्थ बतला रहा है।

अपर आह—ननु किं कारणं येन वेदस्यैव शब्दस्य शास्त्रत्वमभ्युपगम्य तत् प्रामाण्याद् विज्ञानस्याव्ययस्यैव जगत्कारणत्वमभ्युपगम्यते, न परेषां सांख्यादितन्त्राणां प्रामाण्यात् प्रधानादीनां जगत्कारणत्वं स्वीक्रियते, इति चेत् तत्र ब्रूमः।

ईक्षतेर्नाशब्दम् इति।

जगत्कारणपरीक्षकाणां तन्त्रकाराणां तन्त्रमिदं द्विविधं दृश्यते—शब्दप्रमाणकं तर्कमूलकं च। तत्राप्तवाक्यानां शब्दानां द्रष्टृवाक्यतया परानपेक्षत्वं स्वतःप्रमाणत्वात्। तद्विसंवादिनां तर्काणामनवसरदुःस्थानामप्रमाण्यमर्थसिद्धं भवति। अत एव च मीमांसकाः श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य दौर्बल्यमाचक्षते। "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्ब-

त्यमर्थविप्रकर्षात् स्यादिति ।" अत्रायमभिसन्धिः महर्षयस्तावदार्षदृष्ट्या पश्यन्तोऽचिन्त्या-नप्रत्यक्षानप्यर्थान् प्रत्यक्षवदाकलयन्ति । तथा चोक्तमभियुक्तैः—

"आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥ (वाक्यपदीये भर्तृहरिः) इति ।

अर्थसाक्षात्कर्तृत्वादाप्ता द्रष्टारो महर्षयः । तेषां वचनं शब्दः । तत् प्रमाणं प्रत्यक्षत्वात् । अद्रष्टारस्तु तर्केण प्रवर्तमाना अनुमानेनार्थानवधारयन्ति । तेषां प्रत्यक्षविरोधे सत्यप्रमाण्यं भवति प्रत्यक्षविरोधेन तर्कान्तरविरोधेन च तर्काप्रतिष्ठानात् । अत एवातीन्द्रि-यार्थप्रतिपत्तौ तर्कस्यानुपादेयत्वमाप्तोपदेशस्योपादेयत्वं च श्रूयते—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्कमणुप्रमाणात् ।
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।" इति ।
आप्तवाक्यं स्वतःप्रमाणम् । आप्तो दृष्ट्या तमर्थं प्राप्तः ।
"एतद्धि मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः"
इति श्रुत्या दृष्टौ सत्यताया लोकवेदोभयसिद्धत्वात् ।
द्रष्टुरप्रमत्तस्य वाक्ये प्रामाण्यमव्याहतं भवति । तस्माद् ब्रूमः—
"ईक्षतेर्नाशब्दम्" इति ।

ईक्षतिः प्रत्यक्षकरणम् । अशब्दम् आर्षदृष्ट्या साक्षात्कर्तृभिरनुपदिष्टम् । तत्रेक्षतेः सत्त्वे परशब्दं न प्रमाणम् । प्रत्यक्षविरोधे तर्कस्य दुर्बलत्वात् । नन्वार्षेण चक्षुषा दृष्टोऽर्थोऽयमचाक्षुषत्वाद् गौणः प्रत्यक्षः । न स तर्कसिद्धमर्थं बाधितुं शक्नोतीति चेन्न ।

आत्मशब्दात् ।

आत्मैवायं प्रत्यक्षभूतोऽर्थो जगत्कारणत्वेनेक्ष्यते इति । न चात्मा स कस्यचित् प्रत्यक्षो भवितुमर्हति ।

द्विविधं तावदिदं जगद्—आभ्यन्तरं बाह्यं च । मनोगतघटपटादयो भावा आभ्यन्तराः । शरीराद्बहिर्धा दृष्टा बाह्याः । तत्र प्रत्यक्षं तावदाभ्यन्तरेषु भावेष्वात्मनः कर्तृत्वं दृष्टम् । तेनैव हेतुना परजीवगतेष्वपि मानवभावेष्वात्मनः कर्तृत्वं संप्रतिपन्नम् । तत्सामान्याद्बाह्येष्वप्यर्थेषु परमात्मनः कर्तृत्वमर्थसिद्धं भवतीति नात्मभिन्नस्य प्रधानपर-माण्वादेः कर्तृत्वमभ्युपगन्तुं युज्यते ।

ननु बाह्यार्थजनकोऽयं कस्मादात्मा चेतनोऽभ्युपगम्यते । कस्माच्च नायं प्रधानादि-वदचेतनो बाह्यार्थकारणतया स्वीक्रियते इति चेत् तत्र ब्रूमः ।

"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।"

अमुष्मिन् परमात्मनि सपन्नस्य जीवात्मनो मोक्ष उपदिश्यते । तेन परमात्म-जीवात्मनोरभेदः सिद्धो भवति । तथा च जीवात्मनाऽऽभ्यन्तरार्थाः परमात्मना तु बाह्यार्थाः क्रियन्ते इत्यन्तत आत्मन एवैते सर्वे भावाः सृज्यन्ते इति सिद्धं भवति ।

ननु बाह्यार्थकारणनिष्ठस्य जीवात्मनो मोक्षोपदेशादेव नोभयोरभेदः शक्यो वक्तुम् । बाह्यार्थकारणस्य तस्य प्रधानादिवदनात्मत्वाभ्युपगमेऽपि बाह्याथकारणनिष्ठस्य मोक्षोपदेशसंभवादिति चेन्न —

"हेयत्वावचनाच्च" ।

बाह्यजगत्कारणभूतोऽर्थो यद्यात्मा नाभविष्यत् स तर्हि जीवात्मनो मोक्षदशायां हेयत्वेनोपदिष्टोऽभविष्यत् तत्सम्बद्धस्य जीवात्मनः कैवल्यानुपपत्तेः । तस्माद्बाह्यभावकारण-मप्यात्मैवास्तीति तस्य सर्वप्रत्यक्षसिद्धत्वादात्मभिन्नानां प्रधानादीनां जगत्कारणत्वं नास्तीति ब्रूमः, इत्यपरं व्याख्यानम् ।

उक्त वेदान्त सूत्रों की व्याख्या में दूसरा एक प्रकार यह भी है कि—क्या कारण है कि वैदिक शब्दों का ही शास्त्र मानकर उन्हीं के आधार पर विज्ञान स्वरूप अव्यय को ही आप सृष्टि का कारण मान रहे हैं । अन्य सांख्य आदि तन्त्रों को प्रमाण न मानकर उनमें प्रतिपादित प्रकृति आदि को आप जगत् का कारण नहीं मानते । इस प्रश्न का उत्तर है—"ईक्षतेर्नाशब्दम्"—

जगत् के कारण की परीक्षा करने वाले जो शास्त्रकार हैं, उनकी प्रतिपादन प्रक्रिया दो प्रकार की है– शब्द प्रमाण मूलक, दूसरी तर्क मूलक । इनमें यथार्थ वक्ताओं के वाक्य ही शब्द प्रमाण हैं । वे स्वयं देखकर कहे जाने के कारण अपनी यथार्थता के लिए अन्य किसी की आवश्यकता न रखने वाले स्वतः प्रमाण हैं । ऐसे तर्क जो शब्द प्रमाण के विरुद्ध हैं उनका इस सन्दर्भ में प्रयोग बिना अवसर के होने के कारण उनकी यहाँ स्थिति कष्टप्रद है । अतः बिना कहे भी ऐसे तर्क अप्रमाण हो जाते हैं । इस लिए मीमांसा के आचार्य, "श्रुति" की अपेक्षा "लिङ्ग" को दुर्बल मानते हैं—"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या-में आगे वाले दुर्बल हैं क्योंकि उनसे अर्थ का विप्रकर्ष है । यहां बतलाना यह है कि महर्षिगण ऋषि दृष्टि से देखते हुए अचिन्त्य अप्रत्यक्ष पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान जानते थे । विद्वानों का कथन है कि—

"जिनको प्रकाश प्राप्त है, जिनका चित्त चल प्रचल नहीं है उन्हें अतीत और अनागत का ज्ञान वैसे ही होता है जैसे प्रत्यक्ष का । वे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न करने योग्य तथा अज्ञेय तत्वों को ही ऋषि दृष्टि से देख लेते हैं । ऐसे लोगों के वचन अनुमान या तर्क से बाधित नहीं किये जा सकते" [भर्तृहरि–वाक्यपदीय] ।

अर्थ का साक्षात्कार करने के कारण इन महर्षियों को द्रष्टा कहा जाता है । ये ही आप्त पुरुष हैं । शब्दप्रमाण संज्ञा इन्हीं के वचनों के लिए है । प्रत्यक्ष होने

के कारण ही वह प्रमाण है । जो द्रष्टा नहीं है वे तर्क को व्यवहार में लाते हुए अनुमान प्रमाण के माध्यम से पदार्थों का निश्चय प्राप्त करते हैं । उनका यह अनुमान या तक जब प्रत्यक्ष के विरुद्ध होता है तब वह अपदार्थ हो जाता है, क्योंकि एक तो वहां प्रत्यक्ष से ही विरोध हो गया दूसरे अन्य तर्क या अनुमान से प्रस्तुत तर्क या अनुमान खण्डित हो गया । इसीलिए अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए केवल तर्क उपादेय नहीं है और केवल आप्तोपदेश उपादेय है ऐसा सुना जाता है—

"जो अचिन्त्य पदार्थ हैं उनके ज्ञान के लिए केवल तर्क का प्रयोग न किया जाय, अचिन्त्य का लक्षण है कि जो प्रकृति से परे है वह अचिन्त्य है ।"

"यह ऋषि प्रोक्त अप्रमेय अचिन्त्य तत्त्व अवर कोटि के मनुष्य के द्वारा अनेकधा विचार करने पर भी सुविज्ञेय नहीं है । इसके विषय में मन्त्रोपनिषदों के अतिरिक्त यह तत्त्व अणोरणीयान् या परम अणुप्रमाण वाला, साथ ही महतोमहीयान् है । अतः इसको बुद्धिस्थ करने के लिए अनुमान या तर्क असन्दिग्ध रूप से साथ नहीं दे सकता, अथवा इस तत्व को हृदयङ्गम कराने के लिए तर्क या अनुमान बहुत छोटा पड़ता है ।"

"संसार के मूल परमतत्व को समझाने के लिए मन्त्र और उपनिषदों के द्वारा मिली हुई बुद्धि का तर्क के द्वारा अपलाप या दूरीकरण कभी नहीं किया जाना चाहिए । वह अन्य के द्वारा प्रोक्त होकर ही सुज्ञान देता है" ।

आप्त वाक्य स्वयं प्रमाण माने गए हैं, क्योंकि आप्त पुरुष ने उस तत्व को प्रत्यक्ष आंख से देखा है । आँख से देखे जाने वाली वस्तु लोक और वेद दोनों में सत्य मानी गई है । श्रुति वचन है कि—

"मनुष्य के शरीर में जो चक्षु है वही उसमें सत्य निहित है ।"

यदि देखने वाला पुरुष पागल नहीं है, या प्रमादग्रस्त नहीं है, तो उसकी देखी हुई वस्तु का वर्णन उस विषय में प्रमाण ही होगा, इसलिए सूत्रकार कहते हैं—

"इक्षतेर्नाशब्दम्"

ईक्षति का अर्थ है आँख से देखना, 'अशब्दम्' का अर्थ है ऋषि दृष्टि से देखने वालों के द्वारा जो उपदिष्ट नहीं है । यहाँ जब प्रत्यक्ष दर्शन उपस्थित है, तब उसके विपरीत इन ऋषि शब्दों से अप्रतिपादित जो भी कोई विचार है वह असन्दिग्ध नहीं है, क्योंकि जब आंख से दिखाई देने में और तर्क में विरोधउपस्थित होता है, तब तर्क को पराजित होना पड़ता है ।

प्रश्न होता है, कि ऋषि दृष्टि से देखा हुआ यह अर्थ प्राकृतिक नेत्रों से देखा हुआ न होने के कारण गौणरूप से ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता है । [मुख्य रूप से प्रत्यक्ष तो उसे कहा जाएगा जो प्राकृतिक नेत्रों से देखने वालों को दिखाई दे, जिसको देखने के लिए ऋषि दृष्टि तथा वैज्ञानिक यन्त्रों का साहचर्य अपेक्षित होता है, वह प्रत्यक्ष होने पर भी गौण रूप से ही प्रत्यक्ष कहा जा सकेगा । ऐसा गौण प्रत्यक्ष जिन शब्दों से अभिव्यक्त

होता है, वे शब्द अनुमान या तर्क से सिद्ध होने वाले विचार को बाधित नहीं कर सकेंगे, इस सन्देह के निवारण के लिए अग्रिम सूत्र उपदिष्ट होता है, "आत्मशब्दात्" ।] यह आत्मा ही वह प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ है जिसे जगत् के कारण के रूप में देखा गया है और वह आत्मा किसी को भी आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे सकता । यह जगत् दो प्रकार का है एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य । मनोगत जो नाना पदार्थ हैं वे आन्तरिक जगत् में हैं, शरीर से बाहर दिखाई देने वाले पदार्थ बाह्य जगत् के हैं । इनमें आन्तरिक जगत् के पदार्थों का कर्ता आत्मा ही दिखाई दे रहा है । इसी हेतु से अपने शरीर से अन्य शरीर में जो आन्तरिक पदार्थ हैं उनका कर्ता भी आत्मा ही है । इसी सामान्य रीति से बाह्य पदार्थों का कर्ता भी परमात्मा ही है, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर, आत्मा से भिन्न मूलप्रकृति या परमाणु आदि को जगत् का कर्ता मानना युक्ति सिद्ध नहीं है ।

प्रश्न होता है कि चेतन आत्म तत्त्व को बाह्य जगत् का कर्ता क्यों माना जाता है ? क्यों नहीं प्रकृति आदि अचेतन को बाह्य जगत् का कर्ता मान लिया जाता ? उसका उत्तर सूत्रद्वारा है कि—"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्"–[१/७] इस परमात्मा में सम्पन्न होने वाले जीवात्मा को मोक्ष का उपदेश दिया जाता है । इससे परमात्मा और जीवात्मा दोनों में अभेद है यह सिद्ध होता है । पुनश्च जीवात्मा के द्वारा आन्तरिक जगत् का निर्माण तथा परमात्मा के द्वारा बाह्य जगत् का निर्माण किया जाता है । अतः अन्ततः आत्मा के द्वारा ही ये सारे पदार्थ निर्मित होते हैं यह सिद्ध होता है । पुनः सन्देह होता है कि बाह्य जगत् के कारण स्वरूप परमात्मा में स्थित जीवात्मा को मोक्ष का उपदेश दे दिये जाने मात्र से ये दोनों अभिन्न हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता । [दोनों के भिन्न-भिन्न रहने पर भी मोक्ष का उपदेश युक्ति युक्त ठहरता है] बाह्य जगत् के कारण तत्व को प्रकृति की तरह जड़ मान लेने पर भी बाह्य जगत् के कारण में स्थित जीवात्मा का मोक्ष का उपदेश दिया जाना सम्भव हो जाता है । इस संदेह के निराकरणार्थ अग्रिम सूत्र है–"हेयत्वावचनाच्च" [१/८"] ।

बाह्य जगत् का कारण यदि आत्मा न होता तो उसे जीवात्मा की मोक्ष दशा के लिए हेय रूप बतलाया गया होता और उससे सम्बद्ध होते हुए जीवात्मा की मोक्ष में स्थिति न बनती । इसलिए बाह्य जगत् का कारण भी आत्मा ही है और वह सभी को प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः आत्मा से भिन्न प्रकृति आदि जगत् का कारण नहीं है । यह दूसरी व्याख्या हुई ।

अथ यथा खल्वीक्षतेर्नाशब्दमित्युक्तं तथैव स्वाप्ययान्नाशब्दमिति प्रतीयात् ।

"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा संपन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्वं ह्यपीतो भवतीत्येताभ्याम्" ।

स्वापस्थितिस्वापपदनिर्वचनपराभ्यां वाक्याभ्यां सतः स्वशब्दवाच्यत्वमभिधाय तत्राप्ययः श्राव्यते । स्वशब्दश्च जीवे विज्ञानात्मनि लोके प्रसिद्धः ।

विज्ञानमयश्चात्मा चेतनः प्रतिपद्यते। तथा चास्मिन् चेतनेऽप्ययश्रवणाच्चेतना-देवात्मनः सृष्टिर्वक्तव्या। सांख्यमते तु प्रधानादचेतनात्सृष्ट्यभ्युपगमेन तत्रैवाचेतनेऽप्ययो नियम्यते। तथा च स्वाप्ययश्रुतिः सांख्यमते विरुद्धा भवति। तस्मान्नाशब्दं प्रधानं जगत्कारणमिति ब्रूमः।

जैसे–"ईक्षतेर्नाशब्दम्" कहा गया वैसे ही "वाप्ययान्ताशब्दम्" ऐसा समझना चाहिये।

–"जहां यह पुरुष शयन करता है, हे सौम्य, तब यह सत् से सम्पन्न होता है यह अपने पास जाता है, इसलिये उस अवस्था में स्वपिति कहा जाता है, क्योंकि यह स्वयं के समीप जाता है"–इन दोनों स्वप्न को स्थितियों को "स्वाप" शब्द से बतलाने वाले वाक्यों के द्वारा सत् को ही स्व शब्द का वाच्य अर्थ कहकर उसमें "अप्यय" कहा गया, यह स्व शब्द विज्ञान आत्मा वाले जीव के लिए लोक में प्रसिद्ध है। यह विज्ञानमय आत्मा चेतन रूप से प्रतिपादित है और इसी श्रुति वचन के आधार पर सांख्य के द्वारा जगत् के कारण के रूप में मानी गई जड़ प्रकृति का मत विरुद्ध हो जाता है। अतः प्रमाणभूत शब्द के द्वारा नहीं बतलायी गयी प्रकृति जगत् का कारण नहीं है, यह हमारा कथन है।

एवं चेतनानां जीवात्मनामचेतनानां विश्वविषयाणां चाशेषाणामविशेषेणात्मनि गतिः श्रूयते। विकाराणां स्वकारणस्वरूपाभ्युपपत्तिर्गतिः। सर्वं हीदमात्मकैवल्यं भवति।

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्।"

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"।

इत्यादि श्रुतेः। तत्र यदीदं सर्वमात्मनो नोदियान्न तर्हि सर्वमात्मा स्यात्। तस्मा-दात्मनि गतिसामान्यादात्मैव जगत्कारणम्। नाचेतनं प्रधानमिति ब्रूमः।

इस प्रकार चेतन जीवात्मा तथा अचेतन बाह्य विश्व के सारे पदार्थ सामान्यतया आत्मा से ही उत्पन्न हैं, ऐसा श्रुति का कथन है। जो विकार रूप पदार्थ हैं वे अन्ततः अपने कारण के स्वरूप को ही धारण करते हैं, यही उनकी अन्तिम गति है। इस प्रकार अपनी गति में आन्तरिक तथा बाह्य जगत् आत्मा में ही लीन होता और तब केवल आत्मा ही बचता है।

–"जहां इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया वहां यह किससे किसको देखे और किससे किसको जाने"–।

–"जिस अवस्था में पहुंचने पर ज्ञानी के लिए समस्त पदार्थ आत्म रूप ही हो गये उस सर्वत्र एकत्र का दर्शन करने वाले के लिए कौनसा मोह है, कौनसा शोक है"–(श्रुति) इस स्थिति में यदि यह सारा जगत् आत्मा से उत्पन्न न हो तो यह आत्मा रूप से अभ्रान्त-तया भासित भी न हो। अतः समस्त आन्तरिक तथा बाह्य जगत् की अन्तिम गति आत्मा ही होने के कारण वह जगत् का कारण है न कि जड़ प्रकृति।

अपि चायमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरिति आत्मनः सर्वानुभावकत्वं श्रूयते ।
"आत्मन एवेदं सर्वम् ।"
"आत्मैवेदं सर्वम् ।"
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।"
"आत्मा वा इदमग्र आसीदेकमेव ।"
"स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम् ।"
"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः" ।

इत्यादि श्रुतिभ्यः स्पष्टमात्मन एव सृष्टेः श्रुतत्वाच्च नाशब्दं प्रधानं जगत्कारणमिति ब्रूमः ।

पुनश्च यह आत्मा या ब्रह्म सबके साथ है अतः आत्मा सबका अनुभावक सुना गया है ।

—"आत्मा से ही यह सब कुछ है," —
—"आत्मा ही यह सब कुछ है,"-
—"यह सब कुछ निश्चय रूप से ब्रह्म ही है,"—
—"सबसे पूर्व एकमात्र आत्मा ही था"-
—"उसने ईक्षण किया एक मैं बहुत बनूं,"—

—"उस सर्वविदित आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, अग्नि,"— इत्यादि श्रुति वाक्यों से स्पष्ट रूप से आत्मा से ही सृष्टि का उत्पन्न होना सुना जाता है न कि प्रकृति से ।

शङ्करस्त्वत्र वाप्ययादिसूत्रत्रयमित्थं व्याचष्टे ।
"प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् ।"

इति श्रुत्यन्तरवाक्ये सुषुप्त्यवस्थायां यत्राप्ययस्तस्य चेतनत्वं प्राज्ञशब्देन स्पष्टमुपादीयते । तस्मादेतत् स्वाप्ययवचनान्नाचेतनं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं वेति गम्यते । किञ्च - एवं जगत्कारणतायाश्चेतननिष्ठाया एवावगतिः सामान्येन सर्वोपनिषद्वाक्येभ्यो लभ्यते, नत्वेकस्यापि वाक्यस्याचेतने प्रधाने गतिर्दृश्यते । तस्मान्नाचेतनं प्रधानं जगतः कारणम् । श्रूयते च सर्वज्ञस्येश्वरस्य जगत्कारणत्वं श्वेताश्वतरोपनिषदि—

"स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः"

इति । तस्मात् सर्वज्ञं ब्रह्मैव जगतः कारणं नाचेतनं प्रधानादिकमिति सिद्धम् । इति हि शङ्कराभिप्रायः ।

तत्र ब्रूमः—स्वाप्ययसूत्रे व्याख्यातोऽयं प्राज्ञशब्दोऽप्ययाधिकरणार्थपरतया नावकल्पते ।

"यः प्राणः सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा स प्राणः" ।

इति कोषीतकिश्रुतेः प्राणमयस्यात्मनः प्राज्ञशब्देन व्यपदेशाद्विज्ञानात्मनि योऽप्येति, तत्रेन्द्रियाधिष्ठातरि मुख्यप्राणे प्राज्ञशब्दो वक्तव्यो न तु यत्राप्ययस्तत्रायं प्राज्ञशब्दः। तथा चाऽप्ययमानस्य चेतनत्वसिद्धावपि यत्राप्येति तस्य तया श्रुत्या चेतनत्वासिद्धे स ग्रन्थश्चिन्त्यः ।।

यहां श्री शंकराचार्य "स्वाप्यय" आदि तीन सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं,-"प्राज्ञ आत्मा से सम्परिष्वक्त होने पर न बाहर को जानता है न भीतर को"-

इस अन्य वेद वाक्य में सुषुप्ति अवस्था में जहां अप्यय है, वह चेतन है, यह बात प्राज्ञ शब्द से स्पष्टतया कही गयी है। अतः स्वाप्यय इस कथन से जगत् का कारण अचेतन नहीं हो सकता, जो कि सत् शब्द से बोधित है। पुनश्च इस प्रकार जगत् के कारण के विचार में सामान्यतया सभी उपनिषद वाक्यों से चतन ही ज्ञात हो रहा है। किसी एक उपनिषद् वाक्य से भी अचेतन प्रकृति को जगत् का कारण कहीं नहीं कहा गया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वज्ञ ईश्वर को जगत् का कारण बतलाते हुए सुना जाता है कि—

"वह [ईश्वर] कारणों के स्वामियों का भी स्वामी ही जगत् का कारण है न तो कोई उसको उत्पन्न करने वाला है और न ही कोई उसका स्वामी है'।

अतः सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, अचेतन प्रकृति या प्रधान आदि नहीं, यह सिद्ध होता है-ऐसा श्री शंकराचार्य का कथन है।

यहां हमारा कथन है कि–'स्वाप्यय' सूत्र की व्याख्या में आया हुआ 'प्राज्ञ' शब्द 'अप्यय' अधिकरणपरक नहीं समझा जा सकता।

–"जो प्राण है वह प्राज्ञ है, जो प्राज्ञ है वह प्राण है"।

इस कौशीतकी उपनिषद् के वाक्य के द्वारा प्राणमय आत्मा को ही 'प्राज्ञ' शब्द से कहा गया है। अतः जिसका लय विज्ञान आत्मा में होता है उस इन्द्रियों के अधिष्ठाता मुख्य प्राण के लिए प्राज्ञ शब्द को मानना चाहिये, न कि जहां अप्यय या लय होता है उसके लिए यह प्राज्ञ शब्द है। इस प्रकार विलीन होने वाला चेतन है, यह सिद्ध हो जाने पर भी जहाँ लीन होता है उसका उक्त उपनिषद् वाक्य के द्वारा चेतनत्व सिद्ध नहीं होता अतः श्री शंकराचार्य का उक्त कथन चिन्तन की अपेक्षा रखता है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् १२।
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् १३।
तद्धेतुव्यपदेशाच्च १४।
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते १५।
नेतरोऽनुपपत्तेः १६।
भेदव्यपदेशाच्च १७।

कामाच्च नानुमानापेक्षा । १८ ।
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १६ ।
स जगत्कर्त्ता पुरुष आनन्दमयः । अन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं चानुक्रम्य–
"एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" ।
"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" ।
"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" ।
"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
"रसौ वै सः," ।
"रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" ।
को ह्वेवान्यात्, कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति" ।
इत्येवमादिश्रुतिवचनेष्वभ्यासेनानन्दमयतायाः श्रवणाच्च ।

ननु अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यात्मत्वमेव लभ्यत इति चेन्न । आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् । यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वरुन्धतीत्वेन पूर्व प्रदर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहापि सर्वान्तरस्य मुख्यत्वमवसीयते । ननु प्रियाद्यवयवयोगस्य शारीरत्वस्य चान्नमयाद्यमुख्यात्मनीवात्रापि तुल्यत्वादयमानन्दमयोऽप्यमुख्य एव भवितुमर्हति ।

"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्तीति" ।

श्रुत्या प्रियाप्रियसंस्पर्शस्यात्र दर्शितत्वात् । न चैष मुख्यस्यात्मनो धर्मो भवतीति चेन्न । प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाया अतीतानन्तरोपाधिजनितत्वेनास्वाभाविकत्वात् । अन्नमयादिशरीरपरम्परया दर्शनानुक्रमेण शारीरत्वोपचारेऽपि तावता तस्मिन्नानन्दमये शारीरत्वस्य साक्षादुपकल्पयितुमयोग्यत्वाच्च ।

ननु च भोः "आनन्दमय" इति श्रुतौ विकारशब्दो मयट्प्रत्ययः श्रूयते, तस्मादस्य विकाररूपत्वान्नायं जगत्कर्तेति चेन्न । प्राचुर्यार्थे मयटः श्रवणात् । यथा नामान्नप्रचुरो यज्ञोऽन्नमय इति कथ्यते, एवमयमानन्दप्रचुरो जगत्कर्ता भवत्यानन्दमय इति । आनन्दप्रचुरत्वं चास्य तैत्तिरीयकश्रुतौ वाजसनेयश्रुतौ च मनुष्यत्वादारभ्योत्तरोत्तरस्थाने शतगुणवृद्ध्या ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणाल्लभ्यते । किञ्च न केवलमानन्दप्राचुर्यादेवायमानन्दमय उच्यते, किन्तर्हि आनन्दहेतुव्यपदेशाच्च, श्रूयते हि—"एष ह्येवानन्दयति" इति ।

१. अभ्यास के कारण वह आनन्दमय है । (ब्र.सू. १/ /१२)
२. विकारशब्द से उसका कथन नहीं है ऐसा नहीं है प्रचुरता के कारण । (ब्र सू. १/१/१२)
३. और उसके हेतु के कथन के कारण । (ब्र.सू. १/१/१४)
४. उसका गायन मान्त्रवर्णिक हो है । (ब्र.सू. १/१/१५)
५. तर्कहीन होने के कारण अन्य नहीं है । (ब्र.सू. १/ /१६)

६. और भेदकथन के कारण। (ब्र.सू. १/१/१७)
७. पुनश्च काम के कारण अनुमान की अपेक्षा नहीं। (ब्र.सू. १/१/१८)
८. और इसमें इसके उसके साथ योग का कथन है। (ब्र.सू १/१/१९)

जगत् का कर्ता वह पुरुष आनन्दमय है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, का कथन करके–"इस विज्ञानमय से भिन्न आन्तरिक आत्मा आनन्दमय है"–ऐसा शास्त्र वचन है।

–"विज्ञान आनन्द ब्रह्म है"–
–"जाना कि ब्रह्म आनन्द है"–
–"ब्रह्म के आनन्द रूप को जानता हुआ किसी से भी नहीं डरता"–
–"वह [परब्रह्म] निश्चय से रस है, रस लेकर ही यह आनन्दी होता है"–

–"कौन प्राण धारण करे, कौन श्वास ले, यदि यह आकाश आनन्दरूप न हो निश्चय है कि यही आनन्दित करता है"–

इत्यादि वेद वाक्यों में पुनः पुनः कहे जाने के कारण परब्रह्म की आनन्दरूपता श्रवण में आती है। प्रश्न हो सकता है कि परब्रह्म के अन्नमय आदि अमुख्य रूपों के वर्णन प्रवाह में कथित होने से आनन्दमयता भी परब्रह्म का अमुख्य रूप ही बनकर रह जायेगी। परन्तु इस सन्देह को कोई अवकाश इसलिए नहीं है कि परब्रह्म का आनन्दमय रूप सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक है।

[इससे भिन्न अन्य कोई रूप ऐसा नहीं है जिसे आनन्द के भीतर व्यापक समझा जा सके, इसीलिए वह सर्वान्तर्यामी है]।

जैसे 'अरुन्धती' दृष्टांत में अनेक ताराओं को पहले अरुन्धती बतलाकर अन्त में जिसे अरुन्धती बतलाया जाता है, वही मुख्य अरुन्धती है। उसी प्रकार यहां भी [अन्नमय मनोमय, प्राणमय विज्ञानमय के] अन्त में जो [आनन्दमय] बतलाया गया है वही मुख्य है यह निश्चय होता है। फिर प्रश्न हो सकता है कि प्रिय आदि के अवयवों का योग जो शरीर कहलाता है, वह अन्नमय होने से अमुख्य आत्मा जैसे माना गया वैसे ही तुल्य न्याय से यह आनन्दमय रूप भी अमुख्य ही क्यों न होगा।

यदि इस सन्देह का यह उत्तर दिया जाय कि—
"यह निश्चय है कि शरीर की सत्ता रहने पर प्रिय और अप्रिय से छुटकारा नहीं है–"

इस वेद वाक्य से प्रिय और अप्रिय संस्पर्श की अनिवार्यता दिखाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्नमय आदि मुख्य आत्मा के धर्म नहीं है। तो यह उत्तर भी समीचीन नहीं है। प्रिय आदि की शिर आदि के रूप में कल्पना का अतीत और भविष्य की उपा-

धियों से जनित होने के कारण ये स्वाभाविक नहीं है। अन्नमय आदि शरीर परम्परा से निरन्तर दिखाई देने के कारण शरीर में आत्मा शब्द का अमुख्य प्रयोग होने पर भी इतने मात्र से उस आनन्दमय रूप में शरीरत्व की [शिर आदि के रूप में] साक्षात् कल्पना करना सम्भव नहीं है।

फिर प्रश्न होता है कि "आनन्दमय" इस वेदवाक्य में आनन्द शब्द के साथ जो "मयट्" प्रत्यय है वह विकार अर्थ में है [आनन्दमय अर्थात् आनन्द का विकार] जो विकाररूप है वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। इस प्रश्न का उत्तर है कि आनन्दमय शब्द में 'आनन्द' शब्द के साथ प्रयुक्त 'मयट्' प्रत्यय का अर्थ विकार नहीं अपितु प्रचुरता या आधिक्य है।

[प्रचुर आनन्द या अधिक आनन्द वाला आनन्दमय कहा गया]

जैसे, अन्न की प्रचुरता वाला यज्ञ अन्नमय कहा जाता है वैसे ही आनन्द की प्रचुरता वाला कर्त्ता आनन्दमय है। उसकी आनन्द प्रचुरता तैत्तिरीय उपनिषद् तथा वाजसनेय श्रुति के वाक्यों में मनुष्यत्व से आरम्भ करके उत्तरोत्तर शत गुणित वृद्धि करते हुए ब्रह्मानन्द के निरतिशयत्व [निःसिमता] के निश्चय से अवगत है। पुनश्च केवल आनन्द कोप्रचुरता के कारण ही यह ब्रह्म आनन्दमय है ऐसा नहीं, अपितु—"तद्धेतुव्यपदेशाच्च" [ब्र. सू. १४] (ब्रह्म आनन्द का कारण है) वेद वाक्य है कि—

"निश्चय रूप से यही आनन्दित करता है"।

ननु बाह्यजगत्कारणत्वेनाभ्यन्तरजगत्कारणत्वेन चायमात्मा द्विविधो भवति ईश्वरो जीवश्चेति। तत्रेदमानन्दमयत्वमीश्वरस्याख्यायते, जीवस्य वोभयस्य वेति संशये ब्रूमः।

—'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते, नेतरोऽनुपपत्तेः'—
एतस्यां त्तैतिरीयकश्रुतौ तावत्—
"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,"—

इति मन्त्रवर्णेन जगत्कर्तृ ब्रह्मतत्त्वमुपदिश्यते। अथैतस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त। भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं तत्सर्वान्तरमभवत्। तद्विज्ञानाय चान्नमयादिक्रमेणान्योऽन्तर आत्मेति प्रक्रान्तम्। तत्रेदं तन्मान्त्रवर्णिकमेवेत्थमित्थं कृत्वा गीयते—इत्यत इदं सर्वान्तरमानन्दमयत्वेनाख्यातमपि जगत्कर्तृ ब्रह्मैव स्यात्। न तु जगत्कर्तु रीश्वरादन्यः संसारी जीवोऽयमानन्दमयो भवितुमर्हति। अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च"—

इति । तदिदं सर्वसर्जनमस्मिन् संसारिणि नोपपद्यते । तस्माज्जगत्कर्तेश्वर एवानन्दमयो न संसारी जीवः ।

"भेदव्यपदेशाच्च ।"

"रसो वै सः—" "रसं ह्य वायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"—

ति श्रुतौ—

"अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"—

इति श्रुतौ चास्य संसारिणो जीवस्यानन्दलाभेनानन्दित्वमाख्याय तस्मै तस्मा' दानन्दमयादीश्वराद्भ् दो व्यपदिश्यते, तस्मादयं संसारी जीवो नानन्दमयत्वेन शास्त्रे विवक्षित इति गम्यते । सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति जगत्कारणे कामश्रवणात् तस्य चेतनत्वसिद्ध्या सांख्यानुमानसिद्धस्य प्रधानस्याचेतनस्यापि नानन्दमयत्वमपेक्ष्यते । इतीत्थमिदमानन्दमयाधिकरणं शंकरो व्याचष्टे ।

प्रश्न होता है कि बाह्य जगत् और आन्तर जगत् का कारण दो प्रकार का है पहला ईश्वर और दूसरा जीव, उनमें यह जो आनन्दमयता बताई जा रही है वह ईश्वर में है या जीव में है. या दोनों में है । इस सन्देह का उत्तर है—

"मान्त्रवर्णिकमेव च गोयते, नेतरोऽनुपपत्तेः—"

तैत्तिरीयक उपनिषद् में—"ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनन्त है"—इस मन्त्र के अक्षरों के द्वारा जगत् का कर्ता ब्रह्म है, यह उपदेश मिलता है, आगे उसी ब्रह्म से आकाश आदि क्रम से स्थावर और जङ्गम पदार्थ हुए । तत्त्वों की सृष्टि करके उनके भोतर प्रविष्ट होकर गुहा में स्थित होता हुआ वह ब्रह्म सबके भीतर स्थित हो गया । उसके ज्ञान के लिए अन्नमय आदि के क्रम से भीतर स्थित आत्मा अन्य है इस प्रकार समझाना शुरू हुआ । इस प्रकार मन्त्र के अक्षरों से ही अनेक प्रकार से उस ब्रह्म तत्त्व का विवरण दिया जाता है ।

इस प्रकार यह सबके भीतर आनन्दमय शब्द से कहा जाने पर भो जगत् का कर्त्ता ब्रह्म हो हो सकता है न कि जगत् के कर्त्ता ईश्वर से अन्य ससारी यह जीव आनन्दमय हो सकता है, क्योंकि जोव की आनन्दमयता युक्ति सिद्ध नहीं है । आनन्दमय का विवरण देते हुए 'श्रुति' कहती है—

"उसने कामना की—बहुतों में प्रकट होऊं, उसने तपस्या की, उसने तपस्या करके । यह जो भी कुछ है उसे उत्पन्न किया"—

यहाँ समस्त दृश्य प्रपञ्च का निर्माण कार्य संसारी जीव में सम्भव नहीं है, इसलिए जगत् का निर्माता ईश्वर ही है न कि संसारो जीव ।

"भेद कथन से भी"—

"वह निश्चय रूप से रस है ।"

"यह रस को प्राप्त करके ही आनन्दित होता है ।"

इस वेद वाक्य में तथा—

"इसी के आनन्द की मात्राएं अन्य तत्व भी प्राप्त करते हैं"—

इस श्रुति वाक्य के द्वारा संसारी जीव के आनन्द प्राप्त कर आनन्दित होने का कथन करके उस जीव का आनन्दमय ईश्वर से भेद बतलाया गया। इसलिए यह संसारी जीव शास्त्र में आनन्दमय शब्द से विवक्षित नहीं है यह स्पष्ट होता है—

"उसने कामना की कि मैं बहुतों में उत्पन्न हो जाऊं।"

इस जगत कारण प्रतिपादक वाक्य में काम शब्द के सुने जाने से तथा काम के चेतन धर्म होने से सांख्य दर्शन में अनुमान के द्वारा सिद्ध किया गया प्रधान तत्व या मूल प्रकृति आनन्दमय शब्द से अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म सूत्र के इस आनन्दमयाधिकरण की श्री शंकराचार्य ने व्याख्या की है।

अथवा

"अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।
तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। (ऋ १।१६४।१०)

इत्यादिमन्त्रवर्णप्रसिद्धं त्रैलोक्यत्रयविधारकं परोरजो ब्रह्मैवेहानन्दमयत्वेन गीयते। तस्येश्वरतया सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वात्। नेतर ईश्वरादानन्दमयो भवितुमर्हति। अनुपपत्तेः। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशैः पञ्चभिः क्लेशैः कर्मविपाकाशयैश्चापरामृष्टस्येश्वरस्यानन्दमयत्वोपपत्तावपि तैरुपहतस्यास्य जीवात्मनो नेदमानन्दमयत्वमुपपद्यते।

अथ खलु—

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"—

दिति श्रुत्याऽऽनन्दमयस्य जगत्कर्तुरीश्वरस्यैवात्र गुहायां जीवात्मत्वेनावस्थानादेषोऽप्यानन्दमयः स्यादिति चेन्न। नित्यनिरतिशयानन्दमयतायास्तत्राप्रत्यक्षत्वादनुपपत्तेः।

ननु क्लेशाद्युपाधिवशादानन्दस्य तत्र प्रत्यक्षाभावेऽपि जीवात्मनोऽस्यानन्दमयत्वमनुमानात्सिद्धं स्यादिति चेन्न।

"कामाच्च नानुमानापेक्षा।"

"एतत्सत्यं ब्रह्म पुरमस्मिन् कामाः समाहिताः।"

"एष आत्माऽपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसंकल्पः"—

इति श्रुतेरत्रात्मनि सर्वे कामाः समाहिताः श्रूयन्ते। यद्ययमानन्दमयः स्यात्, स तर्हि नानन्दमन्यद्वा किञ्चित् कामयेत।

"आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेद्।" इति।

एष हि जीवात्मा नित्यमानन्दं कामयमानो दृश्यते । तस्मात् प्रत्यक्षविरोधान्नानुमानापेक्षा ।

नन्वीश्वरस्यापि परमात्मनस्तर्हि नानन्दमयत्वं स्यात्—
"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेये"—

त्यादिना तस्यापि कामश्रवणादिति चेत् सत्यम् । आनन्दप्राप्तिकामस्यानुमानप्रतिबन्धकत्वेनेह विवक्षणाददोषात् । द्विविधो हि कामो भवति—सिसृक्षा च बुभुक्षा च । तत्राविद्योपनीतानां जीवात्मनिष्ठानां बुभुक्षा कामकर्मशुक्राणामल्पत्वनिबन्धनत्वाद्दुःखमयत्वमस्तीत्यतस्तस्यानन्दानुमानप्रतिपन्थित्वमुपपद्यते ।

इत्यादि मन्त्राक्षरों के द्वारा प्रतिपादित तीनों त्रिलोकों का धारण कर्ता रज से परे स्थित ब्रह्म ही यहाँ आनन्दमय रूप में कहा जा रहा है, क्योंकि ईश्वर होने के कारण वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है । ईश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई भी आन्दमय नहीं हो सकता, क्योंकि ये बात युक्ति या तर्क से बिरुद्ध है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशों से तथा क्लेश, कर्म, विपाक, और आशय से असंस्पृष्ट जो ईश्वर है वह आनन्दमय है, इस बात के युक्ति सिद्ध होने पर भी पञ्चक्लेश तथा क्लेश, कर्म, विपाक आशय से ढके हुए जोवात्मा को आनन्दमय कहना युक्ति विरुद्ध है । यहाँ—"जगत् को पैदा करके [ब्रह्म या ईश्वर] उसी में प्रविष्ट हो गया"—इस वेद वाक्य से उसी ब्रह्म का [जिसे आनन्दमय कहा गया है] जगत् में अनुप्रवेश कहने से जीवात्मा भी अनुप्रविष्ट ब्रह्म ही है, तब उसकी आनन्दमयता कैसे युक्ति विरुद्ध होगी, यह सन्देह नहीं उठता । जीवात्मा में नित्य तथा निरतिशय या सीमाहीन आनन्दमयता प्रत्यक्ष नहीं है, अतः जीवात्मा को आनन्दमय कहना युक्ति विरुद्ध है ।

प्रश्न होता है कि क्लेश आदि उपाधियों के कारण जीवात्मा में आनन्दमयता के प्रत्यक्ष न होने पर भी इस जीवात्मा की आनन्दमयता अनुमान से तो सिद्ध हो ही सकती है ।

[यह देखा जाता है कि कोई वस्तु हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा तो प्रत्यक्षतया दूसरे रूप रंग में समझ में आती है परन्तु उस वस्तु का वास्तविक रूप, रंग, आकार, प्रकार जो कुछ दिखाई दे रहा है, उस से बिल्कुल भिन्न ही होता है, उस स्थिति में उस वस्तु का वास्तविक रूप रग आकार, प्रकार जानने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण या इन्द्रियजन्य ज्ञान अपर्याप्त है, तब वस्तु की वास्तविकता को हृदयङ्गम करने के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय मिलता है, उदाहरणार्थ, सूर्य का पिण्ड जो हमें अपनी आँखों से एक छोटा सा गोला दिखाई दे रहा है वह अपने वास्तविक रूप आकार प्रकार से पृथ्वी से लाखों गुना अधिक बड़ा है यह वैज्ञानिक तथ्य हमें प्रत्यक्ष नहीं अपितु अनुमान प्रमाण से ज्ञात हुआ । इसी प्रकार जहाँ अनुमान प्रमाण से प्राप्त होने वाले तथ्य भी कम हो जाते हैं उन्हें आप्त

वाक्य या शब्द प्रमाण से जाना जाता है, जीवात्मा की आनन्दमयता जब प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होती और शब्द प्रमाण भी इस विषय पर कोई संकेत नहीं देता तब अनुमान प्रमाण का भी प्रयोग कर लेना प्रस्तुत सन्दर्भ में आवश्यक हो उठता है ।]

इसका उत्तर भी यहाँ नकारात्मक ही है—
"कामाच्चनानुमानापेक्षा"

"यह सत्य ही ब्रह्म का पुर है इसमें काम समाहित हैं । पाप से रहित यह आत्मा सत्यकाम है तथा सत्य संकल्प है,"-इस श्रुति से आत्मा में समस्त काम समाहित है ऐसा सुना जा रहा है । यदि वह आनन्दमय है तो वह आनन्द या किसी अन्य की कामना नहीं करेगा ।

पुरुष "यह मैं हूँ" ऐसे रूप में यदि स्वयं को जान ले तब किस इच्छा से और किस कामना के लिए शारीरिक क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति में लगे"-

पुनश्च यह जीवात्मा नित्य ही आनन्द की कामना वाला दिखाई देता है । [यदि वह स्वरूपतः आनन्दमय हो तब प्रतिक्षण आनन्द की कामना क्यों करे ? प्रत्येक शरीर में स्थित जीवात्मा का प्रतिक्षण आनन्द की तलाश में रहना यह सिद्ध कर रहा है कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध होने के कारण जीवात्मा की आनन्दमयता को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण से भी कोई सहायता नहीं मिल सकती यदि अनुमान के द्वारा हमें यह बतलाया जाय कि हमारी आँखें सूर्य के पिण्ड को हमें जितना बड़ा दिखा रही हैं सूर्य उससे बहुत छोटा है, तो यह अनुमान प्रत्यक्ष से विरुद्ध होने के कारण विश्वसनीय नहीं होगा ।]

पुनः कहा जाता है कि-"जगत् को सृष्टि करके वह (परमात्मा) उसी में प्रविष्ट हो गया"-इस श्रुति के द्वारा आनन्दमय जगत् का निर्माता ईश्वर ही गुहा में (शरीर के हृदय प्रदेश में) प्रविष्ट होकर अवस्थित है, वही जीवात्मा है । तब वह भी क्यों आनन्दमय न होगा, तो यह कथन भी समीचोन नहीं, क्योंकि नित्य निस्सीम आनन्द की जीवात्मा में संस्थिति मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विरोध हो जायगा ।

पुनः कहा जाता है कि क्लेश आदि उपाधियों के कारण आनन्द के जीवात्मा में प्रत्यक्ष न होने पर भी उसकी आनन्दमयता अनुमान से सिद्ध हो सकेगी । तो यह बात भी नहीं बनती—

"कामाच्च नानुमानापेक्षा"-[ब्र॰ सू॰ १।१८]
-"यह सत्य ब्रह्म का पुर है, इसमें काम समाहित हैं"-

-"यह पापों से सर्वथा पृथक् जो आत्मा है वह सत्यकामना युक्त तथा सत्य संकल्प वाला है," इस श्रुति कथन से स्पष्ट है कि परामात्मा में समस्त कामनाएं समाहित हैं ।

यह जीवात्मा यदि आनन्दमय होता तो यह आनन्द अथवा अन्य किसी की कामना न करता ।

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति—

इति श्रुतेः । सिसृक्षाकामस्य तु सर्वज्ञसर्वशक्तिपूर्णब्रह्मनिष्ठतया नानन्दविरोधित्व-मित्यदोषः ।

"अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति शास्त्रम् ।"

तथा हि—

—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति"—

इत्येवं ब्रुवता शास्त्रेण तस्मिन्नानन्दमयेऽस्य जीवस्य योगो निरूप्यते । यद्ययं जीवो नित्यमानन्दमयरूपः स्यात् तर्हि तस्यैतस्मिन्नानन्दमये योगविधानमसमञ्जसं स्यात् । तस्मान्नायं जीव आनन्दमयरूपः, किन्तु स जगत्कर्ता परमेश्वर एवानन्दमयरूपः शास्त्रेणा-भिप्रेयते—इति सिद्धम् ।

—"पुरुष अपने को, मैं यह हूं" इस प्रत्यक्ष से यदि जान ले तब क्या चाहते हुए तथा किस कामना के लिए शरीर के साथ ज्वरग्रस्त हो"—

यह जीवात्मा नित्य ही आनन्द की कामना करता हुआ देखा जाता है । अतः [जीवात्मा की आनन्दमयता में] प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध होने के कारण अनुमान की अपेक्षा नहीं है ।

पुनः प्रश्न होता है कि उस स्थिति में तो परमात्मा या ईश्वर को भी आनन्दमयता में बाधा आयेगी ।

—"उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊं"—

इत्यादि वेद वचनों से परमात्मा में भी कामना है यह प्रतीत हो रहा है । इस प्रश्न में यद्यपि सत्यता है, परन्तु समाधान भी यहां यही है कि वही अनुमान यहां प्रति-बन्धित होता है जो जीवात्मा की प्रत्यक्ष नित्य आनन्द की कामना के विरुद्ध है । काम को भी दो प्रकार का समझना होगा—एक सिसृक्षा, तथा दूसरा बुभुक्षा । इसमें अविद्या के द्वारा लाये गये जीवात्मा मे स्थित काम, कर्म और शुक्र की अल्पता के कारण उनमें दुःखमयता है । अतः उसका आनन्दमयता के अनुमान में बाधक होना सिद्ध है ।

—"जो अधिक है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है"—

यह वेद वाक्य यही बतला रहा है । सिसृक्षा या सृष्टि निर्माण की कामना में तो सर्वज्ञता सर्वशक्तियुक्तता आदि पूर्णताएं ब्रह्म में विद्यमान होने से आनन्दमयता में निरोध

नहीं आता। अतः सिसृक्षा की कामना में अनुमान में प्रतिबन्ध न होने के कारण दोष नहीं आता।

—"शास्त्र इसके भीतर इसके साथ उसके संयुक्त होने का कथन करता है"—
उपनिषद् का कथन है कि—

—'यह जब इस अदृश्य अनात्म्य (शरीर से न ढँके हुए) अनिर्वचनीय, आवासशून्य में अभय और प्रतिष्ठा को पहिचानता है तब वह अभय को प्राप्त करता है, और [इसके विपरीत] जब यह (जीवात्मा) परमात्मा को अपने उदर के भीतर अनुप्रविष्ट समझता हैं-(स्वयं को उसका स्वामी समझता है) तब उसे भय होता है।"—

इस विवरण को प्रस्तुत करने वाला उक्त शास्त्र वाक्य उस आनन्दमय परमात्मा के साथ इसके योग का निरूपण करता है। यदि यह जीव भी नित्य आनन्दमयस्वरूप है तब इसका उस आनन्दमय के साथ योग होने का कथन तर्कसंगत नहीं रह जायेगा। अतः यह जीवात्मा आनन्दमय रूप वाला नहीं है किन्तु सम्पूर्ण जगत् का वह निर्माता ही आनन्दमयरूप है, यह उक्त शास्त्रीय वचनों का अभिप्राय स्पष्ट होता है।

भाष्यकारस्तु शङ्करः प्राह—
"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—
इति मन्त्रवर्णेन ब्रह्म प्रकृत्य तस्य स्वरूपनिरूपणे क्रियमाणेऽन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं च क्रमेण प्रदर्श्य -
— "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" —
तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः—
आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा—"

इत्येवमाचक्षाणं शास्त्रमस्यानन्दमयस्यापि या प्रतिष्ठा तस्यामेव ब्रह्मशब्दं निर्दिश्य मान्त्रवर्णिकार्थस्योपसंहारं विधत्ते। तस्मात्तत्र ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्येतदुपसंहारसूचितस्य ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वं लभ्यते, नत्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमुपपद्यते। विकारार्थकमयट्प्रवाह-पतिते तस्मिन्नानन्दमयशब्देऽर्द्धजरतीयन्यायेन प्राचुर्यार्थकमयट्कल्पनाया अनौचित्यात्। प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वेनानन्दप्रचुर इत्युक्ते यत्किञ्चिद्दुःखास्तित्वस्यापि गम्यमानतया दुःखगन्धशून्यत्वेन विवक्षिते ब्रह्मणि तादृशप्रयोगायोग्यत्वाच्च। प्रियाद्यव-यवत्वेनानन्दमयस्य सविशेषत्वं श्रूयते इति निर्विशेषत्वेन वाङ्मनसागोचरत्वेन च विवक्षिते ब्रह्मणि तस्यापदार्थत्वाच्च। किञ्च—आनन्दमयाभ्यासोऽपि नास्ति। प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—

—"रसो वै सः—
— "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"—
—"को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्—"

" -एष ह्येवानन्दयति"—

"—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" —

"आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्—"

इत्येवं तैत्तिरीयकश्रुतौ श्रुत्यन्तरे च—

—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—"

इत्यादिना। सोऽयं नानन्दमयाभ्यासो भवितुमर्हति। यत्तु—एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्युपसंक्रमितव्यत्वेनानन्दमयो निर्दिश्यते, तदपि न ब्रह्मविषयं भवति। अन्नमयाद्यनात्मप्रवाहपतितत्वात्। नन्वेवं तर्हि नैवं विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेदिति चेन्न। आनन्दमयोपसङ्क्रमणनिर्देशेनैव विदुषः पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्।

यत्वानन्दमयसंनिधाने

— "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति"—

श्रूयते तदपि—

"ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा—" [तै. आ. ८।५।१]

इत्येतेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संबद्धचमानानन्दमयस्य ब्रह्मतां बोधयति। उत्तरग्रन्थस्य तदपेक्षत्वात्। तस्मादानन्दवानानन्दमयः सविशेषो नेह ब्रह्मत्वेन विवक्षितः किन्तु विशुद्ध आनन्द एवेदं निर्विशेषं ब्रह्म शास्त्रेण विवक्ष्यते इत्यहं मन्ये।

इत्थं चैष शङ्करो निर्विशेषाद्वैतप्रतिपत्त्यभिप्रायेणानन्दमयाधिकरणसूत्राणां स्वारसिकमर्थमन्यथयन्नतितरां साहसं कुरुते। न खलु जगत्कर्तृत्वेनाभिप्रेतस्य ब्रह्मणस्तावदानन्दमयत्वव्यवस्थापनमात्रेण निर्विशेषाद्वैतवादः प्रत्याख्यातो भवति। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुत्या निर्विशेषाद्वैतस्य सुप्रतिपन्नत्वात्। एवमपि तस्य निष्क्रियतया जगत्कर्तृत्वं नास्तीति नैष निर्विशेषो विशुद्धानन्दः प्रकृतसूत्रे विवक्ष्यते। जगज्जन्मादिकारणस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतेऽधिकृतत्वात्।

ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार श्री शंकराचार्य का तो इन सूत्रों का अभिप्राय कुछ अन्य ही है। वे कहते हैं कि-"ब्रह्म सत्य ज्ञानरूप और अनन्त है"-इस मन्त्र के अक्षरों से ब्रह्म को उद्देश्य बनाकर उसके स्वरूप के निरूपण में अन्नमय प्राणमय मनोमय, विज्ञानमयता को क्रम से प्रदर्शित करते हुए-"उस विज्ञानमय से अन्य अन्तःप्रविष्ट आत्मा है जो आनन्दमय है। प्रिय ही उसका सिर है, मोद उसका दक्षिण भाग है, प्रमोद उसका उत्तर भाग है, आनन्द उसकी आत्मा है, ब्रह्म उसकी पूँछ है, जो प्रतिष्ठा रूप है।"

इस प्रकार बतलाता हुआ शास्त्र वचन आनन्दमय की भी जो प्रतिष्ठा [आधार] है, उसी में ब्रह्म शब्द का निर्देश करके मन्त्र के वर्ण के अर्थ का उपसंहार करता है।

इसलिए वहां 'जो ब्रह्मपुच्छ है वही प्रतिष्ठा है इस उपसंहार से सूचित ब्रह्म स्वयं ही यहां प्रधान है, न कि आनन्दमय का ब्रह्मत्व कहा गया है। (अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय मनोमय) मयट् प्रत्यय के विकारार्थक प्रवाह में आये हुए आनन्दमय शब्द में प्रचुर अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय को मानना अर्धजरतीय दोष ग्रस्त होने के कारण अनुचित है। प्राचुर्यार्थक 'मयट्' आनन्दमय शब्द में इसलिए भी नहीं हो सकता कि लोक में प्रचुरता जहां कही जाती है वहां उसका अभाव भी थोडी मात्रा में माना ही जाता है । उस स्थिति में आनन्दमय के अर्थ में प्रचुर अर्थ मानने पर थोड़े दुःख का अस्तित्व भी मानना ही होगा और ब्रह्म दुःख के गन्ध से भी शून्य है ऐसा मानना अभीष्ट है। अतः आनन्दमय शब्द में प्राचुर्यार्थक 'मयट्' प्रत्यय मानना बनता ही नहीं। प्रिय आदि के अवयव के रूप में आनन्दमय में विशेषता भी सुनी जा रही है, अतः जो ब्रह्म विशेषताओं से रहित है, (निर्विशेष है) जो वाणी और मन की पहुंच से बाहर है उसके लिए यह कथन भी असंगत है। और फिर "आनन्दमय" शब्द का अभ्यास (बार बार कथन) भी नहीं है। अभ्यास तो केवल प्रातिपदिक अर्थ का ही होता है। जैसे--"वह निश्चित रूप से रस है"-"वह रस को प्राप्त करने पर ही आनन्दयुक्त होता है"-"कौन उत्पन्न हो, कौन जीवित रहे यदि यह आकाश आनन्द रूप न हो"। "जान कर ही कहीं से भयभीत नहीं होता" "आनन्द को ब्रह्म समझा"-। तैत्तिरीयक श्रुति के ये सन्दर्भ हैं। अन्य श्रुति में "विज्ञान आनन्द ब्रह्म है" इत्यादि वाक्य हैं। यह सब आनन्दमय का पुनः पुनः कथन (अभ्यास) नहीं हो सकता [यह आनन्द का अभ्यास है न कि आनन्दमय का]। जहां-"इस आनन्दमय आत्मा में उपसंक्रान्त होता है" यह उपसंक्रमितव्य रूप से आनन्दमय का निर्देश हुआ उसका भी विषय ब्रह्म नहीं है। वह अन्नमय आदि अनात्मा के प्रवाह में ही आया है। इस प्रकार तो ज्ञानी का ब्रह्मप्राप्ति रूपी फल का भी निर्देश नहीं हो पायगा, यह शंका वहां व्यर्थ है। आनन्दमय के समीप जाने के निर्देश से ही ज्ञानी को पुच्छ प्रतिष्ठाभूत ब्रह्म की प्राप्ति के फल का निर्देश हुआ है।

पुनश्च आनन्दमय के समीप 'उसने कामना की कि मैं बहुत में उत्पन्न होऊँ" यह जो श्रुति में आया है, वह "ब्रह्म पुच्छ में प्रतिष्ठा है" इस कथन से समीपतर ब्रह्म से अन्वित आनन्दमय की ब्रह्मता को बोधित करता है क्योंकि आगे के वाक्य इसी की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए आनन्दवान् या आनन्दमय जो विशेष से युक्त है वह यहां ब्रह्म रूप से विवक्षित नहीं है किन्तु (विशेषशून्य) विशुद्ध आनन्द ही यह निर्विशेष ब्रह्म शास्त्र में कथित है, ऐसा मैं मानता हूं।"

इस प्रकार श्री शंकराचार्य निर्विशेष अद्वैत के प्रतिपादन का उद्देश्य सामने रखते हुए आनन्दमयाधिकरण के सूत्रों के स्वभावसिद्ध अर्थों को माड़ देते हुए अत्यधिक साहस दिखा रहे हैं। ऐसा नहीं है कि जगत् के कर्त्ता ब्रह्म के आनन्दमय कथनमात्र से निर्विशेष अद्वैतवाद खतरे में पड़ जायगा। "वह एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म है" इस श्रुति वाक्य से निर्विशेष अद्वैतवाद तो सुप्रतिष्टित है ही। परन्तु इस प्रकार का वह ब्रह्म क्रियाशून्य होने से जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता। अतः यह निर्विशेष विशुद्ध आनन्द स्वरूप प्रकृत

सूत्र में विवक्षित नहीं है क्योंकि इस सूत्र में जगत् के जन्म आदि के कारण के रूप में ही ब्रह्म का विवरण अधिकृत है।

ननु निर्विशेषस्य निष्क्रियत्वेऽपि चाक्षुषप्रत्यक्षे प्रदीपप्रकाशस्येवास्य निर्विशेष-ब्रह्मणः स्वरूपसत्तामात्रेण समन्वयनिबन्धनायाः कारणतायास्तत्तु समन्वयादिति सूत्रे प्रतिज्ञातत्वादुपपद्यते तस्यापि जगत्कर्तृत्वमिति, चेत् सत्यमुपपद्यते। तथाप्यस्मिन् समन्वय-पादे आनन्दमयत्वान्तर्यामित्वाकाशत्वप्राणत्वज्योतिष्ट्वादीनां जगत्कर्तरि ब्रह्मणि समन्वया-देशात् सर्वधर्मोपपन्नस्यैव ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वविवक्षा लभ्यते, न तु निर्विशेषस्यापि। तत्रानन्दमयत्वादिविशेषाणामनुपपत्तेः। द्वितीयपादेऽप्युपास्यत्वनिरूपणे—

"विवक्षितगुणोपपत्तेश्चेति" —

स्पष्टं सर्वगुणत्वप्रतिपादनेन निर्विशेषस्येहाविवक्षिततताया अवगमाच्च। कारण-त्वेन विवक्षिते चास्मिन् ब्रह्मणि आनन्दविकारतायाः कार्यधर्मस्यानभिप्रेतत्वादानन्दप्रचुर-त्वमादिशति।

"विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यादिति"—

यत्तु पाञ्चकौशिकप्रवाहपतितेऽस्मिन्नानन्दमये मयटः प्राचुर्यार्थकत्वाभ्युपपत्ताव-र्द्धजरतीयत्वापत्तिः, अन्नरसमयः प्राणमयो मनोमयो विज्ञानमय इत्येतेषु विकारप्रत्ययसत्त्वा-दानन्दमये प्राचुर्यप्रत्ययायोगादित्युक्तम् तदप्यसत्। विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यादिति-वाक्येनानन्दमयवद्विज्ञानमयादिष्वप्यविशेषेण विकारप्रत्ययप्रतिषेधोपपत्तेः। न चान्नरस-प्रचुरादेः पूर्वपूर्वकोशस्येहात्मत्वं प्रतिषिध्यते। नहि पामरवन्महर्षयोऽपि पूर्वापरविरुद्धं भाषमाणाः पूर्वमन्नरसविकारस्यात्मत्वं प्रतिज्ञाय पश्चादस्य भ्रमोक्तत्वं परिदर्शयमानाः प्राणविकारादीनामुत्तरोत्तरमात्मत्वं परिकल्पयेयुः। तस्मादन्नरसप्रचुरादयः पञ्चाप्येते विवक्षिता एवात्मानः स्युः। न चैवं सति पञ्चात्मत्वप्रतिज्ञायामद्वैतं विच्छिद्येतेति भ्रमित-व्यम् —

"एकोऽहं बहुस्या"—

मिति श्रुत्या।

—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति—"

श्रुत्या च तस्यैकस्यैव नानाभावप्रतिपत्त्या तैर्भावैर्बहिरन्तः प्रवेशोपपत्तेरद्वैताव्या-घातात्। अतएव—

"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः"—

इति श्रुत्या तस्यैकस्यवान्तर्बहिरवस्थानं श्रूयते। तस्मात्पञ्चस्वपि कोशेषु प्राचुर्यार्थ एवायं मयट्प्रत्यय इति निष्कर्षः।

यत्त्वानन्दमयस्य कोशरूपत्वादवश्यं तत्रान्तरत: कोशिना भवितव्यमिति तस्यैवात्मत्वं वक्तव्यम् । स चात्मा तत्रैव पुच्छत्वेन श्रुत: प्रतिष्ठाब्रह्माख्योऽवकल्पते इत्याह, तदप्यसत् ।

"नत्वहं तेषु ते मयीति"—

भगवद्गीतास्मरणान्नानाविधभूताधारतया कोशत्वेन विवक्षितस्यान्नमयादिब्रह्मण एवात्मत्वेन विवक्षितत्वात् । प्रकृते कोशिन ग्रात्मत्वानभ्युपगमात् । युक्तं चैतत् । अन्यथा ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति श्रुतौ कोशतुच्छत्वेन प्रतिपन्नस्य ब्रह्मण: कोशावयवतया श्रूयमाणत्वात्, तस्य कोशाभ्यन्तरतोऽवस्थानाप्रतिपत्त्या तस्यात्मत्वानवक्लृप्ते: ।

प्रश्न होता है कि निर्विशेष ब्रह्म के निष्क्रिय होने पर भी जैसे ग्रांख से देखने में रोशनी या प्रकाश ग्रपनी सत्ता मात्र से कारण बनता है वैसे ही निर्विशेष ब्रह्म को भी स्वरूप सत्ता मात्र से समन्वय सम्बद्ध कारणता को "तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र में प्रतिज्ञात किया गया है । ग्रत: निर्विशेष ब्रह्म की जगत् की कर्तृता भी बन जाती है । इसके उत्तर में कहना है कि हां ऐसा हो सकता है । तथापि ब्रह्मसूत्र के इस समन्वय पाद में ग्रानन्दमयत्व ग्राकाशत्व, प्राणत्व ज्योतिष्ट्व ग्रादि का जगत् के कर्त्ता ब्रह्म में समन्वय होने का ग्रादेश है । ग्रत: समस्त धर्मों से समन्वित ब्रह्म का स्वरूप ही जगत् के कर्ता के रूप में विवक्षित है न कि ब्रह्म के निर्विशेष रूप का भी समन्वय यहां विवक्षित होता है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म में उसके ग्रानन्दमय ग्रादि विशेषणों का संयोग तर्क समर्थित नहीं है । द्वितीय पाद में भी उपास्य के निरूपण में–"विवक्षित गुणों की उपपत्ति से" इस सूत्र में स्पष्टतया समस्तगुणों के (ब्रह्म में) प्रतिपादन के कारण यहां निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन विवक्षित नहीं है यह ज्ञात होता है । तथा च ब्रह्म के जगत् के कारण के रूप में विवक्षित होने पर (ग्रानन्दमय शब्द से) ग्रानन्द का विकार जो कि कार्य का धर्म है, वह ग्रभीष्ट नहीं है, ग्रत: (मयट् प्रत्यय से] ग्रानन्द की प्रचुरता का ग्रादेश करता हुग्रा सूत्र ग्राता है—"विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्" ।

यह जो शंका उठाई गई कि पञ्चकोशों के वर्णन प्रवाह में ग्राये इस ग्रानन्दमय' शब्द में यदि 'मयट्' प्रत्यय (विकारार्थक न होकर) प्रचुर ग्रर्थ में माना गया तो ग्रर्धजरतीय दोष होगा क्योंकि ग्रन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इन शब्दों में मयट् प्रत्यय का ग्रर्थ विकार है तथा [इन्हीं के उपरान्त ग्राये] ग्रानन्दमय में 'मयट्' का ग्रर्थ प्रचुरता बतलाई जा रही है जो कि (ग्रर्धजरतीय दोष ग्रस्त होने के कारण) ग्रनुपयुक्त है । यह शका भी निर्मूल है । (ग्रागे के सूत्र) "विकार शब्द से नहीं ऐसा नहीं प्राचुर्य होने से" इस वाक्य से ग्रानन्दमय के समान ही विज्ञानमय ग्रादि शब्दों में भी समान रूप से "मयट्' प्रत्यय के विकार ग्रर्थ में होने का प्रतिषेध ही फलित है । यह सन्देह भी नहीं होना चाहिए, कि ग्रन्नमय इस प्रचुरता वाले एक के बाद एक कोश के ग्रात्मा होने का यहां निषेध है । पामरों की तरह महर्षिगण भी पूर्वापर विरुद्ध भाषण करते हुए पहिले ग्रन्नरस के

विकार को आत्मा बतला कर बाद में अपनी इस उक्ति को भ्रमपूर्ण बतलाते हुए प्राण-विकार आदि क्रमशः आगे के कोशों की आत्मा रूप से कल्पना नहीं कर सकते (मयट् प्रत्यय का प्रचुरता अर्थ होकर)। इसलिए अन्नरस प्रचुरता वाले ये पांचों (अन्नमय, विज्ञान-मय, मनोमय, प्राणमय तथा आनन्दमय) ही आत्मा रूप से विवक्षित हैं। यह भी शंका नहीं होनी चाहिए यहां कि पांच आत्मा मान लेने पर अद्वंत वाद पर आंच आ जायगी। (अद्वैतवाद में तो आत्मा या कारण एक ही होता है, यहां पांच आत्मा या कारण बताए जा रहे हैं, तब अद्वैत कहां रहा) "एक मैं बहुत हो जाऊ" इस श्रुति वाक्य के द्वारा तथा "उस (जगत्) को उत्पन्न करके (वह आत्मा) उसी में प्रविष्ट हो गया" इस श्रुति वाक्य के द्वारा वह एक कारण ही नाना भावों को प्राप्त करने से उन भावों से बाहर और भीतर प्रवेश करने में कोई गड़बड़ अद्वंत ज्ञान में नहीं आती। इसीलिए "वह सबके भीतर वह सब के बाहर है।" इस श्रुति वाक्य में उस एक का ही बाहर और भीतर अस्तित्व सुना जा रहा है। अतः पांचों कोशों के नाम शब्दों के साथ जो यह मयट् प्रत्यय लगा हुआ है पाचों में वह प्रचुर अर्थ में ही है। (कहीं भी विकार अथ में नहीं)।

यहां यह बात भी नहीं उठानी चाहिए कि आनन्दमय एक कोश हुआ तो उसके भीतर अवश्य ही एक कोश का स्वामी (कोशी) होना चाहिए। और उसी को आत्मा कहना चाहिए। और यह आत्मा उसी श्रुति वाक्य में 'पुच्छ' शब्द से कहा जाकर प्रतिष्ठा बतलाया गया है। वही ब्रह्मरूप से अवकल्पित है। ये बाते नहीं हैं। "मैं उनमें नहीं वे मुझ में हैं"–इस भगवद्गीता के स्मरण से (भगवद्गीता स्मृति ग्रन्थ है) नानाविध तत्त्वों के आधार के रूप में कोश के आकार में वर्णनाभीष्ट अन्नमय आदि ब्रह्म का ही आत्मा रूप से कथन अभीष्ट है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कोशवान् (कोशी) का पृथक् रूप से आत्मा कहकर विवरण अभीष्ट नहीं है। यह बात युक्तियुक्त भी है। अन्यथा 'ब्रह्म का पुच्छ प्रतिष्ठा है' इस श्रुति वाक्य में कोश के पुच्छ के रूप में परिज्ञात को कोश के अवयव रूप में सुना जाने से उसके कोश के भीतर संस्थिति के असंगत होने से उसकी आत्मा के रूप में अवधारणा न हो सकेगी।

अथ यदीदं पुच्छं ब्रह्मान्ततः परमा प्रतिष्ठाऽस्तीत्यात्मत्वमस्योपपद्यते इति ब्रूयात्, तत्रोच्यते। अस्तु तस्यात्मत्वं, किन्तेन। इदं तु सौत्रप्रकरणं नात्मत्वादेशाय प्रवृत्तं दृश्यते। जगत्कर्तुर्ब्रह्मण आनन्दमयत्वादेशार्थमेवास्य प्रवर्तमानत्वात्। तस्मात्पुच्छब्रह्मण आत्मत्वविधानार्थोऽयं विचारारम्भो निरर्थक इति मन्यामहे। पञ्चमकोशस्य त्वभ्यन्तर-तरस्येह जगत्कर्तृत्वेन विवक्षितस्यानन्दमयत्वं तावन्निर्विवादम्। तस्मादविचारितरमणी-योऽयमत्रत्यः शंकरग्रन्थः।

अथैतच्छास्त्रनिष्कर्षं तावदभिसंदध्मः। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तद् द्विधाकृतं प्रतिपद्यते—प्रत्यक् पराक्चेति। तत्र प्रत्यग् आत्मा पुरुषः। पराग्विग्रहः परम्। तयोर्यो-गादात्मन्वीदं सर्वम्। तत्रायमात्मा त्रिसंस्थस्तावदुपपद्यते—

१. निर्विशेषः—

२. परात्परः—

३. प्रजापतिश्चेति ।

४. अथैष प्रजापतिरात्मा येनाव्रियते तच्छरीर-विग्रहः ।

तथा चेदं चतुष्पाद् ब्रह्म संसिद्धम् । तत् तेऽनुव्याख्यास्यामः ।

अब यदि यह जो पुच्छ रूपी ब्रह्म है वही अन्ततः परम प्रतिष्ठा है अतः इसका आत्मा होना युक्तियुक्त हो जायगा ऐसा कहा जाय, तो वहां कहना यह है कि उसका आत्मत्व हो जाय, उससे क्या होने को है ? यह सूत्रों का प्रकरण आत्मा के रूप को बतलाने के लिए नहीं प्रवृत्त हुआ है । इस प्रकरण का प्रारम्भ तो जगत् के कर्त्ता ब्रह्म को आनन्दमय बतलाने के लिए हुआ है । अतः पुच्छ रूपी ब्रह्म के आत्मत्व का विधान करने के लिए विचार का यह आरम्भ निरर्थक है ऐसा हमारा मन्तव्य है । अतः श्रीशंकराचार्य का यहां इन सूत्रों पर भाष्यग्रन्थ अविचारित रमणीय है ।

अब इस शास्त्र के निष्कर्ष का भी अनुसन्धान कर लिया जाय—

"निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है"—

वह दो भागों में समझा जाता है–प्रत्यक् और पराक् । इनमें प्रत्यक् आत्मा वाला पुरुष है । पराक् रूप वाला परम है । दोनों के योग से आत्मा ही यह सब है । यह आत्मा तीन संस्थाओं में उपपन्न हो रहा है—निर्विशेष, परात्पर तथा प्रजापति । यह प्रजापति आत्मा जिससे आवृत हो रहा है वह शरीरविग्रह है । इस प्रकार यह ब्रह्म चतुष्पाद सिद्ध हुआ । अब हम उसको व्याख्या करते हैं ।

निर्विशेष:

अमृतमृत्यू, सदसती ब्रह्म । रसोऽमृतं सत् । मृत्युर्बलमसत् । उच्छित्तिगतिलक्षणमनन्तभेदं खण्डखण्डायमानं बलम् । अनुच्छित्तिस्थितिलक्षणमेकमेवाद्वितीयमखण्डं रसो ब्रह्म । क्षणिकं स्वलक्षणं दुःखं शून्य बलम् । शाश्वतिको बललक्षण आनन्दघनः पूर्णो रसः । अणिमा बलम्, भूमा रसः । रसो निर्विशेषः । व्यावृत्तानुवृत्तानां धर्माणामेव सर्वत्र विशेषकतया निर्धर्मकेऽनवच्छिन्नेऽस्मिन् रसे विशेषायोगात् । एवं बलं निर्विशेषम् । रसनिरपेक्षस्य बलस्य शून्यतया निरुपाख्ये तस्मिन् विशेषव्यवहारायोगात् । तथा चैतस्य रसस्य सर्वबलवैशिष्ट्येऽपि तेषां बलानामनवरतोच्छित्तिरूपत्वादसत्त्वात् सद्रूपतामात्रविवक्षायां सर्वबलोपाधिविनिर्मुक्तत्वादखण्डो निर्धर्मको दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्नोऽयं रसः केवलो निर्विशेषः । स चानिर्वचनीयो भवति । द्रव्यगुणकर्मादियत्किञ्चिद्धर्मावच्छेदेनैव सर्वेषां शब्दानां शक्तिमत्त्वनियमाच्छक्यतावच्छेदकधर्माभाववति सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये तस्मिन्नेकस्यापि शब्दस्याप्रवृत्तेः अतएव ।

"संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।

यतो वाचो निबर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" ।

इत्यादिश्रुतिभ्यस्तस्यानिर्वचनीयत्वमविज्ञेयत्वं च श्रूयते । रसे बलेषु सत्स्वपि बलानां रसेनैव सत्तावत्वादद्वैतं न व्याहन्यते । संख्यायाः सर्वत्र सत्तापेक्षित्वात् । न हि सतः कस्यचिदेकस्य स्वगतसत्तया सद्वितीयत्वं संभाव्यते ।

निर्विशेष

अमृत मृत्यु सत असत् ब्रह्म है । रस अमृत है, वह सत् है । मृत्यु बल है । वह असत् है । उच्छिन्न होने वाला तथा गति रखने वाला अनन्त भेदों से सदा खण्ड खण्ड स्वरूप वाला बल है । उच्छिन्न न होने वाला स्थितिशील एकमेव अखण्ड रस ब्रह्म है । बल क्षणिक स्वलक्षण दुःखरूप शून्य है । शाश्वत, बल से लक्षित होने वाला आनन्द घन पूर्ण रस है । अणुरूप बल है, महान् स्वरूप (भूमा) वाला रस है । रस विशेषता रहित (निर्विशेष) है । आवागमनशील धर्मों के ही सर्वत्र विशेषक होने से निर्धर्मक असीमित इस रस में विशेष का योग नहीं होता । इसी प्रकार बल भी निर्विशेष है, क्योंकि रस से रहित बल शून्य है, उसकी उस स्थिति में कोई संज्ञा भी नहीं होती । अतः विशेषता से युक्त उसका व्यवहार भी नहीं हो पाता । यह जो रस है वह सभी बलों से विशिष्ट होने पर भी उन बलों का निरन्तर उच्छेद होते रहने से वे असत् हैं । जब केवल सत् रूप से बतलाना अभीष्ट होता है तब समस्त बल रूप उपाधियों से विनिर्मुक्त होने के कारण अखण्ड दिशा, देश, काल से असंस्पृष्ट यह केवल रस निर्विशेष कहा जाता है । और वह किसी भी शब्द से कथन में नहीं आता-वह अनिर्वचनीय रहता है । क्योंकि शब्दों की शक्ति तो द्रव्य, गुण, कर्म आदि किसी भी धर्म से संयुक्त होने में ही नियत है । तब शब्द शक्ति के नियामक धर्मों का ही जहां अभाव है, तथा जो सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से भी शून्य है ऐसे उस तत्त्व को कहने में किसी एक भी शब्द की प्रवृत्ति ही संभव नहीं है । इसीलिए—"जिसको वेद नहीं कहते, जिसको विष्णु और विधाता भी नहीं जानते, जिसे न प्राप्त कर मन के साथ वाणी भी निवृत्त हो जाती है"– –"उसे जो नहीं जानता वही जानता है, जो जानता है (ऐसा समझता है) वह नहीं जानता, वह जानने वालों के लिए अज्ञात है, न जानने वालों के लिए ज्ञात है"– इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा उस तत्त्व की अविज्ञेयता तथा अनिर्वचनीयता सुनी जा रही है । रस में बलों के रहने पर भी बलों की सत्ता के रस पर ही आधारित होने से अद्वैतवाद को कोई क्षति नहीं पहुचती । क्योंकि सर्वत्र संख्या सत्ता की अपेक्षा रखती है । किसी भी पदार्थ का उसकी सत्ता को मिला कर 'दो' व्यवहार संभव नहीं होता है ।

परात्परः

यस्तु सर्वबलविशिष्टो रस आत्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वधर्मोपपन्नश्चोपपद्यते, स परात्परः ।

"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदा.ते–"

"यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा–"

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः–"

इत्यादिश्रुतिभ्यो दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्नस्य रसस्य बीजरूपाशेषबलवैशिष्ट्येन प्रतिपत्तेः । तदिदं परात्परं निर्विशेषमयत्वान्निर्विकल्पकं मनो नाम व्यपदिश्यते ।

परात्पर

परात्पर वह आत्मा का रूप है जो समस्त बलों से युक्त है, जो रस है, सर्वशक्तिमान् है, समस्त धर्मों से विभूषित है"–

"जो धीर है, समस्त रूपों का चयन करके सब का नामकरण करता हुआ सब को सम्बोधित करता है ।"–

"जहां अन्य कुछ भी नहीं देखता, अन्य कुछ भी नहीं सुनता, अन्य कुछ भी नहीं जानता, वह व्यापक है ।"–

"वह सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध है, सर्वरस है ।"

इत्यादि श्रुतिवाक्यों से "दिशा देश तथा काल से असीमित ।"

"वह बीज रूप से समस्त बलों के वैशिष्ट्य से युक्त है ।"

यह परात्पर निर्विशेषमय होने के कारण निर्विकल्पक है, उसे मन नाम से कहा गया है ।

निर्विशेषपरात्परयोर्भेदाभेदौ

तत्रैतस्मिन् सर्वबलविशिष्टे रसे सर्वबलेभ्यः पार्थक्येन प्रतिपित्सायां निर्विशेषशब्दः सवबलवैशिष्ट्यविवक्षायां तु परात्परशब्द इतीत्थं भेदप्रतिपत्तावप्यमुष्मान्निर्विशेषादनवरतमशेषबलोदयाविच्छेदाद् बलवैशिष्ट्यं व्यभिचरतीत्येक एवायमुभयोऽर्थो निर्विशेषश्च परात्परश्चेति भाव्यम् ।

निर्विशेष तथा परात्पर में भेद तथा अभेद

वहां इस समस्त बलों से विशिष्ट रस को जब समस्त बलों से पृथक् समझने की इच्छा होती है, तब निर्विशेष शब्द का प्रयोग होता है तथा जब सब बलों से वैशिष्ट्य की विवक्षा होती है तब परात्पर शब्द से वह कहा जाता है, इस प्रकार भेद के भासित होने पर भी इस निर्विशेष से निरन्तर समस्त बलों का उदय होने में विच्छेद न होने से बल की विशिष्टता से राहित्य कभी नहीं होता । अतः दो नाम रूपों वाला भी यह तत्त्व निर्विशेष तथा परात्पर कहे जाने पर भी एक ही है यह समझ लेना चाहिए ।

परात्परप्रजापत्योर्भेदाभेदौ

यद्यप्यणु वा महद्वा यत् किञ्चित् क्वचिदस्ति, स सर्वो रसालम्बनो बलानामेव संघातः प्रतिभाति। तथापि रसे बलानामवापोद्वापाभ्यां वस्तुभेदप्रतिपत्तेर्नैकस्मिन्नपि वस्तुन्यविशेषात् सर्वबलवैशिष्ट्यमुपपद्यते। तथा चैतत्सर्ववस्तुविलक्षणं यदेषां सर्वेषामविशेषरूपं तत्परात्परं प्रतिपद्यामहे। अथ ये त्वस्मिन् परात्परे बलतारतम्यकृताः परिच्छिन्नाः क्षुद्रबृहद्रूपा इमेऽर्थाः पृथक् पृथगिव भासन्ते, तानेतांस्त्रिपुरुषान् प्रजापतीन् वक्ष्यामः।

परात्पर तथा प्रजापति में भेद तथा अभेद

यद्यपि छोटा या बड़ा जहां कहीं जो भी कुछ है वह सभी रस के आधार पर बलों का समूह भासित होता है, तथापि रस पर बलों के आवागमन से वस्तु में भेदों के ज्ञान से एक ही वस्तु में बिना भेद के सारे बलों की विशेषता नहीं होती। अतः सभी वस्तुओं से विलक्षण इन सब का विशेषताओं से रहित जो स्वरूप है उसे हम परत्पर कहते हैं। और इस परात्पर में जो बलों के तारतम्य से परिच्छिन्न होकर छोटे और बड़े नाना रूप वाले अर्थ पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं, उनका परिचय तीन पुरुष युक्त प्रजापति के रूप में आगे दिया जा रहा है।

त्रिपुरुषः प्रजापतिः

तथा हि बलानामानन्त्येऽपि सर्वबलप्रधानभूतमनवच्छिन्नस्याप्यवच्छिन्नत्वापादकं प्रथमं बलं माया नाम प्रवर्तते। तेन अमितेऽप्यस्मिन् मनसि परात्परे मित्युत्पादाद दिग्देशकालैरवच्छिद्यमानः पुरुषो नाम कश्चिदर्थः संपद्यते। तथा चेदं यद्यदेव किञ्चित् परिच्छिन्नमिह दृश्यते, सर्वोऽपि स एकैकोऽर्थः प्रजापतिरिति विद्यात्।

"यद्वै किञ्च प्राणिति स प्रजापतिः" (शत० ११।६।१७) इति वाजिश्रुतेः।

तत्रापि योगमायोदयवशात् तिस्रो व्यक्तय उदबुध्यन्त–अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेति। व्यक्तिः पुरुषः तथा च स्मर्यते –

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

लोकत्रयव्यापीश्वराव्ययनिर्देश उपलक्षणं शरीरव्यापिजीवाव्ययस्यापि। लोकत्रयव्यापित्वाद्याख्यानेनाव्ययस्य परिच्छेदग्राहित्वमात्रमभिप्रेयते, नतु तल्लक्षणमिष्यते। तेनासीम्नः सर्वपरिच्छेदशून्यस्य परमेश्वराव्ययस्याप्यव्ययत्वं न व्याहन्यते।

त्रिपुरुष प्रजापति

बल वह तत्त्व है जो अनन्त स्वरूप गुण और शक्तियों वाला है। उसके अनन्त रूप होने पर भी उन सब में प्रधान बल वह है, जो अपरिच्छिन्न ब्रह्म या रस को परिच्छिन्न बनाता है, जिसका नाम है माया। सृष्टि का आरम्भ ब्रह्म में माया के प्रवर्तन से ही हो उठता है। माया के इस प्रथम प्रवर्तन से इस अमित [सीमा रहित] परात्पर में मिति का, सीमा का हदबन्दी का आविर्भाव हो जाता है और फिर दिशा देश और काल की सृष्टि होने के साथ ही इनकी सीमा में सिमटता हुआ पुरुष नाम का रूप प्रादुर्भूत होता है। अब यह समझना होगा कि जो भी पदार्थ सीमा बद्ध रूप में उपलब्ध है, वह सब एक एक स्वतन्त्र पदार्थ है और उस समूह के प्रत्येक घटक में एक एक पुरुष रूप विराजित है जिसे (वेद भाषा में) प्रजापति संज्ञा मिली है।

–"जो भी कुछ अस्तित्व युक्त है, वह प्रजापति है–" [शतपथ-११।६-१७]

ऐसा वाजश्रुति वाक्य में व्यवहार हुआ है। उस सर्व बल प्रधान माया बल के रस या ब्रह्म के साथ प्रथम संयोग में भी माया बल के भी प्रधानतया सार भूत अंश योग माया बल का ही रस के साथ प्रथम संयोग होने पर अव्यय अक्षर और क्षर ये तीन पुरुष प्रकट हो जाते हैं इसी का स्मरण किया गया है कि–

"लोक में दो पुरुष हैं क्षर और अक्षर। समस्त भूत समुदाय क्षर पुरुष है। (उनमें अनुप्रविष्ट) कूटस्थ अक्षर कहा जाता है, और जो उत्तम पुरुष है, वह (इनसे भी) अन्य ही है जिसे परमात्मा नाम से व्यवहृत किया गया है, जो अव्यय ईश्वर तत्त्व तीनों लोकों के भीतर घुस कर उनका धारण किये हुए है।"–(श्रीमद्भगवद्गीता)

उक्त (श्रीमद्भगवद्गीता के) सन्दर्भ में जो उत्तम पुरुष, परमात्मा अव्यय ईश्वर तत्त्व का लोकत्रय में घुस कर लोकत्रय का धारण बतलाया गया है वह प्रत्येक शरीर व्यापी धारणा को भी संकेतित करने वाला (उपलक्षण) है। गीता के उक्त पद्यों में अव्यय पुरुष की लोकत्रय व्याप्ति (अनुप्रवेश) का कथन हुआ है, उससे सीमा में प्रकट होना मात्र अभिप्रेत है, न कि यह कथन उसका लक्षण है। अतः असीम, समस्त परिच्छेदों से रहित, परमेश्वर अव्यय का अव्ययत्व भी अप्रतिहत ही रहता है।

आनन्दादयस्त्वव्ययस्य लक्षणभूता धर्माः स्युः। ततोऽनवच्छिन्नस्यापि तस्य क्षराक्षरसंबन्धादवच्छिन्नत्वमुपपद्यते। त एते त्रयः पुरुषा एवायमेकः पुरुषः प्रजापतिर्नाम। यावानव्ययपुरुषोऽभिव्याप्नोति तावानेवायमक्षरपुरुषस्तत्राव्ययेऽभिव्याप्नोति। तावानेव तस्मिन्नक्षरपुरुषे क्षरपुरुषः पर्याप्नोति। न क्षराणामेकोऽप्यनाश्रित्याक्षरं कदाचिदवतिष्ठते। नाप्यक्षरः कदाचिदव्ययं व्यभिचरति। अविनाभूता एवैते त्रयोऽप्यन्योन्यसंबद्धा अन्योन्यमुपकुर्वाणा एकैकमर्थस्वरूपं भवति।

आनन्द आदि तो अव्यय पुरुष के लक्षणभूत धर्म हैं। उनसे अव्यय पुरुष के अनवच्छिन्न (निस्सीम) होने पर भी क्षर और अक्षर से सम्बद्ध होने पर उसमें ससीमता (अवच्छिन्नत्व) भासित हो उठता है। ये तीनों पुरुष–अव्यय, अक्षर और क्षर को एक ही प्रजापति पुरुष नाम से पहिचाना गया है। अव्यय पुरुष जितने परिमाण में व्याप्त है, उतने ही परिमाण में अक्षर पुरुष भी अव्यय पुरुष में व्याप्त होता है, और उतने ही परिमाण में अक्षर पुरुष में क्षर पुरुष व्याप्त होता है। क्षर पुरुष की कोई इकाई भी अक्षर पुरुष के आश्रय के बिना कभी भी अस्तित्व में नहीं रहती। और न ही कभी अक्षर पुरुष अव्यय के बिना रहता है। परस्पर नित्य सम्बद्ध (अविनाभूत) रहते हुए ही ये तीनों (अव्यय, अक्षर और क्षर) एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए, एक दूसरे का पोषण करते हुए, एक-एक वस्तु के स्वरूप में प्रकट हैं। इनमें से—

तत्र क्षरोऽयमुपादानकारणः कार्यप्रपञ्चभागः। तस्यैवाक्षरः प्रतिक्षणमन्यान्य-विकारानुत्पादयन् निमित्तकारणभागः। तयोरुभयोरालम्बनभूतोऽन्तरतमः कार्यत्वकारण-त्वाभ्यां शून्यो विशुद्धोऽयमव्यय इत्येवं प्रत्यर्थं विद्यात्। क्षरं मृत्युरनृतम्, दिक्कालादि-परिच्छेदवत्, परिष्वङ्गि स्थानावरोधकं ज्ञानालम्बनं क्रियालम्बनं च। अक्षरं त्वमृतं सत्यं मात्रावदसङ्गं स्थानानवरोधि ज्ञानाविनाभूतं कुर्वद्रूपं च। अथाव्ययमेतदुभयामृतं सत्यं दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्नमनासङ्गि स्थानानवरोधिज्ञानं निष्क्रियं च। क्षरपुरुषोऽवरं ब्रह्म। अव्ययपुरुषः परं ब्रह्म। अथाक्षरपुरुषः परावरं ब्रह्म।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

इत्ययमक्षरोऽभिष्टूयते। सेतुत्वं चाक्षरस्याहुः। तद्द्वारैवावरस्थानां क्षराणां परेपारेऽव्यये परिशीलनोपपत्तेः।

क्षर पुरुष उपादान कारण (मैटीरियल) बनता हुआ कार्य प्रपञ्च का दृश्यमान भाग है, उसी में अक्षर पुरुष विद्यमान है, जो कि निमित्त कारण के रूप में प्रतिष्ठित है, और जो प्रतिक्षण अन्यान्य विकारों को उत्पन्न करता रहता है। इन दोनों का आलम्बन इन सब के भीतर विद्यमान कार्यत्व और करणत्व से शून्य विशुद्ध यही अव्यय पुरुष है, यह बात प्रत्येक पदार्थ के लिए समझनी चाहिए। क्षर मृत्यु या अनृत है, वह दिशा काल आदि के घेरे में है, वह संयुक्त (परिष्वङ्गी) है, स्थानावरोधक है, ज्ञान का आलम्बन और क्रिया का आलम्बन है। अक्षर तो अमृत है, वह सत्य है, मात्राओं से युक्त तथा असङ्ग है, वह स्थान को न घेरने वाला, ज्ञान से नित्य सम्बद्ध, तथा क्रियाशील है। अव्यय पुरुष अभय अमृत स्वरूप, सत्य, दिशा देश काल से असीमित, सम्पर्क रहित, स्थान को न घेरने वाला, क्रिया रहित है। क्षर पुरुष अवर (निम्न) ब्रह्म अव्यय पुरुष है।

परम ब्रह्म है। बीच का अक्षर पुरुष परावर ब्रह्म है। अक्षर पुरुष की स्तुति में कहा गया है कि–

"उस परावर के दर्शन हो जाने पर हृदय की सारी ग्रन्थियां खुल जाती हैं, सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं और द्रष्टा के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं"–

अक्षर पुरुष को सेतु बतलाया गया है। क्योंकि उसी के द्वारा अवर कोटि में स्थित क्षरों का परम अव्यय में परिशीलन होता है।

अव्ययस्य पञ्चपर्वाणि

तत्राव्ययः खल्वात्माऽऽनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयत्वात् पाङ्क्तः प्रतिपत्तव्यः। मनसि परात्परेऽन्तश्चितिद्वैधाद् बहिश्चितिद्वैधाच्चाव्ययस्वरूपसिद्धेः।

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि॥
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा संप्रतिष्ठितः।"
"मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय॥
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥"

इयेवं मुण्डकेनान्नप्राणमनोविज्ञानानन्दैः पञ्चभिः कोशैस्तस्योपलक्षितत्वात्। एतावानेवायमात्मा नातः परमस्य प्रातिस्विकं स्वरूपमस्ति। तत्र प्राणो वाक्चेत्यवरार्द्धं सृष्टिसाक्षि, विज्ञानमानन्दश्चेति परार्द्धं मुक्तिसाक्षि। मध्यमं तु मनः परात्परप्राप्यमव्ययस्यात्मा सर्वसाक्षि, तत एवेदमव्ययं द्वादशगुणं स्मर्यते—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्"॥

अव्यय के पांच पर्व

इनमें अव्यय आत्मा आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण वाङ्मय है। मन रूप जो परात्पर है उसमें दो प्रकार की अन्तश्चिति तथा दो प्रकार की बहिश्चिति होने पर अव्यय पुरुष निष्पन्न होता है।

–"जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है, भूमि में जिसकी यह महिमा है, यह दिव्य ब्रह्मपुर, व्योम में आत्मा रूप से प्रतिष्ठित है—"

–"वह मनोमय है, प्राण और शरीर का नेता है, वह अन्न में हृदय को संस्थित करके प्रतिष्ठित है, धीर गण उसके ज्ञान से अमृत आनन्द रूप जो विभासित हो रहा है उसे देखते हैं।"

इस मुण्डकोपनिषद् वाक्य में अन्न प्राण मन विज्ञान तथा आनन्द इन पांच कोशों से उसकी पहिचान कराई गई है। यह आत्मा इतने ही परिचय का विषय है, इससे अधिक इसके परिचय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। इनमें प्राण और वाक् ये दो प्रारम्भ की सृष्टि की साक्षि भूत कलाएं हैं, विज्ञान तथा आनन्द ये उत्तरार्ध वाली मुक्ति की साक्षि कलाएं हैं। मध्य में परिगणित मन प्राय: परात्पर स्वरूप है, वह अव्यय की आत्मा और सर्वसाक्षी है। इसीलिए, अव्यय पुरुष बारह गुणों से युक्त कहा गया है।

सर्वप्रथमाव्ययस्याद्वितोयत्वम्

स चायमेक एवात्मा सजातीयविजातीयभेदाप्रतिपत्तेः। ननु क्षराक्षराभ्यामानन्दादिभिश्च भेदग्रहणाद् द्वैतं प्रसज्यत इति चेन्न। अवयवावयविनोरभेदोपपत्त्या स्वगतभेदस्य मनुष्यशरीरादौ लोके द्वैतोपपादकत्वादर्शनात्। ये तु स्वगतभेदमपि न क्षमन्ते ब्रह्मणस्तेषामयमात्मा निर्विशेषोऽभिप्रेतः। सर्वबलवैशिष्ट्येन परात्परत्वादिविशेषोत्पत्तावप्यसद्रूपाद्बलात् पार्थक्येन सद्रूपस्य ब्रह्मणोभ्युपपत्तौ सर्वविधानामेव भेदानां व्यावर्तमानत्वात्। अथ यस्त्वयमव्ययः सर्वधर्मोपपन्न आत्मा, तस्य सविशेषत्वनैयत्यात् स्वगतभेदसत्त्वेऽपि न क्षतिः। तावताऽप्यद्वैतताया अव्याहतत्वात्।

सर्वप्रथम अव्यय की अद्वितीयता

पुनश्च यह एक ही आत्मा है। क्यों कि इसमें सजातीय विजातीय भेद के लिए अवकाश नहीं है। प्रश्न होता है कि क्षर, अक्षर आदि से तथा आनन्द आदि कोशों के कारण इसमें भी भेद तो भासित होगा ही। तब तो द्वैत सिद्ध हो जायगा किन्तु ऐसा है नहीं। अवयव और अवयवी परस्पर अभिन्न ही होते हैं और जो स्वगत भेद है वह तो मनुष्य आदि के शरीरों में रहता हुआ भी भेद बुद्धि नहीं कराता। द्वैत तथा अद्वैत के विचार के मध्य जो विचारक अद्वैत में स्वगत भेद भी सहना नहीं चाहते उनके लिए यह आत्मा निर्विशेष ही कहा जायगा। सब बलों से संयोग होने पर परात्पर नामक जो रूप प्रकट होता है उसके होने पर भी जो असत् रूप बल है उससे जब कारण तत्त्व को पृथक् किया जायगा तब सत् स्वरूप ब्रह्म ही अवशिष्ट रहेगा और उस स्थिति में सभी प्रकार के भेदों की निवृत्ति हो जायगी। अब यह अव्यय जो सभी धर्मों से युक्त आत्मा है उसका विशेषताओं से युक्त होना नियत है, अत: उसके स्वगत भेद से युक्त होने पर भी कोई क्षति नहीं है। अव्यय में स्वगत भेद रहने पर भी अद्वैतता निर्बाध रूप से सिद्धान्तित रह सकेगी।

अव्ययस्य पुरुषोत्तमत्व-कारणत्व-निर्दोषत्वानि

अव्ययेऽस्मिन् पुरुषे अजशब्दो महाजनशब्दः परशब्दश्च निरूढः। स उत्तमपुरुषत्वात् पुरुषोत्तमो नाम।

" यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" । इति स्मरणात् ।
"तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा"—

इति श्रुतेरक्षरावच्छेदेन सर्वशक्तिमत्वात् सर्वकारणभूतोऽप्ययमव्ययः स्वारस्येन कार्यकारणव्यतिरिक्तो द्रष्टव्यः ।

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।
"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ।।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

इत्यादिश्रुतिभ्यः सर्वव्यापिनो निरवच्छिन्नस्य परात्परस्यैव मायावैशिष्ट्यादव्ययशब्दः । तस्याकर्तृत्वेऽपि कूटस्थाक्षरनित्यसंसर्गितया स्वरूपसत्तामात्रेण तदक्षरव्यापारप्रयोजकत्वादस्य कर्तृत्वं प्रतिपद्यामहे । एतदभिप्रायेणैव भगवद्गीतायाम्—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।"

इत्यव्ययस्यात्मनः कर्तृत्वमभिप्रेयते ।

अव्ययपुरुष का पुरुषोत्तमत्व कारणत्व तथा निर्दोषत्व

इस अव्ययतत्त्व के लिए अज शब्द महाजन शब्द और पर शब्द निरूढ हैं । वह उत्तम पुरुष होने से पुरुषोत्तम कहा जाता है—

—"क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूं तथा अक्षर से भी अतीत हूं इसीलिए वेद तथा लोक के शब्द व्यवहार में पुरुषोत्तम संज्ञा से विख्यात हूं ।" ऐसी गीता में उक्ति है ।

—"उस भूतों के कारणस्वरूप अव्यय को धीर लोग पहिचान पाते हैं"-इस श्रुति वचन से अक्षर तत्त्व के परिग्रह के कारण सर्वशक्तिमान हो जाने से सब का कारण

होता हुआ भी यह अव्यय स्वरूपत: कार्य और कारण से पृथक् रहता है, यह समझना होगा।

–"न उसका कार्य है न कारण, न उसके कोई समान है न उससे अधिक, उसको स्वाभाविक ज्ञान बल और क्रिया वाली परा शक्ति विविध है, ऐसा सुना जाता है।"

–"वह अमूर्त पुरुष दिव्य है, वह अजन्मा है, वह बाहर भी है भीतर भी, वह प्राण रहित मन रहित, शुभ्र एवं अक्षर से परे परम तत्त्व है।"

–"वह अशब्द अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवान् अनादि तथा अनन्त है, निश्चय ही वह महान् से पर है, उसका निश्चय होने पर मृत्यु मुख से छुटकारा मिल जाता है।"

–"जो सर्वज्ञ है, सर्वज्ञाता है, ज्ञानमय जिसका तप है, यह नाम रूप और अन्न उसी से उत्पन्न होते हैं।"

–"एक ही वह देव है जो सब भूतों में गूढ़ है, वह सर्वव्यापी तथा समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। वह कर्माध्यक्ष है, वह समस्त भूतों में निवास करता है, वह चेतन है, साक्षी है, केवल है, तथा निर्गुण है।"

इत्यादि वेद वाक्यों में सर्वव्यापी, निरवच्छिन्न परात्पर का ही माया के (संयोग जन्य) वैशिष्ट्य से अव्यय शब्द से व्यवहार है।

उसके अकर्त्ता होने पर भी कूटस्थ अक्षरपुरुष के साथ नित्य संबद्ध होने के कारण स्वरूप की सत्ता मात्र से उस अक्षरपुरुष के क्रियाकलाप के प्रेरक होने के कारण अव्यय को भी कर्त्ता मान लिया जाता है। इसी अभिप्राय का प्रकाशन भगवद्गीता में हुआ है कि—

–"अबुद्धि लोग अव्यक्त होते हुए भी व्यक्तरूपता को देखकर मुझे व्यक्त समझते हैं, वे मेरे अनुत्तम अव्यय परम रूप को नहीं जानते।" इस प्रकार अव्यय का कर्तृत्व अभिप्रेत हुआ है।

स एष आत्मा शरीरपरिच्छन्नत्वाच्छरीरस्थोपि शारीरदोषैर्न युज्यते।

'एष त आत्मा सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकमोहजरामृत्युमत्येति'।

इति श्रुतेः—

"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपि सःसत्यकामः सत्यसंकल्पः—" इति श्रुतेश्च।

तनायमव्ययो नामात्मा कामसंकल्पसहितोऽपि क्षुधादिषड्ूर्मिरहितः प्रत्येतव्यः, आविद्वत्कुलमापामरमाबालवृद्धमाचेतनजडं सर्वत्रैकरूपः शुद्धः प्रतिपत्तव्यः । स न स्त्री न पुमान् न क्लीबः । न ब्राह्मणो न क्षत्रियो न वैश्यो न शूद्रः ।

पापिनोपि पुरुषस्यैतस्मिन्नात्मभागे न केचन दोषाः स्पृशन्ति । तस्यासङ्गत्वादिति बोध्यम् ।

यह आत्मा शरीर से परिच्छिन्न होने पर (शरीरस्थ होने पर) भी शरीर के दोषों से मुक्त नहीं होता । —"यह तुम्हारा आत्मा ही है, जो सबसे भीतर है, जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा, मृत्यु से अलग रहता है ।" इस श्रुति वाक्य से भी यही स्वरूप ज्ञात हो रहा है ।

—"यह आत्मा ही शरीर को नष्ट करके रहने वाला, जरा शून्य, मृत्यु से दूर, शोक से पृथक् विजिघित्स होता हुआ भी सत्यकामना वाला तथा सत्यसंकल्प वाला है"— —इस श्रुति वाक्य में भी यही बात कही गई है । अतः यह अव्यय नामक आत्मा काम संकल्प से युक्त होने पर भी क्षुधा आदि छ ऊर्मियों से रहित समझा जाना चाहिए । विद्वानों से लेकर पामरों तक, बालक से वृद्ध तक, जड़ से चेतन तक सर्वत्र यह शुद्ध एकरूप ही समझने योग्य है । न वह स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है । वह न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है और न शूद्र है । पापी पुरुष के भी इस आत्मा भाग में किसी दोष का स्पर्श भी नहीं होता । क्योंकि वह असङ्ग है ।

अव्ययपरात्परयोर्भेदाभेदौ

अव्ययपरात्परयोर्मायापारवश्यापारवश्याभ्यां भेदः। तथाहि आदौ तावन्मायाबलस्य सर्वबलप्रपञ्चकाशरूपस्य परात्परमालम्बमानस्यापि सहचरभावेनावस्थानं न तु चितिरूपेण । अत एवैतस्मिन् परात्परे मायासंनिधानादानन्दचेतनासत्तारूपैस्त्रेधा परिच्छदेऽप्येषां त्रयाणामपरिच्छिन्नतयैवान्योन्याभेदप्रतिपत्तिः । अस्तीत्याकारोपलब्धिर्नाशविरोधित्वादानन्द इत्येवं त्रिधा गृहीतोऽप्ययमेको विश्वेषामर्थानां साधारणो धर्मः ।

"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते"—इत्यादिश्रुतेः—

"अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति" श्रुतेश्च ।

अनन्तैकसत्तैव तु बृहत्क्षुद्रातिक्षुद्रनानाविधप्रजापतिष्वभिव्याप्यमाना तत्परिमाणयोगात्परिमाणवती भासते । तथा चेतना, तथाऽऽनन्दः ।

मायानिगीर्णत्वाभावात्त्वयं परात्परः पुरुषेभ्योऽतिरिच्यते । शरीराद्यवच्छिन्नस्यैवात्मनः पुरिशयनान्निवासाद्वा पुरुषत्वोपपत्त्या शरीरानवच्छेदे पुरुषत्वायोगात् ।

अव्यय तथा परात्पर में भेद तथा अभेद

अव्यय और परात्पर में माया की परवशता और उससे रहितता के कारण ही भेद है। कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में समस्त बल समूह का कोष रूप माया बल परात्पर का आलम्बन करने पर भी सहचर भाव से ही अवस्थित रहता है न कि चैतन्य के रूप में। इसीलिए इस परात्पर में माया के संनिधान से आनन्द चेतना और सत्ता रूप तीन प्रकार के परिच्छेद होने पर भी इन तीनों में कोई परिच्छेद नहीं, अतः इनका एक दूसरे से भेद भी भासित नहीं होता। 'है' यह भासित होना, नाश का विरोधी होना तथा आनन्द की उपलब्धि रहना, इस प्रकार तीन प्रकार से समझ में आने पर भी समस्त पदार्थों का एक रूप में साधारण धर्म बना हुआ है।

—"जो "है" ऐसा बोल रहा है, उसको उस तत्त्व की उपलब्धि अन्यत्र कहाँ पर होगी"—

इत्यादि वेद वाक्य हैं।

—"इसी आनन्द की मात्राओं का (अंशों का) उपभोग अन्य तत्त्व प्राप्त करते हैं।"

—इस श्रुति वचन से भी यही बात सिद्ध हो रही है। अनन्त एक सत्ता ही तो बृहत्, क्षुद्रातिक्षुद्र नाना प्रकार के प्रजापतियों में अभिव्याप्त होती हुई उनकी सीमाओं से सीमाबद्ध रूप से भासित होती है। यही स्थिति चेतना की है तथा यही स्थिति आनन्द की भी है। माया से अप्रभावित रहने के कारण यह परात्पर पुरुषोंसे पृथक् या अतिरिक्त रहता है। शरीर ही पुर है उसकी सीमा में जो आत्मा है वही पुर में–शरीर में, शयन, निवास, के कारण पुरुष है, परन्तु जहाँ शरीर ही नहीं है, वहाँ पुरुष होने का भी प्रसंग नहीं।

यत्तु—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

इत्येवं तृतीयमुण्डके परात्परपरतया पुरुषशब्दोऽभिनीयते। तदिहाव्ययपरात्परयोरतिसंनिधानादव्ययपुरुषप्राप्तेः परात्परप्राप्त्यौपयिकत्वाभिप्रायं नेयम्। अपि वा जीवात्मसंबंधिनि परेऽव्यये सर्वैकीभावानन्तरं तस्मात्पराद्दिव्यं परमीश्वरसंबन्धिनमव्ययं पुरुषमुपैति। उभयोरव्यययोरभिन्नत्वादिति मन्त्रतात्पर्यं स्यात्। तस्मान्न विरोधः।

अथ चैष एव निरवच्छिन्नपरात्परो मायानिचयनाद् द्वेधा मायया निगीर्यते—महत्या चावान्तरया योगमायया च। तत्रावान्तरया योगमायया परात्परमिदं मनः परिच्छिन्नं भूत्वा द्वेधाऽन्तरतश्चीयते विज्ञानेन चानन्देन च। द्विधैव च बहिर्धोपचीयते—प्राणेन च वाचा च। तथा चान्तश्चितिबहिश्चितिभ्यां मनसः पांक्तत्वं संपद्यते। आनन्दो विज्ञानं मनः प्राणो वागिति पञ्चावयवोपेतं च तद्रूपमव्ययं नामोच्यते। तदिदं पांक्तमव्ययं यया परिच्छिद्यते सा महती माया।

—"पन्द्रह कलाएं जो प्रतिष्ठा प्राप्त हैं वे विलीन हो गईं। प्रत्येक देवता में जो देव तत्त्व है वह भी विलीन हो जाता है। कर्म तथा विज्ञानमय आत्मा भी, परम अव्यय में सब एकरूप हो जाते हैं।"

—"जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप का परित्याग कर समुद्र में अस्त हो जातीं हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष नाम और रूप से विमुक्त हो परम दिव्य अव्यय पुरुष तत्त्व में समा जाता है।"

इस मुण्डक उपनिषद् के तृतीय भाग में परात्पर के लिए जो पुरुष शब्द का व्यवहार हुआ है, उसे यहां परात्पर और अव्यय की अत्यन्त समीपता के कारण परात्पर को प्राप्ति के उपाय के रूप में अव्यय को समझना होगा। अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जीवात्मा से सम्बन्धित जो पर अव्यय है, उसमें सबके एकीभाव के अनन्तर उस पर से दिव्य जो पर है, जो ईश्वर सम्बन्धी अव्यय पुरुष है, उसे प्राप्त करता है। दोनों अव्ययों के अभिन्न होने के कारण ऐसा होता है, यह मन्त्र का तात्पर्य हो सकता है और इस प्रकार किसी विरोध का अवकाश नहीं रहता।

यही निस्सीम परात्पर माया के आवरण से दो प्रकार की माया से आवृत होता है, एक महामाया से तथा दूसरी अवान्तर योगमाया से। उनमें अवान्तर योगमाया से आवृत यह परात्पर निरवच्छिन्न मनस्तत्त्व भीतर ही भीतर विलीन और आनन्द से व्याप्त हो जाता है। तथा दो ही प्रकार से बाहर भी प्राण और वाक् से व्याप्त हो जाता है। इन दोनों प्रकार की अन्तश्चिति या अन्तर्व्याप्ति तथा बहिश्चिति या बहिर्व्याप्तियों से उस मनस्तत्त्व या परात्पर ब्रह्म में पंक्तियां बनने से यह "पांक्त" हो जाता है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् नाम के पांच अव्ययों से युक्त होकर यह अव्यय पुरुष की संज्ञा धारण कर लेता है। यह पांक्त अव्यय पुरुष जिससे परिच्छेद या सीमित अवस्था में आता है उसका नाम महामाया है।

यावती सा महामाया विष्ठिता तावता रूपेण नाम्ना कर्मणा च कृतावच्छेदः प्रजापतिः संपद्यते। प्राणावच्छिन्नोऽयमक्षरो वागवच्छिन्नः क्षरश्चैतदव्ययमहामायया निगीर्येते इत्यव्ययावच्छेदिकैव सा माया प्रजापत्यवच्छेदिका प्रतिपद्यते, क्षराक्षरगर्भितस्यैवाव्ययस्य प्रजापतित्वात्। त्रिपुरुषे हि पुरुषे प्रजापतिशब्दमामनन्ति। प्रजापतिश्चायमात्मा

मायाविशिष्टत्वात् सविशेषः न क्षरेणाक्षरो नापि क्षराक्षराभ्यामयमव्ययो विनाकृतो भवति । अतएव तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इति लोकसिद्धन्यायात् - क्षरगर्भोऽयमक्षरो क्षरशब्देन क्षराक्षरगर्भोऽयमव्ययोऽव्ययशब्देन व्यपदिश्यते । तथा चैतस्याव्ययस्यैवान्ततः प्रजापतित्वमात्मत्वं च निष्कृष्यते —

"तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्—"

इति स्मृतिरप्यत एव संगच्छते । अक्षरविशिष्टस्याव्ययस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन कर्तृत्वात् । विशुद्धस्वरूपमात्रस्य त्वव्ययस्य निष्क्रियत्वेनाकर्तृत्वात् । विशुद्धविशिष्टयोर्भेदाभेदोपचारो व्यवहारसिद्ध इति बोध्यम् । अथ स्वतो वा ज्ञानाधिक्याद्वा मायाबलविनाशे तु घटध्वंसेन घटाकाशस्य महाकाशत्ववदयं प्रजापतिः परात्परः संपद्यते इति सुनिभृतं प्रत्येतव्यम् ।

जहां तक उस महामाया का विस्तार या फैलाव होता है वहां वह नाम रूप और कर्म से सीमाबद्ध होकर प्रजापति हो जाता है । प्राण से सीमित यह अक्षर तथा वाक् से सीमित यह क्षर अव्यय की महामाया से व्याप्त रहते हैं अतः वह अव्यय को आत्मसीमित करने वाली प्रजापति की सीमा बनाने वाली सिद्ध होती है । क्षर तथा अक्षर को गर्भ में लेता हुआ अव्यय ही प्रजापति होता है अतः (क्षर, अक्षर, अव्यय) तीनों पुरुषों के लिए प्रजापति शब्द का प्रयोग स्वीकार किया गया है । यह प्रजापति आत्मा माया से विशिष्ट होने के कारण सविशेष है । क्षर के बिना अक्षर और इन दोनों के बिना कभी अव्यय की स्थिति नहीं रहती । इसलिए

—'जिनके बीच में जो आ जाता है उनका नाम लेने पर बीच वाले का भी ज्ञान हो जाता है"—

यह लोक सिद्ध न्याय है, इससे क्षर से गर्भित यह अक्षर क्षर शब्द से तथा क्षर तथा अक्षर से गर्भित यह अव्यय अव्यय शब्द से कहा जाता है । और अन्ततः इस अव्यय का प्रजापतित्व और आत्मस्वरूप होना निष्कर्ष के रूप में फलित होता है ।

—"उसका अकर्ता होता हुआ भी मैं अव्यय उस सब का कर्ता हूं"

—यह स्मृति (गीता) वाक्य भी अब भली भांति संगत हो गया, क्योंकि अक्षरगर्भित अव्यय ही शक्ति विशिष्ट होकर संसार का कर्ता है । जो अव्यय पुरुष अपने विशुद्ध स्वरूप में अवस्थित रहता है वह तो निष्क्रिय होने से कर्तृत्व से अतीत ही रहता है । विशुद्ध अव्यय पुरुष तथा माया विशिष्ट अव्यय पुरुष का भेदाभेद युक्त प्रयोग तो व्यवहार से ज्ञात है यह समझना होगा । स्वतः अथवा ज्ञान की अधिकता से माया बल के विनष्ट हो जाने पर जैसे घड़ा फूट जाने पर घड़े का आकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही यह प्रजापति भी अपने परात्पर रूप को प्राप्त कर लेता है यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिए ।

अव्ययस्य सच्चिदानन्दत्वम्

आनन्दो विज्ञानं सत्तेत्यव्ययस्य परमं रूपम् । तत्र मनःप्राणवाचो मुकुलितावस्था विकसितावस्था वा सत्तेत्येकः शब्दः । मनसा विनियुक्तः प्राणो वाचमधितिष्ठतीति ब्रुवन्नाह–अस्तीति । अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति वदतामपीदमेवोक्तं भवति । अर्थस्य वाक्त्वात् क्रियायाः प्राणत्वात् कारिताया मनस्त्वात् । तस्मादयमव्ययः सच्चिदानन्दः ।

अव्यय की सच्चिदानन्दरूपता

आनन्द, विज्ञान, और सत्ता यही अव्यय के परम स्वरूप हैं । वहां मन प्राण और वाक् की संकुचित अवस्था या विकसित अवस्था ही सत्ता है । मन के द्वारा नियुक्त प्राण वाणी में जब आकर बोलता है तब कहा जाता है कि 'है' । जो अर्थ और क्रिया को सम्पन्न करना ही सत्ता का स्वरूप कहते हैं उनके मत में भी यही प्रतिफलित होता है । अर्थ ही वाक् है, क्रिया ही प्राण है, कारित्व ही मनस्त्व है । इसलिए यह अव्यय पुरुष सच्चिदानन्द कहा जाता है ।

–अव्ययपुरुषस्य अशरीरत्वमनन्तायतनयोगित्वं च–

अस्याव्ययस्य नियतायतनाभावादशरीरत्वं प्रतिपद्यामहे । तेन यथा बिन्दुतिलहस्तिगिरिब्रह्माण्डादिक्षुद्रबृहन्नानाविधविषयावगाहिनो मनसो विषयपरिमाणग्राहितया क्षुद्रबृहदायतनत्वमुपपद्यते एवमस्याव्ययस्यापि कृमिकीटपशुपक्षिमनुष्यादिविग्रहावगाहित्वस्वाभाव्यात् तत्तद्विग्रहपरिमाणावच्छिन्नत्वप्रतिपत्तिमभ्युपगच्छामः । तथा चामनन्ति—

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।"

'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वासर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतन्दुलाद्वा"—

–"एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यान्दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यातोऽवाक्यनादरः एष म आत्माऽन्तर्हृदयेएतद्ब्रह्म । एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः ।"

स एक एवायमात्मा स्वयमनवच्छिन्नोऽपि महति विग्रहे महापरिमाणोऽत्यल्पविग्रहे चात्यल्पपरिमाणः संपद्यते किन्तु स एवाखिलविग्रहोपाधिरहितत्वेन विशुद्धस्वरूपमात्रविवक्षया निःसीमः परात्परवन्निरवच्छिन्नत्वेन प्रतिपन्नः परमेश्वरो नामोच्यते इत्यवगन्तव्यम् ।

अव्यय पुरुष का अशरीरी होना तथा अनन्त आयतनों में संयोग

यह अव्यय पुरुष नियत स्थान में रहने के अभाव में अशरीरी है। अतः जैसे मन, बिन्दु, तिल, हाथी, पर्वत, ब्रह्माण्ड आदि छोटे बड़े अनेक विषयों का अवगाहन करने के कारण विषय परिमाण का ग्रहण करता है और छोटे बड़े आयतनवाला हो जाता है, उसी प्रकार यह अव्यय पुरुष भी कृमि, कीट, पशु, पक्षि, मनुष्य आदि के शरीर में समाकर उसी आकार को धारण कर लेता है, ऐसा समझा जाता है। कहा भी गया है कि—

—"अणु से अणु, महान् से महान् आत्मा इस जन्तु की गुहा में निहित है, वीतशोक कर्म परित्यागी (अक्रतुः) व्यक्ति आत्मा की उस महिमा को विधाता के प्रसाद से देखता है।"—

—"यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर चावल, जौ, सरसों, श्यामाक, श्यामाकतन्डुल से भी छोटे आकार का, यह मेरे हृदय में स्थित आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा अन्य इन सभी लोकों से बड़ा, सर्वकर्मा सर्व कामना युक्त, समस्त गन्ध वाला, समस्त रस वाला, यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर है। यह ब्रह्म है। यहां से प्रयाण कर के मैं इसी में लीन हो जाऊँगा। जिसे यह (आत्मा) प्राप्त, है, उसे कोई सन्देह नहीं रहता"—

यह शाण्डिल्य ऋषि का कथन है। यह आत्मा एक ही है, यह स्वयं असीमित होता हुआ भी बड़े शरीरों की उपाधियों से रहित विशुद्ध स्वरूप मात्र की जिज्ञासा से निःसीम है, वह परात्पर के समान निरवच्छिन्न के रूप में जाना गया परमेश्वर कहा जाता है, यह समझ लेना चाहिए।

त्रिपुरुषप्रजापतेर्विग्रहायतनोपाधिनिबन्धनं त्रैविध्यम्

अथ यदा त्वयमेवाव्यय आत्मा स्वपरिगृहीतविग्रहपरिमाणोपाधिवशान्महीयांश्चोपपद्यतेऽणीयाँश्च तदाऽयं चिदाभासो नाम जायते। यथा महाकाचे दृष्टः सूर्यसाम्यात् षडंगुलविष्कम्भः सूर्यप्रतिबिम्बः स एव नखे दृष्टोऽत्यणुमात्रो निष्पद्यते। एवमयमात्मा सर्वाधिकबृहत्सीमत्वे तावदीश्वरो नाम चिदाभासः। तदपेक्षयाल्पसीमत्वात्तु तदन्तर्गताः सर्वे चिदाभासाः। प्रतिबिम्बत्वादद्वन्द्वत्वादविद्याक्रान्तत्वात् क्लेशकर्मविपाकाशयैः परामृष्टत्वाच्च संज्ञान्तरेण जीवा उच्यन्ते। तदित्थमस्याव्ययस्य

निःसीमत्वबृहत्सीमत्वाल्पसीमत्वभेदात्—

त्रयो भेदा उपपद्यन्ते—

परमेश्वर ईश्वरो जीवश्चेति।

तत्रेश्वरजीवयोः शारीरकशब्दः विग्रहाभिमानित्वात्। परमेश्वरस्य त्वव्ययस्य शारीरकत्वं नास्ति परात्परवद्विग्रहानभिमानित्वात्।

त्रिपुरुष प्रजापति के शरीराकार उपाधि का कारण त्रिविध होना

अब जब यह अव्यय आत्मा अपने परिगृहीत शरीर की उपाधि के कारण महान् या अणु होता है तब इसका नाम हो जाता है चिदाभास। जैसे बड़े काच में दिखाई देने वाला सूर्य आधार साम्य से छः उंगलियों के आकार के सूर्य के प्रतिबिम्ब रूप में गृहीत होता है, वही नखून में देखने पर और भी बहुत छोटा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह आत्मा सर्वाधिक बड़ी सीमा में प्रतिबिम्बित होने पर ईश्वर शब्द से सम्बोधित होता है, तथा उसकी अपेक्षा छोटी सीमा में प्रतिबिम्बित होने पर ईश्वर के अन्तर्गत सभी चिदाभास शब्द से कहे जाते हैं। प्रतिबिम्ब होने से, अर्धेन्द्र होने से, अविद्या से आक्रान्त होने से, क्लेश, कर्म, विपाक, आशयों के द्वारा सम्बद्ध होने से (चिदाभास) की दूसरी संज्ञा जीव भी है। इस प्रकार इस अव्यय के, निःसीम, विशालसीमा तथा अल्पसीमावाला होने के कारण परमेश्वर ईश्वर तथा जीव ये तीन भेद हो जाते हैं। इन में ईश्वर तथा जीव के लिए शरीर का स्वामित्व धारण करने के कारण शारीरक शब्द का प्रयोग भी होता है। अव्यय परमेश्वर को तो परात्पर की तरह शरीर का स्वामी न होने के कारण शारीरक नहीं कहा जाता।

जीवेश्वरपरमेश्वराणां विग्रहानुपसृष्टानां नित्याभिन्नैकत्वम्

अत्र जीवविग्रहेश्वरविग्रहयोः कतिपयधर्मैर्भेदेऽपि तदभिमानिनोर्जीवात्मेश्वरात्मनोर्नतरामस्ति भेदः। क्षराक्षरनित्यसयुजोऽव्ययस्यानन्दादिभिः पञ्चधातुकतायाः उभयत्र साम्यात्। तथा चाम्नायते कठैः

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम"॥

अत्र यत्तद्भ्यां पुरुषधातवो विवक्ष्यन्ते। तेनामृतस्यात्मभागस्योभयत्राभिन्नत्वमभिप्रेयते। विग्रहभागे त्वैश्वरे वा जैवे वा मृत्युमये मृत्युभेदाद् भेदा उपपद्यन्ते अत एवात्र भेदं

पश्यतो भेदनिबन्धना दृष्टिर्मृत्यौ संस्रवते । तथा चायममृतमयोऽस्यात्मा मृत्युनाऽप्यनुवासितो भवति संबन्धायोपपद्यते । तस्मादनयोर्जीवेश्वरयोर्यावान् भेदः प्रतीयते तस्य विग्रहस्थतयात्मन्यमृते तद्भावाद् भेदभागे दृष्टिमकृत्वा जीवेश्वरात्मनोरभेदेनोपासना कार्या ।

शरीर संस्पर्श वर्जित जीव ईश्वर तथा परमेश्वर की नित्य अभिन्न एकता

इस विवेचन में जीव शरीर तथा ईश्वरानुगृहीत शरीर में कुछ धर्मों के आधार पर भेद होने पर भी उनके स्वामी जीवात्मा तथा ईश्वरात्मा में कुछ भी भेद नहीं है। यह ज्ञात होता है क्योंकि क्षर पुरुष तथा अक्षर पुरुष से नित्य सम्बद्ध अव्यय पुरुष का आनन्द आदि पांच धातुओं के कारण दोनों स्थानों पर साम्य है। कठोपनिषद में कहा गया है कि—

—"जो भी यहां है, वही वहां है, तथा जो वहां है, वही यहां है। वह मृत्यु से भी अधिकाधिक अधोगति को प्राप्त करता है जो इनमें भेद की सी दृष्टि रखता"—

—"यह बात मन से ही जानी जाती है कि यहां कुछ भी नाना भाव या भेद रूप में नहीं है, वह मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो यहां नाना भाव से देखता है"—

—"पुरुष (आत्मा) अङ्गुष्ठमात्र ज्योति के समान धूम रहित है, वह भूत भविष्य का स्वामी है, वही आज तथा कल है (कालरूप) है"—

—"जैसे उच्च प्रदेश में (दुर्ग में) बरसा हुआ जल पर्वतों पर बहता है इसी प्रकार धर्मों में भेद दर्शन करने वाला उन्हींके पीछे दौड़ता है"—

—"जैसे विशुद्ध आधार में आया हुआ शुद्ध जल वैसा ही रहता है, उसी प्रकार हे गौतम ! ज्ञानी मौन पुरुष का आत्मा स्वरूप में स्थित रहता है"—

इस सन्दर्भ में 'यत्', (जो) 'तत्', (वह) आदि शब्दों से पुरुष के धातु (आनन्द आदि) अभिप्रेत हैं। इससे अमृत रूप आत्मा का भाग दोनों स्थानों में अभिन्नरूप से विद्यमान है यह अभिप्राय बोधित होता है। शरीर परिग्रह होने पर तो ईश्वर और जीव दोनों में मृत्युमयता है। अतः मृत्यु के भेद से ही इनमे भेद सिद्ध होता है। इसलिए यहां भेद देखने वाले की भेद गर्भित दृष्टि मृत्यु में परिणत कही गई है। इसी से अमृतमय स्वरूप वाला इसका आत्मा भी मृत्यु से अनुवासित हो जाता है और सम्बन्ध बन्धन में आ जाता है। इसलिए जीव तथा ईश्वर में जो भी भेद प्रतीत हो रहा है वह शरीर में स्थिति होने के कारण। अमृत रूप आत्मा में उसका अभाव है अतः अपनी दृष्टि को भेद भाग से हटाकर जीवात्मा तथा ईश्वरात्मा की अभेद रूप से उपासना करनी चाहिए।

विग्रहभेदाद् भिन्नत्वेन प्रतिपन्नयोरात्मनोः कथमभेदः शक्यः प्रतिपत्तुमिति चेत्तत्राह मनसैवेदमाप्तव्यमिति । विषयभेदभिन्नेन मनसा दृष्टान्तेनेदमभिन्नत्वं शक्यमाप्तुमि-

त्यर्थः । तेन हि दृष्टान्तेन किञ्चदपि भिन्नत्वमात्मनोर्नावशिष्यते । यथा कथंचिद् भिन्नतायाः सत्त्वेपि तस्या अनात्मिके मृत्युभागमात्रे परिनिष्ठितत्वात् परित्यागः । अमृतमृत्युमयो हि प्रजापतिः ।

"उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास । अमृतं मर्त्यं च । तस्य प्राणा एवाऽमृता आसुः । शरीरं मर्त्यम् ।" (शत० । १० । १ । ४) इति श्रुतेः ।

तथा चैतं प्रजापतिं य इह नानेव पश्यति स मृत्युमयस्य विग्रहस्य धर्मभेदरूपं मृत्युमेव दृष्टिद्वाराऽवगाहते न त्वमृतमात्मानम् । आत्मा त्वमृतोऽयमव्ययः परज्योतिष ईश्वरस्यांशभूतत्वाद् निर्धूमज्योतिरिवास्मिन् जीवविग्रहे प्रतिष्ठितोऽङ्गुष्ठमात्रोऽपि तावतैवालोमभ्य आनखाग्रेभ्यः सर्वां शरीरयष्टिमभिव्याप्नुवानः शरीरगतान् भूतभव्यानद्यतनान् श्वस्तनांश्च सर्वानेव धर्मानीष्टे । अन्नादानमलविसर्गाणां रसधातुविकाराणां च शरीरस्थानामेतदात्मसत्ताधीनत्वात् ।

नन्वयमङ्गुष्ठमात्रः सन् कथमिमां सर्वां शरीरयष्टिमभिव्याप्नोतीति चेत् । तत्राह —यथा पर्वतस्थे दुर्गे व्योम्नः सकाशादभिवृष्टं जलं दुर्गाधारभूतस्य पर्वतस्य व्यवहितगुहादिप्रदेशेषु शुष्केष्वप्यार्द्रत्वं संपादयमानं संस्रवते एवमिहापि परज्योतिष ईश्वरादाहितं हृद्युपपन्नं चैतन्यज्योतिरङ्गुष्ठमात्रमेवैतस्य शरीरस्य सर्वेष्वङ्गेष्वभिव्याप्यमानं जडत्वात् स्वतः पृथग्धर्मानिमान् यान् यान् शरीरदेशानुपसंनिधत्ते तानेवानुव्याप्य चेतनान् करोतीत्यर्थः । एवमीश्वरात्मनो जीवात्मभावेनास्मिन् जीवविग्रहेऽभिव्याप्तिः प्रदर्शिता ।

शरीर भेद से भिन्नतया गृहीत दोनों आत्म रूपों (जीव ईश्वर) में अभेद कैसे समझा जा सकता है इस सन्देह के उत्तर के लिए कहा गया है कि यह अभेद मन के द्वारा हो प्राप्तव्य होता है । विषय भेद से भिन्न मन के दृष्टान्त से यह अभेद प्राप्त किया जाता है, यह आशय है । उस दृष्टान्त से दोनों आत्म रूपों में कोई भी भेद अवशिष्ट नहीं रह जाता । जो भी कुछ भिन्नता रहती भी है वह अनात्मस्वरूप मृत्यु भाग मात्र में सीमित होने से परित्याज्य रहतो है । प्रजापति तो अमृत मृत्युमय है ।

—"प्रजापति अमृत और मर्त्य रूपो में अवस्थित है । उसके प्राण ही अमृत हैं, शरीर मर्त्य है—" (शतपथ १०।१।४)

यह श्रुति यही सिद्ध कर रही है ।

इस प्रजापति को जो नाना भाव (भेद दृष्टि) की तरह देखता है, यह अपनो दृष्टि के द्वारा मृत्युमय विग्रह वाले धर्मभेद मृत्यु का ही अवगाहन करता है न कि अमृतात्मा का । यह आत्मा तो अमृतमय अव्यय है जो परज्योति ईश्वर का अंशभूत होने से बिना धूम की ज्योति के समान इस जीव के शरीर में प्रतिष्ठित होता हुआ अङ्गुष्ठ मात्र आकार का होते हुए भी उतने ही रूप से केश और नखाग्र से लेकर समस्त शरीर यष्टि को व्याप्त करता हुआ शरीर स्थित भूत भविष्य वर्तमान सभी धर्मों का शासन करता है । क्योंकि अन्न का ग्रहण, मल विसर्जन, रस, धातु विकार, जो शरीर स्थित हैं वे इसी आत्म

सत्ता के अधीन हैं। सन्देह होता है कि अङ्गुष्ठ मात्र आकार वाला यह आत्मा समस्त शरीर में कैसे अभिव्याप्त होता है। उसके उत्तर में यह दृष्टान्त समझना चाहिए कि जैसे पर्वत स्थित दुर्ग में आकाश से बरसा हुआ जल दुर्ग के आधार भूत पर्वत के ढँके हुए शुष्क गुहा प्रदेशों को आर्द्र बनाता हुआ बहता है इसी प्रकार परम ज्योति, ईश्वर से समागत हृदय प्रदेश में स्थित चैतन्य ज्योति जो अङ्गुष्ठमात्र है वह इस शरीर के समस्त अंगों में अभिव्याप्त, जड़ होने से स्वत: पृथक् धर्म (स्वभाव) वाले जिन-जिन अंगों के समीप जाती है उन्हीं में अनुव्याप्त होकर उन्हें चेतन बना लेती है। इसी प्रकार ईश्वरात्मा की जीवात्मभाव से इस जीवविग्रह में अभिव्याप्ति दिखाई गई है।

अथैतद्वैपरीत्येन जीवात्मज्योतिषः पुनरीश्वरज्योतिषि सायुज्यादभेदोपपत्तिः प्रदर्श्यते - यथोदकं शुद्धे शुद्धमिति। यदि तावल्लवणसिकतातैलसिन्दूरादिधर्मान्तरकलुषितं जलं धर्मान्तरकलुषिते विशुद्धे वा जले सिच्यते तर्हि योगफलमद्धातमां जलविकारः प्रतिभासते किन्तु शुद्धे शुद्धमासिक्तमेकभूयं भवति। एवमिहाप्यविद्याकर्मभेदादिमृत्यु धर्मैः कलुषितो जीवात्मा नेश्वरात्मनि विशुद्धे उपासनप्रक्रियया संयोजितोऽप्येकत्वायावकल्पते। अपहाय तु मृत्युधर्मान् विशुद्धया विद्ययाऽऽक्रममाणो जीवात्मा ब्रह्मभूयाय कल्पते।

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति' श्रुतेः।

जीवात्मेश्वरात्मनोर्विग्रहरूपोपाधिनिबन्धनभेदोपपत्तावप्युपाधित्यावृत्या गृहीतयोरभेदः पर्यवसीयते। अतएव च निरुपाधिकेन परमेश्वरेणाप्यभेदः संसिद्धो भवति। तथा चैक एवायं त्रिपुरुषः पञ्चधातुरात्मा परमेश्वरश्चेश्वरश्चाख्यायते जीवश्चेति प्रतिपत्तव्यम्।

अब इसके विपरीत जीवात्मा की ज्योति का पुन: ईश्वर ज्योति में सायुज्य से अभेद हो जाता है इस बात को युक्ति पूर्वक दिखाया जाता है। उदाहरण जल का ही लें। यदि नमक, धूल, तेल, सिन्दूर आदि दूसरे पदार्थों से मिश्रित जल को इसी प्रकार अन्य पदार्थों से मिश्रित जल में, अथवा बिलकुल विशुद्ध जल में मिला दिया जाता है तब उन दोनों के संयोग के फलस्वरूप भी जल विकृत रूप में ही रहेगा, किन्तु यदि शुद्ध जल में शुद्ध जल का मिश्रण किया जाय तो दोनों एक रूप शुद्ध ही रह जायेंगे। इसी प्रकार यहां भी अविद्या कर्म भेद आदि मृत्यु के धर्मों से कलुषित या मिश्रित जीवात्मा, विशुद्ध ईश्वरात्मा में उपासना की प्रक्रिया से योजित होने पर भी एक नहीं हो सकता। यदि जीवात्मा मृत्यु के धर्मों को छोडकर विशुद्ध विद्या से आप्लुत हो जाय तब वह ब्रह्मरूपता पा जाता है। कहा गया है—

"ब्रह्म को जानने पर ब्रह्म ही हो जाता है।"

इस प्रकार जीवात्मा और ईश्वरात्मा के अपने-अपने शरीर की उपाधि का भेद होने पर भी यदि उपाधि को प्रयत्न पूर्वक हटा दिया जाय तो दोनों में अभेद या ऐक्य की उपलब्धि रूप चरमफल प्राप्त हो जाता है। और इसीलिए निरुपाधिक परमेश्वर से

अभेद में पर्यसान की सिद्धि मिल जाती है। और इस प्रकार एक ही यह तीन पुरुष (अव्यय, अक्षर, क्षर) तथा पांच धातुओं (आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्) वाला परमेश्वर भी ईश्वर भी तथा जीव भी कहलाता है यह समझ लेना होगा।

विग्रहोपसृष्टत्वे त्वस्यात्मनो विग्रहायतनमूलकायतनभेदाद् विशेषणधर्मभेदाद्वि-शिष्टभेद इति न्यायाच्चैतत्त्रैविध्यमुपपद्यते इत्युक्तं प्राक्। तथाचायं त्रिपुरुषः प्रजापतिरनुपसर्गत्वसोपसर्गत्वाभ्यां द्वेधा व्याख्यायते। आत्मा चात्मन्वी चेति। तत्र क्षराक्षरसहायस्याव्ययस्यात्मत्वम्। तस्य निस्सीमत्वबृहत्सीमत्वाल्पसीमत्वाद्यौपाधिकानन्तायतनत्वेऽप्येकत्वं न विहन्यते। प्रतिबिम्बसूर्याणामनेकत्वेऽपि सूर्यैकत्वाव्याघातात्। अथ विग्रहभेदादात्मन्विनस्तु प्रजापतयस्त्रिधा भिद्यन्ते—

परमेश्वर ईश्वरो जीवश्चेति।

तेषां यावद्विग्रहं नैकत्वमुपपद्यते इति बोध्यम्।

पहिले ही कहा जा चुका है कि शरीर में संक्रान्त होने पर इस आत्मा के शरीर के आवरण मूलक आवरण के भेद से तीन भेद हो जाते हैं, क्योंकि विशेषणों के भेद से विशिष्ट में भी भेद होने का विख्यात नियम (न्याय) है। इस प्रकार तीन पुरुषों वाला प्रजापति अनावृत तथा आवृत इन भेदों से दो प्रकार का हो जाता है। एक रहता है आत्मा, दूसरा है आत्मन्वी। इन में क्षर अक्षर से संयुक्त अव्यय आत्मा है। वह निःसीम, बृहत्सीमायुक्त तथा अल्पसीमा वाला होने पर भी एक ही है, इस एकत्व पर कोई आघात नहीं होता। यह वैसे ही समझा जा सकता है जैसे सूर्य के प्रतिबिम्बों के अनेकानेक होने पर भी सूर्य की एकता पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगता।

शरीर भेदों में अन्वित जो आत्मन्वी प्रजापति है वह तीन रूपों में विभक्त होता है परमेश्वर, ईश्वर और जीव। शरीर रहते इनमें एकत्व स्थापित नहीं होता।

अक्षरपुरुषः

परमेश्वर ईश्वरो जीवश्चेति य एते त्रयः प्रजापतयो व्याख्याताः त सर्वेऽप्यात्मन्विनः प्रतिपत्तव्याः। आत्मा विग्रहश्चेत्युभयाः संयुक्तरूप आत्मन्वी। तत्र क्षराक्षराव्यया अन्योन्यसंहिता आत्मा। भिन्नात्मानः क्षरा विग्रहः स एष विग्रहोऽक्षरादुत्पद्यते। तस्मात् तावदक्षरो व्याख्यायते।

एष खल्वक्षरः कर्ममयत्वात् सर्वशक्तिघनः सर्वजगत्कारणभूतोऽनवरतं कुर्वद्रूपः प्रवर्तते। स चावस्थाभेदाद् द्विविधः। अनुद्बुद्धसर्वशक्तिरव्यक्तावस्थः प्रथमः। उद्बुद्ध-सर्वशक्तिः पुनरयमेव व्यक्तावस्थो द्वितीयः। प्रथमं प्रधानशब्देन द्वितीयंमहच्छ्ब्देनाचक्षते

केचित् । महानेवायमाकृतिर्भवति यतः सर्वासु भूतयोनिषु भिन्नभिन्नाः स्थूलशरीररूपा मूर्तयो दृश्यन्ते । महानेवायं प्रकृतिर्भवति यतः सर्वासां भूतयोनीनां भिन्नभिन्नाः सूक्ष्म-शरीररूपाः स्वभावा दृश्यन्ते । महानेवायमहंकृतिर्भवति यतः सर्वासां भूतयोनीनामनाद्य-विद्यावासनामयं कारणशरीरमुत्पद्यते । अहंकारादेवैताः सर्वाः प्रजाः प्रजायन्ते । स चाहंकारो महत एवाक्षरस्य कर्यविशेषः । अधिभूतमधिदैवतमध्यात्मं चाधियज्ञं च सर्वे विकारा अक्षरतोस्मान्महतो द्रष्टव्याः । तस्यैतस्य महतोऽक्षरस्याप्यव्ययनित्वत्वमव्ययता-दात्म्यं च भवति । तेनास्य क्वचिदव्ययशब्देनापि व्यपदेशो न विरुध्यते । तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यमिति न्यायात् । अत एव चाव्ययधर्माणां विभुत्वादीनामप्यत्रारोपः सुलभः ।

अक्षर-पुरुष

परमेश्वर, ईश्वर, और जीव नाम से जो ये तीन प्रजापति कहे गए वे सभी आत्मन्वी हैं, आत्मन्वी कहते हैं आत्मा और शरीर दोनों के संयुक्त रूप को । यहां क्षर अक्षर और अव्यय एक दूसरे मे मिले हुए आत्मा हैं, भिन्न आत्मा वालों का शरीर क्षर है और यह शरीर उत्पन्न होता है अक्षर से, इसलिए अब अक्षर पुरुष को व्याख्या पूर्वक समझना होना ।

यह अक्षर कर्ममय है, अतः यह सर्वशक्तिघन है, यह समस्त जगत् का कारण है, तथा निरन्तर क्रियामय है । अवस्थाओं के भेद से यह दो प्रकार का है, एक वह जिसमें समस्त शक्तियां उद्‌बुद्ध नहीं हैं, जो अव्यक्त अवस्था वाला है । यही जब समस्त शक्तियों की उद्‌बुद्ध अवस्था से संयुक्त होता है और व्यक्त अवस्थाओं में आता है तब यह दूसरी अवस्था होती है अक्षर पुरुष की । कोई-कोई विद्वान् प्रथम अवस्था को प्रधान शब्द से तथा द्वितीय अवस्था को 'महत्' शब्द से कहते हैं। यह महत या महान् ही आकृति बनता है जिस से सभी भूतयोनियों में भिन्न-भिन्न स्थूल शरीर रूपी आकार दिखाई देते हैं । यही महान् प्रकृति बनता है जिससे सभी भूत योनियां के भिन्न-भिन्न सूक्ष्म शरीर रूपी स्वभाव बनते हैं । और यही महान् अहंकार भी बनता जिससे समस्त भूत योनियों के अनादि अविद्या की वासना से युक्त कारण शरीर उत्पन्न होते हैं । अहंकार से ही यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है । और वह अहंकार अक्षर पुरुष के महत अश का ही एक विशेष परिणाम है । अधिभूत अधिदैवत, अध्यात्म और अधियज्ञ के सारे विकार इसी अक्षर पुरुष के महत् नामक अंश से समुद्‌भूत समझने चाहिए । अक्षर पुरुष के इस महत् नामक रूप में भी नित्य ही अव्यय पुरुष का संयोग और इससे तादात्म्य होता है । अतः अक्षर पुरुष के इस महत् रूप का कहीं अव्यय शब्द से कथन भी विरुद्ध नहीं होता । जो जिसमें है उसका उस शब्द से व्यवहार होता है यह एक न्याय है । (अव्यय पुरुष अक्षरांश महत् में है अतः उसे भी कहीं-कहीं अव्यय कहना असंगत नहीं) और इसी व्यापकता आदि अव्यय पुरुष के धर्मों का भी यहां (अक्षर पुरुषांश महत् में) आरोप संगत हो जाता है ।

एषोऽक्षर इत्थं श्रूयते -

अदृश्यमग्राह्यमगोत्रवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।।

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ।।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ।।

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।

इति, एवमादिश्रुतिभ्यो नित्यानित्यचेतनाचेतनसर्वविधप्राणिशरीरेषु तत्तद्योनि-वैशेषिकमूर्त्याकारसमर्पकत्वमक्षरस्य प्रतिपद्यन्ते ।

"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

इत्यव्ययमुखेन तथा स्मरणात् । अत एव स्वगतभेदशून्यस्याप्यव्ययस्याक्षरसंबंध-निबन्धनकर्मवैशेष्यान्मनः प्राणवागाख्यास्त्रयो भेदा उद्यन्तीत्यक्षरश्रुतौ—

'स प्राणस्तदुवाङ्मन' इति श्रूयते ।

अपि चैषस्तूयते—

यदूर्ध्वं दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाशे तदोतं च प्रोतं च। कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। एतद्वै तदक्षरं ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमाबह्यम्। न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सराः विधृतास्तिष्ठन्ति। प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्याः, एतस्मिन्नु खल्वक्षरे आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।

इस अक्षर पुरुष का श्रुति में वर्णन इस प्रकार है—

"भूतों की उस योनि (कारण) को धीर पुरुष देखते हैं जो अदृश्य, ग्रहण करने के अयोग्य, जो गोत्र तथा वर्ण से रहित है, जो आंख, कान, हाथ पैर से शून्य है, जो नित्य, व्यापक सर्वत्र स्थित, अत्यन्त सूक्ष्म है।"

—'जैसे मकडी अपने ही भीतर के तन्तुओं से जाल बुनती है। वैसे प्रधान से उत्पन्न तन्तुओं से स्वभाव से ही स्वयं आवृत करता है वह अव्यय ब्रह्म हमें धारण करे"—

—"जैसे मकडी पैदा करती और ग्रहण करती है, जैसे पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे सत्तावान् पुरुष से केश और लोम निकलते हैं वैसे ही अक्षर से यहां सारा विश्व बनता है।"

"जैसे सुप्रज्वलित अग्नि समूह से हजारों समान रूप वाले विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) उत्पन्न होते हैं, वैसे ही है सौम्य, अक्षर पुरुष से विविध भाव (पदार्थ) उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते हैं।"

—"जैसे भुवन में प्रविष्ट अग्नि प्रत्येक रूप में रूप प्रदान करता है, वैसे एक समस्त भूतों का अन्तरात्मा प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में प्रविष्ट होकर उसके भीतर और बाहर रूप प्रदान करता है।"

—"जैसे सूर्य, जो समस्त लोक का नेत्र है, वह बाह्य चाक्षुष दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे समस्त भूतों में व्याप्त एक ही अन्तरात्मा है और वह संसार के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता।"

—"बहुत से क्रिया रहित पदार्थों को जो एक मात्र वश में रखने वाला है, जो एक बीज को बहुत भागों में विभक्त करता है, उस आत्मस्थ को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख मिलता है, अन्यों को नहीं।"

—"जो नित्यों में नित्य है जो चेतनों में चेतन है, जो एक रहता हुआ बहुतों की कामना पूर्ति करता है, सांख्य तथा योग से प्राप्तव्य उस कारण स्वरूप देव को जानकर सभी पाशों (बन्धनों) से मुक्ति मिलती है।"

–"जो अर्चीवाला (लपटों से भरा) अणुओं से अणु है, जिसमें लोक तथा लोकों के निवासी निहित हैं, वही यह अक्षर ब्रह्म प्राण तथा वाक् और मन है"—।

इन श्रुति वाक्यों से नित्य अनित्य चेतन अचेतन सब प्रकार के प्राणियों के शरीरों में उन-उन विशेष योनियों की मूर्तियों के आकार का निर्माण करने वाला अक्षर पुरुष ही है यह ज्ञात होता है ।

"मेरी योनि महद् ब्रह्म है, मैं उसमें गर्भ का आधान करता हूँ, उससे ही भारत, सभी भूतों की उत्पत्ति होती है । हे कौन्तेय, समस्त योनियों में जो मूर्तियां हैं (आकार) उनकी योनि (उत्पत्ति स्थान) महद् ब्रह्म है, और मैं (उनका) बीज प्रदान करने वाला पिता हूं"—

इस गीता वाक्य में अव्यय को आगे रख कर ऐसा स्मरण किया गया है । इसीलिए अव्यय पुरुष जो कि स्वगत भेद से भी शून्य है, उसका अक्षर से सम्बन्ध होने के कारण कर्म की विशेषता से मन प्राण वाक् नाम के तीन भेद उद्भूत होते हैं ऐसा अक्षर पुरुष प्रतिपादक श्रुति वाक्य में–"वह प्राण, वह वाक् मन है"—

ऐसा सुना गया है । पुनश्च इस अव्यय की स्तुति भी की गई है—

"जो स्वर्ग से ऊपर, जो पृथिवी के नीचे, जो द्यावा पृथिवी के अन्तराल में है, जो भूत वर्तमान तथा भविष्यत् ऐसा कहा गया है, वह आकाश में ओतप्रोत है, आकाश किस में ओतप्रोत है ? यह निश्चय ही वह अक्षर है जिसे ब्राह्मण गण अस्थूल, अनणु अह्रस्व अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, अतम, अवायु, अनाकाश असङ्ग, अरस, अगन्ध, अचक्षु, अश्रोत्र, अवाक्, अमन अतेज, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर, अबाह्य कहते हैं । न वह कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है । इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य तथा चन्द्रमा धारित होकर स्थित हैं । द्यौ तथा पृथ्वी धारित और स्थित हैं । निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतुएं संवत्सर धारित होकर संस्थित हैं । पूर्व में श्वेत पर्वतों से, पश्चिम से अन्य नदियां बहतीं हैं । इसी अक्षर में आकाश ओतप्रोत है"—

वक्ष्यते खल्वीश्वरविग्रहे बार्हस्पत्यं साहस्रमाकाशं नाम । तत्रैतत् त्रैलोक्यमास्माकीनमोतप्रोतं विद्यात् । तच्च पुनराकाशं वारुणसमुद्रसहितं स्वयंभुवः परज्योतिषोऽक्षरसाहस्रे परिगृहीतत्वात् तदधीनवृत्तिकत्वात् तत्रैव नित्यप्रोतमस्ति । तदेवैकमक्षरं सर्वेषां सामान्यं परधाम प्रतिपत्तव्यं नातः परं किञ्चिदस्तीति प्रकृतश्रुतितात्पर्यम् । यद्यप्यक्षरस्यैवात्र महिमा प्रदर्श्यते तथापि तस्याव्ययेनाविनाभावात् त्रिपुरुषप्रजापतावेवैतेषां त्रैलोक्यादीनामोतप्रोतभावं प्रतिपद्यामहे । अथवा प्रजापतावप्यव्ययधातुप्राणावच्छिन्नैतदक्षरावच्छेदेनैव शासनकर्मणः सत्त्वात्तदक्षरसंबंधेनैव तदुपादानं युक्तम् । एतच्चेश्वरस्य परज्योतिषोऽक्षरकर्माख्यातम् । द्यावापृथिव्योः सूर्यचन्द्रादीनां च विधारणस्य तत्रैवोपपत्तेः । यद्यप्य-

स्मासु कृमिकीटेषु तृणलोष्ठेषु चायमक्षरः शासनगुणोऽनुवर्तते तथाऽप्येकस्य जलबिन्दोस्तृषा-प्रशामकत्वाभाववदस्यात्यल्पमात्रत्वादास्माकीनस्याक्षरस्य द्यावापृथिवी सूर्यचन्द्रादिशास-कत्त्वं न दृश्यत इत्यन्यदेतत् । एवमपि सर्वोपादानत्ववत् सर्वभोक्तृत्त्ववच्चेदं सर्वशास्तृत्व-मप्यस्यैवाक्षरस्य धर्मः सर्वत्रास्तीति प्रतिपत्तव्यम् । अक्षरस्य त्रैधातव्यत्वेनोपपादयिष्य-माणत्वात् ।

आगे ईश्वर के शरीर के विवरण में बार्हस्पत्य सहस्र आकाश का विवरण किया जायगा । उसी में यह हमारा त्रैलोक्य ओतप्रोत है, यह समझना चाहिए । और वह वारुण समुद्र सहित आकाश स्वयंभू के परम ज्योति अक्षर साहस्र में परिगृहीत होने के कारण उसी के अधीन व्यवहार शाली होने से वहीं नित्य ओतप्रोत है । वही एक अक्षर सबका सामान्य रूप से परधाम समझा जाना चाहिए, उससे पर कुछ नहीं है यही उक्त श्रुति का तात्पर्य है । यद्यपि यहां अक्षर की ही महिमा प्रदर्शित हुई है, तथापि उसका अव्यय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध तथा त्रिपुरुष प्रजापति की तरँह इनका त्रैलोक्य आदि में ओतप्रोत भाव यहां हम समझते हैं । अथवा प्रजापति में भी अव्यय धातु के प्राण से अवच्छिन्न इस अक्षर के अवच्छेदकत्व से शासन कर्म की सत्ता होने से उस अक्षर के संबन्ध से उसका ग्रहण युक्ति संगत है । यह ईश्वर नामक पर ज्योति के अक्षर कर्म का कथन हुआ । क्योंकि द्यावा पृथिवी सूर्यचन्द्र आदि का विधारण वहीं युक्ति सिद्ध है । यह दूसरी बात है कि यद्यपि हमारे कृमि कीट तथा तिनके पत्थरों में अक्षर के शासन का यह गुण अनुवतमान है तो भी एक जल की बूंद जैसे प्यास नहीं बुझा सकती क्योंकि मात्रा में वह अत्यल्प है, उसी प्रकार हमारा अक्षर पुरुष द्यावा पृथिवी सूर्य आदि का शासन करता हुआ नहीं दिखाई देता । तो भी सबका उपादान होने की तरँह, सबका भोक्ता होने की तरँह, सबका शासक होना भी इसी अक्षर का सर्वत्र धर्म है यह मानना होगा । क्योंकि आगे हम बतलाएंगे कि अक्षर में तीन धातु विद्यमान हैं ।

अक्षरस्याव्ययनित्यत्वम्

अव्ययपुरुषाद् भिन्नोप्ययमक्षरपुरुषस्तेनाव्ययेनाविनाभूतत्वादैकभाव्यं गतत्वादव्य-यधातुभिर्मनःप्राणवाग्भिरपि कृतरूपः प्रतिपद्यते । तथा च श्रूयते—

"तदेतदेकमेवाक्षरं वौगिति ।
तदेष सर्वोऽग्निरभिसपद्यते ।
तद्धैतत् पश्यन्नृषिरभ्यनूवाद" —
"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्" इति ।
एतद्ध्येवाक्षरं सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसंपद्यन्ते"–इति (शत० १०।२)

अस्यार्थः—वौगित्येकमक्षरमोगर्भिता वागुपपद्यते । अकारोकारसहितेन चौकारेण मनःप्राणौ सादृश्याल्लक्ष्येते । मनःप्राणगर्भिता वागेव तु वौगितिशब्देन संज्ञायते एकं तद-

क्षरं ब्रह्मैवायं सर्वोपि जगदर्थरूपोऽग्निरभिसंपन्नः। तदनुवादिका मन्त्रश्रुतिरुच्यते भूतं भविष्यदिति। अद्यावधि यत्किञ्चित् पूर्वमुत्पन्नं यच्च किञ्चिदुत्तरत उत्पत्स्यते तदुभयमशेषं कारणरूपेण प्रस्तावयामि। एकमेव तदक्षरं महद्ब्रह्मास्तीति। महदेवैकमक्षरं ब्रह्म बहुरूपं भवच्च भविष्यति चेत्यर्थः। यावन्तो देवाः सन्ति सोऽमृतश्चितेनिधेयोऽग्निः यावन्ति तु भूतानि सन्ति स मर्त्यश्चित्योऽग्निः। एतावदिदं सर्वं जगदग्निमयं भवति। सर्वं तन्महतो ब्रह्मणो रूपम्। सर्वाणि क्षररूपाण्येकमिदमक्षरं प्रतिपत्तव्यमिति मन्त्रश्रुत्यर्थः।

अक्षर में अव्यय की नित्यता

यद्यपि यह अक्षर पुरुष अव्यय पुरुष से भिन्न है तो भी यह उस अव्यय से अविनाभूत होने से एकरूपता को प्राप्त होता हुआ अव्यय के प्राण वाक् नामक धातुओं से भी अपना रूप बनाता हुआ ज्ञात होता है। वेद में कहा गया है—

—"यह एक ही अक्षर वौक् है, यह सब कुछ अग्नि चारों ओर से निष्पन्न हो रहा है—

इस को देखते हुए ऋषि ने यथास्थित कथन किया—

"भूत भविष्यत् एक अक्षर महद् ब्रह्म को प्रस्तुत करता हूं"—

इसी अक्षर का सब देवता तथा समस्त भूत आश्रय लेते हैं"। (शतपथ १०/२)

इसका अर्थ है—"वौक् यह एक अक्षर ओंकार गर्भित वाक् है।" अकार ओकार से मिलकर ओंकर से सादृश्य के आधार पर मन और प्राण लक्षित होते हैं। मन और प्राण से गर्भिता वाक् ही 'वौक्' इस शब्द से पहिचान में आरही है कि एक ही वह अक्षर ब्रह्म यह समस्त जगत् के पदार्थ रूपी अग्नि है। इसी को अनुवाद रूपो मन्त्र श्रुति कहती है—"भूत भविष्यत्" इत्यादि। आज तक जो कुछ पहिले उत्पन्न हो चुका है और जो कुछ आगे उत्पन्न होगा पूर्णतया इन दोनों को इनका कारण बतलाते हुए वर्णित करता हूं कि वह एक महान् अक्षर ब्रह्म है। तात्पर्य यह हुआ कि महान् ही एक अक्षर ब्रह्म है जो बहुरूपों में विद्यमान और भविष्यद्रूप है। जितने भी देव हैं वे सब अमृत चिते निधय अग्नि रूप हैं, तथा जितने भूत हैं, वह मर्त्य चित्य अग्नि रूप हैं। इससे यह समस्त अग्नि मय हो जाता है। वह सब महान् ब्रह्म का रूप है। सभी क्षत्र रूप इस एक मात्र अक्षर को ही समझना चाहिए, यह मन्त्र श्रुति का अर्थ है।

अक्षरस्य त्रैधातव्यम्

—"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद् ब्रह्मैकमक्षरं बहुब्रह्मैकमक्षरमिति"—

मन्त्रं प्रकृत्य श्रूयते —

"तदेतद् ब्रह्मक्षत्रं च। अग्निरेव ब्रह्म इन्द्रः क्षत्रम्। इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः विड् विश्वेदेवाः। तदेतद् ब्रह्मक्षत्रं विड् इति" (शत० १०।२।६)

एतद्धस्म वै तद्विद्वान् श्यापर्ण सायकायन आह । स एष एव श्री एष यशः एषोऽन्नादः । एतद्ध स्म वै तच्छाण्डिल्यो वामकक्षायणाय प्रोच्योवाच - श्रीमान् यशस्वी अन्नादो भविष्यसीति । (शत० १०।२।११)

तत्र क्षत्रं श्रीः । ब्रह्म यशः । विडन्नादः ।

—"भूत भविष्यत् को प्रस्तावित करता हूं"—

--"महान् ब्रह्म ए॰ अक्षर है"

--"बहु ब्रह्म एक अक्षर है,"

यह मन्त्र प्रारम्भ करके श्रुति में कहा गया,

—"वह यह ब्रह्म और क्षत्र है"--

"अग्नि ही ब्रह्म, इन्द्र क्षत्र हैं"--

इन्द्र और अग्नि विश्वदेव हैं विट् विश्वदेव हैं, यह वही ब्रह्म क्षत्र विट् हैं"—(शतपथ १६/२/६)

—'उसी प्रसिद्ध इस तत्त्व को विद्वान् श्यापकर्ण सायकायन ने कहा । वह यही श्री यश है अन्नाद है । शाण्डिल्य ने वामकक्ष्यायण को यह कहा—श्रीमान् यशस्वी अन्नाद होंगे ।"-- (शतपथ १६/२/११)

यहां क्षत्र श्री है, ब्रह्म यश है, विड् अन्नाद है ।

अक्षरत्रयकर्माणि

शान्तिः, प्रतिष्ठा, विधरणं, विकास, इति ब्रह्मणो यशसो लक्षणानि । पराक्रमो, वृत्रवधः, शासनं, विक्षेपणमितीन्द्रस्य श्रियः विक्रमोऽशनाया यज्ञ आकर्षणमिति विष्णोरन्नादस्य ।

इन्द्रो विष्णुश्चान्यप्रजापतिसापेक्षं कर्म कुरुतः तेनैतयोः कर्मक्षोभलक्षणं भवति । ब्रह्मा तु स्वकर्मणि नेतरमपेक्षते तस्माच्छान्तम् ।

सत्ता चेतनानन्दानां रसात्मनां नामरूपकर्मणां बलात्मनां चान्योन्यविधरणेनावस्थानं प्रतिष्ठा । तथा स्वस्मिन्नाहितानामन्येषां स्वाङ्गान्तर्भावेण समीकृतानामप्रच्यवोपि प्रतिष्ठा । धर्माणामन्योन्यसमन्वयो विधरणम् । स्वरूपेणाप्रच्यवमानस्यैव यदपूर्वार्थोद्भावकत्वं तदुत्पादनमुद्बोधनं वा विकासः । अपूर्वाणां नामरूपकर्माख्यानां बलविशेषाणां ब्रह्मरसे सत्तायां विज्ञाने वाऽन्तःप्रवेशेनोपलम्भनमुपलब्धिः । सैषा द्विविधाप्युपलब्धिविकासः । इति ब्रह्मकर्माणि ।

अथ परं प्रजापतिं स्वबलप्रसरेऽन्तर्भाव्य तत्र स्वायत्ततासाधनं पराक्रमः स्वब्रह्म-प्रतिपन्थिनां धर्माणां प्रतिषेधो वृत्रवधः। निग्रहानुग्रहाभ्यां परिगृहीतस्य परबलस्य स्वबलानुगामित्वसंपादनलक्षणं नियमनमेव शासनम्। प्रतिष्ठिते स्वब्रह्मणि सतां धर्माणामितो विस्त्रंसनानुकूलवृत्तिसंपादनं विक्षेपणम्। इतीन्द्रकर्माणि।

अक्षर के तीन कर्म

शान्ति प्रतिष्ठा विधारण तथा विकास ये ब्रह्म के यश के लक्षण हैं। पराक्रम, वृत्र का वध, शासन, विक्षेपण ये इन्द्र की श्री हैं। विक्रम, अशनाया, यज्ञ, आकर्षण ये अन्नाद विष्णु के लक्षण हैं।

इन्द्र और विष्णु अन्य प्रजापति की अपेक्षा रखने वाले कर्मों का सम्पादन करते हैं, इससे इन के कर्म क्षोभ स्वरूप वाले होते हैं। ब्रह्मा तो अपने कर्म के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं करता अतः उसके कर्म शान्त रूप वाले हैं।

रसात्मा वाले सत्ता चेतना तथा आनन्द तथा बलात्मा वाले नाम रूप कर्म के एक दूसरे का आश्रय बनने से जो स्थिति बनती है वह प्रतिष्ठा है। अपने भीतर समाहित हुए अन्यों का अपने अङ्गों में अन्तर्भाव करके उन्हें अपने से एक रूप बना कर उनको अलग न करना भी प्रतिष्ठा है। धर्मों का एक दूसरे में समन्वय विधरण कहा गया। अपने रूप से अलग न होकर जो अपूर्व पदार्थ का उत्पादन है, वह उत्पादन या उद्बोधन विकास कहलाता है। नाम रूप कर्म नामक अपूर्व विशेष बलों का ब्रह्म रस सत्ता या विज्ञान में अन्तः प्रवेश के द्वारा उपलम्भन करना ही उपलब्धि है। यह दोनों प्रकार की उपलब्धि विकास है। ये ब्रह्म के कर्म हैं।

अथ स्वदेशमपरित्यजतो देशान्तरावगाहनं विक्रमणम्। स्वब्रह्मसाक्षितया प्रवर्तमाने यज्ञे यज्ञाहुतिपरिक्षयादन्नग्रहणार्थमर्कं नियोजयितुर्मनसो वृत्तिरशनाया। ब्रह्मात्मकेऽग्नावाहूयमानस्यान्नस्य स्वरूपविध्वंसादूर्क्त्वापत्तिपूर्वकमग्निरूपत्वापादनं यज्ञः। यद्यप्यग्निसोमौ ब्रह्मणो रूपविशेषौ व्यूहानुव्यूहलक्षणे विग्रहे संभवतस्तथाप्यत्र त्रिपुरुषविद्यायामप्यमुष्य ब्रह्मणो यावती वाक् सोऽग्निः यावद्वान्यत आहुतमन्नं स सोम इत्यारोपितावग्नीसोमौ द्रष्टव्यौ।

"अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य सततः प्रजायते" (शतः ११।१।१)

इति श्रुतेरग्निमन्तरेण यज्ञस्वरूपासिद्धेः। श्रूयते च ब्रह्मणोऽग्नित्वम्—

"अथेन्द्राग्नी वा असृज्येताम्—ब्रह्म क्षत्रं च। अग्निरेव ब्रह्म इन्द्रः क्षत्रम्। तौ सृष्टौ नानेवास्ताम्। तावेकं रूपमुभावभवताम्।" इति (वाजि० १०।२)।

तस्मादग्निरेव तपोलक्षणं ब्रह्मवीर्यं ब्रह्मा चायमग्निर्यज्ञस्य योनिरिति विद्यात् ।

विराजोऽग्निहोत्रम् । पशोः पशुबन्धः । अन्तरिक्षाद्दर्शपूर्णमासौ । दिवश्चातुर्मास्यानि । दिग्भ्यः सोमाध्वरः । प्रजापतेरग्निचितिः । विराजः पशोरन्तरिक्षाद्दिवो दिग्भ्यः स्वेतरप्रजापतेश्चानवरतमन्नाहरणमाकर्षणम् । इति विष्णुकर्माणि ।

परम प्रजापति को अपने बल के प्रसार के भीतर लेकर उसमें अपना अधिकार स्थापित करना पराक्रम कहलाता है । अपने ब्रह्म के शत्रुरूप धर्मों को हटाना वृत्रवध है । निग्रह तथा अनुग्रह से परिगृहीत परबल को अपने बल का अनुगामी बना लेना ही नियमन या शासन है । अपने ब्रह्म की प्रतिष्ठा हो जाने पर विद्यमान धर्मों के यहां से हटाये जाने के अनुकूल व्यवहार का संपादन ही विक्षेपण है । ये इन्द्र के कर्म हैं ।

अपने स्थान का परित्याग न करते हुए दूसरे स्थान पर जाना हो विक्रमण है । अपने ब्रह्म को साक्षि बनाकर प्रारम्भ किये गए यज्ञ में यज्ञ की आहुति के क्षीण हो जाने से अन्न के ग्रहण के लिए सूर्य को नियुक्त करने वालो मन की वृत्ति अशनाया कही गई है । ब्रह्मात्मक अग्नि में आहूयमान अन्न का स्वरूप विध्वंस होने पर उसकी उक् रूप में परिणति पूर्वक उसका अग्नि रूप बन जाना यज्ञ है । यद्यपि अग्नि और सोम ब्रह्म के विशेष रूप हैं, ये व्यूह तथा अनुव्यूह रूपों में समुत्पन्न होते हैं तो भी यहां त्रिपुरुष विद्या में भी इस ब्रह्म की जितनी वाक् है, वही अग्नि है और अन्यत्र से लाया गया जो अन्न है वह सोम है, इस प्रकार ये अग्नि और सोम आरोपित हैं, यह समझना चाहिए ।

—"अग्नि निरन्तर यज्ञ की योनि (उत्पत्तिस्थान) होता है"–(शतपथ ११/१/१)

इस श्रुति से प्रकट है कि अग्नि के बिना यज्ञ का स्वरूप नहीं बनता । ब्रह्म का अग्नि रूप होना भी श्रुति में विख्यात है ।

—"तब इन्द्र और उत्पन्न किये गए ब्रह्म और क्षत्र हैं । अग्नि ही ब्रह्म है, इन्द्र क्षत्र है । उत्पन्न होकर ये नाना भावों में ही थे । एक ही रूप से वे दोनों हो गए"–(वाजि० १०/२)

अतः अग्नि तप के रूप वाला ब्रह्मवीर्य है और यह ब्रह्मा अग्नि है जो यज्ञ की योनि है यह जानना चाहिए ।

—"विराज अग्निहोत्र है । पशु का पशुबन्धन होता है । अन्तरिक्ष से दर्श और पौर्णमास हैं । स्वर्ग से चातुर्मास्य हैं । दिशाओं से सोमयाग है । प्रजापति से अग्निचयन है । विराज से पशु का, अन्तरिक्ष से द्युलोक का और दिशाओं से स्वभिन्न प्रजापति का निरन्तर अन्न ग्रहण ही आकर्षण है । ये विष्णु के कर्म हैं ।"

प्रत्यर्थमेता वृत्तयो नित्यमनुवर्तमानाः स्वेतराक्षरबलतारतम्यान्न्यूनाधिकभावेन प्रवर्तन्ते । एकैकोऽयमर्थ आत्मानं धारयमाणोऽनवरतमन्यत आकर्षन् किञ्चिदादत्तेऽनवतमात्मनोंऽशान् विसृजन् विस्रंसयतीति वस्तुस्थितिर्भवति । एताभ्यामादानविसर्गाभ्यामेव तारतम्येन प्रवृत्ताभ्यां प्रत्यर्थं सत्त्वावच्छेदेन षडूर्मयो जायन्ते । क्षुधापिपासे, शोकमोहौ जरामृत्यू चेति । मोहः पाप्मा स्वरूपधर्मावरकः कषायः । तादृशकषायावृतस्य पररूपसंक्रमेणाविवेकापत्त्या स्वरूपव्यामोहो वा । यावन्ति वा मित्रावरुणयो रूपाणि प्राणोदानौ, प्राणापानौ उद्ग्राभनिग्राभौ चेत्येवमादीनि तानि सर्वाण्यादानविसर्गाभ्यामेवैताभ्यामुत्पन्नानि विद्यात् । स एषोऽक्षरोत्पादितो धर्मोऽक्षरोत्पादितं क्षरं सत्वलक्षणं पुरुषमवलम्बते न त्वक्षरस्याश्रयमव्ययं नामायमूर्मिधर्मः स्पृशति । सत्यकामसत्यसंकल्पाभ्यां प्रतिपन्नस्य तस्य षडूर्मिरहितत्वेन प्रतिपत्तिसिद्धान्तात् ।

प्रत्येक पदार्थ में ये व्यवहार नित्य प्रवृत्त हैं, ये अपने से भिन्न अक्षर के बल के अधिकतर अधिकतम भाव के न्यूनाधिक रूप में व्यवहृत हैं। वस्तु स्थिति यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वय को धारण करता हुआ निरन्तर अन्य से आकर्षण के द्वारा कुछ लेता है और निरन्तर ही अपने अशों को छोड़कर विसर्जित करता है। इसी आदान और विसर्जन के तारतम्य से प्रवृत्त होने पर प्रत्येक पदार्थ में शक्ति के अनुसार छ ऊर्मियां (तरंगें) उत्पन्न होती हैं। वे हैं क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह जरा, मृत्यु। मोह पाप रूप कषाय है जो स्वरूप धर्म का आवरण करता है, तथा उस कषाय से आवृत होने पर दूसरे रूप में संक्रमण होने के कारण अविवेक के आगमन से अपने रूप का व्यामोह कषाय है। मित्रावरुण के जितने प्राण, उदान, अपान, उद्ग्राभ, निग्राभ आदि रूप हैं वे सभी इन आदान तथा विसर्गों से उत्पन्न समझने चाहिए। यह अक्षर के द्वारा उत्पादित धर्म अक्षर के द्वारा उत्पादित सत्त्व स्वरूप वाले क्षर पुरुष का अवलम्ब ग्रहण करता है। यह मूर्ति धर्म अक्षर के आश्रय अव्यय का स्पर्श नहीं करता। क्योंकि अव्यय सत्य कामना तथा सत्य संकल्प से रूपित है, वह षडूर्मियों से सिद्धान्ततः रहित माना गया है।

अक्षरत्रयमहिमा अग्निसोमौ

त्रयोऽक्षरास्त्रयः प्राणाः । प्राणानां वाचि विभवनाद् वाङ्मयः खल्वक्षरमहिमा संपद्यते ।

"वाग् वा अस्य स्वो महिमा—" इति स्वं महिमानमावहेति"

मन्त्रव्याख्यान श्रुतेः (शत० ।३।४) । स च महिमा मनः प्राणोदरया वाचा कृतं छायामण्डलमक्षरत्रयपरिबृंहणं विद्यात् । तच्चेन्द्रविष्णुभ्यामक्षराभ्यामुत्पद्यते । तथाहि—उक्तं पूर्वं वृत्रवधो नामैकं कर्मेन्द्रस्येति । तत्रैते वृत्राः स्वब्रह्मप्रतिपन्थिनो धर्माः स्युः । असुरास्तु वारुणाः प्राणा विकासादीनां ब्रह्मधर्माणां विष्टम्भनं कुर्वन्तो वृत्रा उच्यन्ते । विकसतामर्थानां जाड्यधर्मेणापवारणात् स्तम्भनमेवास्ति वारुणो धर्मः ।

"अस्तभ्नाद् द्यामृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीद् विश्वाभुवनानि सम्राड् विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानीति" मन्त्रवर्णात्।

अतः सोमेन वायुनाऽद्भिश्च भृगुभिर्वरुणादुपसृप्य सूर्यज्योतिष्यभिव्याप्तैः—परितः प्रत्यर्थमाक्रममाणं तत्तदर्थं संवरणलक्षणमासुरमोजः प्रत्याहन्तुमयमिन्द्रः प्रत्यर्थं परितः पराक्रमते। स विष्णुविक्रमणप्रदेशं यावदासुरं वरुणं प्रत्याहृत्य तत्तदर्थं स्वरूपेण विकासयति। तथा च यावदेवैताविन्द्रविष्णू तदासुरं बलं प्रत्याहृत्य स्वां विजितिं विजयेते तावदिदं त्रैलोक्यमाग्नेया लोकाः। तत्राग्नियमादित्यानामसुरविरोधिनामङ्गिरसां क्रमेणाभिव्याप्तेः। अथ तदूर्ध्वमापोमयः सोममयो वायुमयश्चतुर्थो लोकः। असुरैरविरुद्धानां सोमवाय्वपां भृगूणां संहृत्य तत्राभिव्याप्तेः। तस्मिश्चतुर्थे लोके यशोमात्रमर्थस्यावशिष्यते न पुनरेतस्यार्थस्य रूपं तत्रावभासते। वरुणेनावरणात्। तथा च श्रूयते मन्त्रब्राह्मणयोः।

"उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्।

इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। सोऽब्रवीदिन्द्रः यावदेवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकमथ युष्माकमितरदिति स इमान् लोकान् विचक्रमे अथो वेदान् अथो वाचम्—" इति (ऐ०२८)

—तीन अक्षरों की महिमा, अग्नि और सोम—

तीन प्राण ही तीन अक्षर हैं। प्राणों का वाणी में विस्तार होने पर अक्षर की वाङ्मय महिमा बनती है। कहा गया है—

"इसकी अपनी महिमा वाणी है"—
"अपनी महिमा का वहन करो"—

मन्त्र की व्याख्या में ऐसा सुना गया [शतपथ १/३/४] और वह महिमा मन और प्राण को अपने में समेटने वाली वाणी के द्वारा किया गया तीनों अक्षरों को दृढ़ करने वाला छाया मण्डल समझना चाहिए। और वह उत्पन्न होता है इन्द्र और विष्णु अक्षर रूपों से। विस्तार से समझिये कि पहिले कहा गया है कि वृत्र का वध इन्द्र का एक कर्म है। ये वृत्र स्वर्ब्रह्म के विरोधी धर्म हैं। असुर तो वारुण प्राण हैं जो ब्रह्म के विकास आदि धर्मों के अवरोधक होने के कारण वृत्र कहे जाते हैं। विकास को प्राप्त करने वाले पदार्थों का जड़ता के धर्मों से आवरण करते हुए उनमें रुकावट पैदा करना ही वरुण धर्म है।

—"उस ऋषभ ने द्यौ तथा अन्तरिक्ष का स्तम्भन किया, पृथिवी की श्रेष्ठता को परिमित किया, वह समस्त भुवनों का सम्राट् बना, ये ही विश्व में वरुण के व्रत हैं"—

इन मन्त्राक्षरों से यही प्रकट होता है। अतः सोम रूप वायु से तथा भृगु रूप जल से वरुण से फैलता हुआ, सूर्य की ज्योति में स्थित तत्त्वों के चारों ओर के पदार्थों को आक्रान्त करता हुआ उन उन पदार्थों को ढँकने वाले इस असुर ओज का हनन करने के लिए यह प्रत्येक पदार्थ चारों ओर पराक्रम प्रकट करता है। वह विष्णु के प्रभाव क्षेत्र तक आसुर वरुण को निस्तेज करके समस्त पदार्थों को अपने स्वरूप में विकसित करता है। और जब तक ये इन्द्र तथा विष्णु उस आसुर बल को पराजित करके अपनी विजय को सिद्ध करते हैं तब तक यह त्रिलोकी आग्नेय लोक बनी रहती है। क्योंकि वहां असुर विरोधी आंगिरस अग्नि यम तथा आदित्य की क्रम से व्याप्ति रहती है। अब उसके ऊपर आपोमय सोममय तथा वायुमय चतुर्थ लोक है। क्योंकि असुरों के अविरुद्ध सोम वायु तथा अप नामक भृगु तत्त्व इकट्ठे होकर वहां व्याप्त रहते हैं। उस चतुर्थ लोक में पदार्थ का यश मात्र अवशिष्ट रहता है, न कि पदार्थ का कोई स्वरूप वहां भासित हो पाता है। इसका कारण पदार्थ का वरुण के द्वारा आवरण बनाये रखना है। मन्त्र और ब्राह्मण में सुना जाता है—

"दोनों विजय प्राप्त करते हैं, पराजित नहीं होते, इनमें कौन कब पराजित हुआ है, इन्द्र और विष्णु ने जो अप से स्पर्धा की वह सहस्र को तीन बार प्रेरित किया"—

—"इन्द्र और विष्णु असुरों से युद्ध करते हैं, उस इन्द्र ने कहा—जहां तक यह विष्णु तीन बार विक्रम करता है उतना हमारा है, उससे अतिरिक्त तुम्हारा है, उसने इन लोकों का भ्रमण किया, फिर वेदों का, फिर वाणी का—"

ननु

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् (ऋ०म०१०। अ० १०। सू० ११४।८)

इति मन्त्रवर्णात् त्रयो लोका वाच एव।

"तिस्रो वाच ईरयति प्रवह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।

गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः। (६ ९७।३४)।

एतद्वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेते त्रयो वेदाः।"

इति मन्त्रब्राह्मणाभ्यां त्रयो वेदा अपि वाच एव। तथाच वाचः पृथक् तेषां निर्देशो नावकल्पते इति चेन्न। ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन तेषामुभयेषां पृथगुपदेशात्। अथ लोकवेदाभ्यां पृथक्तु वाचो ग्रहणं सर्वेषां सभक्तीनां दैवतानां भूतानां च संग्रहणार्थम्। अग्निः सर्वाणि भूतानि तत्राग्नौ वाक्शब्दः।

"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषद्—" इति चितिश्रुतेः (वाजि १०।३।५)।

अपि च श्रूयते यजुर्ब्राह्मणे—

वृत्रो ह वा इदमग्रे सर्वमास–यदृचो यद्यजूंषि यत्सामानि तस्मा इन्द्रो वज्रं प्राजिहीर्षत् । स ह विष्णुमुवाच । वृत्राय वै वज्रं प्रहरिष्यामि अनु मा तिष्ठस्वेति । स उद्यताद् वज्राद् वृत्रो बिभयांचकार । स होवाच । अस्ति वा इदं वीर्यं तन्नु ते प्रयच्छानि । मा तु मे प्रहार्षीरिति । तस्मै यजूंषि प्रायच्छत् । ऋचः प्रायच्छत् । सामानि प्रायच्छत् । तस्य यो योनिराशय आस तमनु परामृश्य संलुप्याच्छिनत् । सैशेष्टिरभवत् यदेतस्मिन्नाशये त्रिधातुरिवैषा विद्याऽशेत तस्मात् त्रैधातवी नाम । एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदः । एष योनिराशयः । एतद्वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेष त्रयो वेद—"

इति (शत०५।४।७) । अत्रेन्द्रविष्ण्वोर्विभागोपि श्रूयते—

त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि । तद्वा एतत्सहस्रं वाचः प्रजातम् द्वे इन्द्रस्तृतीये । तृतीयं विष्णुः–" इति ऋचश्च सामानि चेन्द्रो यजूंषि विष्णुः—"

इति (शत०४ कां०५ क०६) कौषीतकिश्रुतावप्येवम् (२।४।४) । तथा चायमिन्द्रो विष्णुसहायः स्वच्छायासूत्रेण त्रिविधं सहैव सरणात् सहस्रं नामैन्द्रावैष्णवं त्रैधातव्यं वाङ्मयमण्डलं जनयित्वा तेन महिम्नाऽऽमानमावृण्वन् स्वरूपं धत्ते । तच्चैतत्सहस्रमैतरेयश्रुतौ व्याख्यायते—

"किं तत् सहस्रमिति—इमे लोकाः इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयादिति (ऐ०२८) आग्नेये वेदत्रये चतुर्थवेदस्याथर्वणो यावन्तोंऽशा अनुस्यूतास्ते लोकाः । तथा चैतदापोमयवागवच्छेदकानि सहस्रसामानि लोकसहस्रम् । रसवितानच्छन्दोमयवागवच्छेदकानि सहस्रसामानि देवसहस्रम् । इति त्रेधा विततं सहस्रमेवाक्षरमहिमानं विद्यात् ।

प्रश्न होता है कि—

पञ्चदश उक्थ सहस्र बार जितनी द्यावापृथिवी है उतना (फैलते हैं) "सहस्र को महिमा सहस्रधा है, जहां तक ब्रह्म का विस्तार है वहां तक वाणी है"—(ऋ. १०/१०/११४/८)

इन मन्त्राक्षरों में तीनों लोक वाणी ही हैं ।

—"प्रकृष्ट वन्हि तीन वाणियों को प्रेरित करता है, जो ऋत का आधार और ब्रह्म की मनोषा हैं, गौएं गोपति के संकेत पर चलती है, मतियां पवित्रता से सोम की ओर जाती हैं । [९/९७/३४]

"वाणी के ही तीनों वेद सहस्रों रूपों में प्रकट हैं"—

इन मन्त्र और ब्राह्मण वचनों में तीनों वेद भी वाणी ही है। अतः वाणी से पृथक् उनका निर्देश संगत नहीं होता, यह प्रश्न नहीं उठता क्यों कि यहां ब्राह्मण वसिष्ठ न्याय से उन दोनों का पृथक उपदेश किया गया है। लोक और वेद से पृथक् वाणी का ग्रहण तो सभी भेद युक्त देवता तथा भूतों के संग्रह के लिए किया गया है। अग्नि ही समस्त भौतिक पदार्थ है, वाक् अग्नि का छन्द है। चिति श्रुति में कहा गया है—

"इस अग्नि की वाणी हो उपनिषद है"—[वाजि १०/३/५]।

यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है—

—"प्रारम्भ में जो वाणी थी, जो यजु था, जो साम था, वह सब वृत्र से आवृत था। इन्द्र ने उस पर वज्र से प्रहार किया। उसने विष्णु से कहा कि मैं वृत्र के लिए वज्र छोड़ूंगा, तुम मेरे साथ रहो। उसने वज्र उठाकर वृत्र को ड़राया। उसने कहा, यह शक्ति है, उसे तुम्हें देता हूं। मुझ पर प्रहार मत करो। उसे यजु का प्रदान किया, ऋक् दिये, उसकी जो योनि या आशय था, उसका अन्वेषण करके उसे लुप्त कर छीन लिया। वही दृष्टि हुई। उसके आशय में त्रिधातु के समान विद्या सो रही थी, उसका नाम त्रैधातवी हुआ। यह यज्ञ उतना ही है जितने तीन वेद हैं। यह योनि आशय है। यह तीन वेद ही वाणी सहस्र स्वरूप है।" [शत. ५/४/७]

यहां इन्द्र और विष्णु का विभाग भी सुनने में आया—

—"ऋक्, यजु, साम यह त्रयी विद्या है, यही वाणी के सहस्र हैं, इन में दो इन्द्र के हैं, तृतीय विष्णु का है। ऋक् और साम इन्द्र है, यजु विष्णु है।" (शत. ४/५/६)

कौषीतकि श्रुति में भी यह विवरण है, (२/४/४) और इस प्रकार यह इन्द्र विष्णु की सहायता से तीन धातुओं वाले वाङ्मय मण्डल को उत्पन्न करके उसकी महिमा से स्वयं को आवृत करता हुआ अपने रूप को धारण करता है। इस सहस्र का विवरण ऐतरेय श्रुति में इस प्रकार है—

—"वह सहस्र क्या है, यह लोक, यह वेद, अब उसे वाक् कहो"—। (ऐ. २८)

अग्नि के वेदत्रय में चतुर्थ अथर्व वेद के जितने अंश अनुस्यूत हैं, वे लोक हैं। अथच आपोमय वाणी के अवच्छेद जो सहस्र साम हैं, वह सहस्रों लोक हैं। रस के विस्तार से युक्त छन्दोमय वाणी के अवच्छेदक सहस्र सामसहस्र हैं। ऋषि, पितृ, देव भूतादि सृष्टि में परिणत वाणी के अवच्छेदक सहस्रसाम देवसहस्र हैं। इस प्रकार तीन भेदों में विस्तृत जो सहस्र है उसे ही अक्षर की महिमा समझना चाहिए।

तदिदं सहस्रत्रयमक्षरादक्षरत्। तस्मात् तदप्यक्षरमेवोपपद्यते। तथा च श्रूयते—

"तदेतदेकमेवाक्षरं वौगिति।" "तदेष सर्वोऽग्निरभिसंपद्यते। एतद्ध्येवाक्षरं सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसंपद्यन्ते—" इति।

तत्र सर्वाणि भूतानि क्षरं विद्यात् । तथा चेदं यदक्षरादक्षरत् सोऽग्निः । क्षरन्नपि सोऽग्निर्यतो न क्षरति न क्षीयते स सोमः । अग्नीषोमौ महिमा । तथा चेदं त्र्यक्षरं महिम्ना पञ्चाक्षरं संपद्यते । इत्थं च हृदयमहिमभ्यां द्वेधा विभक्तमिदमक्षरं पञ्चसप्तकं व्याख्यातम ।

यह तीन सहस्त्र अक्षर से प्रकट हुए । अतः वे भी अक्षर ही सिद्ध हुए । प्रमाण के लिए श्रुति है—

"यह एक ही वाक् अक्षर है ।"

"यह सभी अग्नि ही रूपायित है । इसी अक्षर को समस्त देव तथा समस्त भूत प्राप्त करते हैं ।"

"इनमें समस्त भूतों को क्षर समझो । पुनश्च यह अक्षर से जो उत्पन्न हुआ वह अग्नि है । क्षरण होता हुआ भी वह अग्नि क्षय को प्राप्त नहीं करता वह साम है । अग्नि और सोम हो महिमा हैं । और इस प्रकार यह तीन अक्षर महिमा पांच अक्षर हो जाती है । और इस प्रकार हृदय और महिमा से दो प्रकार से विभक्त इस अक्षर के पांच सप्तक व्याख्यात हुए ।

ब्रह्मणोऽग्निसोमाभ्यां क्षरविराडुत्पत्तिः

विष्णुर्यज्ञो विक्रमते । अन्नादेऽर्कप्राणे हविषो वा पशोर्वा सोमस्य वा चित्याग्नेर्वाऽऽधानादाहितस्यान्नस्योर्क्त्वापत्तिद्वारा प्राणरूपतासंपत्तिर्यज्ञः । यज्ञार्थं ब्रह्मा स्वप्रतिमयाऽन्यं ब्रह्माणमकल्पयदग्निं नाम । तत्रैतस्मिंस्त्रेधा विक्रान्ते यज्ञाग्नौ चतुर्थलोकादाहूयमानेन सोमेन प्रवृत्ते यज्ञे सोऽयमन्नादोग्निश्चर्मुखो ब्रह्माऽभवत् । भर्गो महर्यशः सर्वमिति । सान्द्रत्वात् स्थूलवाङ्मयं ब्रह्मरूपं भर्गः । विरलावयत्वात् सूक्ष्मं महः । विरलनाधिक्याद् अतिसूक्ष्मं यशः । अथ निर्विशेषमेषु सर्वेष्वनुस्यूतं सामान्यरूपं सर्वम् । तत्र त्रिभिर्मुखैस्त्रयो लोकाः पृथ्वी, अन्तरिक्षं, द्यौरिति । चतुर्थेनापश्चतुर्थो लोकः । तस्मिन्नेते त्रयो लोका अन्तर्भवन्ति । एवं त्रिभिर्मुखैस्त्रयो वेदा ऋग् यजुः सामानि । चतुर्थेनाथर्वा चतुर्थो वेदः । तस्मिन्नेते त्रयो वेदा अन्तर्भवन्ति । एवमेव त्रिभिर्मुखैस्त्रयो देवा अग्निवाय्वादित्याः । चतुर्थेन चन्द्रमाश्चतुर्थो देवः । तस्मिन्नेते त्रयो देवा अन्तर्भवन्ति ।

"सर्वं वै सहस्रं चतुष्टयं वा इदं सर्वमिति" (२।१।७)

इति कौषीतकश्रुतेरमीषां लोकानां वेदानां देवानां चैवं चातुर्विध्यै सहस्रशब्दः प्रतिपत्तव्यः । सहस्रश्रुतौ देवा इति वक्तव्ये अथो वागिति ब्रूयादित्यैवं वाचोग्रहणं दैवतभक्तिसमुच्चयार्थम् । ताश्च दिग्ऋतुच्छन्दःस्तोमादयो दशविधा अधिदैवतमधिभूतमध्यात्मं चाधियज्ञं चान्यान्यरूपाः सामान्यरूपाश्च द्रष्टव्याः । अत एव वाजसनेयब्राह्मणे चितिप्रकरणे

आधिदैविकानां गोपथब्राह्मणे तु पञ्चमप्रपाठके आधियज्ञिकाध्यात्मिकानामुपादानात्पर स्परं क्वचिद् भेदेऽपि न विरोधः । सुविशदं चैतद् ब्रह्मविज्ञाने व्याख्यातम् । दशावयवत्त्वाच्चेयं चतुष्पदी विराट् चत्वारिंशदक्षरा संपद्यते ब्रह्मजन्या । तथा चाथर्वणे श्रूयते—

"स वा एष दशधा चतुःसंपद्यते । दश च ह वै चतुर्विराजोऽक्षराणि । तं गर्भा उपजीवन्ति । श्रीर्वै विराट् । यशोऽन्नाद्यम् । श्रियमेव तद्विराजं यशसान्नाद्ये प्रतिष्ठापयति । प्रतिष्ठापयन्तीरिदं सर्वमनुप्रतितिष्ठति—" इति ।

तदित्थं यज्ञमयस्य विष्णोर्नाभौ प्रादुर्भूतो विराडयं ब्रह्मप्रतिमात्वाद् ब्रह्मा । श्रीर्ब्रह्म । श्रीर्विराडित्युक्तिरित्येके । अथवा अन्नं विराड् । यज्ञो हि देवानामन्नम । तस्मादयं विराड्विष्णुर्यज्ञमयत्वादित्यन्ये । सोऽयं विराट्सहस्रं वा क्षरपुरुषः ।

ब्रह्म के अग्नि सोम द्वारा क्षर विराट् की उत्पत्ति

विष्णु ही यज्ञ के रूप में विक्रम करता है । अर्क के अन्नाद प्राण में हवि, पशु, सोम या चित्याग्नि के आधान से आहित अन्न की उर्क् रूप प्राप्त करने की प्रक्रिया के द्वारा प्राण रूपसंपत्ति होना ही यज्ञ है । यज्ञ के लिए ब्रह्मा ने अपनी प्रतिमा से एक अन्य ब्रह्मा को कल्पित किया जिसका नाम अग्नि है । वहां इस यज्ञाग्नि के तीन प्रकार से फैलने पर चतुर्थ लोक से जिस सोम का हवन हुआ और उससे जो यज्ञ प्रवृत्त हुआ उसमें यह अन्नाद अग्नि चतुर्मुख ब्रह्मा बना । भर्ग ही मह है, यश सब कुछ है । घना होने से स्थूल वाङ्मय ही ब्रह्म रूप भर्ग है, । विरल अवयव होने से मह सूक्ष्म है । विरलता की अधिकता से अतिसूक्ष्म यश है । निर्विशेष इन सब में अनुस्यूत सामान्य रूप से सर्वमय है । वहां तीन मुखों के द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ ये तीनों लोक उत्पन्न होते हैं । तीन मुखों से पृथ्वो, अन्तरिक्ष द्यौ ये तीन लोक हैं । चौथे से आप् नामक चतुर्थ लोक है । उसमें ये तीनों अन्तर्भूत हैं । इसी प्रकार तीन मुखों से ऋक्, यजु, साम तानों वेद हैं । चतुर्थ मुख से अथर्व नामक चौथा वेद है । उसमें ये तीनों वेद अन्तर्भूत हैं । इसी प्रकार तीन मुखों से तीन देव अग्नि, वायु, आदित्य हैं । चतुर्थ मुख से चन्द्रमा चौथा देव है । उसमें ये तीनों देव अन्तर्भूत हैं ।

—"सब कुछ सहस्र है, यह सब कुछ चार हैं"--[२।१।७]

इस कौषीतक मन्त्र से लोक, वेद तथा देवों के चार विभागों में सहस्र शब्द समझना चाहिए । सहस्र श्रुति में देवों के कथन के स्थान पर—

"अब वाक् ऐसा बोले—

"इस प्रकार वाणी का ग्रहण देवों के विभाग के संग्रह के लिए है । और ये दिशा, ऋतु, छन्द, स्तोम आदि दस प्रकार के अधिदैवत अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ इन रूपों तथा अन्यान्य रूपों में तथा सामान्य रूपों में समझने चाहिए । इसीलिए वाजसनेय ब्राह्मण

के चितिप्रकरण में आधिदैविकों का तथा गोपथब्राह्मण के पंचम प्रपाठक में आधियज्ञिक और आध्यात्मिक [देवादि के] ग्रहण होने से परस्पर कहीं भेद होने पर भी विरोध नहीं आता। ब्रह्मविज्ञान में इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन कर दिया गया है। दस अवयवों वाली ब्रह्म से उत्पन्न यह चतुष्पदी विराट् चौबीस अक्षरों वाली हो जाती है। अथर्ववेद में सुना जाता है कि—

—"यह चार दस प्रकार के हो जाते हैं। दस और चार विराज के अक्षर हैं। गर्भ में उनका उपजीवन करते हैं। श्री ही विराट् तथा यश अन्नाद है। उस विराट् श्री को ही अन्नाद में प्रतिष्ठापित करते हैं। उसको प्रतिष्ठापित करने के उपरान्त ही यह सब प्रतिष्ठित होता है—"

—"इस प्रकार यज्ञमय विष्णु की नाभि में प्रादुर्भूत यह विराट् ब्रह्म की प्रतिमा होने से ब्रह्म है। श्री ही ब्रह्म है। श्री ही विराट् है, ऐसा कुछ का कथन है। अथवा अन्न विराट् है। यज्ञ देवताओं का अन्न है, अतः यह विराट् विष्णु यज्ञमय होने के कारण अन्न है ऐसा अन्य लोग मानते हैं। यह विराट् या सहस्र क्षर पुरुष है।

साहस्रं पाञ्चदैवत्यम्—

दश वा एतानग्नींश्चिनुते–अष्टौ धिष्ण्यानाहवनीयं च गार्हपत्यं च। तस्मादाहुः—विराडग्निरिति। दशाक्षरा हि विराट्। तान्नु सर्वानेकमिवैवाचक्षतेऽग्निरिति। एतस्य ह्येवैतानि सर्वाणि रूपाणि।' (शत०१०।३।२) इति वाजिश्रुतेः।

'अग्निः साहस्रमपुष्णादिति' तैत्तिरीयश्रुतेश्च—

सर्वमेवेदं सहस्रमग्ने रूपं प्रतिपद्यते। तदूर्ध्वं त्वर्थयशःसोमरूपं प्रतिपत्तव्यम्। सोऽयं सोमः सहस्राद् बहिर्भूतोऽप्यनवरतमस्मिन् सहस्रेऽनुस्रवते। तमन्तरेणाग्नेर्जीवनाभावात्। एवमेवैतस्मिन् क्षरपुरुषे सहस्रे अयमक्षरोऽपि त्रिमूर्तिः संस्रवते। यावदयमिन्द्रः शास्ता विज्ञानात्मा सोऽन्तर्यामी। यावदयमन्नादो यज्ञात्मा विष्णुः स विराट्। यावदयं सर्वेष्वनुस्यतो ब्रह्माग्निसोमाभ्यां कृतमूर्त्तिर्वायुस्तत्सूत्रम्। अनेन हि वायुना सूत्रेणैते सर्वे सहस्रम्भरा देवाः ह्येनाक्षरेण विधृताः स्तब्धाः संदृब्धाश्च परस्परमोतप्रोताः स्युः। अनेनैव च वायुना सूत्रेण सूर्यपृथिव्यादिभिः पृथ्वीचन्द्रादयो गन्धर्वा गृहीताः सूर्यादीन् परिक्रमन्ते। अनेनैव च पाशेन सूत्रेण जीवाख्या इमे पशवः पशुपतिना गृहीताः स्युः। अनेनैव च मायया पाशेनायमात्मा कषायावरणैर्निबध्यते। अनेनैव च यज्ञसूत्रेणैकः प्रजापतिः परेण प्रजापतिना संबध्नाति परमाकर्षति चेति विद्यात्। अथ योन्योऽयमव्ययालम्बनोऽक्षरः सहस्रालम्बनभूतो नाभौ प्रागुक्तः स तुरीयः। यदि त्वेते ह्या अध्यक्षरास्त्रयोऽन्तर्यामिविराट्सूत्रात्मशब्दैर्विवक्ष्यन्ते तर्हि तदपेक्षया सोऽव्ययस्तुरीयः प्रतिपत्तव्यः। इत्थं च ब्रह्मा विष्णुरिन्द्रोऽग्निः सोम इति पाञ्चदैवत्यमयमेकैकोऽर्थः प्रजापतिरिति विद्यात्। स एष त्रिपुरुषः प्रजापतिर्व्याख्यातः।

पांच देवता वाला सहस्र

--"इन अग्नियों का दस चयन करते हैं, आठ धिष्ण्य, आहवनीय तथा गार्हपत्य। इसलिए कहा गया-विराट् अग्नि है। विराट् दस अक्षरों वाली है, उन सब को एक अग्नि शब्द से कहा जाता है। इसी के ये समस्त रूप हैं-" [शत०१०।३।२]

इस वाजिश्रुति से तथा--

-"अग्नि ने साहस्र का पोषण किया-"

इस तैत्तिरीय श्रुति से यह सारा ही सहस्र अग्नि का रूप बन जाता है। उसके आगे तो अर्थ, यश और सोम का रूप समझना चाहिये। यह सोम सहस्र से बाहर जाकर भी निरन्तर इस सहस्र में गिरता है। क्योंकि-

उसके बिना अग्नि का जीवन ही नहीं चलता। ठीक इसी प्रकार इस सहस्र क्षर पुरुष में तीन मूर्तियों वाला यह अक्षर भी गिरता है। विज्ञानात्मा इन्द्र जब तक शासन करता है तब तक वह अन्तर्यामी है। जहां तक अन्नाद यज्ञात्मा विष्णु है वह विराट् है। जहा तक सब में अनुस्यूत ब्रह्मा अग्नि साम से निर्मित मूर्ति वाला वायु है, वह सूत्र है। इस वायु रूप सूत्र से ये सारे सहस्रम्भर देवगण हृदयस्थित अक्षर से धारित होकर स्व-स्थानस्थ तथा दृढ़ होते हुए परस्पर ओतप्रोत हैं। पुनश्च इसी सूत्र रूप वायु के द्वारा सूर्य, पृथिवी आदि से पृथिवी चन्द्र आदि गन्धर्व आदि गृहीत होकर सूर्य आदि की परिक्रमा करते हैं। और इसी सूत्र रूपी पाश से जीव नाम के ये पशु पशुपति के द्वारा गृहीत होते हैं। और इसी माया पाश से यह आत्मा कषाय आवरणों से बँधता है। और इसी यज्ञ से एक प्रजापति दूसरे प्रजापति से सम्बद्ध होता है और दूसरे को अपनी ओर खींचता है यह समझ रखना होगा।

अव्यय का आश्रय लेने वाला यह जो अन्य अक्षर है जिसे पहिले नाभि स्थित बतलाया जो सहसा आलम्बन बनता है वह चतुर्थ है। यदि हृदय में रहने वाले इन तीनों अक्षरों को अन्तर्यामी, विराट् तथा सूत्रात्मा शब्दों से कहने की इच्छा है तो उस क्रम में इस अव्यय को ही चतुर्थ समझना चाहिए इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र अग्नि सोम इन पांच देवताओं का सम्मिलित यह एक एक प्रजापति समझना चाहिए। इस प्रकार यह त्रिपुरुष प्रजापति का विवरण हुआ।

विग्रह सृष्टिः

अथैकस्यैतस्य प्रजापतेरव्ययस्य परमेश्वरत्वेन प्रतिपन्नस्यैश्वरत्व जीवत्वाद्यौ-पाधिकनानात्वोपपादिकां विग्रहसृष्टिं वक्ष्यामः। विविधानां क्षराणामक्षरेण ग्रहणं विग्रहः। क्षरः पञ्चधा, उपष्टम्भनः उपजनः कषायः आत्मत्यक्तः तात्कालिकश्चेति।

आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भिः पञ्चधातुकस्याव्ययस्यायं प्राणो बलानां ग्रन्थिहेतुः । बलानां बलैः परिवेष्टनं ग्रन्थनम् । हृद्ग्रन्थनान्मिथो बद्धानि बलानि सत्तारसयोगात् स्थिरतामागत्य यद्रूपं कल्पयन्ति सा वाक् । वाचः स्वरूपसंपत्तये यावन्ति बलान्यन्योन्यं संसृज्यन्ते ग्रन्थिषु ग्रन्थिं भूयो भूयः कल्पयन्ति तर्हि बलसृष्टिपरिवर्द्धनक्रमादन्यान्यसृष्टयो जायन्ते । तेषु बलानां भूयस्त्वाद् भूतशब्दः । बलबहुत्वे हि भूधातुर्निरूढः । बहुशब्दस्य बकाराकारस्य प्रयत्नदोषेण क्रमस्थानयोर्विपर्यासाद्धकारोत्तरत्वेनौष्ठ्यत्वेन च विपरिणमनाद् भूशब्दनिरुक्तेः संसृष्टबहुबलत्वं भूतत्वमिति व्युत्पत्या बलानामापेक्षिकन्यूनाधिकत्वसंभवेऽपि साधारण्येन भूतशब्दः प्रवर्वते ।

विग्रह सृष्टि

परमेश्वर स्वरूप इस एक अव्यय प्रजापति की ईश्वरत्व जीवत्व आदि उपाधियों के कारण नानाभाव को प्रकट करने वाली विग्रह सृष्टि का विवरण दिया जाता है। विविध क्षरों का अक्षर के द्वारा ग्रहण विग्रह कहलाता है । क्षर पांच प्रकार का है—उपष्टम्भक, उपजन, कषाय, आत्मत्यक्त, तथा तात्कालिक । आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् इन पांच धातुओं वाले अव्यय का यह प्राण बलों की गांठें बांधने का कारण है । बल का बलों से घिरना ही ग्रन्थि बन्धन है । हृदय में ग्रन्थि बन्धन होने से आपस में बँधे हुए तथा बल सत्ता तथा रस के संयोग से स्थिरता को प्राप्त कर जिस रूप को कल्पित करते हैं, वही वाक् है । वाक् के स्वरूप सम्पादन के लिए जितने बल एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं, ग्रथित होते, बँधते हैं उनके क्षीण न होते हुए यदि अन्य अन्य बल सृष्ट होकर बार बार गांठ पर गांठ बांधते हैं तब बल सृष्टि के बढ़ने के क्रम से अन्य अन्य सृष्टियां होने लगती हैं । बलों की अधिकता के कारण उस स्थिति के लिए भूत शब्द का प्रयोग होता है । भूधातु से भूत शब्द निष्पन्न होता है और बल की अधिकता भूधातु का निरूढ़ अर्थ है । [भू शब्द बहु शब्द से ही बना हुआ है] बहुशब्द में बकार का अकार उच्चारण प्रयत्न के दोष से क्रम और स्थान में उलट पलट जाता है, उसके आगे हकार है, उससे तथा ओष्ठ स्थानीय होने से उसका विपरिणाम होकर भू बन जाता है, अतः जिसमें संसृष्टि हुई, वह भूत है इस व्युत्पत्ति से बलों के आपेक्षिक भाव से न्यूनता और अधिकता होने पर भी सामान्यतया वहां भूत शब्द का प्रयोग होता है ।

भूतानां यत् प्राथमिकं रूपं तत्र वाक्शब्दः । तत्रेतरभूतापेक्षयाऽत्यल्पानि बलानि संसृज्यन्ते । सैषा वाग् द्वेधा अमृता मर्त्या च । तत्रामृता वाक् सहस्ररूपा वेदत्रयी नित्यमव्ययमनुवर्तमाना सर्वेषां भूतानामावपनत्वादाकाशशब्देनाख्यायते । अथैतस्मिन्नाकाशे मर्त्या वागहरहर्विक्रियमाणा परिवर्तते । सा बलग्रन्थितारतम्याच्चतुर्विधा भवति— ऋषयः पितरः नाभसा भूतानि चेति । मौलिका जात्यन्तरासंस्पृष्टाः प्राणाकारा ऋषयोऽनन्तविधाः । अन्यान्यजातीनामृषीणां संसृष्ट्योत्पद्यमानाः पितरः । बहुजातीयैः पितृभिः संसृष्ट्योत्पद्यमाना भावा नाभसाः । ते चतुर्विधाः - देवा आसुराः गन्धर्वाः मनुष्याश्च । तत्रैते मनुष्या-

स्तैत्तिरीयश्रुतौ पितृशब्देनाप्युक्ताः । चन्द्रस्थतया पितृसांनिध्यात् । अम्भःशब्देनाप्येषां चतुर्णां व्यपदेशा भवन्ति । ऋषयः पितरो नाभसा इत्येते त्रिविधा अप्याकाशसंचारिणो भावा वायुशब्देनाख्यायन्ते । अथैषां देवासुरादीनां परस्परसंघाताद् भूतानि भवन्ति । तानि तेजोऽबन्नभेदात् त्रिविधानि । तेष्वेव त्रिषु भूतेषु यत्परमं रूपं तत्र भूमिशब्दः । तत्रेतर-यावद्भूतापेक्षयाऽत्यधिकानि बलानि ससृज्यन्ते । आकाशे वायौ चापेक्षाकृतबलग्रन्थिभूयस्त्वाद् भूतशब्दोऽनुवर्तते । अस्ति हि वाचं भूमिं चान्तरा मध्यमेषु भूतेषु तारतम्यम् । प्राथमिकस्यैतस्य वाचोरूपस्योत्तरोत्तरमनुवर्तमानत्वात् सर्वेषामेव भूतानां वाक्त्वं न व्याहन्यते । अत एव त्वैतरेयश्रुतौ श्रूयते —

'अथो वागेवेदं सर्वमिति ।'

तेषां च बलानामन्योन्यसंसृष्टिरेवेह भूतोत्पत्तिर्भवतीति भूतोत्पत्तौ सृष्टिशब्दः प्रवर्तते । रसः सत्ता । ग्रन्थौ तदनुग्रहणादुच्छिन्नास्वभावानां क्षणिकानामप्येषां ग्रन्थमानानां बलानामनुच्छित्त्या याऽनुवृत्तिस्तत्रायमसृधातुर्व्युत्पन्नः । अस्तीत्युक्ते बलसृष्टेरनुच्छित्तिः प्रतीयते इति बोध्यम् । अनन्तविधाश्चैते बलसंसृष्टिहेतवः प्राणा इष्यन्ते ।

"विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ।।" (१०।६२।५)

इति मंत्रश्रुतेः । तदित्थं सृष्टिहेतुं प्राणं सृष्टिफलरूपां वाचं चेहावोचाम ।

भूतों का जो प्रथम रूप बनता है उसके लिए वाक् शब्द का प्रयोग होता है । वहां अन्यभूत की अपेक्षा रखते हुए बलों का अत्यल्प योग है । यह वाक् अमृत तथा मर्त्य भेदों से दो प्रकार की है । इनमें अमृता वाक् सहस्र रूप तीन वेद हैं जो सर्वदा अव्यय के पीछे रहते हुए समस्त भूतों का आप्लवन करने के कारण आकाश शब्द से कहे जाते हैं । इस आकाश में मर्त्य वाक् प्रति दिन विकारों को प्राप्त करती हुई घूमती है । वह बल की ग्रन्थियों के तरतम भाव से चार प्रकार की होती है—ऋषि, पितृ, नाभस तथा भूत । दूसरी जाति से अस्पृष्ट मौलिक प्राण के आकार वाले ऋषि नाना प्रकार के हैं । अन्यान्य जाति के ऋषियों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले पितर कहे जाते हैं । बहुत जातियों के पितरों के संसर्ग से उत्पन्न पदार्थ नाभस कहलाते हैं । वे चार प्रकार के होते हैं—देव असुर, गन्धर्व और मनुष्य । इन मनुष्यों को तैत्तिरीय श्रुति वचनों में पितृ शब्द से भी कहा गया है' क्योंकि चन्द्रमा में स्थित होने के कारण ये पितृ तत्त्व के समीप हैं । अम्भ शब्द से भी इन चारों का कथन होता है । ऋषि पितृ नाभस ये तीनों आकाश में संचरण करने वाले तत्त्व वायु शब्द से भी कहे गये हैं । इन देवासुरों की परस्पर समूहबद्धता से भूतों की उत्पत्ति होती है । वे तेज, अप्, अन्न इन भेदों से तीन प्रकार के हैं । इन तीन भूतों में जो परम रूप हैं उसका वाचक भूमि शब्द है, उसमें अन्य समस्त भूतों की अपेक्षा अत्यधिक बलों का संसर्ग होता है । आकाश तथा वायु में अपेक्षाकृत बलों का संसर्ग होता है ।

आकाश तथा वायु में अपेक्षाकृत बल ग्रंथियों की अधिकता के कारण भूत शब्द का प्रयोग प्रचलित है। वाणी तथा भूमि के मध्य में जो भूत हैं उनमें तारतम्य है। प्रथम समुत्पन्न वाक् रूप के आगे की सभी उत्पत्तियों में अनुवर्त्तमान रहने से सभी भूतों में वाक् तत्त्व प्रतिबन्धित नहीं होता। इसीलिये तो ऐतरेय श्रुति वाक्य में सुना गया है-"यह वाक् ही सर्व रूपा है।" इन बलों का एक दूसरे से संसर्ग ही भूतों की उत्पत्ति कहा जाता है, इसीलिए सृष्टि शब्द का प्रधान प्रयोग भूतों की उत्पत्ति के लिए ही होता है। रस ही सत्ता है। ग्रन्थि में बार बार प्रयुक्त हुए उखड़ने की प्रकृति वाले, क्षणिक अवस्था में रहने पर भी ग्रंथि रूप आये हुए बलों की अविनष्ट रूप से संस्थिति रहती है। उसी को प्रकट करने वाला (सत्ता शब्द का) 'अस्' धातु है। जब 'अस्ति', (है) ऐसा कहा जाता है तब बल की सृष्टि अविनष्ट प्रतीत होती है यह समझना चाहिये। बल को संयुक्त करने वाले ये प्राण अनन्त प्रकार के मानने योग्य हैं।

इस प्रकार सृष्टि के कारण भूत प्राण और सृष्टि की फल रूपा वाणी का यहाँ कथन हुआ।

अथैतद्वैपरीत्येन यतो हेतोरेषां सृज्यमानानां ग्रथ्यमानानां बलानामुद्बन्धनादुद्ग्रंथनादुत्सर्जनाच्चैतानि बलानि रसतः प्रच्यवन्ते उच्छिन्नानि विनश्यंति रसकैवल्यमवशिष्यते तद्विज्ञानं नाम रसः। विज्ञानं विद्येत्यनर्थान्तरम्। विद्यया हि बन्धमोक्षो हृद्ग्रन्थिमोक्षः सृष्टिमोक्षः कर्ममोक्षश्च संभवति तस्माद्विज्ञानं मोक्षहेतुः। विज्ञानेनैव हि रसाद् बलानामात्यन्तिकनिवृत्तौ निर्वाणशब्दः। तथा च बलनिर्वाणं मोक्षहेतुः। यथासौ प्राणः कर्मप्रवृत्त्यनुकूलोऽव्ययरसः तथेदं विज्ञानं कर्मनिवृत्त्यनुकूलोऽव्ययरस इष्यते। ततश्च बलसंसर्गजनितक्षोभनिवृत्त्या परमा शान्तिरानन्दो विज्ञानफलम्। तथा चायमव्यय एवाक्षरसहायः सृष्टिहेतुश्चोपपद्यते मोक्षहेतुश्चेत्यनवरतमनुवर्तमानसर्गमोक्षपारम्पर्यं जगतो रूपं प्रतिपद्यामहे। विज्ञानप्राणयोस्तारतम्येनानुवृत्तिनिवृत्तिभ्यां प्रत्यर्थं चेदं सर्गमोक्षद्वैविध्यमवयवतो वा समुदायतो वा प्रवर्तमानमस्य जगतो वैचित्र्यं परिशीलयतीति विद्यात्।

इसके विपरीत जिस कारण उत्पन्न होने वाले तथा ग्रन्थि में आने वाले बल क्रम के खुलने फैलने से इनका रस से पृथक् करण होता है, फैलकर ये नष्ट होते हैं, केवल रस ही अवशिष्ट रह जाता है, उस रस की विज्ञान संज्ञा है। विज्ञान या विद्या एक ही बात है। विद्या से बन्ध से मुक्ति, हृदय की ग्रन्थि से मुक्ति, सृष्टि से मुक्ति तथा कर्मों से मुक्ति सम्भव हो जाती है। इसलिए विज्ञान मोक्ष का कारण है। विज्ञान के द्वारा ही रस से बलों की सर्वदा के लिए मुक्ति अवस्था को बतलाने वाला निर्वाण शब्द है। तात्पर्य यह है कि बल का निर्वाण ही मोक्ष का कारण है। जैसे यह प्राण अव्यय का वह रस है जो कर्मों में प्रवृत्ति के अनुकूल होता है, वैसे ही यह विज्ञान अव्यय का कर्मों से निवृत्ति की अनुकूलता सम्पादित करने वाला अव्यय रस है, ऐसा कथन अभीष्ट होगा। और तब बलों

के सहवास जनित विक्षोभ के हट जाने पर परम शान्ति ग्रानन्द ही विज्ञान का फल होता है । उपर्युक्त ग्रनुसंधान से यह ग्रव्यय ही ग्रक्षर की सहायता लेता हुग्रा सृष्टि का कारण बनता है तथा मोक्ष का भी कारण यही है ग्रौर इस प्रकार निरन्तर दृश्यमान सृष्टि ग्रौर मुक्ति की परम्परा ही जगत् का रूप समझ में ग्राता है । यह भी ध्यान में रखने की बात है कि विज्ञान ग्रौर प्राण के तारतम्य पूर्वक प्रवृत्त ग्रौर निवृत्त होने पर प्रत्येक पदार्थ में सृष्टि ग्रौर मुक्ति की यह द्विरूपता ग्रवयव तथा समुदाय में प्रवृत्त होती हुई जगत् को विचित्र बनाए रखती है ।

ग्रन्तपुरुष ग्राकाशः वायुप्राणः ज्योतिः छन्दः ।

ग्रन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । [१।१।२०]

भेदव्यपदेशाच्चान्यः । [१।१।२१]

ग्राकाशस्तल्लिङ्गात् । [१।१।२२]

ग्रत एव प्राणः । [१।१।२३]

ज्योतिश्चरणाभिधानात् । [१।१।२४]

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न, तथा चेतोर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् । [१।१।२५]

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् । [१।१।२६]

उपदेशभेदान्नेति चेन्न उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । [१।१।२७]

"ग्रथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश ग्राप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः, तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च इत्यधिदैवतम् । ग्रथाध्यात्मम् य एषोऽन्तरक्षणि पुरुषो दृश्यते तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम् । स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च"—

इति हि श्रूयते । तत्रैतस्य सूर्यमण्डलान्तःपुरुषस्य चक्षुर्मण्डलान्तःपुरुषस्य च हिरण्यश्मश्र्वादिरूपत्व श्रवणाद्, अन्तरादित्येऽन्तरक्षणीत्याधारश्रवणात्, ये पराञ्चो लोकास्तेषामीष्टे इत्यैश्वर्यमर्यादाश्रवणाच्च संसारित्वं लभ्यते न त्वस्य ब्रह्मत्वमुपपद्यते । ब्रह्मणो हि—

'ग्रशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय"—

मिति श्रुत्या नीरूपत्वावगमात् ।

"स कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि" इति—

"ग्राकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"

इति च श्रुत्याऽनाधारत्वोपदेशात् ।

"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपत्तिः एष भूतपालः एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम-संभेदाय" —

इति श्रुत्या तस्या मर्यादावदैश्वर्यश्रवणाच्च । इत्येवं विप्रतिपन्नं पुरुषं प्रत्युच्यते स जगत्कर्ता परमेश्वर एवायमन्तःपुरुषत्वेन शास्त्रविवक्षितो द्रष्टव्यः तद्धर्मोपदेशात् । परमेश्वरस्य ब्रह्मणो धर्मा इहोपदिश्यन्ते तद्यथा –

"तस्योदिति नाम स सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः ।"

इति । एतदेवाक्षिपुरुषेऽप्यतिदिश्यते–

"यन्नाम तन्नाम"–

एतच्च सर्वपाप्मशून्यत्वं परमेश्वरधर्मः श्रूयते–

"य आत्मा अपहतपाप्मा" इत्यादौ ।

—अन्तः पुरुष, आकाश, वायु, प्राण, ज्योति, छन्द

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्—

परमेश्वर के धर्मों के उपदेश के कारण अन्तः पुरुष विवक्षित है ।

"आदित्य के भीतर जो हिरणमय पुरुष दिखाई दे रहा है, सोने की दाढीमूंछ वाला स्वर्ण के केश वाला नख से शिख तक सम्पूर्ण सुवर्णमय……………अध्यात्म में जो आंखों के भीतर पुरुष दिखाई देता है, उसका वही रूप है जो इस (परमेश्वर का) रूप है……, यह श्रुति वाक्य है । यहां सूर्यमण्डल के अन्तःस्थित पुरुष को, तथा चक्षु मण्डल के अन्तः पुरुष को स्वर्ण की मूँछों वाला आदि सुने जाने से, आदित्य के भीतर तथा नेत्रों के भीतर ऐसे आधार के सुने जाने से, ऊर्ध्व तथा अधोभाग के लोकों का शासन कर्तृत्व सुने जाने से, ऐश्वर्य की मर्यादा का श्रवण होने से (यह अन्तः पुरुष) संसार के अन्तर्गत संसारी है ऐसा निष्कर्ष प्राप्त होता है, यह ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान नहीं होता । क्यों कि ब्रह्म के लिए तो—

"अशब्द है, अस्पर्श है, अरूप है, अव्यय है",

इस श्रुति के द्वारा रूप रहितता सुनी गई है—

"वह किसमें प्रतिष्ठित है । अपनी महिमा में"—

यह—

"वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है"—

इन श्रुतियों में उसका कोई आधार नहीं है यह सुना गया है ।

—"यह सबका ईश्वर है, यह भूतों का स्वामी है"—

—"वह भूतों का पालक है वह इन लोकों को छिन्न भिन्न न होने देने वाला विधारक सेतु है—"

इस श्रुति से उसके अमर्यादित ऐश्वर्य का श्रवण होता है। इस प्रकार इस अन्तः पुरुष के विषय में जो सन्देह होते हैं उसका निर्णीत अर्थ यही है कि उक्त श्रुतियों में जगत् का कर्ता परमेश्वर ही यहां अन्तःस्थित पुरुष के रूप में शास्त्र में विवक्षित है क्योंकि इस अन्तःस्थित पुरुष के धर्म वे ही कहे गए हैं जो जगत्कर्ता परमेश्वर के हैं। परमेश्वर ब्रह्म के धर्म ही यहां उपदिष्ट हुए हैं जैसे कि—

"उसका उदित यह नाम है क्यों कि वह सभी पापों से परे या ऊपर है।"

यही धर्म अक्षर पुरुष में भी जाता है—

"जो नाम उसका है वह नाम इसका है"—।

यह सब पापों से शून्यता परमेश्वर का ही धर्म सुना जाता है।

—"जो आत्मा है, जो पापों से पृथक् है।"—

"चाक्षुषे पुरुषे सैव ऋक्, तत् साम तदुक्थम्, तद्यजुः तद् ब्रह्म" –

इति ऋक्सामाद्यात्मकता श्रूयमाणा परमेश्वरस्योपपद्यते। सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च। पृथिव्यग्न्यात्मकेऽधिदैवतमृक्सामे वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनुक्रम्य।

—"तस्यऋक् च साम च गेष्णा इत्यधिदैवतमथाध्यात्मं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ"—

इति विधीयते तदपि सर्वात्मकत्वे सत्येवोपपद्यते।

"य इमे वीणायां गायन्ति एतंस्वेव ते गायन्ति।"

इत्येवं लौकिकेष्वपि गानेष्वप्यस्यैव गीयमानत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरपरिग्रहे एव घटते। लोककामेशितृत्वमपि परमेश्वरं गमयति। तस्मात् परमेश्वर एवेहान्तःपुरुषपदार्थः।

यत्तु रूपवत्वमाधारः समर्यादैश्वर्यं च परमेश्वरपरिग्रहे विरुध्यते। तस्य नीरूपत्वादनाधारत्वादपरिमितैश्वर्यत्वाच्चेत्युक्तं तन्न। द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। तदुभयनिरूपणे शास्त्रेण चिकीर्षिते यत्र निरस्तसमस्तविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते तत्रेदं शास्त्रं भवति।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय"—

मिति। यत्र तु सर्वकारणत्वाद्विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते तत्रेदमेवंविधं शास्त्रं प्रवर्तते—

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः"—इत्यादि ।

एवमयं हिरण्यश्मश्र्वादिनिर्देशः प्रतिपत्तव्यः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थं भविष्यति । आधारश्रवणं त्वाकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरत्वात्सूपपन्नमेव । तदुक्तं मैत्रिश्रुतौ—

"नभसोऽन्तर्गतस्य तेजसोंऽशमात्रमेतद् यदादित्यस्य मध्ये इवेत्यक्षण्यग्नौ च । एतद् ब्रह्म । एतदमृतम् । एतद्भर्गः"—इति—

"तस्मादोमित्यनेनैनतदुपासीतापरिमितं तेजः । तत् त्रधाभिहितमन्नादादित्ये प्राणे"—

इति च । तस्मात्परमेश्वर एवायमन्तःपुरुषत्वेनेह विवक्षित इति बोध्यम् ।

"चाक्षुष पुरुष में वही ऋक्, वह साम, वह उक्थ, वह यजु, वह ब्रह्म है—"

इस प्रकार ऋक् सामात्मकता जो सुनी जा रही है वह परमेश्वर में घटित होती है । क्यों कि वह सब का कारण है, सर्वात्मक है । अधिदैवत क्षेत्र में पृथिवी, अग्नि रूपी ऋक्, साम तथा अध्यात्म क्षेत्र में वाक्प्राणात्मकता के प्रसङ्ग में--

"उसके ऋक् और साम स्थान हैं, यह अधिदैवत में है, अध्यात्म में जो इस (अन्तः पुरुष) के स्थान हैं, वही उस (परब्रह्म) के स्थान हैं-"

ऐसा विहित हुआ है, यह भी सर्वात्मक में ही घटित होता है ।

"वीणा पर जो गाते हैं, वे उसी का गान करते हैं"--

इस प्रकार लौकिक गायन में भी उसी परमेश्वर का गायन सुना जाता है । लोक और काम का ईशन करना भी परमेश्वर की ही ओर संकेत करता है । इसलिए अन्तः पुरुष शब्द से यहां परमेश्वर का ही ग्रहण है ।

यह जो सन्देह उठाया गया कि रूपवान् होना, आधार होना, मर्यादित ऐश्वर्य होना, अन्तः पुरुष को परमेश्वर मानने में विरुद्ध पड़ता है तो यह सन्देह भी निर्मूल है । क्यों कि ब्रह्म के दो रूप समझ में आते हैं, एक नाम, रूप, विकार, भेद तथा उपाधियों से विशिष्ट है तथा दूसरा इसके विपरीत सभी उपाधियों से शून्य । शास्त्र में दोनों का निरूपण अभीष्ट है । जहां समस्त विशेषों से अलग परमेश्वर के रूप का उपदेश होता है वहां शास्त्र के ये वचन प्रवृत्त होते हैं--

--"जो अशब्द है, अस्पर्श है, अरूप है, अव्यय है--" आदि ।

और जहां सब का कारण होने से विकारों के भी कतिपय धर्मों से विशिष्ट परमेश्वर का उपास्य रूप से निर्देश होता है, वहां शास्त्र के ये वचन प्रवृत्त होते हैं--

"जो सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध है, सर्वरस है" आदि ।

इसी प्रकार का यह स्वर्णश्मश्रु आदि का विवरण समझना चाहिए । ऐश्वर्य की मर्यादा का श्रवण भी आध्यात्मिक आधिदैविक विभाग की अपेक्षा रखने वाला है और वह भी उपासना के लिए है, यह समझना होगा । जहां आधार रूप से श्रवण का प्रश्न है वह तो ब्रह्म के आकाश की तरह सर्वगत होने के कारण सब के भीतर स्थित होने से युक्ति युक्त है ही । मैत्रिश्रुति में कहा गया है--

"आकाश के अन्तर्गत तेज का यह एक अंश मात्र है जो सूर्य में है, जो नेत्र में है और जो अग्नि में हैं । यह ब्रह्म है । यह अमृत है । यह तेज है ।"

"अतः ॐ इस पद से इस अपरिमित तेज की उपासना करनी चाहिए । वह तीन प्रकार से कहा गया है अग्नि में, आदित्य में तथा प्राण में ।"--

इसलिए अन्तः पुरुष शब्द से यहां परमेश्वर ही विवक्षित है यह समझना चाहिए ।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः । य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं य आदित्मन्तरो यमयति । एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"—

इति श्रुत्यन्तरे वेदितुरादित्याभिमानिनो जीवादयमन्यो विज्ञानान्तर्यामी निर्दिश्यते स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति । तस्मादेषु प्रदर्शितेषु स्थानेषु परमेश्वरविषय एवान्तःपुरुषशब्द इति सिद्धम् ।

"अस्य लोकस्य का गतिरिति । आकाश इति । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । आकाश एवैभ्यो ज्यायान् । आकाशः परायणम् स एष परोवरीयानुद्गीथः । स एषोऽनन्तः ।"

इत्याकाशादुत्पत्तिः श्रूयते । तत्रेदं भूताकाशं विवक्ष्यते परं ब्रह्म वेति संदिहानं प्रत्युच्यते आकाशस्तल्लिङ्गात् । सर्वाणि भूतान्याकाशादुत्पद्यन्ते इति हि ब्रह्मणो लिंगं पश्यामः ज्यायस्त्वं च परायणत्वं च आनन्त्यं च । तस्माज्जगत्कर्तायमाकाशः परमेश्वर एव द्रष्टव्यः । ननु —

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः—"

इत्यादिना भूताकाशादपि वाय्वादिक्रमेण सर्वभूतोत्पत्तिः श्रूयते । ज्यायस्त्वपरायणत्वे चानन्त्यं च भूतान्तरापेक्षया भूताकाशस्योपपद्यन्ते । इति चेन्न । मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहे आकाशादेवेत्यवधारणस्य सर्वाणीति भूतविशेषणस्य चाननुकूलत्वापत्तेः । ज्यायस्त्वपरायणत्वे आनन्त्यमपि च परब्रह्मण्येव शब्देन श्रूयन्ते ।

"ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।" इति ।

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् ।" इति च ।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति च ।"

तस्माद् ब्रह्मैवेहाकाशशब्दं विद्यात् । एवं—

"यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म—"

इत्येवमादिष्वप्ययमाकाशशब्दो ब्रह्मपरः । अथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—

"ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुरिति ।"

"सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता" इति ।

"कं ब्रह्म खं ब्रह्म खं पुराणम्—"

इत्यादि । तस्मादेषु प्रदर्शितेषु स्थलेषु परमेश्वरविषय एवायमाकाशशब्द इति सिद्धम् ।

और भेद कथन से अन्य है (१/१/२१)

"जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य से भिन्न है, जिसको आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है, जो आदित्य के भीतर नियमन करता है, यह अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा है"—

इस अन्य वेद वाक्य में ज्ञाता आदित्याभिमानी जीव से भिन्न यह विज्ञानान्तर्यामी निर्दिष्ट है, वही पुरुष यहां भी आदित्य के भीतर कहा जा सकता है । अतः इन उपर्युक्त स्थलों पर यह अन्तः पुरुष शब्द परमेश्वर विषयक ही है यह सिद्ध होता है ।

--वह आकाश है, ब्रह्म के चिह्नों से निर्दिष्ट होने से--(१/१/२२)

--"इस लोक की गति क्या है, आकाश है । ये सारे, भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं । आकाश में ही अस्त होते हैं, इनमें आकाश ज्येष्ठ है । आकाश ही परायण है, यह वह पर तथा अवर कक्ष स्थित उद्गीथ है । यह वह अनन्त है--"

इस प्रकार आकाश से उत्पत्ति सुनी जाती है । वहां यह भूताकाश विवक्षित है या परब्रह्म विवक्षित है, इसप्रकार सन्देह करने वाले के प्रति कहा जाता है कि--

"आकाश वह ब्रह्म है, ब्रह्म के चिन्ह होने से--"

समस्त भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं यह ब्रह्म के चिन्ह दिखाई देते हैं, वे हैं ज्येष्ठता पराणता तथा अनन्तता। इसलिए जगत् का कर्ता यह आकाश परमेश्वर ही है, ऐसा समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि–

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु वायु से अग्नि"

इत्यादि वाक्य से भूताकाश से भी वायु आदि के क्रम से समस्त भूतों की उत्पत्ति सुनी जाती है।

महाभूत आकाश में अन्य महाभूतों की अपेक्षा ज्येष्ठता, आधारता तथा अनन्तता सिद्ध होती है, [अतः महाभूत रूप आकाश में ही उक्त सन्दर्भों का तात्पर्य क्यों न माना जाय] यह सन्देह नहीं होना चाहिये। जहाँ मूल कारण का विवरण प्रसङ्ग है वहाँ ब्रह्म का नाम न लेकर आकाश से सर्वोत्पत्ति कही गई है तो वह अवधारण तथा उत्पत्ति में सबकी उत्पत्ति की बात कहना भूत रूप आकाश के अनुकूल नहीं होता। शब्दतः भी ज्येष्ठता, सर्वाधारता तथा अनन्तता परब्रह्म में ही सुनने में आई है—

"यह पृथ्वी से ज्येष्ठ है, अन्तरिक्ष से ज्येष्ठ है, द्युलोक से ज्येष्ठ है, इन लोकों से ज्येष्ठ है।" "ब्रह्म विज्ञान आनन्द एवं परायण है-"। "ब्रह्म सत्य ज्ञान (एवं) अनन्त है।" (इसलिए इन वाक्यों के कारण) ब्रह्म ही यहाँ आकाश शब्द का अर्थ है ऐसा समझना चाहिए तथा—"जो यह आकाश आनन्द रूप न हो! आकाश निश्चय ही नाम तथा रूप का निर्वाह करने वाला है।" इत्यादि वाक्यों में भी यह आकाश शब्द ब्रह्म का बोधक ही है।

आकाश के पर्यायवाची शब्दों का भी ब्रह्म के लिए प्रयोग देखा गया है— "ऋचा का परम व्योम अक्षर है जिसमें विश्व में देवता निवास करते हैं"—

"यह भार्गवी वारुणी विद्या है जो परम व्योम में प्रतिष्ठित है।" —

"क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है, ख पुराण है"—(इन वाक्य संदर्भों में आकाश के व्योम ख आदि पर्यायों का ब्रह्म के लिए प्रयोग है)। अतः इन उपर्युक्त स्थलों में परमेश्वर ही आकाश शब्द है यह सिद्ध होता है।

[इसीलिए प्राण (पर ब्रह्म है) (१।१।२३)]

—"उद्गीथे प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते। सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता"—

इति हि छान्दोग्यश्रुतिः । तत्रैतेन प्राणशब्देन पञ्चवृत्तिर्वायुविकारो विवक्ष्यते परं संदिहानं प्रत्युच्यते—अत एव प्राणः स जगत्कर्ता परमेश्वरो भवितुमर्हति । दृश्यते ह्यत्रापि भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म लिङ्गम् ।

ननु मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनं विधीयते—

"यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः । स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते"—

इति प्रत्यक्षं च तत् स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते प्रबोधकाले च पुनः प्रादुर्भवन्तीति । किञ्च—उद्गीथप्रतीहारदेवतयोरादित्यान्नयोः कार्यब्रह्मतया तत्सामान्यादस्याः प्रस्तावदेवताया अपि कार्यब्रह्मत्वमेवोचितम् न तु परमेश्वरत्वमिति चेन्न । तत्र स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते न सर्वेषां भूतानाम् । इह तु सर्वेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानां प्राणादुत्पत्तिराम्नायते इति विशेषात् । वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायामादित्यान्नसंनिधानस्याकिञ्चित्करत्वाच्च । तस्माद्यत्र पारमेश्वरं लिंगं दृश्यते तत्रेदं ब्रह्मैव प्राणशब्दं द्रष्टव्यम् । अत एव—

"यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति" —

इत्यादिष्वपि प्राणशब्दस्य ब्रह्मण्येव वृत्तिर्नेया । अन्यत्रापि प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते यथा—

"प्राणस्य प्राणम्" इत्यत्र—

"प्राणबन्धनं हि सौम्य मन"—इत्यादौ ।

तस्मादेषु प्रदर्शितेषु स्थलेषु परमेश्वरविषय एवायं प्राणशब्द इति सिद्धम् ।

"उदगीथ में प्रस्तोता के प्रस्ताव में जो देवता प्रस्तुत है, वह कौन देवता है, यह प्राण है ऐसा कहा, यह समस्त भूत प्राण में ही प्रवेश करते हैं, प्राण से ही प्रादुर्भूत होते हैं, यह देवता आह्वान में आबद्ध हैं"—

ऐसा छान्दोग्यश्रुति में आता है । वहां इस प्राण शब्द से पांच रूपों वाला वायु का विकार विवक्षित है या परब्रह्म विवक्षित है, ऐसा सन्देह करने वाले के प्रति कहा जाता है—इसीलिए प्राण जगत् का कर्ता परमेश्वर हो सकता है । यहां भी परमेश्वर का कर्म चिह्न दिखाई देता है कि वह भूतों का प्रभव और प्रलय है ।

प्रश्न होता है कि प्राण शब्द के वायु विकार रूप मुख्य अर्थ में भी प्रभव और प्रलय का विधान है—

"जब पुरुष शयन करता है, तब उसकी वाणी प्राण में विलीन होती है, उसके नेत्र, श्रोत्र (कान) तथा मन प्राण में विलीन होते हैं। जब उठता है तब प्राण से ही इन का उद्गमन होता है"—।

ऐसा कहा गया है। प्रत्यक्ष भी है कि शयन काल में प्राण की वृत्तियों के लुप्त न रहने पर इन्द्रियों की वृत्तियां लुप्त होतीं हैं, जागने पर पुनः प्रादुर्भूत हो जातीं हैं। पुनश्च (उक्त सन्दर्भ में) यह भी विचारणीय है कि उद्गीथ और प्रतीहार देवताआदित्य के अन्न हैं. वे कार्यब्रह्म हैं, उनके साथ कथित होने से इस प्रस्तुत देवता को भी कार्यब्रह्म ही मानना उचित है न कि परमेश्वर मानना। यह प्रश्न नहीं होता। क्यों कि वहां स्वप्न और जागरण में प्राणाश्रित केवल इन्द्रियों का विलय और उद्गमन देखा जाता है न कि समस्त भूतो का। उक्त सन्दर्भ में तो समस्त इन्द्रियों के साथ शरीर-धारी जीव से आवेष्टित भूतो की प्राण से उत्पत्ति कही गई है, यह विशेषता है। शेष वाक्य के बल से प्राण शब्द के ब्रह्मपरक अर्थ की प्रतीति में आदित्य के अन्न रूप (उद्गीथ और प्रतीहार) का साथ कथन भी कोई महत्त्व नहीं रखता। इसलिए जहां परमेश्वर के चिह्न श्रुति वाक्यों में सुने जाते हैं वहां यह ब्रह्म ही प्राण शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ है यह समझना चाहिए। इसीलिए—

'जब शयन अवस्था में कोई स्वप्न नहीं देखता उस समय एकमात्र प्राण ही रहता है, तब अपने सब नामों के साथ वाणी इसमें विलीन हो जाती है"—

इत्यादि वेद वाक्यों में प्राण शब्द का व्यवहार ब्रह्म के लिए ही समझना चाहिए। अन्य स्थलों (वाक्यों में) पर भी प्राण शब्द का ब्रह्म के लिए प्रयोग मिलता है—जैसे

"वह प्राण का प्राण है"—

यहाँ तथा—

"हे सौम्य, मन प्राण के बन्धन हैं"—

इसलिए इन प्रदर्शित उक्त स्थलों पर प्रयुक्त हुआ प्राण शब्द परमेश्वर का ही प्रतिपादक है, यह सिद्ध हुआ।

"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्-यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः—" इति हि (छां०२।१३।७) श्रुतिः।

तत्रैतेन ज्योतिःशब्देनादित्यादिकं चक्षुर्वृत्त्यनुग्राहकं ज्योतिरभिधीयते परं ब्रह्म वेति संदिहानं प्रत्युच्यते ज्योतिश्चरणाभिधानात्—

"एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्या-मृतं दिवि"—

इति मन्त्रप्रसिद्धस्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वस्येह पूर्वस्मिन् वाक्ये निर्दिष्टतया तद्गतस्य द्युसंबन्धिनोऽमृतस्य पादत्रयस्यैवेह प्रत्यभिज्ञानात् परब्रह्मपरोऽयं ज्योतिःशब्दो विज्ञायते । ननु परो दिवो ज्योतिरिरिति द्युमर्यादत्वमस्य ज्योतिषः श्रूयते । चराचरबीजस्य तु सर्वात्मकस्य ब्रह्मणो द्यौर्मर्यादा न संभवति । किञ्चास्य कोक्षेयस्य ज्योतिषः प्रसिद्धम् ब्रह्मत्वम् ।

"तस्यैषा दृष्टिस्तस्यैषा श्रुतिः"—

इत्यौष्ण्यघोषविशिष्टत्वश्रवणात् । तत्तादात्म्याभिधानाच्च परो दिवो ज्योतिषोऽपि न ब्रह्मत्वम् । किञ्च –पूर्वस्मिन् वाक्ये—

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्"—

इति छन्दो निर्दिश्यते न ब्रह्म । तस्य चेह प्रत्यभिज्ञापि नास्ति । तत्र त्रिपादस्यामृतं दिवीति दिवोऽधिकरणत्वेन इह तु परो दिव इति दिवो मर्यादात्वेन श्रवणाद्विशेषोपलब्धेः । इति चेन्न । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थं द्युमर्यादत्वश्रुतेरविरुद्धत्वात् । निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धेन प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः । एवं परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत् कौक्षेयज्योतिःप्रतीकत्वोपपत्तेर्न तदध्यासमहिम्ना दिवः परस्यास्य ज्योतिषः कार्यरूपत्वं शक्यमध्यवसितुम् । ननूक्तं पूर्वम्—

'गायत्री वा इदं सर्वं भूत'

मिति गायत्रीच्छन्दोऽभिधानान्न पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्मणश्चरणाभिधानमस्तीति प्रतीयते – इति चेन्न । गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण हि तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं निगद्यते ।

ज्योति के संचरण के कथन से (वह परब्रह्म है) (१।२४)—"अब इसके आगे द्युलोक की ज्योति दीप्त होती है, विश्व के पृष्ठ पर सबके पृष्ठ पर अनूत्तमों में उत्तमों में लोकों में यह वही इस अन्तपुरुष में ज्योति है"—ऐसा छान्दोग्यश्रुति में कहा गया है । (छां ४।१३।७)

यहां इस ज्योति शब्द के द्वारा सूर्य आदि नेत्रों के व्यवहार की प्रेरक ज्योति का कथन किया गया है अथवा परब्रह्म का कथन इस ज्योति शब्द से है ऐसा सन्देह करने वाले के लिए सूत्र कहता है कि "ज्योति के संचरण कथन से (परब्रह्म ही ज्योति शब्द का अर्थ है ।)

—"इतनी इसकी महिमा है, पुरुष उससे भी बडा है, इसका एक चरण ही समस्त भूत हैं, इसके अमृत रूप तीन चरण स्वर्ग हैं"—

इस मन्त्र में प्रसिद्ध ब्रह्म का चार चरण वाला स्वरूप पहिले के वाक्य में कहे जाने के कारण उसके द्युलोक में स्थित अमृत रूप तीन चरणों का यहां स्मरण होने से यह ज्योति शब्द परब्रह्म को संकेतित करता प्रतीत होता है। प्रश्न होता है कि—

"दिव से पर ज्योतिहै"—

इस कथन में इस ज्योति की सीमा द्युलोक तक कही गई है। चराचर के बीज सर्वात्मक ब्रह्म की सीमा तो द्युलोक हो नहीं सकती। पुनश्च इस कौक्षेय ज्योति का ब्रह्मत्व तो प्रसिद्ध है—"उस की यह दृष्टि है, उसकी यह श्रुति है"—ऐसा औष्ण्यघोष विशिष्टत्व का श्रवण है। उसके साथ एकरूपता के कथन से द्युलोक से पर स्थित ज्योति को भी ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। तथाच पहिले के वाक्य में—

"यह समस्त भूत गायत्री है"—

ऐसा छन्द के लिए कथन हुआ है न कि ब्रह्म का कथन वहां है। ब्रह्म के कथन की वहां प्रतिज्ञा भी नहीं है। ब्रह्म के लिए-

"इसके तीन अमृत रूप चरण द्युलोक में हैं"—

ऐसा द्युलोक का आधार के रूप में कथन है, यहां "यहां द्युलोक से पर है" ऐसा द्युलोक को मर्यादा के रूप में सुना जाने से दोनों में विशेषता दृष्टिगोचर हो रही है यह सन्देह नहीं उठता। सर्वगत ब्रह्म की भी उपासना के लिए द्युलोक की मर्यादा कहने वाली श्रुति विरुद्ध नहीं होती। यद्यपि ब्रह्म बिना प्रदेश वाला है परन्तु विशेष उपाधियों से सम्बद्ध होने पर उसकी विशेष प्रदेश स्थित के रूप में कल्पना भी संगत हो जाती है। इस प्रकार सबसे परब्रह्म का भी नामादि प्रतीक जैसे समझा जाता है वैसे ही कौक्षेय ज्योति के प्रतीक के रूप में भी वह संगत हो जाता है। अतः उसमें अध्यास के द्वारा द्युलोक पर स्थित इस ज्योति की कार्यरूपता स्वीकार नहीं की जा सकती। पहिले कहा है कि— "यह सब भूत गायत्री है", यह गायत्री छन्द का कथन होने से पहिले के वाक्य में ब्रह्म के चरण का कथन है ऐसा प्रतीत हो रहा है, यह शंका निराधार है।

यहां गायत्री नामक छन्द को माध्यम बना कर उसमें अभिव्याप्त पर ब्रह्म में चित्त के अर्पण का निर्देश किया गया है।

गायत्री वा इदं सर्वमिति। न ह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति। तस्मादस्ति छन्दोऽभिधानेऽपि पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्मैव निर्दिष्टम्। तथा हि पश्यामः।

—"गायत्री वा इदं सर्वमिति"—

गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय—

"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री । तदेतदृचाभ्यनूक्तम्–तावानस्य महिमा" –

इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतस्य मन्त्रस्य छन्दोव्यतिरिक्तविषय-परत्वं न युज्यते इति । तस्मादिह पूर्वस्मिन् वाक्ये गायत्रीछन्दोरूपेण जगत्कर्तृ ब्रह्मैव निर्दिष्टमिति सिद्धम् । भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवं विज्ञायते । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह–

"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति"–

न हि ब्रह्मानाश्रयणेऽक्षरसंनिवेशमात्रस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते । न वा तावानस्य महिमा इति ऋक्संबन्ध उपपद्यते । ऋचा सर्वात्मकस्य ब्रह्मण एवाभिधानात् । ननूक्तं पूर्वम् एकत्र दिव आधारत्वेनापरत्र तु मर्यादात्वेन श्रवणादुपदेशभेदान्न पूर्वोपात्तस्ये-होत्तरत्र ज्योतिर्वाक्ये प्रत्यभिज्ञास्तीति प्रतीयते–इति चेन्न । उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । न हि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते वोपदेशे प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते । वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात परतः श्येन इत्येवमुभयथा लोकेऽर्थसाम्येन प्रयोगदर्शनात् । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम् । अत एव च परमेश्वरविषय एवायमत्र ज्योतिःशब्द इति सिद्धम । अन्यत्रापि ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते–

"वाचैवायं ज्योतिषास्ते, मनो ज्योतिर्जुषताम्, तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हो-पासतेऽमृतमिति ।"

एवं ज्योतिःपर्यायवाचिनामप्यस्ति ब्रह्मणि प्रयोगः ।

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"–इति ।

"गायत्री ही यह सब कुछ है"–ऐसा कहते हुए, अक्षरों का संनिवेश (ढांचा) तैयार करना मात्र जिसका स्वरूप है वह गायत्री भला सर्वात्मक कैसे हो सकती है । अतः छन्द का कथन करने वाले पूर्व के वाक्य में भी ब्रह्म ही निर्दिष्ट हुआ है । और भी देखते हैं–

"गायत्री ही यह सब है"

इस वाक्य से गायत्री का प्रारम्भ करके उसी की व्याख्या में उसके भूत, पृथिवी शरीर, हृदय, वाक् प्राण इन प्रभेदों को बतलाकर–

"यह चार चरणों वाली गायत्री छ प्रकार की है,"–

यह बात छन्द के द्वारा कही गई है, "उतनी–(विशाल) इसकी महिमा है"– इस प्रकार उसी पूर्व व्याख्यात गायत्री में उदाहृत मन्त्र का छन्द से अतिरिक्त विषय का प्रतिपादक होना युक्तियुक्त नहीं होता । अतः यहां पहिले के वाक्य में गायत्री छन्द के रूप में जगत् का निर्माता ब्रह्म ही संकेतित है यह सिद्ध हुआ । भूत आदि को गायत्री का

चरण बतलाना भी उसकी ब्रह्मरूपता की ओर ही संकेत है। भूत, पृथिवी, शरीर हृदय का निर्देश करके मन्त्र ने कहा–

"वह यही चार चरणों वाली छ प्रकार की गायत्री है"–।

जिसमें ब्रह्म का संकेत न हो ऐसे अक्षरों की बुनावट मात्र का स्वरूप रखने वाले छन्द के भूत आदि चरण नहीं हो सकते। ऋचा के (मन्त्र के) द्वारा सर्वात्मकब्रह्म का ही कथन किया जा रहा है।

पहिले जो शंका उठाई गई थी कि एक स्थान पर द्युलोक के आधार के रूप में तथा दूसरे स्थल पर मर्यादा के रूप में कथन से भिन्न-भिन्न कथन हो जाने के कारण पहिले के कथन का आगे इस ज्योति वाक्य में सम्बन्ध नहीं बठता तो यह शंका निराधार है, क्यों कि दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। किसी उपदेश के शब्द में विभक्ति यदि सप्तमी है, तथा दूसरे में पञ्चमी है तो उनके अभेद स्मरण में विरोध नहीं आता। 'वृक्ष के अग्रभाग में' या 'वृक्ष के अग्रभाग के आगे' इन दोनों में लौकिक प्रयोग में अर्थ एक ही समझा जाता है। इसलिए पूर्व वाक्य में निर्दिष्ट ब्रह्म का ही यहां स्मरण है। और इसीलिए यहां का ज्योति शब्द परमेश्वर विषयक ही है यह सिद्ध हुआ। अन्यत्र भी ज्योति शब्द का ब्रह्म के लिये प्रयोग हुआ है,–

"वाणी हो यह ज्योति है, मन ज्योति का सेवन करे, देवता आयु अमृत रूप ज्योतियों की ज्योति की उपासना करते हैं"–।

इसीप्रकार ज्योति के पर्याय शब्दों का भी ब्रह्म के लिए प्रयोग हुआ है–"उसी की आभा-पूर्णता के अनन्तर सब कुछ भासित होता है, उसी की आभा से यह सब कुछ भासित है–" इत्यादि।

तदित्थमन्तःपुरुषशब्द आकाशशब्दः प्राणशब्दो ज्योतिःशब्दो गायत्र्यादिच्छन्दः शब्दश्च स्थलविशेषे परमेश्वरपरतया निर्दिष्टाः सन्तीति सिद्धम्।

इन्द्रः प्रज्ञा प्राणः प्रज्ञः।

प्राणस्तथानुगमात्। [१।१।२८]

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्। [१।१।२९]

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्। [१।१।३०]

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्न–उपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्।
[१।१।३१]

कौषीतकब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकाम्नायते। तत्र—

"स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व । अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति । न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात् । स एष प्राण एव प्रजात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः—"

इत्येवं प्राणादेशवाक्यानि श्रूयन्ते । तत्र प्राणशब्देन किं विवक्ष्यते—वायुमात्रं वा देवता वा जीवो वा, परब्रह्म वेति । दृश्यन्ते ह्यत्र सर्वेषामेषां लिङ्गानि । तथा हि—इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम् ।

"मामेव विजानीहीति"—

इन्द्रस्य वचनं देवतात्मनो लिङ्गम् ।

'न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्या'—

दिति जीवलिङ्गम् ।

'आनन्दोऽजरोऽमृत'

इति ब्रह्मलिङ्गम् । तस्मादप्रतिपत्तिरित्येवं व्यामुह्यन्तं प्रत्युच्यते –

"प्राणस्तथानुगमात् ।"—

पौर्वापर्येण वाक्ये पर्यालोच्यमाने पदार्थानां ब्रह्मण्येवानुगमो लभ्यते । तथाहि—मनुष्यहिततमार्थत्वेनोपदिश्यमानस्य प्राणस्य परमात्मान्यत्वं न संभवति ।

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—

इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मज्ञानस्यैव हिततमत्वसिद्धेः ।

"स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया"—

इत्यादिकं च ब्रह्मपरिग्रहे घटते ।

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे—"

इत्यादिश्रुतिभ्यः सर्वकर्मपरिक्षयस्य ब्रह्मविज्ञानहेतुकत्वसिद्धेः ।

प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्षे उपपद्यते—अचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वासंभवात् ।

"आनन्दोऽजरोऽमृत"

इत्यापि न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति ।

"स न साधु कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान् । एष ह्येव साधुकर्म कारयति, एष उ एवासाधुकर्म कारयति । एष लोकपालः । एष लोकाधिपतिः । एष लोकेशः ।"

इत्येतत्सर्वं परस्मिन्नेव ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्यप्राणे । तस्मादत्र प्राणो ब्रह्मैव । न तु मुख्यप्राण इति सिद्धम् ।

इस प्रकार अन्त:पुरुष शब्द, आकाश शब्द, प्राण शब्द, ज्योति शब्द, गायत्री आदि छन्द शब्द विशेष स्थलों पर परमेश्वर को बतलाने के लिए प्रयोग में लाए गए हैं, यह सिद्ध हुआ ।

ब्रह्म में अनुगम (समन्वय) होने से प्राण शब्द ब्रह्म वाचक है—कौषीतक ब्राह्मण उपनिषद में इन्द्रप्रतर्दन कथा का सन्दर्भ है कि—

—" उसने कहा मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ, मेरे इस आयु अमृत रूप की उपासना करो, यह प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर का परिग्रह करके उसे उठाता है । वाणी की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वक्ता को जानना चाहिए । वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमृत है"—। (ब्र. सू. १/१/२८)

इस प्रकार प्राण के प्रतिपादक वाक्य श्रुति में सुने जाते हैं । यहां प्राण शब्द से वायुमात्र का अभिप्राय है ! इससे देवता विवक्षित हैं ! जीवपरक है यह प्राण शब्द ! या इस प्राण शब्द का अर्थ परब्रह्म है ! क्यों कि इन सभी की पहिचान यहां दिखाई दे रही है । निदर्शन के लिए "इस शरीर का परिग्रह करके उठाता है" यह वायु की पहिचान है । —"वाणी की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वक्ता को जानना चाहिए"—यह जीव की पहिचान है ।-"आनन्द, अजर अमृत हैं," यह ब्रह्म की पहिचान है । इस प्रकार अनिश्चय से व्याकुल पुरुष के लिए कहा जाता है—

"समन्वय के कारण प्राण शब्द का अर्थ परब्रह्म है"—।

जब पूर्वापर प्रसङ्ग का पर्यालोचन किया जाता है तब शब्दों के अर्थ का समन्वय ब्रह्म में ही समझ में आता है । मनुष्य के अत्यन्त हित सम्पादक के रूप में उपदिष्ट प्राण का अर्थ परमात्मा से भिन्न नहीं हो सकता ।

—' उस को जानकर ही मृत्यु का तरण करता है, निकलने के लिए अन्य मार्ग नहीं है"

इत्यादि मन्त्रों से परमात्मा का ज्ञान ही मनुष्य का सर्वाधिक हित सम्पादक है, यह सिद्ध होता है ।

—"वह जो मुझे जान गया उसका किसी लौकिक कर्म, चाहे वह चोरी हो, चाहे भ्रूणहत्या ही क्यों न हो, कुछ नहीं बिगाड़ सकता," यह सब बातें यहां ब्रह्म को समझने पर ही घटती हैं ।—

"उस परावर का दर्शन होने पर इस के (जीव के) कर्म क्षीण हो जाते हैं"—

इत्यादि वेद वाक्यों में सब कर्मों के क्षीण हो जाने का कारण ब्रह्म विज्ञान ही सिद्ध होता है। और प्रज्ञात्मा भी ब्रह्म के पक्ष में ठीक उतरती है। क्यों कि यदि उपर्युक्त सन्दर्भ में प्राण का अर्थ वायु किया जाय तो वह अचेतन है, वह प्रज्ञात्मा कैसे कहा जा सकता है। "आनन्द, अजर, अमृत"–यह उक्ति भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र घटित होती सम्भव नहीं दीखती।

—"वह अच्छे कार्य से बड़ा नहीं हो जाता और न ही तुच्छ कार्य से छोटा हो जाता है। वही अच्छे कार्य कराता है और वही असाधु कार्य कराता है, यह लोकपाल है, यह लोकाधिपति है, यह लोकेश है,"—

ये सारी उक्तियां परब्रह्म का यहां ग्रहण करने पर संगत हो सकती न कि प्राण शब्द के मुख्यार्थ वायु का आश्रय लेने पर इन की संगति बैठ सकती है। अतः उक्त सन्दर्भ में प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है, न कि प्राण शब्द का लोक प्रसिद्ध वायुरूप मुख्यार्थ यहां अभिप्रेत है।

ननु स तर्हि देवताविशेषः कस्मान्न स्यात्। उक्तं तु पूर्वं वक्तुरात्मोपदेशादिह विग्रहवान् देवताविशेषः प्राणपदार्थो न तु ब्रह्मेति।

"अवागमना"––

इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणोऽहङ्कारवादेन वक्तृत्वासंभवात्।

—"त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्"––

इत्येवमादिभिर्ब्रह्मण्यसंभवद्भिर्धर्मैरात्मस्तवनाच्च। प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते।

"प्राणो वै बलम्"–– इति श्रुतेः

"या च काचिद्बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तद्"––

इति निरुक्तस्मृतेश्चेन्द्रस्य बलदेवतात्वप्रसिद्धेः। अप्रतिहतज्ञाना देवता–इति निरुक्तस्मृतेः प्रज्ञात्मत्वमपि देवतात्मनः सभवति हिततमत्वं च। तस्माद्देवताविशेषः प्राणपदार्थो न ब्रह्मेति चेत् तत्र प्रत्युच्यते।

अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्निति।

अस्मिन् ह्यध्याये बाहुल्येन प्रत्यगात्मसंबन्धो दृश्यते।

यावद्धचस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुरिति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनःप्रत्यग्भूतस्यायुषः संप्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति न देवताविशेषस्य पराचीनस्य। प्राणानां निःश्रेयसमितीन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति।

–"एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः । स एष प्राण आनन्दोऽजरोऽमृतः स मे आत्मेति विद्यात्"—

इति विषयेन्द्रियव्यवहारैरनभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । तदेतत्सर्वं पराचीनविग्रहे देवतात्मनि नोपपद्यते ।

—"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः"——

इतिश्रुत्यन्तरसंवादाच्चास्य प्रत्यगात्मनः संभवति ब्रह्मणैकत्वम् । तस्मादध्यात्मसंबन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेश इति गम्यते । अथायमुक्तो वक्तुरात्मोपदेशस्तु शास्त्रदृष्ट्या वामदेववत् प्रतिपत्तव्यः । इन्द्रो नाम देवतात्मा ।

"अहं ब्रह्मास्मी"—

तिशास्त्रसिद्धेनार्षेण दर्शनेन स्वमात्मानं परमात्मत्वेन पश्यन्नुपदिशति स्म–मामेव विजानीहीति । यथा—

—"तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" तद्वत्"—

"तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्"—

इति श्रुतेश्चेदमेतस्य देवतात्मनः परमात्मत्वं न विरुध्यते । अथ त्वाष्ट्रवधादीनां तु यस्मादेवं कर्माहं तस्मान्मां विजानीहीत्येवं विज्ञेय देवताभूतेन्द्रस्तुत्यर्थतयोपन्यासो नाभिप्रेतव्यः । किं तर्हि, विज्ञानस्तुत्यर्थतयैव । यस्मादीदृशानि क्रूरकर्माणि कृतवतोऽपि मे ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, एवमन्योऽपि यो मां वेद तस्यापि लोको न हिंस्यते इति, विज्ञेयं तु ब्रह्मैव प्राणोऽस्मि प्रजात्मेति सिद्धम् ।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राण शब्द का अर्थ देवता विशेष ही क्यों न स्वीकार किया जाय । पहिले कहा भी गया है कि वक्ता के स्वयं उपदेश देने से यहां आकारधारी देवता विशेष ही प्राण शब्द का अर्थ है न कि ब्रह्म । ब्रह्म के लिए श्रुति के वाक्य "वह बोलता नहीं, वह मन रहित है" ऐसा कहते है और तब ब्रह्म का "मैं" कहते हुए कुछ भी कहना असम्भव हो जाता है ।

–"त्रिशीर्षों के त्वाष्ट्र को मैंने मारा, अरुन्मुख यतियों को शालावृकों को प्रदान किया"–

ये आत्मस्तव (स्वयं के कार्य) इस प्रकार के धर्मों से युक्त हैं जो ब्रह्म में असम्भव हैं । [प्राण का अर्थ यहां वक्ता इन्द्र के रूप में करने पर] यहां इन्द्र का प्राणत्व उसके बल शाली होने के कारण समझ में आजाता है । श्रुति वाक्य है–

"प्राण निश्चय ही बल का नाम है"–।

निरुक्त में कहा गया है कि—

"जो भी कोई बल शाली रचना हे वह इन्द्र का ही कार्य है"—

इससे बल के देवता के रूप में इन्द्रकी प्रसिद्धि है। निरुक्त में ही—

—"देवता अप्रतिहत (बिना रुकावट के) ज्ञान वाले होते हैं"—

ऐसा कहने से देवताओं का प्रज्ञात्मत्व और हिततमत्व भी सिद्ध है। अत: यहां प्राण शब्द का अर्थ विशेष देवता (इन्द्र) ही है न कि ब्रह्म। ऐसा जो पूर्व पक्ष (सन्देह) उपस्थित होता है, उसके उत्तर में यह सूत्र है कि—

"इस प्रकरण में अध्यात्म की अधिकता है"—[ब्र. सू. १। ।२९]

इस अध्याय में प्रधानता से प्रत्यगात्मा का सम्बन्ध देखा जाता है।

—"इस शरीर में जब तक प्राणों का निवास है, तब तक आयु है"—

इस वाक्य से प्रत्यग् रूप प्रज्ञात्मा की आयु के प्रदान और उपसंहार को दिखाया जा रहा है न कि परोक्ष देवता विशेष का यहां कोई प्रसंग है। प्राणों को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए इन्द्रियों के आश्रित प्राण को दिखाया जाता है—

"इस प्रकार भूत मात्राएं प्रज्ञामात्राओं में अर्पित हुईं तथा प्रज्ञा मात्राएं प्राण में अर्पित हुईं। यह प्राण आनन्द, अजर, अमृत है, वह मेरी आत्मा है ऐसा समझें"——

इस प्रकार विषय और इन्द्रियों के व्यवहार से अनाक्रान्त प्रत्यगात्मा का ही उपसंहार में विवरण मिलता है। ये सब बातें परोक्ष शरीर वाले देवताओं में घटित नहीं होतीं।

"यह सब में अनुस्यूत आत्मा ब्रह्म है"

इस अन्यश्रुति वाक्य के साथ सामञ्जस्य होते हुए इस प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ एकत्व समझना संभव होता है। इसलिए आध्यात्मिक सम्बन्ध की अधिकता के कारण यहां के प्राण आदि शब्द ब्रह्म के ही निर्देशक है देवता आदि के नहीं यह प्रतीत होता है। तब उक्त मन्त्र में जहां "अहम्" ["मैं"] कहते हुए विधान हुआ है वह तो शास्त्र की दृष्टि से वामदेव के समान समझना चाहिये। [वहां की संगति इस प्रकार है कि] देवता स्वरूप वाला इन्द्र "मैं ब्रह्म हूँ" इस शास्त्र वाक्य से संसिद्ध ऋषि दृष्टि से अपने स्वरूप को परमात्मामय देखता हुआ उपदेश देता है कि--

"तुम मुझे ही जानो" जैसे [अन्य मन्त्र में]

"[स्वयं को ब्रह्म अनुभव करते हुए] ऐसा देखते हुए ऋषि प्रवर वामदेव ने कहा था कि मैं ही मनु था, और मैं ही सूर्य था।"—

इसी प्रकार का सन्दर्भार्थ यहां भी समझना चाहिए।

"देवताओं में जिस जिस को ज्ञान हुआ वही ब्रह्म हो गया"—
इस श्रुतिवाक्य के प्रकाश में भी देवात्मा इन्द्र के परमात्मा समझने में विरोध नहीं आता। त्वष्टा के वध आदि प्रसंगों में तो

"क्योंकि मैं ऐसे कर्मों का सम्पादक हूं इसलिए तुम मुझे जानो",—

इस प्रकार ज्ञातव्य देवता स्वरूप इन्द्र की स्तुति के लिए यह कथन है ऐसा अभिप्राय नहीं लेना चाहिए। तब क्या अभिप्राय होगा ? उत्तर है कि यहां उस ज्ञान की प्रशंसा में ही अभिप्राय है। ऐसे क्रूर कर्मों के करने पर भी ब्रह्मस्वरूप में स्थित मेरा एक बाल भी बांका नहीं होता, तो अन्य भी जो कोई मुझे जान लेता है उसका भी संसार कुछ नहीं बिगाड़ सकता (यह विज्ञान की स्तुति है)। ज्ञातव्य तो ब्रह्म ही है

"मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं"

यह सिद्ध होता है।

नन्वेवमुपदर्शितरीत्याऽध्यात्मसंबन्धभूम्नारागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमेतत्स्यात्। जीवस्य मुख्यप्राणस्य चात्र लिङ्गदर्शनात् प्राणसंवादे वागादीन् प्राणान् प्रकृत्य—

"तान् वरिष्ठः प्राण उवाच—मा मोहमापद्यथ- अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी"—

ति श्रवणाच्छरीरधारणस्य मुख्यप्राणधर्मावगमात् तस्यैवेह शरीरधारणस्य मुख्यप्राणलिङ्गस्य विधानात् प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे चेतनत्वादुपपद्यत एव। मुख्यप्राणेपि प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपद्यते। मुख्यप्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथानिर्देश उपपद्यते।

"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वै प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामत" इति।

ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद् भिद्येत। तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतरो वा तावुभौ वा प्रतीयेयातां न तु ब्रह्म—इति चेन्न। उपासात्रैविध्यात्। एवं तर्हि जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं चेति उपासात्रैविध्यं प्रसज्येत। तच्चायुक्तम्—

मामेव विजानीहीत्युपक्रम्य प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व इत्युक्त्वाऽन्ते—स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृत—

इत्युक्तत्वादुपक्रमोपसंहाराभ्यामेकस्मिन्नेव तात्पर्यावगमात् तत्रोपस्थितेष्वपि बहुषु लिङ्गेषु ह्यलिङ्गं प्रबलं भवति। सर्वेषां परमात्माश्रितत्वादिह जीवे वा मुख्यप्राणे वा

देवतात्मनि वा वायौ वा सर्वत्र नियामकतया ब्रह्मणो योगसत्वादस्मिन् परमात्मनि सर्व-धर्माणामुपचरितुं शक्यत्वात्। ब्रह्मलिङ्गं तु नान्यपरत्वे परिणेतुं शक्यते अन्येषामसर्व-धर्मतया सर्वधर्माणां तेषु समन्वयासंभवात्। अथवेदमेकस्यैव ब्रह्मणस्त्रैविध्येनात्रोपासनं विवक्ष्यते—प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण चेति।

पुनः यह पक्ष सामने आता है कि प्राण शब्दार्थ के सन्दर्भ में उक्त रीति से आध्यात्मिक सम्बन्ध की अधिकता के द्वारा राग आदि कारणों से संयुक्त कार्यों के सम्पादन के अध्यक्ष जीव को समझाने के लिए उक्त संदर्भ को माना जाना ठीक होगा। चिन्ह भी यहां जीव और मुख्य प्राण के दिखाई देते ही हैं। प्राणों के संवाद में वाणी आदि प्राणों के निरूपण में–

"उनसे वरिष्ठ प्राण ने कहा, तुम त्रस्त मत होओ, मैं ही स्वयं को पांच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को स्थिर करके इसका धारण करता हूं"—

इस श्रुति वाक्य के द्वारा मुख्य प्राण के धर्म का ज्ञान हो रहा है, उसी शरीर धारणरूप मुख्य प्राण के चिन्ह का यहां विधान है, प्रज्ञात्मा प्राण ही शरीर का ग्रहण करता हुआ उठाता है, अतः जीव में चेतना के कारण प्रज्ञात्मता भी सिद्ध होती ही है। मुख्य प्राण में भी उक्त निर्देश प्रज्ञा के साधन अन्य प्राण का आश्रय होने से युक्तियुक्त है।

मुख्य प्राण और प्रज्ञात्मा दोनों का साथ साथ व्यवहार होने से अभेद से निर्देश तथा स्वरूप से भिन्न होने के कारण भेद निर्देश यह दोनों प्रकार का कथन तर्क संगत ठहरता है।

जो प्राण है वह प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है वह प्राण है, ये दोनों इस शरीर में साथ रहते हैं तथा साथ ही शरीर से बाहर निकलते हैं"—

यह श्रुति वचन इसी अर्थ को बतला रहा है। यदि यहां प्राण शब्द से ब्रह्म को समझा जाय तो कौन किससे भिन्न होगा। अतः यहां जीव तथा मुख्य प्राण में से कोई एक या उन दोनों की प्रतीति होती है न कि परब्रह्म की। यह पक्ष उठाना समीचीन नहीं है। क्योंकि उपासनाएं तीन प्रकार की हैं। पुनः प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार तो जीवोपासना, मुख्य प्राण की उपासना तथा ब्रह्म की उपासना ये तीनों उपासनाएं सिद्ध होंगी, और यह बात अनुचित है—

"मुझे ही जानो"—

ऐसा कहकर विषय का आरम्भ किया गया है। बाद में—

"मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं उसी मुझे आयु अमृत कहकर उपासना करो"

ऐसा कहकर अन्त में,—

"यह वह प्राण ही प्रज्ञा आत्मा वाला आनन्द अजर अमृत है"—

ऐसा कह कर समझाया गया है। उपक्रम तथा उपसंहार से एक में ही तात्पर्य का निश्चय होता है, वहां उपस्थित जो चिन्ह है उनमें ब्रह्म का परिचायक चिन्ह ही प्रबल होता है, क्योंकि सभी परमात्मा के ही आश्रित हैं। यहां जीव में या मुख्य प्राण में, या देवता के स्वरूप में या वायु में सर्वत्र नियामक ब्रह्म का ही योग विद्यमान है, अतः इस परमात्मा में सभी धर्मों का उपचार से समावेश हो जाना सम्भव है। ब्रह्म के चिन्ह को अन्यत्र अन्वित किया जाना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि अन्य कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं जो सर्वधर्मात्मक हो। अतः उनमें सर्व धर्मों का समन्वय होना सँभव नहीं दीखता।

अथवा यह भी संभावित अर्थ हो सकता है कि एक ही ब्रह्म की तीन विधियों से यहां उपासना कही गई है, प्राण धर्म से, प्रज्ञा धर्म से तथा स्वधर्म से—

"आयुरमृतमित्युपास्व। आयुः प्राणः। तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत्"—इति प्राणधर्मः।

यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य,

'वागेवास्य एकमङ्गमदूदुहत्, प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोतीत्यादिः" प्रज्ञाधर्मः।

भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः। स एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः—इति ब्रह्मधर्मः।

अन्यत्रापि श्रुतौ यथा–

—"मनोमयः प्राणशरीर"—

इत्येवमादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनं विधीयते तथैवेहापि ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं विहितमस्तीति नैतावताऽत्र प्राणशब्दस्यान्यपरत्वं संभवति। तस्माद् ब्रह्मैवात्र प्राणपदार्थ इति सिद्धम्।

इति स्पष्टलिङ्गसमन्वयपादः प्रथमः

—"आयु की अमृत के रूप में उपासना करो। आयु ही प्राण है। इसलिए इसी उक्थ की उपासना करनी चाहिए"—यह प्राण धर्म कथन हुआ।

—"जिस प्रकार इस प्रज्ञा के लिए समस्त भूत एक हो जाते हैं उसकी व्याख्या की जाती है"—ऐसा उपक्रम करके,—' इसके वाक् नाम के ही एक अङ्ग का दोहन किया, प्रज्ञा से वाणी पर आरोहण करके, वाणी से सभी नामों को प्राप्त करता है,"—इत्यादि कथन प्रज्ञाधर्म के हैं।

—"भूत मात्राएं प्रज्ञामात्राओं में अर्पित हुईं, प्रज्ञामात्राएं प्राण में अर्पित हुईं, वह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द अजर तथा अमृत है"—यह कथन ब्रह्म धर्म है। श्रुति वचनों में अन्यत्र भी—"जैसे मनोमय प्राण शरीर है" इत्यादि उपाधि धर्मों से ब्रह्म की उपासना का विधान है, इसी प्रकार ब्रह्म की ही यहां दो उपाधियों के धर्मों से एक ही उपासना विहित है, अतः इतने से यहां प्राण शब्द से अन्यपरत्व संभव नहीं है। इसी लिए यहां प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है यह सिद्ध हुआ।

—□—

उपास्यः

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । [१।२।१।]

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । [१।२।२।]

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । [१।२।३।]

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च । [१।२।४।]

शब्दविशेषात् । [१।२।५।]

स्मृतेश्च । [१।२।६।]

अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेव व्योमवच्च । [१।२।७।]

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् । [१।२।८।]

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत । मनोमयः प्राणशरीरः"—

इत्यादिश्छान्दोग्यश्रुतौ शाण्डिल्यविद्याम्नायते । तस्यायमर्थः ब्रह्मैकप्रभवत्वाद् ब्रह्मैकपरायणत्वाद् ब्रह्मैकजीवनत्वाच्चेदं सर्वं विकारजातं ब्रह्मैवास्तितस्माद्रागद्वेषा-दिरहितः शान्तो भूत्वोपासीत । क्रतुकरणमेवोपासनम् क्रतुः संकल्पो ध्यानमित्यनर्थान्तरम् । स मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः इत्येवमादिरूपेण क्रतुं कुर्यात् । य एष मे आत्मा अणो-रणीयान्, एवं य एष मे आत्मा महतो महीयान् सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्ध इत्यादिगुण विशिष्टः इतः प्रेत्याहं तमेवाभिसंभवितास्मीति भावयेत् । यस्यैवंविधो विश्वासो दृढः स्यात् तस्य संदेहो नास्तीति शाण्डिल्यः प्राहेति ।

(उपास्यः)

"निश्चय यह सब कुछ (दृश्यमान तथा अनुभूयमान) ब्रह्म है । यह सब उसी से उत्पन्न, उसी में लीन होने वाला, तथा उसी से प्राणवान् है (तज्जलान्) यह समझ कर शान्त भाव से उपासना करे । यह पुरुष क्रतुमय है, इस लोक में पुरुष जैसे क्रतु (कर्म)

वाला होता है वैसा ही यहां से बिदा होने पर होता है। वह क्रतु का सम्पादन करे। प्राणशरीर मनोमय है।"—इत्यादि छन्दोग्यउपनिषद् के सन्दर्भ में शांडिल्यविद्या का उपदेश हुआ है। उसका तात्पर्य यह है कि समस्त विकार रूप विश्व ब्रह्म से समुत्पन्न, ब्रह्मैकपरायण (ब्रह्म में संस्थित) तथा केवल ब्रह्म में जीवित रहने से ब्रह्म ही है। अतः राग द्वेष रहित होकर शान्त भाव से उपासना में प्रवृत्त होना उचित है।

क्रतु का सम्पादन ही उपासना है, क्रतु, संकल्प, ध्यान ये शब्दभेद मात्र हैं, अर्थ एक ही है। वह मनोमय प्राण शरीर वाला दीप्तिस्वरूप है ऐसा समझते हुए क्रतु का अनुष्ठान करना चाहिए। मन में यह भावना करनी चाहिए कि यह जो मेरा अणु से भी अणु आत्मा है, एवं यह जो मेरा आत्मा महान से भी महान् है जो सर्व कर्म वाला, सर्वकाममय, सर्वगन्धमय इत्यादि गुणों से विशिष्ट है, मैं यहां से विदा होकर उसी के समीप जाऊंगा। जिसका विश्वास इस प्रकार दृढ़ हो जाता है, उसे कोई सन्देह नहीं रहता ऐसा शाडिल्य महर्षि ने कहा।

तत्रायं सन्देहः। किमयं शारीरो जीव इह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यत्वेनोपदिश्यते परब्रह्म वेति। तत्रेदमुच्यते। ब्रह्मण एव सर्वत्रोपास्यत्वेन प्रसिद्धत्वात्, सत्यसंकल्पसर्वकर्मादिरूपाणां विवक्षितगुणानां तत्रैवोपपत्तेश्च परं ब्रह्मैवेह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम्। न शारीरो जीवः। तत्रैतेषां विवक्षितगुणानामाकाशात्मत्वसत्यसंकल्पत्वावाक्यत्वानादरत्वज्यायस्त्वादीनामनुपपत्तेः।

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।"

इत्यादिभिः श्रुतिभिर्ब्रह्मणि यथा सर्वधर्मोपपत्त्या सर्वात्मकत्वं पृथिव्यन्तरिक्षादितोऽपि ज्यायस्त्वमुपपद्यते न तथा शारीरेऽस्मिन् जीवे, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च।

एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीत्याह। न च सत्यां गतावेकस्यैव प्रापकत्वं प्राप्यत्वं चावकल्पते व्यपदेशाय तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एवोपपद्यते। तस्मान्न शारीरो जीव इहोपास्यः।

शब्द विशेषाच्च।

यहां यह सन्देह उपस्थित होता है कि शरीर स्थित जीव यहां मनोमयत्व आदि धर्मों के द्वारा उपास्य रूप में उपदिष्ट हुआ है अथवा यहां परब्रह्म की उपासना बतलाई जा रही है। इस सन्देह के दूरीकरण के लिए यह कथन है कि सर्वत्र उपास्य रूप में ब्रह्म

प्रसिद्ध है, सत्य संकल्प सर्वकर्मसंपादक आदि अभीष्ट गुण उसी में युक्तियों से सिद्ध होते हैं। अतः मनोमय आदि धर्मों के द्वारा यहां ब्रह्म को ही उपास्य बतलाया गया है। शरीर स्थित जीव यहां उपास्य के रूप में उपदिष्ट नहीं है। उपास्य में विवक्षित या अभीष्ट जो आकाशरूपता, सत्यसंकल्पशीलता, वाणी के अगोचर होना, आदरादि की अपेक्षा न करना, सर्वज्येष्ठ न होना आदि गुण हैं वे जीव में युक्तिपूर्वक समाहित नहीं हैं।

"तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार या कुमारी है, तू जीर्ण है, दण्ड से भयभीत करता है तू उत्पन्न होकर सर्वतोमुख होता है"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से जैसे ब्रह्म में समस्त धर्मों के युक्तिपूर्ण समावेश से सर्वात्मकता, पृथिवी अन्तरिक्ष आदि से भी ज्येष्ठता सिद्ध होती है वैसी शरीर स्थित इस जीव में नहीं होती। क्योंकि वह भोग का आधार स्थान है और शरीर से अतिरिक्त उसका व्यवहार नहीं है।

—"कर्म और कर्त्ता की उक्ति के कारण भी ऐसा है।"

कहा है यहां से विदा होकर हम उसे प्राप्त करेंगे। यदि अन्वय हो सके तब प्राप्य और प्रापक एक ही नहीं हुआ करता। कहने मात्र के लिए भी जब उपास्य तथा उपासक भाव होता है तब वह भिन्न भिन्न आधार में ही हो सकता है। अतः शरीर स्थित जीव यहां उपास्य नहीं बतलाया गया है।

श्रुत्यन्तरे तावत्—

"यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतन्दुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः"—

इति शारीरस्यात्मनः सप्तम्यन्तान्तरात्मनीति शब्दविशेषेणाभिधानं दृश्यते। तदन्यस्त्वयं प्रथमान्तः शब्दविशेषो हिरण्मयपुरुषादिरूपो मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यत्वेनेह विवक्षितस्याभिधायको दृश्यते। तस्मादिहाणीयानिति वा ज्यायानिति वा मनोमयः परमात्मैवोपास्यतया विवक्ष्यते न जीवात्मा।

स्मृतेश्च।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"॥

इत्यादिस्मृत्या जीवातिरिक्तस्य परमेश्वरस्यापि सर्वोपास्यस्य हृद्यवस्थानं लभ्यते। स मे आत्मा स्यादिहोपास्यो मनोमयो न जीवात्मा।

शब्द विशेष के कारण भी (जीव उपास्य नहीं)। (ब्रह्मसूत्र १।२।५)

पुनश्च अन्य श्रुति वाक्य में—"जैसे ब्रीहि या यव या श्यामाक या श्यामाकतन्दुल होता है इसी प्रकार यह हिरण्मय पुरुष अन्तरात्मा में है,"—

इस उक्ति में शरीर स्थित आत्मा का सप्तम्यन्त "अन्तरात्मनि" इस विशेष शब्द से कथन हुआ है। उससे भिन्न प्रथमान्त है। यह शब्द शब्दविशेष हिरण्मय पुरुष आदि, धर्मों के कारण यहां उपास्यरूप से कहने के लिए अभीष्ट है। इसलिए यहां चाहे वह अत्यन्त लघुकाय हो अथवा महाकाय हो, वह मनोमय परमात्मा उपास्य रूप से विवक्षित होता है, जीवात्मा नहीं।

स्मृतियों के वचन भी इसी अभिप्राय में संगत होते हैं।

—"हे अर्जुन, समस्त भूतों के हृदय प्रदेश में अपनी माया से यन्त्रारूढ़ के समान सब भूतों को घुमाता हुआ परमात्मा संस्थित है।" (गीता)

इत्यादि स्मृति वचन से जीव के अतिरिक्त सर्वोपास्य परमेश्वर का भी हृदय प्रदेश में अवस्थान है यह सिद्ध होता है। वही मनोमय मेरा आत्मा यहां मेरा उपास्य होता है न कि जीवात्मा।

ननु जीवस्यैवार्भकौकस्त्वदर्शनात् तस्यैव चार्भकौकस्त्वस्येह व्यपदेशान्न जीवातिरिक्ते परमात्मन्युपास्यत्वविधिरुपपद्यते। दृश्यते ह्यणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वेति परिच्छिन्नायतनत्वव्यपदेशो जीवस्य। तस्मादाराग्रमात्रः शारीरो जीव एवेहोपदिश्यते न सर्वगतः परमात्मा इति चेन्न। निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च।

परिच्छिन्नदेशस्य हि वस्तुनः सर्वगतत्वव्यपदेशो नोपपद्यते। सर्वगतत्वान्यथानुपपत्त्या भवत्येव परिच्छिन्ने प्रदेशे कयाचिदपेक्षया तद्गतत्वव्यपदेशः। स यथा शालग्रामे हरिस्तथैतस्मिन् हृदयपुण्डरीके निचाय्य द्रष्टव्योऽयमुपदिश्यते भगवानणीयस्त्वादिगुणगणोपेतः सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः। स सर्वगतोपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। यथा सर्वगतमपीदं व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयार्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते तद्वदिदं ब्रह्मापि। तस्येदमर्भकौकस्त्वं निचाय्यत्वापेक्षं न पारमार्थिकम्। तेन ब्रह्मणो हृदयायतनत्वे हृदयायतनानां प्रतिशरीरं भेदाद्भिन्नायतनानां शुकादीनामिवास्य ब्रह्मणोऽप्यनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्नित्येवमादय आक्षेपाः परास्ताः।

प्रश्न होता है कि जीव का ही अर्भकौकस्त्व देखा जाता है और उसी अर्भकौकस्त्व का यहां कथन हुआ है। अतः जीव के अतिरिक्त परमात्मा में उपासना का विधान युक्तियुक्त नहीं हो सकता। जीव की परिमित आकार युक्तता की पहिचान ब्रीहि या यव के समान लघुकायता के कथन से मिल चुकी है। इसलिए अत्यन्त लघुकाय यह

शरीर स्थित जीव ही यहां उपदेश का विषय है न कि सर्वगत परमात्मा। इस सन्दर्भ का विषय है-इस सन्देह के उत्तर में वेदान्त सूत्र है कि—

"निचाय्य होने से आकाश की तरँह"---

जो वस्तु परिछिन्न है उसको सर्वगत नहीं बतलाया जा सकता। जब सर्वगत वाली बात दूसरी और किसी युक्ति से बनती नहीं दिखाई दे रही है तो परिछिन्न प्रदेश में भी किसी खास आवश्यकता से व्यापकता का शाब्दिक व्यवहार चल जाता है। जैसे शालिग्राम की प्रतिमा में सर्वव्यापक हरि का दर्शन कर लिया जाता है वैसे इस हृदय कमल में छोटा आकार समझ में बिठाकर उसमें सर्वान्तर्यामी अणिमा आदि गुण गणों से युक्त परमेश्वर द्रष्टव्य रूप से उपदिष्ट होता है। यद्यपि व ; ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है परन्तु हृदयकमल में उपास्यभाव होने पर भी वह प्रसन्न होता है। जैसे सर्वव्यापक होता हुआ भी आकाश सूची तथा पाश और कमरे आदि की अपेक्षा से छोटा बडा कहा जाता है वैसी ही शाब्दिक व्यवहार की स्थिति ब्रह्म की भी है। उसका यह अर्भकौकस्त्व निचाय्यत्व की अपेक्षा से है उसकी वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। इस बात को समझ लेने पर अन्य इस सम्बन्ध में उठने वाले आक्षेप कि ब्रह्म के हृदयरूपी आयतन में स्थित मान लिये जाने पर हृदय रूपी आयतनों के प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न होने के कारण, जैसे भिन्न आयातन वाले शुक आदि मानव शरीर से भिन्न हैं, अवयव युक्त हैं, अनित्य हैं, तथैव—ये सारे दोष ब्रह्म को भी घेर बैठेंगे, आदि आदि स्वतः निरस्त हो जाते हैं. क्योंकि ब्रह्म की हृदयायतनता आपेक्षिक है, आकाश की तरँह, पारमार्थिक नहीं।

नन्वेवमप्यस्य परमात्मनः सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य चिद्रूपत्वाच्छारीरेणाविष्टत्वादेकत्वाच्चाविशेषेण तत्तज्जीववदस्यापि सुखदुःखादिसंभोगप्राप्तिः स्यादितिचेन्न। वैशेष्यात्। अस्ति हि विशेषः शारीरपरमेश्वरयोः। एकस्तावत् कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। ततो विपरीतस्त्वेकोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। तस्मादस्त्येकस्य भोगो नेतरस्य। वस्तुशक्तिसापेक्षस्तु कार्यसंबन्धो न प्रदेशादिसापेक्षो न संनिधानसापेक्षः। अन्यथाऽऽकाशादीनामपि दाहप्रसक्तेः। तस्मादाकाशवत्सर्वगतस्य परमात्मनो हृदयदेशेऽप्यव्यभिचारात् तदायतनत्वोपदेशेऽपि न तस्य संभोगप्राप्तिरिति सिद्धम्।

कश्चित्तु—

—"तत्वमसि,"—

—"अहं ब्रह्मास्मि,"--

—"अयमात्मा ब्रह्म,"—

—"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा विज्ञाते"—

त्यादिश्रुतेर्ब्रह्मातिरिक्तस्य कस्यचिच्छारीरत्वाप्राप्तेर्ब्रह्मण एव च शारीरत्वसिद्धेः शारीरस्य संभोगेन ब्रह्मण एव संभोगः प्राप्नोति इत्याशङ्कते तत्रेदं प्रतिवक्तव्यम् ।

—संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यादिति –

दर्शितरीत्या । द्विविधो हि शारीरकः शास्त्रेण लभ्यते । अपहतपाप्मत्वादि-विशेषणोऽपरिच्छिन्न एकः । इन्द्रियकरणादिभूतपरिग्रहविशिष्टभौतिकरूपः शरीरात्मा त्वन्यः । तत्रापहतपाप्मनः शारीरस्यैवात्मत्वमुपदिशदिदं तत्त्वमस्यादिशास्त्रं शरीरात्मन एव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति कुतस्तर्हि तदुपभोगेन ब्रह्मणः संभोगप्राप्तिः । यत्र त्वगृहीत-मस्य शरीरात्मनो ब्रह्मणैकत्वं तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्य संभोगो न तेन परमार्थ-रूपस्य ब्रह्मणः संभोगप्राप्तिः संभवति । मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोर्वैशेष्यात् मिथ्याज्ञान-कल्पितस्तु संभोगः । सम्यग्ज्ञानदृष्टं चेदमेकत्वम् । न च मिथ्याज्ञानकल्पितेन संभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते । तस्मादीश्वरस्य जीवकृतकर्मभोगो नास्तीति सिद्धम् ।

पुनः सन्देह उपस्थित होता है कि जब परमात्मा का समस्त प्राणियों के हृदय देश से सम्बन्ध मान लिया, तब उसके चैतन्यरूप से युक्त होने से, शरीर के द्वारा ढँका होने से तथा एक होने से समानता के कारण, या किसी विशेषता के अभाव के कारण, उन उन जीवों की ही तरँह इस परमात्मा को भी सुख दुःख आदि संभोगों की प्राप्ति होगी । इस प्रकार का सन्देह नहीं उठना चाहिए क्योंकि जीव और परमात्मा में भेद करने वाली विशेषता विद्यमान है । इन दोनों में एक (जीव) कर्ता है, भोक्ता है, धर्म और अधर्म का साधन रूप है तथा सुखों और दुःखों का अनुभव करने वाला है । दूसरा (परमात्मा) इससे विपरीत पापों को नष्ट करने आदि गुणों से युक्त है । इसलिए एक को भोगों की प्राप्ति होती है, दूसरे को नहीं । किसी कार्य से सम्बद्ध वस्तु की शक्ति की अपेक्षा करता है, प्रदेश में स्थित होने आदि बातों को नहीं अथवा साथ रहने (निका रहने) आदि का भी कार्य से सम्बन्ध होने आदि में कोई योगदान नहीं होता । यदि ऐसा न माना जायगा तो वस्तु के जलने पर आकाश का भी जलना माना जाने लगेगा परन्तु किसी वस्तु के जलने पर वहां का आकाश जल गया ऐसा नहीं होता । वस्तु स्थिति में भी व्यवहार में भी । अतः आकाश के समान सर्वगत परमात्मा का हृदय देश में भी अभाव नहीं है अतः हृदय के आयतन में रहने के कथन से भी वहां के सुख दुःख आदि भोग से असम्बद्ध रहना सिद्ध होता है ।

किसी का तो मत यही है कि—

"वह तू है",

"मैं ब्रह्म हूं",

"–यह आत्मा ब्रह्म है"

—,'इससे अतिरिक्त अन्य दृष्ट विज्ञाता नहीं है"–इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई शरीर का स्वामी नहीं प्राप्त होता तथा ब्रह्म ही शरीर का स्वामी सिद्ध होता है। शरीर की भोगप्राप्ति से ब्रह्म ही भोग प्राप्त कर रहा है, यही समझ में आता है। यह जो किसी की आशङ्का है उसके उत्तर में यह कहना है कि—पहिले के सूत्र में

"भोग ब्रह्म को प्राप्त होता है ऐसा नहीं है, ब्रह्म की विशेषता के कारण"—

में इसका उत्तर आचुका है। शरीर स्वामी या शारीरक दो प्रकार का शास्त्रों में मिलता है। पापों को नष्ट करने वाला आदि विशेषणों से युक्त अपरिच्छिन्न (असीमित) एक है, इन्द्रिय साधन आदि भूतों को स्वीकार करने वाला भौतिक रूप शरीर का आत्मा दूसरा है। वहां अपहत पाप वाले शरीर स्थित को ही आत्मा कहने वाला यह–"वह तुम हो"–आदि शास्त्र वाक्य जब शरीरात्मा के भी उपभोक्ता होने का निवारण करता है तब उसके उपभोग से ब्रह्म के उपभोग की तो बात ही व्यर्थ है। जिसको इस शरीरात्मा ब्रह्म के साथ एकत्व का ग्रहण नहीं हुआ वहां शरीर आत्मा का संभोग मिथ्या ज्ञान मूलक है, उससे परमार्थिक ब्रह्म को उपभोग की प्राप्ति संभव नहीं। मिथ्या ज्ञान और यथार्थ ज्ञान की विशेषता का तो निषेध कोई भी नहीं कर सकता। आत्मा का विषयोपभोग तो मिथ्याज्ञान के द्वारा कथित है और यह एकत्व बोध सम्यग् ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) के द्वारा प्रकट है। मिथ्या ज्ञान के द्वारा कल्पित सुख दुःखों के उपभोग से यथार्थज्ञान से दृष्ट वस्तु का कोई स्पर्श नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर से जीवकृत कर्मों के भोग का कुछ लेना देना नहीं है यह सिद्ध हुआ।

अत्ता चराचरग्रहणात्। [१।२।९।]

प्रकरणाच्च।]१।२।१०।]

कठवल्लीषु पठ्यते—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

इति। तत्रौदनोपसेचनसूचितः कश्चिदत्ता प्रतीयते–सोऽग्निर्वा जीवो वा परमात्मा वेति संशयो भवति। त्रयाणामप्येषामस्मिन ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेर्विशेषानवधारणात्। यावताग्निजीवयोरेवात्तृत्वं प्राप्नोति।

—"अग्निरन्नाद:"—

—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती"—

तिश्रुतिभ्यां तयोरत्तृत्वस्य श्रावितत्वात्।

—"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशी"—

तीतिश्रुत्या परमात्मनोऽनत्तृत्वावगमाच्चेति चेत् तत्रेदमुच्यते—

अत्ता परमेश्वरश्चराचरग्रहणात् ।

स्थावरजङ्गमं हि मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते । तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता संभवति । नन्वत्र शास्त्रे ब्रह्मक्षत्रयोरेवोपादानात् कथमिह चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते । उच्यते । मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात् । ब्रह्मक्षत्रयोस्तु प्राधान्यात् प्रदर्शनं क्रियते ।

अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनत्तृत्वश्रवणं—तु कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकं तस्यैव संनिहितत्वात् । न तु विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं तत्संभवति । सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेनास्य ब्रह्मण एव प्रसिद्धत्वात् । तस्मादिह परमात्मैव अत्ता विवक्षितः ।

प्रकरणाच्च ।

न जायते म्रियते वा विपश्चिदि—

त्यादिना परमात्मैवेह प्रक्रान्तो दृश्यते । तस्मादप्रकृतस्याग्नेर्जीवस्य वा नात्तृत्वमत्र प्रकरणे उपादीयमानं संभवति ।

क इत्था वेद यत्र सः—

इति दुर्विज्ञानत्वं चात्र परमात्मनः परिग्रहे लिङ्गम् । तस्मादिह परमात्मैवात्ते ति सिद्धम् ।

चराचर के ग्रहण से वह अत्ता (भोक्ता) है । [१।२।९]

प्रकरण से भी यही बात सिद्ध है । [१।२।१०]

कठवल्ली में लिखा गया है—

"ब्रह्म और क्षत्र ये दोनों जिसके ओदन हैं, मृत्यु जिसका उपसेचन है, वह कहां है यह किसे पता है"—

यहां ओदन और उपसेचन से सूचित होने वाला कोई अत्ता (भोक्ता) प्रतीत हो रहा है । वह अग्नि है, जीव है, या परमात्मा है यह सन्देह होता है । इस प्रकरण में इन तीनों के लिए प्रश्न उठाए जाने से एक का निश्चय नहीं होता । कुछ वाक्यों से अग्नि और जीव का ही भोक्ता होना संकेतिक है—

"अग्नि अन्नाद है"—

"उन दोनों में अन्य स्वादिष्ट पीपल को खा रहा है",—

इन दोनों श्रुति वाक्यों से दोनों का भोक्ता होना दिखाई दे रहा है ।—

"अन्य न खाता हुआ पूर्णतया प्रकाशमान है"

इस श्रुति वाक्य में परमात्मा भोक्ता नहीं ज्ञात होता है, ऐसे विचार के उपस्थित होने पर वेदान्त सूत्र इसका उत्तर देता है कि—

"चराचर ग्रहण से अत्ता भोक्ता) परमेश्वर ह। है", - ।

मृत्यु है उपसेचन जिसका, ऐसा स्थावर और जंगम यहां भोग्य या भक्ष्य के रूप में प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार के खाद्य का पूर्णतया भक्षण करने वाला परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता।

प्रश्न होता है कि यहां श्रुति वाक्य में तो ब्रह्म और क्षत्र का ही नाम लिया गया है तब चराचर का ग्रहण करके उसके भक्षण को हेतु बनाकर उसके भोक्ता के रूप में परमेश्वर को क्यों घसीट रहे हैं आप। इसका उत्तर सुनिये, यहां मृत्यु के उपसेचन की जो बात कही गई है वह समस्त प्राणि समूह को अपने में समेट रही है कि नहीं। ब्रह्म और क्षत्र शब्द का प्रयोग तो प्रधानता को दिखाने के लिए किया गया है।

"दूसरा न खाता हुआ प्रकाशमान है"

इस श्रुति वाक्य से तो कर्म के फल के भोग का निषेध है, क्यों कि निषेध के लिए वही सन्निहित है। वह निषेध विकार के संहार के लिए नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि स्थिति और सहार के रूप में ब्रह्म ही प्रसिद्ध है, इसलिए यहां परमात्मा ही भोक्ता रूप में अभीष्ट है।

"प्रकरण से भी ऐसा ही है"—[ब्र. सू. १।२।१०]

"वह विपश्चित न होता है, न मरता है"

इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा परमात्मा ही यहां प्रकरण प्राप्त है। इसलिए अप्रकृत अग्नि या जीव का भक्षण कर्ता के रूप में इस प्रकरण में ग्रहण होना सम्भव नहीं है।

"कौन जानता है जहां वह है"

यह दुर्विज्ञानता यहां परमात्मा के ही समझने में चिह्न है। इसलिए यहां अत्ता (भोक्ता) परमात्मा ही है यह सिद्ध हुआ।

—गुहाहितः—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। [१।२।११]

विशेषणाच्च। [१।२।१२]

कठवल्लीषु पठ्यते—

—"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" ।

इति तत्रेमौ बुद्धिजीवौ वा जीवेश्वरौ वा विवक्षिताविति संशयः प्रवर्तते :

बुद्धेः करणत्वेऽप्येधांसि पचन्तीतिवत् करणस्य कर्तृत्वोपचारदर्शनादिह ऋतपायित्वासंभवात् । जीवस्य तु क्षेत्रज्ञस्य चेतनतया ऋतपायित्वं सुतरां संभवत्येव ईश्वरस्य-

त्वनश्नन्नन्योऽभीति—

श्रुत्याऽनत्तृत्वसिद्धया ऋतपायित्वासंभवेऽपि छत्रिणो यान्तीत्यादावेकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारवदेकेनापि ऋतपायिना क्षेत्रज्ञेनोभयजीवेश्वरयोर्ऋतपायित्वव्यवहारस्योपपादयितुं शक्यतया ऋतं पिबन्ताविति द्विवचनस्य नेयत्वात् संभवति संशयस्थानम् । अध्यात्माधिकारे एतदुभयव्यतिरिक्तस्य द्वन्द्वस्य ऋतपायित्वेन विवक्षाया असंभवात् ।

जीवेश्वरयोः प्रतिपादनं चेह प्रकरणप्राप्तं भवति । बुद्ध्यादिकार्यकरणसंघाताद्विलक्षणस्य जीवस्य—

"येयं प्रेते विचिकित्सेति" —

तृतीयवरप्रश्नेन, ईश्वरस्य तु अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्यादिप्रश्नवाक्येन पृष्टत्वात् । तस्मादिह बुद्धिजीवौ स्यातां जीवेश्वरौ वेति संशयः प्राप्नोति । तत्रोच्यते-विज्ञानात्मपरमात्मानाविह गुहां प्रविष्टौ विवक्षितौ । आत्मानौ हि तौ चेतनासमानस्वभावौ तत्र ऋतपानेन लिङ्गेन विज्ञानात्मनि गृहीते ततो द्वितीयान्वेषणायां तत्समानस्वभावः परमात्मैवोपतिष्ठते न तु बुद्ध्यादिसंघातः । तस्य जडत्वेन भिन्नकक्षाकत्वात् ।

कठवल्ली में पढा जाता है—

"ब्रह्म वेत्ता गण कहते हैं त्रिणाचिकेत पांच अग्नियां छाया तथा आतप के रूप में परमपरार्द्ध में संसार में गुहा में प्रविष्ट होकर सुकृत के ऋत का पान करते हैं।"

यहां भी वही सन्देह होता है कि बुद्धि यद्यपि साधन ही है तथापि—

"लकडियां पकती हैं"—

इस वाक्य के समान करण भी औपचारिक प्रयोग में कर्ता के रूप में प्रयुक्त होता है, अतः उसका भी ऋत का पान करने वाला होना संभव हो जाता है। जीव तो क्षेत्रज्ञ होने से चेतन है अतः उसके द्वारा ऋत का पान करना तो संभव है ही। ईश्वर के लिए तो

"अन्य न खाता हुआ प्रकाशित होता है"

इस श्रुति वाक्य से उसका भोक्ता न होना सिद्ध होने पर उसके ऋत पनादि की संभावना न होने पर भी—

–"छत्रधारी पुरुष जा रहे हैं"–

इत्यादि वाक्यों में यदि एक छत्रधारी पुरुष भी साथ में हो तो उससे भी बहुतों के लिए छत्रधारी का प्रयोग हो जाता है, वैसे ही ऋत का पान करने वाला यदि एक क्षेत्रज्ञ है तो दोनों जीव और ईश्वर का ऋतपायी कहना बन जाता है, और जब दोनों पक्षों में ऋतपायित्व सिद्ध हो गया तब इस सन्देह को भी स्थान मिल जाता है कि यहां किसे समझा जाय। यह आत्मा का प्रकरण है, यह उक्त दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई युग्म नहीं जिसको ऋतपायी बतलाया जा सके। जीव तथा ईश्वर का प्रतिपादन यहां प्रकरण प्राप्त है; बुद्धि आदि कार्य तथा करण के समूह से विलक्षण जीव की—

—"प्रेत के प्रति यह जो सन्देह है"—

इस तृतीय वरदान के प्रश्न के द्वारा, तथा ईश्वर के—

"धर्म तथा अधर्म के अतिरिक्त"

इस प्रश्न वाक्य से पूछे जाने के कारण ये दोनों यहां प्रसङ्ग प्राप्त हैं। इसीलिए यहां यह सन्देह होना स्वाभाविक है, उक्त द्वन्द्व या युग्म कथन के द्वारा अभिप्राय बुद्धि और जीव से है अथवा जीव और ईश्वर से है। वहां उत्तर यह है कि यहां गुहा में प्रविष्ट दोनों आत्मा जो विवक्षित हैं उनका समान स्वभाव चेतन है, वहां ऋतपान रूपी चिह्न से जब एक विज्ञानात्मा का ज्ञान हो गया तब द्वितीय के अन्वेषण में उसी के समान स्वभाव वाला परमात्मा ही उपस्थित होता है न कि बुद्धि आदि का समूह। उसके जड़ होने के कारण उसका विभाग या कक्षा भिन्न ही है।

न च शरीरे हृदये वा गुहापदार्थे सर्वगतब्रह्मणः प्रवेशकल्पनानौचित्यादिह बुद्धिजीवौ ग्राह्याविति वाच्यम्,—

— "आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"

—"गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्"—

—"आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्" --

—"यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्"—

इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणो गुहानिधानदर्शनात्। न च—

—"सुकृतस्य लोके"—

इति कर्मगोचरानतिक्रमश्रवणादिह बुद्धिजीवौ ग्राह्यौ,

—न कर्मणा वर्द्धते नो कनीया—

नितिश्रुत्या सुकृतस्य वा गोचरे परमात्मनो वृत्त्यलाभादिति वाच्यम्। छत्रित्ववदे-कस्मिन्नपि वर्त्तमानस्य सुकृतलोकवर्तित्वस्योभयत्र व्यवहारलाभात्।

न च च्छायातपावित्यनेन चेतनाचेतनयोर्ग्रहणादिह बुद्धिजीवावेव ग्रहीतुमुचितौ-विति वाच्यम्, संसारित्वासंसारित्वाभ्यां परस्परविलक्षणताया एवैतेन विवक्षितत्वात् । तस्याश्च जीवेश्वरयोरविरुद्धत्वात् । जीवे तावदविद्याकृतस्य संसारित्वस्य, परमात्मनि तु पारमार्थिकस्यासंसारित्वस्य परस्परविलक्षणस्य सिद्धत्वात् । तस्मादिह श्लोके विज्ञानात्म-परमात्मानौ विवक्षितौ ।

"विशेषणाच्च"--

पूर्वग्रन्थेन परग्रन्थेन चात्र तयोरेव विशेषितत्वात् । पूर्वग्रन्थे तावत्

—"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहातीति"—

मन्तृमन्तव्यत्वेन तयोर्निर्देशो दृश्यते । परग्रन्थे च—

—"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव चेत्यादिना"—

रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति ।

—"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पद-

मिति च परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति । तस्मादिह विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव ग्रहणमिति सिद्धम् ।

यह सन्देह भी नहीं होना चाहिए कि गुहा शब्द का जो शरीर या हृदय है उसमें सर्वगत ब्रह्म के प्रवेश की कल्पना अनुचित मानी जायगी और इसलिए यहां बुद्धि और जीव का ही ग्रहण करना उचित होगा । क्योंकि—

—"इस जन्तु की गुहा में आत्मा निहित है"—

—"गुहा में निहित गह्वर में स्थित पुराण को"—

"गुहा में प्रविष्ट आत्मा को जानने की इच्छा करो" –

"परम व्योम में रहने वाले गुहास्थित को जो जानता है" –

इत्यादि श्रुति वचनों में ब्रह्म की गुहास्थिति का कथन देखने में आता है ।

[अतः सर्वगत परब्रह्म की भी गुहा स्थिति होना श्रुति सम्मत है] । पुनरपि

"लोक के सुकृत के ऋत का पान करने वाले"—

इस कथन से यहां वही अभीष्ट है जो कर्मबन्धन के बाहर नहीं है और वह युग्म बुद्धि और जीव ही हो सकते हैं अतः उक्त मन्त्रार्थ में बुद्धि तथा जीव ही ग्राह्य है, क्योंकि परमात्मा के लिए तो श्रुति कह रही है कि—

"वह न तो कर्म से वृद्धि को प्राप्त करता है और न ही दुष्कृत से छोटा ही होता है"—

इस प्रकार सुकृत के विषय में परमात्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता, अतः परमात्मा और जीव का युग्म यहां अभिप्रेत नहीं है, यह सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त—

--"छत्रधारी जा रहे हैं"--

इस उदाहरण के समान एक में भी सुकृत के लोक व्यवहार से दोनों में ही उस व्यवहार को समझ लिया जाता है।

छाया तथा आतप के कथन से चेतन तथा अचेतन का यहां ग्रहण है अतः बुद्धि और जीव का ही ग्रहण यहां उचित है ऐसी शंका नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे तो संसारित्व और असंसारित्व रूप में परस्पर की विलक्षणता ही विवक्षित है और संसारित्व और असंसारित्व को यह विलक्षणता जीव तथा ईश्वर में विरुद्ध नहीं होती। जीव में अविद्या के द्वारा समावेशित संसारित्व है तथा परमात्मा में परमार्थतः असंसारित्व है यह इन दोनों की परस्पर विलक्षणता तो सिद्ध ही है। इसलिए इस श्लोक में विज्ञानात्मा और परमात्मा का कथन ही अभीष्ट है।

विशेषण से भी (यही प्रति फलित है) (१।२।१२)

पूर्व प्रतिपादन तथा आगे के प्रतिपादन से उन्हीं दोनों को विशेषित किया गया है। पूर्व प्रतिपादन में—

"उस गूढ़ रूप में अनुप्रविष्ट दुर्दर्श को समझ कर धीर पुरुष हर्ष और शोक का परित्याग कर देता है"—

इस प्रकार मननकर्ता के मननीय के रूप में उन दोनों का निर्देश देखने में आता है। आगे के प्रतिपादन में—

"आत्मा को रथी समझो तथा शरीर को रथ जानो"—

इत्यादि वाक्यों से रथी और रथ की रूपक कल्पना से विज्ञानात्मा को संसार और मोक्ष के पार जाने वाला रथी कल्पित किया गया है।

"वह रास्ते के पार विष्णु के परम पद को पा जाता है"—

ऐसा कहते हुए परमात्मा को गन्तव्य के रूप में कल्पित किया गया है। अतः यहां विज्ञानात्मा और परमात्मा का ही ग्रहण है यह सिद्ध होता है।

–"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया–"

इत्येवमादिष्वपि न्यायसाम्यात् तावेवात्मानौ द्रष्टव्यौ । अदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मनो-ऽनशनलिङ्गात्तु परमात्मनो ग्रहणात् ।

–"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न–"

इत्युत्तरमन्त्रेऽप्येवमेतयोरेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन ग्रहणं विवक्ष्यते ।

परेत्वाहुः

–"द्वा सुपर्णा–"

इति मन्त्रे विज्ञानात्मपरमात्मनोर्ग्रहणं नैकान्ततो व्यवतिष्ठते । पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे-नान्यथाव्याख्यातत्वात् । तथाहि

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम् । अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्न-न्योऽभि पश्यति ज्ञः । तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ । तदेतत् सत्वं येन स्वप्नं पश्यति । अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः । तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ । न ह वा एवविदि किञ्चन रज आध्वंसते इत्यादि ।

अत्र हि शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मेणोपेतो नेष्यते अपितु सर्व-संसारधर्मापेतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः 'अनश्नन्नन्योभिपश्यति ज्ञ' इत्युक्तेः ।

न चाचेतने सत्वे भोक्तृत्ववचनं नोपपद्यते इति वाच्यम् । चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्म-स्वभावस्य भोक्तृत्वं नास्तीत्येतावन्मात्रप्रतिपादनाय प्रवृत्तया श्रुत्या क्षेत्रज्ञादन्यत्र सत्वे भोक्तृत्वाख्यानात् । सुखादिविक्रियावति सत्वे भोक्तृत्वस्याध्यारोपितत्वाच्च । इदं हि सत्वस्य कर्तृत्वं क्षेत्रस्य तु भोक्तृत्वमितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते । परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि तत्संभवति । सत्वस्याचेतनत्वात् क्षेत्रज्ञस्याविक्रियत्वाच्चेति दिक् ।

"साथ रहने वाले सखा दो पक्षी"—

आदि वाक्यों में भी तुल्यन्याय से विज्ञानात्मा तथा परमात्मा का ही दर्शन करना चाहिए । वहां भक्षण के (स्वादिष्ट पीपल के) चिन्ह से विज्ञानात्मा और भक्षण न करने के चिन्ह से परमात्मा का ग्रहण होता है । आगे के

–"समान वृक्ष में पुरुष निमग्न है"–

इस मन्त्र में भी इन दोनों का ही द्रष्टा और द्रष्टव्य भाव से ग्रहण अभीष्ट है ।

अन्य विद्वानों का तो यहां यही कहना है कि—

"दो सुपर्ण"

आदिमन्त्र में विज्ञानात्मा और परमात्मा का ग्रहण निर्भ्रान्ति रूप से व्यवस्थित नहीं होता। पैङ्गिरहस्य नामक ब्राह्मण ग्रन्थ में इसकी व्याख्या दूसरे ही प्रकार से मिलती है। वहां की व्याख्या है कि--

"उन दोनों में अन्य स्वादु पिप्पल का भक्षण करने वाला है, इस कथन से सत्त्व का कथन हुआ है। न खाता हुआ अन्य प्रकाशमान है इस कथन से अन्य देखने वाला ज्ञाता है। ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं। यह सत्त्व है जिससे स्वप्न देखता है। यह जो शरीर स्थित उपद्रष्टा है वह क्षेत्रज्ञ है। ये दोनों सत्त्व तथा क्षेत्रज्ञ हैं। इस तत्त्व को जानने वाले पुरुष को रज मलिन नहीं करता" इत्यादि।

यहां शरीर स्थित जो क्षेत्रज्ञ है, जो कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि संसार के धर्मों से युक्त है उसका कथन अभीष्ट नहीं है अपितु संसार के समस्त धर्मों से अलग ब्रह्म के स्वरूप वाला चैतन्य मात्र स्वरूप बतलाया जा रहा है--

"अन्य ज्ञाता भोक्ता न बनता हुआ केवल देख रहा है"—

इस उक्ति से यही बात प्रकट है। अचेतन सत्त्व को भोक्ता कहना नहीं बनता यह शंका नहीं उठानी चाहिए, जो ब्रह्म स्वभाव वाला चेतन क्षेत्रज्ञ है वह भोक्ता नहीं है, इतने ही प्रतिपादन के लिए यह श्रुतिवाक्य सामने है। उससे क्षेत्रज्ञ से पृथक् जो सत्त्व है उसमें भोग प्राप्ति का कथन किया जा रहा है। सुख आदि की क्रिया से युक्त सत्त्व में भोक्तृत्व का यहां अध्यारोप किया गया है। और यह सत्त्व का कर्ता होना तथा क्षेत्र का भोक्ता होना एक दूसरे के स्वाभाविक अज्ञान के कारण कल्पित है। पारमार्थिक रूप से तो दोनों में से किसी में भी यह सम्भव नहीं है क्योंकि सत्त्व अचेतन है और क्षेत्रज्ञ में कोई विकार सम्भव ही नहीं होता।

(अक्षिपुरुष:)

--"अन्तर उपपत्तेः"— [ब्र. सू. १।१।१३]

--"स्थानादिव्यपदेशाच्च"-- [१।१।१४]

—"सुखविशिष्टाभिधानादेव च"-- [१।१।१५]

--"श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च"-- [१।१।१६]

—"अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः"-- [१।१।१७]

--"य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच"

एतदमृतमभयम् एतद् ब्रह्म। तद् यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनि एव गच्छति'–

इत्यादिश्छान्दोग्यश्रुतिः। तत्र पुरुषशब्देन किं विवक्ष्यते–प्रतिबिम्बात्मा वा विज्ञानात्मा वा, इन्द्रियाधिष्ठाता देवतात्मा वा, ईश्वरो वा। दृश्यते इति हि प्रसिद्धवदुपदेशाच्छायात्मा पुरुषप्रतिरूपः प्राप्नोति। एष आत्मेत्युपदेशाद्विज्ञानात्मा लभ्यते। स हि चक्षुषा रूपं पश्यन् चक्षुषि संनिधत्ते। अक्षरणीत्युपदेशादादित्यपुरुषश्चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते।

"रश्मिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित"–

इति श्रुत्यन्तरादस्मिन्नादित्यसंनिधानस्य प्राप्तत्वात्। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म इति स्पष्टशब्देनैव ब्रह्मणो विधानादीश्वरः प्रतिपद्यते। तदित्थं चतुर्णामुपस्थितौ कुत्र निष्ठेति संदिहानं प्रत्युच्यते–परमेश्वर एवायमक्षण्यभ्यन्तरः पुरुषः इहोपदिष्टः तस्यैवात्रोपपत्तेः।

"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"—

स क इति इन्द्रविरोचनयोर्जिज्ञासायां तत्प्रतिपादनार्थमेवास्य प्रकरणस्य प्रक्रान्तत्वात्। तत्रान्यस्यासम्भवात्।

अक्षिपुरुष

उपपत्ति के कारण भीतर है १/२/१३
और स्थान आदि के कथन के कारण १/२/१४
विशेष सुख के कथन के कारण १/२/१५
तथा अनवस्थिति और असंभव के कारण दूसरा नहीं है १/२/१७

"यह जो नेत्रों में पुरुष दिखाई देता है यह आत्मा है, ऐसा कहा। यह अमृत है अभय है। यह ब्रह्म है। इसमें घृत या जल का सेचन करने पर भी यह मार्ग में हो जाता है।"

ऐसा छन्दोग्यश्रुति का कथन है। यहां पुरुष शब्द से प्रतिबिम्ब रूप आत्मा अभिप्रेत है? अथवा विज्ञानात्मा को कहना अभीष्ट है, अथवा इन्द्रियों का अधिष्ठाता देवात्मा बतलाया जा रहा है या ईश्वर को सकेतिक किया जा रहा है यह सन्देह उपस्थित होता है।

—"दिखाई देता है"—

इस उक्ति के द्वारा तो जो प्रसिद्ध है उसको बतलाया जा रहा। है अतः छायात्मा पुरुष का प्रतिरूप यहां कथन के लिए अभीष्ट है ऐसा समझ में आता है।

—"यह आत्मा है"—

इस उपदेश से यह विज्ञानात्मा बतलाया जा रहा है ऐसी प्रतीति होती है। क्योंकि वह नेत्रों के द्वारा रूप को देखकर नेत्रों में विराजित रहता है।

—"नेत्रों में"—

इस कथन से नेत्रों को शक्ति देने वाला आदित्य पुरुष यहां बतलाया जाता हुआ प्रतीत हो रहा है।

—"यह रश्मि इसमें प्रतिष्ठित है"—

इस अन्य वेदवाक्य से इसमें सूर्य की समीपता की प्राप्ति हो रही है।

—"यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है"—

इन स्पष्ट शब्दों से ही ब्रह्म का कथन होने से यहां ईश्वर की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार उक्त सन्दर्भ की अर्थ जिज्ञासा में जब चार कोटियां उपस्थित हैं तो वास्तविक प्रतिपाद्य अर्थ कहां है इस प्रकार सन्देह के उपस्थित होने पर यह उत्तर दिया जाता है कि परमेश्वर ही यहां नेत्रों के भीतर स्थित पुरुष के रूप में उपदिष्ट हो रहा है क्योंकि यही अर्थ युक्तियों से सिद्ध होता है।

--"जो अपहतपाप्मा बिजर विमृत्यु आत्मा है वह अन्वेषणीय है, वह ज्ञान के लिए अभिलषणीय है—

वह कौन है—इस इन्द्र और विरोचन की जिज्ञासा में उसके प्रतिपादन के लिए ही यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ है। अतः वहां किसी अन्य का प्रतिपादन होना सम्भव ही नहीं है।

--"स्थानादिव्यपदेशाच्च"--

सर्वगतस्याप्यस्य ब्रह्मणस्तत्र तत्र स्थानेऽवस्थानादिकं भूयसा शास्त्रे व्यपदिश्यते--

"--यः पृथिव्यां तिष्ठन्नित्यादौ"--

एवं च सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषपरिग्रहेणाख्यानं न विरुध्यते शालग्राम इव विष्णोः। तस्मादिहाल्पतरेऽप्यक्षिस्थानेऽन्तरत्वाख्यानादप्रतिपत्तिर्ब्रह्मणो नास्ति। सुखविशिष्टाभिधानादेव च ब्रह्मणि तात्पर्यं लभ्यते। आदौ तावद् विजरं विमृत्युं विशोकमविजिघत्समपिपासमात्मानं प्रतिपादयितुमुपक्रम्य प्रकरणान्ते पुनः—

—"न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति-अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"—

—"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः"—

इत्येवं निरतिशयनिरामयसुखवैशिष्टयमावेदयति शास्त्रम् । तच्च न ब्रह्मणोऽन्यत्र शास्त्रेण विवक्ष्यते ।

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म । यद्वाचकं तदेव खं तदेव कम्"—

इत्येवं पूर्वग्रन्थे लौकिकसुखव्यतिरेकेण ब्रह्मण एवानन्तनिरतिशयनिरामयसुखरूपतायाः प्रतिपादितत्वादिहापि तत्रैव शास्त्रस्य तात्पर्यलाभात् श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च

--"य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा"--

इत्येतामात्मोपनिषदं विदुषाऽन्ते गतिरभिधीयते--

"स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच"—इति ।

न हि सर्वलोकाव्याहतगतिरन्तरेण पारमेश्वरं ज्ञानमिष्यते । शास्त्रेण परमगतिमन्तरेण सर्वलोकगतिर्नोपपद्यते । परमगतिश्च—

"एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणम् । एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते"--

इति प्रकरणान्तरग्रन्थेन परमात्मविद्या फलतयैव प्रतिपन्ना । तादृशगत्यभिधानाच्चास्याक्ष्यन्तरपुरुषस्य परमात्मत्वं सिद्धम् ।

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरश्छायात्मा वा विज्ञानात्मा वा देवतात्मा वा सोऽक्षिस्थानः । न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं संभवति । यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यतेऽपगते तस्मिन्न दृश्यते ।

—"य एषोऽक्षणि पुरुष" -

इति श्रुतिस्तु स्वे चक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । न चोपासनाकाले सच्छायाकारं कञ्चित्पुरुषं चक्षुःसमीपे संनिधाप्योपासीतेति कल्पनाऽवकल्प्यते ।

--"अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यतीति"--

श्रुतिरस्य च्छायात्मनोऽनवस्थितिं दर्शयति । तस्मिन् छायात्मन्येषाममृतत्वादिगुणानां प्रतिपत्तिरपि न संभवति । तस्मान्न तावच्छायात्मा ।

पुनश्च स्थान आदि के कथन के कारण–[२।१।१४]

यद्यपि ब्रह्म को सर्वगत कहा गया है तथापि शास्त्र वचनों में अनेक स्थानों पर अधिकता से उसकी संस्थिति कही गयी है –

"जो पृथिवी में रहता हुआ" आदि ।

इसी प्रकार सवगत होने पर भी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए विशेष स्थान का ग्रहण करना बतलाना वैसे ही विरुद्ध कथन नहीं होता जैसे सर्वगत विष्णु को शालग्राम शिला में बतलाना विरुद्ध नहीं माना जाता। अतः यहां छोटे से नेत्र स्थान में भी समीप होने के कारण ब्रह्म की उपलब्धि में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। सुखविशिष्टता के कथन से ही ब्रह्म में तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है। प्रारम्भ में जरामृत्यु रहित शोक हिंसा से दूर पिपासा वर्जित आत्मा के प्रतिपादन का उपक्रम करके इस प्रकरण के अन्त में पुनः—

–"शरीर के रहते प्रिय और अप्रिय से छुटकारा नहीं है, शरीर के न होने पर प्रिय और अप्रिय का स्पर्श नहीं होता। यह प्रसन्नता इस शरीर से उठकर परम ज्योति के समीप जाकर अपने स्वरूप को धारण करती है, वह उत्तम पुरुष है, वह वहां देखता हुआ, क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता हुआ रहता है"—

इस प्रकार शास्त्र वाक्य निरतिशय रोग रहित सुख की विशिष्टता का विवेचन करते हैं। यह सब शास्त्र के द्वारा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए नहीं कहा जाता—

"प्राण ब्रह्म है, "क" ब्रह्म है, "ख" ब्रह्म है, जो वाचक है वही "क" है, वही "ख" है।"

इस प्रकार पहले के वाक्यों में लौकिक सुख के विपरीत ब्रह्म का सुख ही अनन्त निरतिशय रोगवर्जित है यह प्रतिपादित किया गया और उसके कारण यहां भी शास्त्र-वाक्यों का तात्पर्य उसी के लिए है ऐसा सुने गये उपनिषद् वाक्यों का भी तात्पर्य होने से–

—"नेत्रों में जो यह पुरुष दिखाई देता है, यह आत्मा है"—

इस आत्मोपनिषद् को जानने वाले की अन्त में गति बतलाई गई है कि—

—"प्रजापति ने कहा–वह सभी लोकों को प्राप्त करता है, सभी कामों को पाता है, जो उस आत्मा को जान लेता है"—

परमेश्वर को जाने बिना समस्त लोकों में अव्याहत गतिशीलता संभव नहीं होती। शास्त्र के द्वारा परमगति के बिना समस्त लोकों में गतिशील होना संभव नहीं होता। और परमगति --

–"यह निश्चय ही प्राणों का निवास है, अमृत है, अभय है, यही परम स्थान है, यहां से फिर लौटना नहीं होता"—

इस प्रकार दूसरे प्रकरण वाक्य से परमात्मविद्या के फल के रूप में ही स्वीकार की गई है। उस गति के कथन से इस अक्षिपुरुष का परमात्मा होना सिद्ध होता है।

अनवस्थित दोष तथा असंभव दोष के कारण अन्य छायात्मा या विज्ञानात्मा या देवात्मा वह अक्षि पुरुष नहीं हो सकता। छायात्मा का सर्वदा नेत्र में अवस्थान संभव नहीं हो सकता। जब भी कोई पुरुष नेत्रों के सामने आता है तभी नेत्रों में पुरुष की छाया दिखाई देती है जब वह हट जाता है तब छाया दिखाई नहीं देती।

—"जो यह नेत्रों में पुरुष है"—

यह श्रुतिवाक्य तो अपने नेत्रों में दृश्यमान पुरुष को उपास्य के रूप में उपदिष्ट कर रहा है। यहां यह कल्पना युक्ति संगत नहीं होती कि उक्त श्रुतिवाक्य छाया छोड़ने वाले किसी दृश्यमान पुरुष को नेत्रों के समीप लाकर उसकी उपासना करने का उपदेश दे रहा है।

—"इसी शरीर के नाश होने पर यह नष्ट होता है"—

यह श्रुतिवाक्य छायात्मा के अग्रहण को प्रकट कर रहा है। उस छाया छोड़ने वाले पुरुष में इन अमृतत्त्व आदि गुणों का समझा जाना भी सम्भव नहीं है। अतः यहां का 'अक्षिपुरुष' नेत्रों में छाया डालने वाला कोई बाहर का पुरुष नहीं माना जा सकता।

अथ विज्ञानात्मनोऽपि पर्यायेण तत्तदिन्द्रियेषु लब्धव्यापारस्य न सर्वदा चक्षुष्यवस्थितिर्लभ्यते। बालाकिब्रह्मपरीक्षायां तावत्—

"यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूदय एष विज्ञानमयः पुरुषस्तेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम। तद्गृहीत एव प्राणो भवति, गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः अथ यदा सुषुप्तो भवति स पुरीतति शेते"—

इति वाजसनेयश्रुत्या तस्यैतस्य स्वप्ने सुषुप्तौ च चक्षुष्यनवस्थितिः सिद्धा। जाग्रदवस्थायामपि—

—"एकभूयं वै प्राणा गच्छन्ति नहि कश्चिच्छक्नुयात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातुमिति। एकभूयं वै प्राणाः। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति। चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति। श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति। मनो ध्यायत् सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनु प्राणन्तीति"—

कौषीतकश्रुत्या प्रज्ञामात्राणामिन्द्रियप्रवृत्तौ पर्यायेण प्रवृत्त्याख्यानात् तदनुग्राहकस्य विज्ञानात्मनोऽपि सुतरां सर्वदा सर्वत्रानवस्थितिः प्राप्नोति। अविद्याकामकर्मकृते तस्मिन्मर्त्यत्वं भयं चाध्यारोपितं भवतीत्यतोऽस्मिन् विज्ञानात्मन्यमृतत्वादयो गुणा अपि नाञ्जसा संभवन्ति तस्मान्न विज्ञानात्मा।

देवतात्मनस्तु—

—"रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः"—

इति श्रुत्या यद्यपि चक्षुष्यनवस्थितिर्नास्ति तथाऽप्यमृतत्वादिगुणानामत्राप्यसम्भवान्न स देवतात्माऽप्यपदार्थः स्यात् । तस्मात् परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः पुरुष इह विवक्षित इति सिद्धम् ।

जो विज्ञानात्मा है वह बारी बारी से उन उन इन्द्रियों में अपना काम करता है अतः उसकी भी सर्वदा नेत्रों में संस्थिति नहीं हो सकती । बालाकि ब्रह्म परीक्षा में वाजसनेयश्रुति कहती है कि—

—"जहां वह शयन करता है वहीं पर विज्ञानमय पुरुष इन प्राणों के विज्ञान से विज्ञान का ग्रहण करके हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें शयन करता है । उनका जब ग्रहण करता है तब वह पुरुष शयन करता है, यह प्राण उसके द्वारा गृहीत रहता है, उसके द्वारा वाक् गृहीत रहती है"—

—"चक्षु, श्रोत्र, मन गृहीत रहता है जब सुषुप्त होता है तो पुरीतत में शयन करता है"—

इस श्रुतिवाक्य से स्वप्न और सुषुप्ति में नेत्रों में अवस्थान का अभाव सिद्ध है । जाग्रत् अवस्था में भी—

'प्राण एकरूप होकर रहते हैं, कोई एक साथ वाणी से बोलने में, नेत्रों से रूप देखने में, कानों से शब्द सुनने में, मन से ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता । प्राण एकरूप हैं । एक एक को प्राण प्रज्ञापित करते हैं, जब वाणी बोलती है तो सारे प्राण उसके साथ बोलते हैं, नेत्रों के देखने पर सारे प्राण साथ देखते हैं, कान के सुनने पर सारे प्राण साथ सुनते हैं, मन के ध्यान करने पर सारे प्राण अनुध्यान करते हैं, प्राण जब प्राणन (शरीर धारण) करता है तो सभी प्राण शरीर धारण करते हैं"—

इस कौषीतकश्रुति के द्वारा प्रज्ञा की मात्राओं के इन्द्रियों में प्रवृत्त होने पर बारी बारी से प्रवृत्ति के कथन से उनके अनुग्राहक विज्ञानात्मा की भी स्वाभावतः सर्वत्र स्थिति नहीं है, यह ज्ञात हो रहा है । अविद्या काम तथा कर्म से निर्मित उसमें मर्त्यता तथा भय अध्यारोपित है अतः इस विज्ञानात्मा में अमृतत्व आदि गुण भी स्वाभाविक रूप से नहीं रहते, अतः विज्ञानात्मा भी अक्षिपुरुष नहीं कहा जा सकता ।

देवात्मा की—"रश्मियों के द्वारा यह इसमें प्रतिष्ठित है"

इस श्रुति के द्वारा यद्यपि नेत्रों में संस्थिति का अभाव नहीं है तो भी अमृतत्व आदि गुणों का यहां भी अभाव होने से वह देवतात्मा भी यहां 'अक्षिपुरुष' का अर्थ नहीं हो सकता। अतः यहां अक्षि में स्थित रहने वाला पुरुष परमेश्वर ही विवक्षित है।

अन्तर्यामी अक्षरः

—"अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्—" [ब्र. सू. १।१।१८]

—"न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्—" [१।१।१९]

——"शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते—" [१।१।२०]

—"य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष ते आत्मान्तर्याम्यमृतः"——

इति वाजसनेयकश्रुतिः। तत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते। सोऽधिदैवताद्यभिमानी देवतात्मा वा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यो योगी वा परमात्मा वा सांख्यस्मृतिसिद्धं प्रधानं वा शारीरो वा अर्थान्तरमेव वा किञ्चिदिति संदेहः। तत्र-

'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योति'-

रित्याद्युक्तेस्तदभिमानी देवातात्मा प्रतीयते।

—एष ते आत्माऽन्तर्यामीत्युक्त्या——

सर्वत्र सतामन्तर्यामिणामैकात्म्यं बोध्यते, तस्मात् सर्वविधकार्यकरणवतः कस्यचन योगसिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं भवेदिति संभाव्यते। सर्वगतत्वोक्त्या च परमात्मेति लभ्यते।

—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः—"

——"अशब्दमस्पर्शमरूपव्यय-"

मित्यादिना व्यवस्थापितानामदृष्टत्वादीनां प्रधानधर्माणामिहोपलब्धेः प्रधानमेवान्तर्यामि स्यादिति संभाव्यते। अथ प्रत्यगात्मत्वाच्चेतनत्वेन दृष्टत्वादिधर्मोपपत्तेश्चायं भोक्ता शारीरोऽन्तर्यामित्वेनोपपद्यते। अन्तर्यामीत्यपूर्वसंज्ञया प्रतिपिपादयिषितत्वादप्रसिद्धसंज्ञायाः संज्ञिनोऽप्यप्रसिद्धस्यैव संभवादर्थान्तरेण केनचिद् भवितव्यमित्यपि गम्यते। तदित्थमप्रतिपत्ताविदमुच्यते-योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मा।

—तद्धर्मव्यपदेशात्—

पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन् यमयतीति परमात्मन एव धर्मो व्यपदिश्यते। सर्वविकारकारणत्वेन तत्रैव सर्वशक्त्युपपत्तेः। किञ्चत्

—"एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृत"—

इत्यत्रात्मत्वामृतत्वाभ्यां परमात्मधर्माभ्यामस्यान्तर्यामिणो व्यपदेशतः क्रियते। न चायं पृथिव्याद्यभिमानी देवतात्मा भवितुमर्हति—

—'यं पृथिवी न वेद'—

त्यादिना पृथिव्यादिदेवतात्मनोऽन्यत्वस्यान्तर्यामिणि दर्शितत्वात्। न योगी ब्रह्म-विद्यायां तस्यानुपस्तुतत्वादप्रकृतत्वात्। नार्थान्तरं किञ्चित्। आत्माऽमृत इत्येताभ्यां ब्रह्मपदाभ्यां प्रकृतार्थपरत्वे व्यपदिष्टे लब्धविषयाया बुद्धेः तदतिरिक्तापूर्वार्थे संचारा-ऽलाभात्। न च स्मार्तप्रधानमप्यन्तर्यामि भवितुमर्हति।

—"अतद्धर्माभिलापात्"—

—"अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता"—

इति हि वाक्यशेषे श्रूयते। तत्रादृष्टत्वादीनां प्रधानधर्मत्वेऽपि द्रष्टृत्वादीनाम-तद्धर्माणामिहाभिलापः प्रधानस्यान्तर्यामित्वं वारयति।

शारीरश्च नान्तर्यामी भवितुमर्हति। उभयेऽपि हि शाखिनः काण्वाश्च माध्य-न्दिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेनाधीयते।

—"यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति काण्वाः—

—"य आत्मनि तिष्ठन्"—

इति माध्यन्दिनाः।

उभयत्राप्यात्मशब्देन विज्ञानशब्देन वा शारीरोऽयं विज्ञानमय एवाभिप्रेयते। तस्माच्छारीरादन्योऽयमीश्वरोन्तर्यामीति सिद्धम्।

अन्तर्यामी अक्षर

आधिदैव आदि में अन्तर्यामी है उसके धर्मों के कथन के कारण १/२/१८
वह स्मृति सिद्ध नहीं है, उसके धर्मों का कथन होने से १/२/१९
वह शरीर है दोनों उसका अध्ययन करते है १/२/२०

वाजसनेयक श्रुति में कहा गया है—

—"जो इस लोक को तथा परलोक को तथा समस्त भूतों को अन्दर रहता हुआ नियमित करता है। जो पृथिवी में रहता हुआ, पृथिवी के भीतर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के भीतर नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है"—

यहां अधिदैवत में, अधिलोक में अधिवेद में, अधियज्ञ में, अधिभूत में, अध्यात्म में कोई भीतर बैठा हुआ नियमन करने वाला, अन्तर्यामी सुना जाता है। वह अधिदैवत आदि का अभिमानी देवात्मा है अथवा अणिमा आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न योगी है, अथवा परमात्मा है, अथवा सांख्य स्मृति में सिद्ध किया गया प्रधान नामक तत्त्व है अथवा शरीर स्थित आत्मा है अथवा और ही कोई पदार्थ है ऐसा सन्देह होता है। इस सन्देह के उपस्थित होने पर—

—"पृथिवी ही जिसका आयतन है, अग्नि जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है"—

आदि उक्ति से उसका अभिमानी देवतात्मा यहां प्रतीत होता है।—

—"यह तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा है"—

इस उक्ति से सर्वत्र विद्यमान अन्तर्यामियों की एकता का बोध कराया जाता है। अतः सभी प्रकार के कार्य और करण (साधन) वाला कोई सिद्ध योगी सबके भीतर प्रविष्ट होकर नियमन कर रहा है ऐसी संभावना होती है। 'सर्वगत' कहने से परमात्मा ही वह है यह प्रतीत होता है।

—"यह समस्त दृश्यमान प्रपञ्च प्रारम्भ में तमोरूप, अप्रज्ञान, पहिचान शून्य (अलक्षण) सोचने समझने की सीमा से बाहर, अविज्ञेय, सब ओर से सोया हुआ सा था"—

"यह शब्द रहित-स्पर्श, रूप, व्यय से रहित था"—

इत्यादि वाक्यों से निश्चित किये गये अदृष्टत्व आदि प्रधान तत्त्व के धर्मों का यहां कथन होने से प्रधान ही अन्तर्यामी होगा, यह संभावना होती है। प्रत्यगात्मा होने के कारण चेतनत्व होने से दृष्टत्व आदि धर्मों के तर्क सिद्ध होने से यह भोक्ता शरीर ही अन्तर्यामी रूप से ठीक जँचता है। अन्तर्यामी इस नये नाम से कहे जाने के कारण अप्रसिद्ध नाम से विज्ञापित अर्थ भी कोई नया अप्रसिद्ध ही होगा ऐसा कोई नया ही अर्थ भी प्रतीत हो सकता है। इस प्रकार की अनिश्चय की स्थिति जब यहाँ उपस्थित होती है तब उसके उत्तर में कहा जा रहा है कि–अधिदैव आदि में जो अन्तर्यामी सुना जा रहा है वह परमात्मा है। क्योंकि—

"उसके धर्मों के कथन के कारण (ही यह सिद्ध है) [१/२/१८] अधिदैव आदि भेदों से भिन्न पृथिवी आदि समस्त विकार समूह को भीतर बैठकर नियमित करना यह परमात्मा का धर्म ही यहां बतलाया जा रहा है। क्योंकि वही सभी विकारों का कारण है और वही समस्त शक्तियों की युक्ति सिद्धता है। पुनश्च—

—"यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है"

यहाँ आत्मत्व तथा अमृतत्त्व जो परमात्मा के धर्म हैं उन्हें बतलाते हुए उनसे इस अन्तर्यामी का ही कथन किया जा रहा है। यह पृथिवी आदि का अभिमानी देवतात्मा नहीं हो सकता—

—"जिसको पृथिवी नहीं जानती"—

इत्यादि कथन से पृथिवी आदि के देवता रूप आत्मा से अन्य होने की बात यहां अन्तर्यामी में दिखाई जा रही है। योगी भी अन्तर्यामी शब्द से गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म विद्या में उसकी स्तुति नहीं की जा रही है, अतः उसकी चर्चा का यहां प्रसंग नहीं है। अन्य कोई नया अर्थ भी अन्तर्यामी का नहीं है, आत्मा, अमृत इन दो शब्दों से जब प्रकृतोपयोगी अर्थ का ज्ञान हो गया तो बुद्धि को अभीष्ट विषय मिल गया तब वह भला उसके अतिरिक्त नये किसी अर्थ की तरफ झुकेगी ही क्यों।

—"स्मृतिप्रोक्त प्रधान नामका तत्त्व भी यहां अन्तर्यामी शब्द से नहीं लिया जा सकता, क्यों कि उसमें वे धर्म नहीं हैं जो अन्तर्यामी में बोधित हो रहे हैं"—

(ब्र.सू.१।२।१९)

वाक्य के अन्तिम भाग में श्रुति में यह सुना गया है—

—"जो बिना देखा देखने वाला है, बिना सुना हुआ सुनने वाला है, बिना सोचा हुआ सोचने वाला है, बिना जाना हुआ जानने वाला है"—।

यहां 'बिना देखे होना' आदि बातें यद्यपि प्रधान नामक तत्त्व में भी हैं परन्तु 'देखने वाला' आदि वे धर्म हैं जो प्रधान में नहीं हैं, उनका यहां निर्देश करना ही अन्तर्यामी की परिधि से प्रधान नामक तत्त्व को बाहर कर रहा है।

और शरीर स्थित अन्तर्यामी नहीं हो सकता। काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में अन्तर्यामी से अलग करके शरीर स्थित को पृथिवी आदि के समान आधार रूप में तथा नियमों से आबद्ध के रूप में प्रकट किया गया है। काण्व शाखा में—

—"जो विज्ञान में स्थित होकर"—

यह सुनने में आ रहा है। दोनों ही स्थानों पर आत्मा शब्द से या विज्ञान शब्द से शरीर स्थित विज्ञानमय ही बतलाया गया है। अतः शरीर स्थित से अतिरिक्त ही यह ईश्वर अन्तर्यामी सिद्ध होता है।

नन्वेवं सत्येकस्मिन् देहे द्वौ द्रष्टारौ प्रसज्येयाताम् शारीरो विज्ञानमयोऽन्यः अथान्तर्यामीश्वरस्त्वन्य इति। तच्च शास्त्रसिद्धान्तविरुद्धमापद्यते। प्रत्यगात्मन एकत्वेन शास्त्रप्रसिद्धेः प्रत्यगात्मद्वयस्य कुत्राप्यनुल्लेखाच्च।

—"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"—

इत्यादिश्रुतिर्हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं मन्तारं विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति इति चेन्न। अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः घटाकाशमहाकाशवदेकस्यैवोपाधिवशाद् भेदव्यवहारोपपत्तेः।

अत एव—

—"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति"—

इत्यविद्याविषये सर्वव्यवहारं दर्शयति।

—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येद्—

इत्येवं च विद्याविषये सर्वव्यवहारं वारयति। तदित्थं भेदेन विवक्षितयोः शारीरपरमात्मनोर्मध्ये शारीरस्यान्तर्यामित्वं व्यवहारदशायां नेष्यते। परमात्मन एवेश्वरस्यान्तर्यामित्वेन विवक्षितत्वात्।

ननु—

"—न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च—

इतिमन्त्रवर्णादीश्वरस्य कार्यकरणहितत्वावगमात्तत्र यमयितृत्वं नोपपद्यते—इति चेन्न। यन्नियच्छति तत्कार्यकरणत्वोपपत्तेः। तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामीति सिद्धम्।

प्रश्न होता है कि ऐसा होने पर द्रष्टा दो होने लगेंगे। शरीरस्थित विज्ञानमय एक अलग द्रष्टा होगा तथा अन्तर्यामी ईश्वर एक भिन्न द्रष्टा हो जायगा और यह बात शास्त्र के सिद्धान्त के विरुद्ध चली जायगी। प्रत्यगात्मा एक ही शास्त्र में कहा गया है, दो प्रत्यगात्माओं का कहीं भी शास्त्र में उल्लेख नहीं हुआ है।

—"इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है"—

इत्यादि श्रुति वाक्य यहां चर्चित अन्तर्यामी से भिन्न किसी द्रष्टा, श्रोता, मननकर्ता, विज्ञाता आत्मा का निषेध करते हैं। इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। शरीर स्थित तथा अन्तर्यामी का जो यह भेद है वह अविद्या के द्वारा उपस्थित किये गए कार्य, साधन तथा उपाधि के कारण है अतः मिथ्या है, पारमार्थिक या सत्य नहीं। सत्यतः एक ही तत्त्व में उपाधिवशात् कल्पित इस प्रकार के भेद घटाकाश तथा महाकाश में व्यवहार में आते हैं इसलिए—

—"जहां दो के समान हो जाता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है"—

यह वाक्य अविद्या विषयक सारे व्यवहार दिखा रहा है।

—"जहां तो इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया वहां कौन किसे देखे"—

इस वाक्य शैली से विद्या के विषय में समस्त व्यवहारों का निषेध हो जाता है। इस प्रकार भेद की विवक्षा होने पर शरीर स्थित और परमात्मा के बीच शरीर स्थित का अन्तर्यामी होना व्यावहारिक (अज्ञान) दशा में अभीष्ट नहीं है। परमात्मा ईश्वर का ही अन्तर्यामी रूप से मानना अभीष्ट है।

प्रश्न होता है कि—

—"न उसका कार्य है, न करण है, न कोई उसके समान है न कोई उससे अधिक है। उसकी पराशक्ति विविध प्रकार की है, उसके स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया भी विविध प्रकार के हैं—"

"इस मन्त्र के अक्षरों से ईश्वर के कार्य और करण से युक्त होने के कारण उसका नियामक होना युक्तिसगत नहीं रहता। यह प्रश्न भी निरर्थक है। जिनका वह नियामक है उन्हीं के कार्य और करण कहे गये हैं जो युक्तिसंगत हैं। अतः परमात्मा ही अन्तर्यामी है यह सिद्ध हुआ।

भूतयोनिः अक्षरयुक्तमव्ययम्

—"अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः"–[ब. सू. १।१।२१]

—"विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ"–[१।१।२२]

—"रूपोपन्यासाच्च"— [१।१।२३]

—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"।

इति मुण्डकोपनिषदि पठ्यते। तत्रायमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिरक्षरत्वेनादिश्यते। स इह प्रधानं वा शारीरो वा परमेश्वरो वा विवक्ष्यते इति संदेहः।

—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति"
"यथा सतः केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्"—

इत्यचेतनानामूर्णनाभिशरीरपुरुषशरीरपृथिवीद्रव्याणां दृष्टान्तत्वेनोपादानात् तत्साधर्म्यादिचेतनं प्रधानमेवाक्षरं भूतयोनिश्चेति लभ्यते। अथ यदि योनिशब्दस्योपादानवाचित्वं विहाय निमित्तवाचित्वमिष्यते तदा शारीरस्यापि भूतयोनित्वं प्राप्नोति। अदृश्यत्वादिधर्माणां तत्रापि प्रसिद्धत्वात्। एवं सर्वजगत्प्रभवपरायणस्य परमेश्वरस्यापि भूतयोनित्वमुपपद्यते। तदित्थमप्रतिपत्ताविदमुच्यते अदृश्यत्वादिगुणकोऽयं भूतयोनिः परमेश्वर एवेह विवक्षितो नान्यः। तद्धर्मोक्तेः।

भूतयोनि-अक्षरयुक्त अव्यय

धर्मों के कथन के कारण वह अदृश्यत्व आदि गुण वाला है १/२/२१

तथा विशेषण और भेद के कारण अन्य दोनों नहीं हैं (कारण) १/२/२२

तथा रूप के कथन के कारण भी ऐसा है १/२/२३

—"वह जो अदृश्य, अग्राह्य अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, हाथ पैरों से रहित नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म है, वह अव्यय है, धीर पुरुष उसको भूतों का कारण जानते हैं"—

यह मुण्डकोपनिषद का मन्त्र है। वहां यह अदृश्यत्व आदि गुण वाला भूतों का कारण अक्षर रूप से कहा गया है। वह यहां प्रधान है, शरीर है या परमेश्वर विवक्षित है, यह सन्देह होता है।

—"जैसे मकड़ी उत्पन्न करती है, तथा ग्रहण करती है, जैसे पृथिवी से औषधियां उत्पन्न होतीं हैं, जैसे सत्तावान् पुरुष से केश और लोम पैदा होते हैं, वैसे ही अक्षर से यहां सारा विश्व उत्पन्न होता है"—

इस प्रकार मकड़ी के शरीर, पुरुष के शरीर, पृथिवी इन द्रव्यों के दृष्टान्त रूप से कहे जाने के कारण, उसी समान कोटिता के कारण अचेतन प्रधान ही अक्षर तथा भूतों का कारण है यह ज्ञात होता है। अब यदि कारण (योनि) शब्द का उपादान कारणरूप अर्थ छोड़कर निमित्त कारण के रूप में ग्रहण करना अभीष्ट हो तब शरीर आत्मा का भी भूतों का कारण होना प्राप्त होगा क्योंकि अदृश्यत्व आदि धर्म वहां भी प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार समस्त संसार के उत्पादक और लय स्थान परमेश्वर से भी भूतों की उत्पत्ति होना युक्तियुक्त होता है, तब इन पक्षों में निश्चय न होने पर कहा जाता है कि अदृश्यत्व आदि गुण वाला यह भूतों का उत्पादक परमेश्वर ही यहां विवक्षित है अन्य कोई नहीं। क्योंकि उसी के धर्मों को यहां कहा गया है।

—"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः"—

इति हि सार्वज्ञं सर्ववित्त्वादिकमुच्यमानं नाचेतने प्रधाने न वोपाधिपरिच्छन्नदृष्टौ शारीरे संभवति।

—"अक्षराद् संभवतीह विश्वम्"—

—"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम्"—

इत्येवमादिना ब्रह्मण एवाक्षरत्वेनाभिप्रेतत्वात्। किञ्च—

द्वे विद्ये परा चैवापरा च। ऋग्वेदादिलक्षणा तत्रापरा।

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

इति पराविद्यायामक्षराधिगमः प्रतिज्ञायते। यदि पुनः परमेश्वरादन्यत् प्रधानादिकमक्षरं परिकल्प्यते—तर्त्हि नेयं परा विद्या स्यात्।

"—स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह"—

इति हि प्रतिज्ञाय प्रवर्तमानत्वाच्चास्या ब्रह्मविद्यात्वमिष्यते। सा चैषा ब्रह्मविद्यासमाख्या तदभिगम्यस्य तस्याक्षरस्य ब्रह्मत्वानभ्युपगमे विरुध्येत। तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एवेति सिद्धम्। विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां न नेतरौ प्रधानशारीरौ भूतयोनित्वे विवक्षितौ संभवतः। प्रधानात् तावत् प्रकृतभूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति।

—"अक्षरात् परतः पर"— इति।

अव्याकृतनामरूपबीजशक्तिरूपमीश्वराश्रयं भूतसूक्ष्ममिहाक्षरशब्देनाभिप्रयते। तथा च सर्वस्माद्विकारात् परो यो निर्विकारस्तस्मात् परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात् परमात्मानमिह विविक्षतं दर्शयति। एवमिह प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन विशिनष्टि।

-"दिव्यो ह्यमूर्तःपुरुष. स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः"- इति।

नैतद्विशेषणं शारीरस्योपपद्यते। तस्य सप्राणत्वसमनस्कत्वादिना विलक्षणत्वात्।

- "रूपोपन्यासाच्च" -

अस्यैव हि भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—

—"अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा"–इति।

न चैतद्रूपं तनुमहिम्नः शारीरस्य संभवति। न वा तस्य प्रधानस्य, सर्वभूतान्तरात्मत्वासंभवात्। ननु तस्य भूतयोनेरेवायं रूपोपन्यास इति कथं जानासीति चेत् प्रकरणादिति ब्रूमः। एष इत्यनेन भूतयोनिं प्रकृत्य—

—"एतस्माज्जायते प्राणः"—

— "एष सर्वभूतान्तरात्मा"—

इत्याख्यानात् तस्य भूतयोनिविषयतयैव नेयत्वात्। नन्वदृश्यत्वादिगुणकतया विहितस्य तस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपमुच्यमानं विरुध्यते इति चेन्न, सर्वात्मत्वविवक्षया तदुक्तेर्विग्रहवत्वे प्रकृततात्पर्याभावात्। तस्मादिह शारीरप्रधानयोरविवक्षितत्वात् परमात्मैव भूतयोनिरक्षरमिति सिद्धम।

—"जो सर्वज्ञ है, सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है" —

यह जो सर्वज्ञता आदि कही जा रही है, वह अचेतन प्रधान अथवा उपाधि से सीमित दृष्टि वाले शरीर आत्मा में संभव नहीं है—

—"अक्षर से यहां विश्व उत्पन्न होता है"—

—"जिससे अक्षर सत्य पुरुष को जाना तत्त्वरूप से उस ब्रह्मविद्या का प्रवचन किया"—

इत्यादि मन्त्रों से ब्रह्म ही अक्षररूप से अभिप्रेत है। और भी—

—"दो विद्याएं हैं, परा और अपरा। ऋग्वेदादिरूप उनमें अपरा विद्या है, परा वह है जिसके द्वारा उस अक्षर का ज्ञान होता है"—

इससे परा विद्या में अक्षर का ज्ञान होने की बात की गई है। अब यदि परमेश्वर के अतिरिक्त प्रधान आदि को अक्षर के रूप में समझा जाता है, तब यह परा विद्या नहीं कहलायेगी—

—"उसने सब विद्याओं की प्रतिष्ठा रूपिणी ब्रह्मविद्या को ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को पढ़ाया"—

इस प्रकार की प्रतिज्ञा पूर्वक प्रारम्भ होने के कारण इसका ब्रह्मविद्या होना अभीष्ट है। उसका ब्रह्मविद्या यह नाम उसके द्वारा ज्ञात होने वाले अक्षर तत्त्व के ब्रह्म न माने जाने पर विरुद्ध पड़ जाएगा। इसलिए अदृश्यत्व आदि गुण वाला भूतों का कारण परमेश्वर ही है यह सिद्ध हुआ।

विशेषणों से तथा भेद कथन से दूसरे (परमेश्वर से भिन्न) प्रधान (प्रकृति) या शारीर (जीवात्मा) भूतों के कारण के रूप में अभीष्ट नहीं हैं। प्रकरण प्राप्त भूतों के कारण को प्रधान (प्रकृति) से भिन्न बतलाते हुए श्रुति कहती है—

—"अक्षर से परे पर है"—

यहां अक्षर शब्द से वह भूतों की सूक्ष्म अवस्था बतलाई जा रही है, जिसमें नाम और रूप के विभाजन का बीज विभक्त नहीं हुआ है, जो ईश्वर के आश्रय में स्थित है। [मन्त्र में दो 'पर' शब्दों की अर्थ संगति इस प्रकार है कि) समस्त विकारों से पर (दूर) जो निर्विकार है उससे पर (पृथक्) है, इस प्रकार भेद पूर्वक कथन से यहाँ परमात्मा विवक्षित है यह दिखा रही है श्रुति। इसी प्रकार प्रकरणागत भूतों के कारण को शारीर (जीवात्मा) से विलक्षण बतलाने के लिए विशेषण दिये गये हैं—

—"अमूर्त-पुरुष दिव्य है, वह बाह्य आभ्यन्तर तथा अजन्मा है, वह प्राणरहित,

मन रहित शुभ्र है"--

यह विशेषण शारीर (जीवात्मा) के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकते क्योंकि वह प्राण सहित, मन सहित बतलाये जाने से इससे विलक्षण है।—

"रूप के कथन से भी"--

भूतों का उत्पादयिता शारीर (जीवात्मा) से भिन्न है। इसी भूतों के कारण का वह रूप भी कथन में आया हुआ हम देख रहे हैं जो सर्व विकारात्मक है।--

--"समस्त भूतों का वह अन्तरात्मा है, जिसका अग्नि मस्तक है, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशाएं जिसके कान हैं, वेद जिसकी वाणी के विवर्त हैं, वायु जिसका प्राण है, जिसका हृदय विश्व है, जिसके पैर पृथ्वी है अथवा जिसके पैरों से पृथ्वी का प्रादुर्भाव है"—

यह रूप अल्प महिमा (रूप) वाले शारीर (जीवात्मा) का नहीं हो सकता, न ही यह रूप उस प्रधान तत्त्व का ही हो सकता है, क्योंकि उसे समस्त भूतों का अन्तरात्मा कहा जाना सम्भव नहीं है। प्रश्न होता है कि हम यह कैसे समझते हैं यह स्वरूप कथन उस भूतों के कारण का ही है, उसका उत्तर है कि ऐसा हम प्रकरण या प्रसङ्ग से जानते हैं।

"एष" (यह) इस शब्द के द्वारा भूतों के कारण को बतलाने का उपक्रम करके-

— "इससे प्राण उत्पन्न होता है,"—

—"यह समस्त भूतों का अन्तरात्मा है"—

ऐसा कहने से इस कथन को भूतों के कारण के लिए ही समझा जा सकता है। प्रश्न होता है कि उस भूतों के कारण को उपयुक्त श्रुति वचन में अदृश्यत्व आदि गुणों से युक्त बतलाया गया है और अब (मस्तक सिर आदि) उसका शरीरवान् कहा जाना क्या परस्पर विरुद्ध कथन नहीं होगा, उत्तर है कि ऐसा नहीं है। प्रकृत में उसका शरीरवान् दिखाने का तात्पर्य न हो कर यह बतलाना ही अभीष्ट है कि वह सर्वात्मा है। अतः यहां शारीर (जीवात्मा) तथा प्रधान दोनों ही अभीष्ट नहीं है, परमात्मा ही भूतों का कारण है वही अक्षर शब्द से बतलाया गया है यह सिद्ध हुआ।

भाष्यकारस्तु शङ्करः प्राह--नायं भूतयोने रूपोपन्यासः। जायमानत्वेनोपन्यासात्। पूर्वत्र तावत् –

—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च—

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"—

इत्येवं प्राणादिपृथिव्यन्तं जायमानत्वेन निरदिक्षत् । उत्तरत्र च—

—"तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः" इत्यारभ्य—

– "सर्वा ओषधयो रसा"—

श्चेत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्द्देक्ष्यति । तत्कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत् ।

–"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म"–

इत्येवं सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्योपदेक्ष्यति । तस्मादयं त्रैलोक्यशरीरस्य हिरण्यगर्भाख्यस्य प्रजापते रूपोपन्यासः स्यान्न परमेश्वरस्य । हिरण्यगर्भस्य तु जन्म निर्दिश्यमानमुपलभामहे—

—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम"
इति—
—"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्र समवर्तत"–इति ।

तस्य च विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं संभवति प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात्—इति दिक् ।

भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने तो कहा है कि यह प्रकरण भूतों के कारण बतलाने का नहीं है क्योंकि उसको उत्पन्न होने वाला कहा गया है । पूर्व के उपक्रम में—

–"इससे प्राण मन तथा समस्त इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, आकाश, वायु, तेज, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है"—

इस प्रकार प्राण से लेकर पृथिवी तक उत्पन्न होने वालों का निर्देश किया है । और बाद में—

-—"उससे अग्नि समिधाएं उससे सूर्य"—

यह प्रारम्भ करके—

—"सभी औषधियां रस"—

यहां तक उत्पन्न होने वालों का ही कथन है । तब कैसे अचानक बीच में भूतों के कारण का निर्देश हो उठेगा ।

"यह समस्त कर्म पुरुष ही है"—

इस प्रकार सृष्टि के कथन की परिसमाप्ति करते हुए सब को आत्मा का भी उपदेश दिया जायगा। अतः यह सन्दर्भ त्रिलोकी रूपी शरीर वाले हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति के स्वरूप का कथन हो सकता न कि परमेश्वर का। हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति के जन्म का कथन तो हमें श्रुतिवाक्यों में दिखाई दे रहा है—

—"प्रारम्भ में समस्त भूतों का स्वामी हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ उसने इस द्यौ तथा पृथिवी को धारण किया, हवि से किस देवता के लिए विधान करें"

—"निश्चय ही वह प्रथम शरीर धारी है, वह पुरुष कहा जाता है, वह भूतों का प्रथम निर्माता ब्रह्मा सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ"—

यद्यपि वह पुरुष विकार रूप है तब वह समस्त भूतों की प्राण के रूप में अध्यात्म में (आत्मा के भीतर) स्थित होता है। यह दिशा है श्री शंकर स्वामी के कथन की।

वैश्वानरः अग्निरक्षरः

—"वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्"— [१।१।२४]

—"स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति"—[१।१।२५]

—"शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते"—[१।१।२६]

—'अत एव न देवताभूतं च"—[१।१।२७]

—"साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः"— [१।१।२८]

—"अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः"—[१।१।२९]

—"अनुस्मृतेर्बादरिः"—[१।१।३०]

—"सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति"—[१।१।३१]

—"आमनन्ति चैनमस्मिन्"—[१।१।३२]

—'को न आत्मा किं ब्रह्मे'—

—त्युपक्रम्य—

—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेश्चात्मस्वन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपप्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय'—

मित्यादि छांदोग्योपनिषदि पठ्यते। तत्रैतेन वैश्वानरशब्देन जाठराग्निर्वा भूताग्निर्वा अग्न्यभिमानिनी देवता वा शरीरात्मा वा परमेश्वरो वा विवक्ष्यते इति संदेहः।

वैश्वानरशब्दस्य जाठरभूताग्निदेवतासाधारणस्येह प्रयोगात् शारीरात्मपरमात्मसाधारणस्यात्मशब्दस्य प्रयोगाच्च। दृश्यते च शास्त्रेऽपि तत्तदर्थेऽस्य प्रयोगः–जठराग्नौ तावत्—

"अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते"–इत्यादिः।

अग्निमात्रे च–

"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्"—इत्यादिः।

देवतायामपि-

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनामभि श्रीः"–इत्यादि।

एवमिहैव को न आत्मा किं ब्रह्मेति जिज्ञासायां तत्प्रतिपादनाय प्रवृत्तिकरण यदय प्रादेशमात्रमात्मानमुपदिशति तेन शारीरात्मा प्राप्नोति। अथ मूर्द्धैव सुतेजा इत्यादिना यदयं द्युमूर्द्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरमुपदिशति ततो ब्रह्म वैश्वानर इत्यवसीयते। तदित्थमनेकार्थप्राप्त्यानवधारणायामिदमुच्यते-वैश्वानरः परमात्मा साधारणशब्दविशेषात्। त्रयाणां साधारणो वैश्वानरशब्दः द्वयोः साधारणस्त्वात्मशब्दः। इत्थमनयोः साधारणशब्दयोरिह विशेषो दृश्यते–

—"मूर्द्धैव सुतेजा—"

इत्यादिना द्युमूर्द्धत्वादि तथा

—"स सर्वेषु लोकषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्तीति"—

सर्वभोक्तृत्वादि च।

एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते

इति फलश्रुतिश्च।

तस्मात् परमेश्वर एवायं वैश्वानर इहोपदिश्यते इत्यवधार्यते। तस्य च—

"यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।

सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः" इति।

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे॥

दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता।

इति च स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं स्यादिति संभवति। अनुमानं लिङ्गं गमकमित्यर्थः।

वह वैश्वानर है साधारण शब्द विशेष के कारण १/२/२४

स्मर्यमाण होता हुआ वह अनुमान हो सकता है १।२।२५

शब्द आदि से अन्तः प्रतिष्ठान के कारण नहीं होगा ऐसा नहीं है वैसी दृष्टि के उपदेश के कारण, असंभव होने से पुरुष को भी ऐसी ही अध्ययन करते हैं। १/२।२६

इसीलिए देवता या भूत भी वैश्वानर नहीं है। १/२/२७

जैमिनि साक्षात् कथन में भी विरोध नहीं मानते १/२/२८

अभिव्यक्ति के कारण ऐसा है यह आश्मरथ्य का कथन है। १/२/२९

बादरि का कथन अनुस्मृति को कारण बतलाता है। १/२/३०

जैमिनि इससे सम्पत्ति की सूचना मानते हैं और वैसे प्रमाण भी दिखाई देते हैं— १/२/३१

तथा उसको इस रूप में मानते हैं १/२/३२

—"हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है"—

ऐसे कथन से प्रारम्भ करके—

– "जो इस रूप के इस प्रादेश मात्र विमान की ओर उन्मुख वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह समस्त लोकों में, समस्त भूतों में सब के साथ आत्मा में अन्न भक्षण करता है। इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुन्दर तेज है, विश्वरूप प्राण चक्षु है, पृथक मार्ग वाला आत्मा सन्देह है, बाहुल्य युक्त बस्ति ही रयि है, दोनों चरण ही पृथिवी हैं, उर प्रदेश ही वेदी है, लोम कुशाएं हैं, गार्हपत्य मन हृदय है, अन्वाहार्य पचन है, आस्य (मुख) आहवनीय है।"

इत्यादि वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् में हैं। उक्त सन्दर्भ में प्रयोग में आया हुआ वैश्वानर शब्द जठराग्नि का वाचक है अथवा पंचमहाभूतों में परिगणित भूताग्नि यहां वैश्वानर शब्द का अर्थ है, या अग्नि का अभिमानी देवता यहां वैश्वानर शब्द से अभिप्रेत है अथवा शारीरात्मा (जीवात्मा) यहां वैश्वानर कहा गया है या परमेश्वर को ही वैश्वानर शब्द से बोधित किया गया है यह सन्देह उपस्थित होता है। इस सन्देह का कारण यह है कि जिस वैश्वानर शब्द का उक्त मन्त्र में प्रयोग हुआ है वह एक ओर तो जाठराग्नि, पंचभूतों में परिगणित (तेज) भूताग्नि तथा उसके अभिमानी देवता के लिए प्रयुक्त देखा जाता है, दूसरी ओर उसके विशेषण के रूप में उक्त मन्त्र में आत्मा शब्द का भी प्रयोग है जो कि जीवात्मा तथा परमात्मा का भी अर्थ देता है। शास्त्रीय वचनों में उपर्युक्त विभिन्न अर्थों में इस वैश्वानर शब्द का प्रयोग देखा गया है। जाठराग्नि के लिए—

"यह अग्नि ही वैश्वानर है, जो अन्तःस्थित पुरुष है, जिससे यह खाया हुआ अन्न पचाया जाता है"—

यह मन्त्र द्रष्टव्य है। अग्नि सामान्य का अर्थ प्रकट करने वाला वैश्वानर शब्द इस मन्त्र में दिखाई देता है—

—"देवताओं ने वैश्वानर अग्नि को समस्त भुवन के लिए काल की ध्वजा बनाया"—

देवता अर्थ में भी यह मन्त्र द्रष्टव्य है कि—

—"वैश्वानर की सुमति में हम रहें जो भुवन का श्री प्रदायक राजा है"—

इसी प्रकार प्रस्तुत उपर्युक्त विवेचनीय मन्त्र में ही—

—"हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है"—

ऐसी जिज्ञासा प्रकट करके उसके प्रतिपादन के लिए समुद्यत होने पर जो यहां आत्मा को बालिश्त भरका (प्रादेशमात्र) बतलाया जा रहा है, इससे यहां शारीरात्मा की संगति बैठती। है अब—"सुन्दर तेज ही मस्तक है"—इत्यादि सन्दर्भ में जो यह मन्त्र स्वर्ग के मस्तक होने आदि विशेषणों से वैश्वानर का उपदेश कर रहा है उससे ब्रह्म ही वैश्वानर है यह निश्चित होता है। इस प्रकार अनेक अर्थों के उपस्थित होने पर निश्चयोन्मुखता के लिए कहा जा रहा है—

—"वैश्वानर परमात्मा है साधारण शब्दों में विशेषता के कारण"—

तीन के लिए समान रूप से प्रयुक्त (जाठराग्नि, भूताग्नि, अभिमानी देवता) वैश्वानर शब्द आया है। दो (जीवात्मा या शारीरात्मा एवं परमात्मा) के लिए समान रूप से आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इन दो वैश्वानर तथा आत्मा साधारण शब्दों के प्रयोग में यहां विशेषता दिखाई देती है—

—"जिसका सुन्दर तेज ही मस्तक है"—इत्यादि से द्युलोक को मस्तक बतलाना तथा—

—"वह समस्त लोकों में, समस्तभूतों में, समस्त आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है"—

यह कहते हुए उसकी सर्वभोक्तृता कही गई है।

—इस प्रकार ज्ञान होने पर इस ज्ञाता के समस्त पाप दूर हो जाते हैं"—

यह फल सुना गया है। अतः परमेश्वर ही यहां वैश्वानर शब्द से बोधित हुआ है यह निश्चय होता है। पुनश्च उसका—

—"अग्नि मुख वाले द्युलोक रूप मस्तक वाले आकाश रूपी नाभि वाले पृथ्वी रूपी चरण वाले, सूर्य रूपी नेत्र वाले, दिशा रूपी कान वाले उस लोकात्मा को नमस्कार है"—

—विप्रगण द्युलोक को जिसका मस्तक कहते हैं, जिसकी नाभि आकाश, चन्द्र तथा सूर्य जिसके नेत्र, जिसके चरण पृथ्वी को कहा गया है, वह अचिन्त्य आत्मा ही समस्त भूतों का निर्माता है"—

यह स्मृति वाक्यों में कथित रूप अपने मूलभूत श्रुति वचन का अनुमान कराते हुए इस वैश्वानर शब्द के अर्थ के रूप में परमेश्वर का अनुमान करा रहा है ऐसी संभावना होती है। अनुमान का अर्थ चिन्ह या बोधन करने वाला है।

ननु शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नायं वैश्वानरः परमेश्वरो भवितुमर्हति हृदयगार्हपत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्तनं च शब्दादयः। तत्र तावत्—

—"स एषोऽग्निर्वैश्वानरः"—

इत्यग्निरहस्ये वैश्वानरविद्यायां श्रुतावग्निवैश्वानरशब्दावर्थान्तरे रूढत्वान्न परमात्मानं गमयतः। हृदयं गार्हपत्यो मनोन्वाहार्यपचनः आस्यमाहवनीयम्। इत्येवं हृदयमनआस्यानामाग्निविशेषत्वमुपकल्प्यते तच्च परमात्मनि नोपपद्यते।

प्रश्न होता है कि शब्द आदि से उसे अन्तस् में प्रतिष्ठित कहने के कारण यह वैश्वानर परमेश्वर नहीं माना जा सकता। हृदय गार्हपत्य आदि त्रेता अग्नि की कल्पना करना प्राण आहुति के आधार रूप से कथन शब्द-आदि के द्वारा हुआ है स्पष्टता से कहें कि—

—"वह यह वैश्वानर अग्नि है"—

—ऐसा अग्निरहस्य प्रकरण में वैश्वानर विद्या में सुने हुए अग्नि और वैश्वानर शब्द अन्य अर्थ में रूढ़ होने के कारण परमात्मा का बोध नहीं कराते—

—'हृदय गार्हपत्य है, मन अन्वाहार्य पाचक है, मुख आहवनीय है"—

इस प्रकार हृदय मन एवं आस्य (मुख) का अग्निविशेष होना कल्पित हुआ है, यह बात परमात्मा में नहीं घटित होती।

एवं प्राणाहुत्या चक्षुरादित्यदिवां व्यानाहुत्य ाश्रोत्रचन्द्रदिशां अपानाहुत्या वागग्निपृथिवीनां समानाहुत्या मनः पर्जन्यविद्युतामुदानाहुत्या त्वग्वाय्वाकाशानां तृप्तिराम्नायते, जाठरेऽग्नौ घटते न परमात्मनि। तथान्तःप्रतिष्ठानमप्यस्य श्रूयते—

—"अग्निर्वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"—इति।

तस्य जाठरे संभवति। तस्मान्न परमात्मा वैश्वानर इति चेन्न। तथा दृष्ट्युपदेशात्। जाठरे वैश्वानरे एव हीयं परमेश्वरदृष्टिरिहोपदिश्यते—

-'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'-

त्यादिवत् जाठरोऽप्ययमाग्निर्वैश्वानरपरमेश्वर इति कृत्वा द्रष्टव्य इत्यभिप्राय: । तत्र न केवलजाठरपरोऽयं वैश्वानरशब्द: प्रतिपत्तुं युज्यते--

-'मूर्द्धैव सुतेजा'-

इत्यादिविशेषस्य तत्रासंभवात् । किञ्च पुरुषमपि पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिन: ।

-"स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष: स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्त:-प्रतिष्ठितं वेद"—

इति हि पुरुषत्वं पुरुषविधत्वं चाम्नायते । न च जाठरस्य पुरुषत्वं पुरुषविधत्वं वा संभवति अचेतनत्वात्, ईश्वरस्य तु सर्वात्मकत्वादुपपद्यते पुरुषत्वं च पुरुषविधत्वं प्रतिष्ठितत्वं च । तत्र पुरुषविधत्वमधिदैवतं तावत्—द्युमूर्द्धत्वादिपृथिवीप्रतिष्ठितत्वाऽन्तम्, अध्यात्मं तु मूर्द्धत्वादिचिबुकप्रतिष्ठितत्वान्तमिति वेद्यम् । तस्माद्द्यु मूर्द्ध त्वादिपुरुषविधत्वासंभवान्न जाठराग्निस्तावदिह वैश्वानरशब्देनेष्यते । अत एव न देवताभूतं च । देवतायास्तावत् सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्द्ध त्वादिकल्पना संभवति । अकारणत्वात्, परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च । भूताग्नेरप्यौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्द्धत्वादिकल्पना नोपपद्यते । विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासंभवात्, आत्मशब्दप्रयोगस्य चोभयप्राप्त्यसंभवात् ।

इसी प्रकार प्राण की आहुति से चक्षु आदित्य तथा दिव की तृप्ति, व्यान को आहुति से श्रोत्र चन्द्र और दिशाओं की तृप्ति, अपान की आहुति से वाक् अग्नि और पृथिवी की तृप्ति, समान की आहुति से मन पर्जन्य और विद्युत की तृप्ति, तथा उदान की आहुति से त्वक् वायु आकाश की तृप्ति जो बतलाई गई है वह भी जाठर अग्नि मे घटित होती है न कि परमात्मा में । इस वैश्वानर का भीतर निवास (प्रतिष्ठित होना) भी सुना जाता है ।

—"अग्नि ने पुरुषरूप के भीतर प्रतिष्ठित वैश्वानर को जाना ।"

यह बात भी जाठराग्नि में सभव होती है । अत: यहां वैश्वानर शब्द परमात्मा का वाचक नहीं है । इस सन्देह के निराकरण के लिए कहा जा रहा है कि ऐसा नहीं है ।

—"वैसी दृष्टि से यहां उपदेश है"—(ब्र. सू.)

जठर स्थित वैश्वानर में ही इस परमेश्वर की दृष्टि का यहां उपदेश दिया जा रहा है ।

—"मन की ब्रह्म के रूप में उपासन करे"—

इत्यादि उपदेश जैसे दिया गया है, वही बात यहां भी समझनी चाहिये। अभि-प्राय यह है इस उपदेश का कि यह जठर स्थित अग्नि भी वैश्वानर परमेश्वर ही है ऐसा समझना चाहिए। वहां यह वैश्वानर शब्द केवल जाठराग्नि का ही अर्थ बतलाने वाला नहीं है।

--"सुन्दर तेज ही उसका मस्तक है"--

इत्यादि जो विशेषताएं बताई गई हैं वे जाठराग्नि में संभव नहीं है। पुनश्च वाजसनेय श्रुति के अध्येता इसको पुरुष रूप में तथा पुरुष सदृश के रूप में भी पढ़ते हैं।

- "यह पुरुष वही वैश्वानर अग्नि है जो इस प्रकार इस वैश्वानर अग्नि को पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित पुरुष के सदृश समझ जाता है"--

ऐसा कहते हुए इसको पुरुष तथा पुरुष के सदृश बतलाया गया है। जाठराग्नि तो अचेतन होने के कारण पुरुष के सदृश हो नहीं सकती। ईश्वर तो सर्वात्मक है, उसमें तो पुरुषरूपता पुरुष सदृशता तथा पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित होना युक्ति सिद्ध ही है। श्रुति में भी उक्त उदाहरण में पुरुषविधत्व दिखाते हुए अधिदैवत स्वरूप में द्युलोक को मस्तक बतलाने से प्रारम्भ करके अन्त में पृथिवी में प्रतिष्ठित बतलाया गया है। आध्यात्मिक स्वरूप में मस्तक से चिबुक तक पुरुष की प्रतिष्ठा दिखाई गई है। अतः द्यु लोक के मस्तक आदि के रूप में जो पुरुष स्वरूप बतलाया गया है वह जठराग्नि में घटित न होने के कारण यहां जाठराग्नि को वैश्वानर नहीं समझा जा सकता। अभिमानी देवता तथा भूताग्नि भी वह स्थान नहीं ले सकते। देवता यद्यपि ऐश्वर्यवान् हैं तब भी द्युलोक के मस्तक आदि का कथन उनके साथ कल्पित नहीं होता। क्योंकि एक तो वह भूतों के उत्पादक नहीं है अथच उनका ऐश्वर्य परमेश्वर के नियमन में है। जो भूताग्नि है, वह भी उष्णता तथा प्रकाश मात्र स्वरूप वाला है, उसके लिए भी द्यु लोक के मस्तक आदि बतलाने की बातें कहना नहीं बन सकता। एक विकार रूप पदार्थ दूसरे विकार रूप पदार्थ का आत्मा नहीं माना जा सकता। देवता तथा भूताग्नि दोनों ही को आत्मा शब्द से भी सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

अथोच्यते। इह तावदन्तःप्रतिष्ठितत्वानुरोधेन जाठरे वैश्वानर एव तु परमेश्वर-दृष्ट्योपासना कार्येत्युक्तं प्राक्। तेन जाठराग्निप्रतीको वा जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इति जाठराग्निद्वारकमेवोपासनं सिद्ध्यति। किन्तु तत्र साक्षादप्यविरोधं जैमनि-र्मन्यते। स आह-प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां विनैव साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोधः प्राप्नोति। नन्वन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं जाठराग्निपरिग्रहे विरुध्यते इति चेन्न। नहीह पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदेति जाठराग्न्यभिप्रायेणोच्यते तस्याप्रकृतत्वाद-संशब्दितत्वाच्च। किन्तु मूर्द्धादिचिबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं यत्कल्पितं तदभि-प्रायेण। वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीतिवत्। अथवा-य इहाधिदैवतं चाध्यात्मं च पुरुष-

विधत्वोपाधिः परमात्मा प्रकृतः तस्य यत् केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेण । तस्मान्न विरोधः । नन्वेवमपि शब्दादयो जाठराग्निपरिग्रहहेतवस्तदपरिग्रहे विरुध्येरन्निति चेन्न । विश्वश्चायं नरश्चेति विश्वानरः । विश्वेषां वायं नरो विश्वानरः । विश्वे वैते नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा सर्वात्मत्वात् । वैश्वानर इत्यनन्यार्थप्रत्ययो राक्षसवायसादिवत् । तदित्थमत्रवैश्वानरशब्दस्तावन्न विरुध्यते । अग्रणीत्वादियोगाश्रयणेनाग्निशब्दोऽप्यत्र परमेश्वरविषयो न विरुध्यते । गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनः सर्वात्मत्वादुपपद्यते । तस्मात् साक्षात्परमेश्वरपरिग्रहेऽपि न विरोधं पश्यामीति जैमिनिः प्राह ।

पुनः यहां कहना है कि ऊपर जो कहा गया है कि वैश्वानर को अन्तः प्रतिष्ठ (भीतर स्थित) कहने के कारण जाठराग्नि रूप वैश्वानर में ही परमेश्वर की दृष्टि रखते हुए उपासना करनी चाहिए उससे जाठराग्नि को प्रतीक मानकर या उसे उपाधि मानकर परमेश्वर उपास्य होता है, इस कथन से जाठराग्नि वह द्वार होता है जिससे परमेश्वर की उपासना की सिद्धि होती है । किन्तु महर्षि जैमिनी यहां द्वार न मानकर साक्षात् ही उपासना मानने में भी कोई विरोध नहीं देखते । उनका कहना है कि जाठराग्नि को परमेश्वर का प्रतीक या परमेश्वर की उपाधि माने बिना उसको साक्षात् परमेश्वर स्वरूप समझकर उपास्य बनाने में भी कोई असंगति नहीं आती । प्रश्न होता है कि जाठराग्नि को प्रधान मानने पर अन्तःप्रविष्ट कहना विरुद्ध पड़ता है, उत्तर है कि ऐसा नहीं होता, यहां जाठराग्नि के अभिप्राय से पुरुषविध या पुरुष में अन्तप्रविष्ट को जानने की बात नहीं कही जा रही है, क्योंकि न तो वह प्रसंग प्राप्त ही है न उसके लिए शब्द प्रयोग ही हुआ है, किन्तु मस्तक से लेकर चिबुक (ठुड्डी) तक पुरुष के अवयवों में जो पुरुष विधत्व कल्पित किया गया है उसके अभिप्राय को लेकर उक्त कथन है—जैसे कहा जाता है कि वृक्ष में उगी हुई शाखा को देखता है । (यहां वृक्ष शाखा से पृथक न होने पर भी यह व्यवहार होता है) अथवा दूसरा अभिप्राय यह भी लिया जा सकता है कि अधिदैवत या अध्यात्म में पुरुष विधत्व उपाधि वाला परमात्मा प्रकरण प्राप्त है उसका जो केवल साक्षिस्वरूप है उसी को प्रकट करने के अभिप्राय से यहां वैश्वानर शब्द का प्रयोग हुआ है । अतः कोई विरोध नहीं आता । पुनः प्रश्न होता है यह समाधान कर दिये जाने पर भी वैश्वानर आदि शब्द जो जाठराग्नि को बतलाने वाले हैं, जब उन्हें न लेकर परमेश्वर परक अर्थ किया जायगा तब वे शब्द विरुद्ध दिखाई देंगे, तो यह प्रश्न भी विचार करने पर समाहित हो जाता है ।

वैश्वानर शब्द 'विश्वश्चायं' (जो विश्व और नर है), जो विश्वेषां अर्थात् सबका नर है, अथवा विश्व ही है नर जिसका इन शब्द व्युत्पत्तियों से परमात्मा ही सिद्ध होता है क्योंकि वह सबका आत्मा है । वैश्वानर यह अन्य अर्थ को न समेटने वाला, अनन्य अर्थ को बोधित करने वाला ज्ञान है जैसे 'राक्षस तथा वायस अदि शब्द ।

इस प्रकार वैश्वानर शब्द परमेश्वर अर्थ ग्रहण करने पर विरुद्ध नहीं होता। अग्नि शब्द भी (अग्रे नयति) 'आगे ले जाने वाला' आदि यौगिक अर्थ का आश्रय लेने पर परमेश्वर परक होने के कारण युक्ति सिद्ध हो जाता है। अतः वैश्वानर शब्द से साक्षात् परमेश्वर अर्थ लेने पर भी महर्षि जैमिनि विरोध नहीं देखते।

अथैवमविरोधेऽप्यतिमात्रस्य परमेश्वरस्य कथमयं प्रादेशमात्रप्रदेशपरिग्रह उपपद्यते इति चेद् अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यो मन्यते। अतिमात्रोऽप्ययमीश्वर उपासकानां प्रादेशमात्रपरिमाणोऽभिव्यज्यते। परिच्छिन्नपरिमाणानामुपासकानां सर्वमात्ररूपग्रहणायोग्यत्वात्। तदनुसारेणैव चेश्वररूपाभिव्यक्तेः संभवात्। अनुस्मृतेस्तु प्रादेशमात्रत्वं बादरिर्मन्यते। स आह—प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठितेन मनसाऽयं तमनुस्मरति। ततः प्रादेशमात्र इत्युच्यते यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था उच्यन्ते तद्वत् प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेरिदमनुस्मरणं यथाकथंचिदालम्बनं संभवतीत्युच्यते। अथ संपत्तिनिमित्तं प्रादेशमात्रत्वमिति जैमिनिर्मन्यते। तथाहि दर्शयति, समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणमस्य त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिवीपर्यन्तानामवयवानामध्यात्मं मूर्द्धादिचिबुकान्तेषु देहावयवेषु प्रादेशमात्रत्वेन संपत्तिम्।

–"प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नाः–

तथा नु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामीति स होवाचे"–

त्यादिना।

अब इस प्रकार शब्द मर्यादा से परमेश्वर अर्थ की उपस्थिति में अविरोध ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी महतोमहीयान् या सबसे बड़े परमेश्वर का एक बालिश्त भर प्रदेश में समा जाना कैसे तर्क सिद्ध होगा यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाय तो ऐसा अभिव्यक्ति से होगा यह महर्षि आश्मरथ्य का दिया हुआ उत्तर है। परमबृहत्परिमाण वाला होते हुए भी यह ईश्वर उपासना में निरत पुरुषों के लिए प्रदेशमात्र, बालिश्त भर या अतिलघु परिमाण वाला होकर अभिव्यक्त हो जाता है क्योंकि सीमित आकार वाले उपासक सर्वत्र व्यापक परमेश्वर के रूप का ग्रहण करने के योग्य नहीं होते और ईश्वर के रूप की अभिव्यक्ति उन्हीं के अनुसार संभव होती है। महर्षि बादरायण परमेश्वर के प्रदेश मात्र (लघु आकार) स्वरूप को अनुस्मृति के आधार पर मानते हैं। परमेश्वर प्रदेशमात्र (बालिश्त भर का लघु आकार वाला) इसलिए है कि यह उपासक प्रदेशमात्र हृदय में संस्थित मन से परमेश्वर का अनुस्मरण करता है। इसलिए परमेश्वर को भी प्रदेशमात्र कह दिया जाता है, उदाहरणार्थ प्रस्थ आदि नाप तौल में आये (किलोग्राम क्विन्टल आदि) अनाज को प्रस्थ अनाज कह दिया जाता है (एक किलो अनाज)। कहने का अभिप्राय: यही है उस अनाज में एक नाम की कोई जाति अलग है, उसका अर्थ होता है एक किलो वाला अनाज, यद्यपि अनाज तो एक किलो या एक क्विन्टल से अधिक भी

मौजूद है, परन्तु जितना कहना अभीष्ट है उतना तौल बोल कर उससे अभिन्न अनाज का नाम ले लिया जाता है,) उसी प्रकार उपर्युक्त प्रादेश आकार में परमेश्वर को बतलाने वाले श्रुतिवचन के इस अनुस्मरण का उपासना का किसी प्रकार आलंबन बन जाना सम्भव हो जाता है। महर्षि जैमिनी ने इस प्रादेश आकार के कथन को वैश्वानर परमेश्वर की सम्पत्ति के प्रदर्शन का निमित्त माना है। जैसा कि इसी के समान प्रसंग वाला वाजसनेयि ब्राह्मण इस त्रैलोक्यात्मा वैश्वानर के द्युलोक से लेकर पृथिवी तक के अवयवों का (आधिदैव) में निरूपण करता है तथा मस्तक से चिबुक तक के देह के अवयवों में प्रादेशमात्रता दिखाता हुआ इसके महान् ऐश्वर्य की ओर संकेत कर रहा है। (द्युलोक से पृथिवी तक, मस्तक से ठुड्डी तक सर्वत्र जो परमेश्वरांश है वह ता उसका एक बालिश्त भर मात्र है, तब उसका सम्पूर्ण स्वरूप कितना होगा यह सम्पत्ति बतलाने का आशय है)।

—"जो विख्यात देव गण हैं वे तो जैसे बालिश्त भर ही हैं, और भी हम जितना वर्णन कर सकेंगे वह भी इसके प्रादेशमात्र का ही वर्णन हो सकेगा, ऐसा कहा"—

यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वेन समाम्नायते, आदित्यश्च सुतेजस्त्वेन, छान्दोग्ये तु द्यौरेव सुतेजस्त्वेनाम्नायते आदित्यश्च विश्वरूपत्वेनेत्येवं विशेषोऽनयोरत्र प्रकरणे दृश्यते, तथापि नैतावता विशेषेण किञ्चिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात् सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। तस्मादभिसंपत्तेः प्रादेशमात्रत्वं परमेश्वरस्योपपद्यते। आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन् मूर्द्धचिबुकान्तरप्रदेशे जाबालाः।

—"य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठितः। सोऽविमुक्तो वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठितः। कतमा वरणा नासीति। सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयति सा वरणा। सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयति सा नाशी। कतमच्चास्य स्थानं भवति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः। स एष द्युलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति—"

तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः। अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मताभिप्राया। प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयते इत्यभिविमानः। अथवा प्रत्यगात्मत्वादभिगतो मानवियोगाच्चायं विमानः। अथवा अभिविमिमीते सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः। तस्मात् परमेश्वर एवेह वैश्वानर इति सिद्धम्।

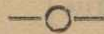
—इति द्वितीयः पादः—

यद्यपि वाजसनेय श्रुति में द्युलोक का नाम अतिष्ठा रखा गया है तथा आदित्य को सुतेज कहा गया है, जबकि छान्दोग्य उपनिषद में तो द्युलोक को ही सुतेज कहा गया है तथा आदित्य को विश्वरूप कहा गया यह इस प्रकरण में इन दोनों के विषय में विशेषता दिखाई देती है तो भी उक्त प्रतिपादन में कोई हानि नहीं होती क्योंकि प्रादेशमात्र को

कहने वाली श्रुति दोनों में समान है और सभी शाखाओं को मान्य है। अतः समस्त दृश्यमान ऐश्वर्य परमेश्वर का प्रादेश मात्र (बालिश्त भर) है यह युक्ति सिद्ध हो जाता है। जाबाल महर्षि मस्तक से चिबुक के अन्तराल प्रदेश में परमेश्वर को स्वीकार करते हैं-

—'जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है वह अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। वह अविमुक्त वरणा तथा नासी के मध्य में प्रतिष्ठित है। कौन वरुणा है तथा कौन नासी है, जो समस्त इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित पापकृत्यों का निवारण कर दे वही वरणा है। इसका स्थान कौन सा है। भौंह और नासिका की सन्धि ही इसका स्थान है। यह वही स्थान है है जो द्युलोक तथा पर लोक की सन्धि है।"—

इस प्रकार परमेश्वर में प्रादेशमात्र श्रुति का उपपादन हो गया। जो अभिविमान-श्रुति है उसका अभिप्राय प्रत्यगात्मा में है। सभी प्राणियों के द्वारा प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) के रूप में जो पूर्णतया अनुमित होता है यह अभिविमान का अभिप्राय है। दूसरा इस अभिविमान का व्युत्पत्ति लभ्य यह भी अर्थ किया जा सकता है कि प्रत्यगात्मा होने से जो अभिगत है और मान या परिमाण के पृथक् हो जाने से जो विभान है वह अभिविमान हुआ। अतः यहां परमेश्वर ही वैश्वानर है यह सिद्ध हुआ।



अथ सप्तानां यौगिकविचालिशब्दानानामैदम्पर्याधिकरणे सप्त विमर्शाः

--आयतनविमर्शः--

आयतनमीश्वरः परमात्मा–न शारीरो, न सूत्रात्मा,

न वायुर्न प्रधानमित्याह–

अक्षरम्

—"द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्"—[१।३।१]

—"मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्"-[१।३।२]

—"नानुमानमतच्छब्दात्"-[१।३।३]

—"प्राणभृच्च"–[१।३।४]

-"भेदव्यपदेशात्"–[१।३।५]

– "प्रकरणात्"-[१।३।६]

—"स्थित्यदनाभ्यां च"-[१।३।७]

-"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः"–

इति मुण्डकोपनिषदि वाक्यम् । तत्र यद् द्युप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किञ्चिद-वगम्यते तत् प्रधानं वा सूत्रात्मा वा वायुर्वा शारीरो वा परं ब्रह्म वाऽर्थान्तरं वेत्यनिर्णये सत्युच्यते द्युभ्वन्तरिक्षमनःप्राणानामेकस्मिन्नोतानामायतनं परं ब्रह्मैव स्यात् ।

आत्मशब्देन निर्द्दिष्टत्वात् ।

-"तमेवैकं जानथ आत्मान-"

मित्यात्मशब्दस्तत्रोपादीयते स परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते नार्थान्तरपरिग्रहे । किञ्च–

—"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्"— इति
—"ब्रह्मै वेदममृतं पुरस्तात् पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण"-
इति च स्वशब्देनैवेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते । किञ्च-
"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः-"

इति स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते । तस्मादिह स्वशब्दाद् द्युम्वाद्यायतनं परं ब्रह्मेति स्थितम् । श्रूयते चान्यत्राप्येवं वाग्विमोकपूर्वकमात्मविज्ञानम्--

--"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विप्लावनं हि तत्"— इति ।

सात यौगिक विचालिशब्दों का निश्चित अर्थ निर्धारण करने के लिए सात विमर्श । प्रथम विमर्श-आयतन विमर्श ।

आयतन शरीर या सूत्रात्मा नहीं, वायु या प्रधान भी नहीं ईश्वर परमात्मा ही है ।

-अक्षर-

द्युलोक भूमि आदि का वह आयतन है स्वशब्द द्वारा कथन के कारण-[१।३।१]
मुक्त पुरुषों के द्वारा ध्यातव्य होने के कथन से वही आयतन है-[१।३।२]
किसी शब्द के द्वारा कथित न होने से अनुमित आयतन नहीं है-[१।३।३]
और प्राणधारी भी (आयतन नहीं है) । [१।२।४]
भेद कथन के कारण भी-[१।३।५]
प्रकरण के कारण-[१।३।६]
स्थिति और भक्षण के कारण भी-[१।३।७]

—"जिसमें द्यौ पृथिवी अन्तरिक्ष तथा समस्त प्राणों के साथ मन ओत प्रोत है, उसी एक मात्र आत्मा को जानो, अन्य बातों को छोड़ दो यही अमृत का सेतु है"—

यह वाक्य मुण्डकोपनिषद में सुना गया है । यहां यह जो द्यु लोक आदि के ओत प्रोत कथन से उनका आयतन जैसा कुछ सुनने में आया वह प्रधान है, या सूत्रात्मा है, या वायु है, या शारीर (जीवात्मा) है, या परब्रह्म है, या इन सब से अतिरिक्त अन्य ही कुछ है, ऐसे अनिश्चय की स्थिति आ जाने पर कहा जा रहा है कि द्युलोक भूलोक अन्तरिक्ष मन प्राण जो कि एक ही में ओत प्रोत है, उनका आयतन [स्थिति स्थान] परब्रह्म ही हो सकता है ।

क्यों कि उसका कथन आत्म शब्द के द्वारा हुआ है ।

—"उसी एक आत्मा को जानो"—

इत्यादि वाक्यों में आत्मा शब्द का ही प्रयोग हुआ है, और वह परमात्मा का ग्रहण करने पर ही ठीक बैठता है, अन्य किसी अर्थ का ग्रहण करने पर वहां पूर्ण सामञ्जस्य नहीं बैठता । क्योंकि-

—"यह विश्व कर्म, तप पर अमृत ब्रह्म पुरुष ही है"

यह वाक्य, तथा

—"आगे और पीछे दक्षिण और उत्तर (दाहिने और बायें) अमृत ब्रह्म ही ब्रह्म है"—

इन सभी पीछे और आगे के वाक्यों में ब्रह्म का ही कथन कीर्त्तन चल रहा है । पुनश्च—

"हे सौम्य, इस सारी प्रजा का मूल सत् है, इसका आयतन सत् है, इसकी प्रतिष्ठा सत् है"—

इस वाक्य में साक्षात् शब्द के द्वारा ब्रह्म का आयतन होना सुना जा रहा है । अतः यहां साक्षात् शब्द से ही द्युलोक भूलोक आदि का आयतन परब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय होता है । दूसरे स्थलों पर भी इस प्रकार अन्य वाग् व्यवहार का छोड़ देने तथा आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करने की बात सुनी जाती है,—

"धीर ब्राह्मण के लिए यह उचित है कि वह उस परब्रह्म को जान कर अपनी प्रज्ञा को दृढ़ करे । वह बहुत से शब्दों का ध्यान न करें क्योंकि वह वाणी के विप्लव करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।" इत्यादि ।

ननु अमृतस्यैष सेतुरिति पारवदर्थक सेतुशब्द इहोपादीयते अनन्तमपारं च ब्रह्म शास्त्रसिद्धमिति विरोधः प्राप्नोतीति चेन्न । सेतुश्रुत्या विधरणत्वमात्रस्यात्र विवक्षितत्वात् । किञ्च-तमेवैकमात्मानं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ--इत्येवमात्मपक्षपातेनेतरवागविमोचनस्यैवामृतत्वसाधनत्वादिह सेतुत्वमाख्यायते न तु द्युभ्वाद्यायतनपदार्थस्य । तस्माददोषः । किञ्चेदं द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्मैव स्यात् ।

—"मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्"—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" ।।

इत्युक्त्वाऽह—

तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति ।

तच्चेदं मुक्तपुरुषैरुपसृप्यत्वं ब्रह्मण एव प्रसिद्धं शास्त्रे--

--"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते"—इत्यादौ ।

तस्माद् ब्रह्मण्येवोताः सर्वाः प्रजाः ब्रह्मैव च तासामेकमायतनमिति सिद्धम् ।

प्रश्न होता है कि—

'अमृत का यह सेतु है"

ऐसे श्रुति के कथन में जो सेतु शब्द का यहां प्रयोग हुआ तो 'उस पार' का अर्थ भी सेतु शब्द के अर्थ के अभिप्राय में आ गया। [ब्रह्म जब अमृत का सेतु है तो उस पार का अर्थ यहां स्पष्ट है, क्योंकि सेतु पार जाने के ही उपयोग में लाया जाता है] परन्तु ब्रह्म को तो शास्त्रों ने अनन्त अपार कहा है तो (सेतु शब्द के प्रयोग के कारण) यह विरोध की स्थिति आती है तो उत्तर नकारात्मक है। क्यों श्रुति में सुना गया सेतु शब्द धारण करने मात्र के अर्थ में प्रयुक्त है (न कि पार जाने के साधन के अर्थ में)। पुनश्च—

—"उसी एक आत्मा को जानो अन्य बातों को छोड़ो"—

यह कथन आत्मा के प्रति पक्षपात के द्वारा अन्य वाणी को छोड़ना ही अमरता का साधन है अतः उसे सेतु बतलाया गया है न कि द्युलोक भूलोक आदि के आयतन को सेतु कहा गया है। अतः उक्त दोष नहीं आता। द्युलोक भूलोक आदि का आधार या आयतन ब्रह्म ही है।

—मुक्त पुरुषों की उपसर्पणीयता के कथन से (ब्रह्म ही आयतन है)। [१/३/२]

—'हृदय की गांठ खुल जाती है, सारे सन्देह कट जाते हैं और इस (द्रष्टा पुरुष के) समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं [शुभाशुभ फल देने के अयोग्य हो जाते हैं] जब उस परावर का दर्शन हो जाता है।"

यह कह कर फिर श्रुति ने कहा--

"वैसा ज्ञाता नाम और रूप से अलग होकर दिव्य परात्पर पुरुष को प्राप्त कर लेता है"—

मुक्त पुरुषों के द्वारा यह उपसर्पण ब्रह्म के प्रति ही शास्त्रों में प्रसिद्ध है—

—"जब इसके (द्रष्टा के) हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ छूट जाती हैं तब वह मृत्यु लोक में जन्मा हुआ प्राणी अमर हो जाता है और वह इसी (देह) स्थान पर ब्रह्म का स्वाद लेता है"—

इन उक्तियों के प्रकाश में यह सिद्ध है कि समस्त प्रजा ब्रह्म में ही ओत प्रोत है और ब्रह्म ही समस्त प्रजा का एक मात्र निवास गृह [आधार] है।

"किसी शब्द के द्वारा कथित न होने से अनुमित आयतन नहीं है"—

नानुमानमतच्छब्दात् ।

यदीदमानुमानिकं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितमभविष्यत्, अवश्यं तर्हि तस्याचेतनस्य प्रधानस्य शब्देनैतदायतनं निरदेक्ष्यत् । न च तद् दृश्यते । तस्मादतच्छब्दान्न सांख्यकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनम् । अत एव न वायुः सूत्रात्मा ।

–"प्राणभृच्च"–

यद्यप्यस्य प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च संभवति तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नस्य तस्य सर्वज्ञत्वाद्यसंभवाद् द्युभ्वाद्यायतनत्वासंभवाच्च न तत्त्वं शक्यमिहाश्रयितुम् ।

—"भेदव्यपदेशाच्च"—

--"तमेवैकं जानथ आत्मान"--

मित्येवं ब्रुवता ज्ञातृज्ञेययोरिह भेदो व्यपदिश्यते । तस्मादिह ज्ञातृविवक्षितोऽयं शारीरो विज्ञानात्मा न ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनं शक्यमभ्युपगन्तुम् ।

—"प्रकरणाच्च"—

परमात्मनो हीदं प्रकरणम् ।

--"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"–

इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात् । परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान्न केवले प्राणभृति । तस्मान्नायं प्राणभृदिह द्युभ्वाद्यायतनम् ।

—"स्थित्यदनाभ्यां च"—

इह हि—

–"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"—

इत्येवमेकस्यौदासीन्येनावस्थानमन्यस्य फलादनं चाम्नायते । ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते तत्र चैतत्प्रकरणप्रतिपाद्यादीश्वराद् भेदेनास्य प्राणभृतः क्षेत्रज्ञस्य विज्ञानात्मनः शारीरस्याख्यानान्न तत्रैतदात्मकरणविधेयं द्युभ्वाद्यायतनत्वमुपपद्यते वक्तुम् । तस्मान्न प्राणभृदयं द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षित इति सिद्धम् ।

यदि यह अनुमानसिद्ध प्रधान नामका तत्त्व द्युलोक तथा भू आदि लोकों का आयतन या आधार होता, तो अवश्य ही वैदिक सन्दर्भ में किसी शब्द के प्रयोग के द्वारा प्रधान को आयतन के रूप में कहा गया होता। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आया। अतः शाब्दिक निर्देश के अभाव में सांख्यदर्शन के द्वारा कल्पित प्रधान नामक का तत्त्व द्युलोक आदि का आयतन नहीं माना जा सकता। इसी तर्क से सूत्रात्मा वायु भी आयतन नहीं हो सकता।

प्राणों का भरण करने वाला भी (आयतन नहीं) (१।३।४)

यद्यपि प्राणों का भरण करने वाले विज्ञानात्मा का आत्मत्व और उसका चेतनत्व संभव है परन्तु वह उपाधि के कारण सीमा बद्ध होने से सर्वज्ञत्व आदि से युक्त नहीं हो सकता और इसीलिए उसे द्युलोक आदि का आधार (आयतन) नहीं माना जा सकता।

भेद कथन के कारण भी (आयतन नहीं हो सकता) (१।३।५)

—"उसी एक आत्मा को जानो"—

ऐसा कहते हुए यहां ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बतलाया गया है। इसलिए ज्ञाता के रूप में विवक्षित यह शरीरस्थ विज्ञानात्मा ज्ञेय स्वरूप द्युलोक भूलोक आदि का आयतन नहीं माना जा सकता।

प्रकरण के कारण भी (प्राणभृत आयतन नहीं) (१।३।६)

यह प्रकरण परमात्मा के निरूपण का है—

"हे भगवन्, किस के जान लेने पर यह सब कुछ जाना जा सकता है"।

यह एक के जानने से सब कुछ के जानने की अपेक्षा की गई है। परमात्मा जो सर्वात्मक है उसके जानने पर ही यह समस्त प्रपञ्च स्वतः ज्ञान में आ जाता है न कि केवल प्राण धारक जीवात्मा के जानने से सब का ज्ञान होता है। अतः यह प्राण धारक (जीवात्मा) द्युलोकादि का आयतन नहीं है।

"स्थिति और भक्षण के कारण भी (जीवात्मा आयतन नहीं है) (१।३।७)

प्रस्तुत प्रसंग में—

"समवयस्क मित्रभावापन्न दो पक्षी समान (एक ही) वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें से एक वृक्ष के स्वाद भरे फलों को खा रहा है, तथा दूसरा बिना खाता हुआ चारों ओर अपना प्रकाश फैला रहा है"।

इस प्रकार एक सुपर्ण का उदासीन भाव से अवस्थान तथा दूसरे का भक्षण करना कथित हुआ है। इन दोनों में केवल अवस्थान और भक्षण की स्थितियों के द्वारा

ईश्वर और क्षेत्रज्ञ का यहां ग्रहण किया जाता है। यहां इस प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य ईश्वर से भेद करते हुए इस प्राणधारी क्षेत्रज्ञ, विज्ञानात्मा शारीर नाम वाले का कथन होने से इसको द्युलोक, भूलोक आदि का आयतन बतलाना उपयुक्त नहीं होता। अतः यह प्राण धारी लोकों का आयतन नहीं है यह सिद्ध हुआ।

यदा तु पैंग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते तदाऽपि न विरोधः। अदनवाक्येन सत्त्वमनूद्य स्थितिवाक्येन बुद्ध्यादिविलक्षणविशुद्धप्रत्यग्ब्रह्मणो ज्ञेयत्वोक्तेस्तस्यैव चेह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन ग्राह्यत्वात्। बुध्याद्युपहितजीवस्यैव चेह प्रतिषेध्यत्वेन विवक्षितत्वादिति दिक्।

जहां पैंग्य उपनिषद में किये हुए व्याख्यान में इस ऋचा में सत्त्व और क्षेत्रज्ञ का कथन है ऐसा माना गया है वहां भी कोई विरोध नहीं आता। क्योंकि भक्षण के कथन से सत्त्व का कथन लेकर स्थित रहने के प्रतिपादक वाक्य से बुद्धि आदि से विलक्षण विशुद्ध प्रत्यक् ब्रह्म को ज्ञेय बतलाते हुए उसे ही यहां लोकों के आयतन के रूप में समझाया गया है। तथा बुद्धि आदि से परिच्छिन्न जीव का ही आयतन के रूप में निषेध किया जाना अभीष्ट समझा गया है।

भूमानुविमर्शो द्वितीयः

भूमायऽयमीश्वरो न प्राणः। अनन्यत्वस्य, सुखत्वस्य, अमृतत्वस्य, आत्मत्वस्य, वैपुल्यस्य प्राणगामित्वेऽप्यध्युपदेशात्। इत्याह—

—"भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' – १।३।८]

—"धर्मोपपत्तेश्च"—[१।३।९]

"भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः : यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्" –

इति छान्दोग्यश्रुतिः श्रूयते। तत्रायं भूमा प्राणो भवितुमर्हति नामवाक्चित्तध्यानादीनामुपपाद्यमानस्योत्तरोत्तरभूयस्त्वस्यास्मिन् प्राण एवोपसंहारात्।

—"अतिवाद्यसि इति, अतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत। एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदतीति-।

ग्रन्थेन प्राणस्य भूयस्त्वं वदतः सत्यवादित्वसमर्थनाच्च"—

भूमा विमर्श

यह भूमा ईश्वर है प्राण नहीं। (सन्देह इसलिए है क्योंकि) अनन्यत्व सुखत्व, अमृतत्व, विपुलता प्राण से भी जा सकते हैं, अतः उपदेश दिया जाता है, अतः कह रहे हैं कि—

—"संप्रसाद के अनन्तर उपदेश के कारण वह भूमा है" —[१/३/८)

—"धर्मों की युक्तता के कारण भी (वह भूमा है) (१/३/६)

—"भूमा ही ज्ञान के लिए अभीष्ट है, (उसे ही जानने की इच्छा करना उचित है) जहां और कुछ नहीं देखता (द्रष्टा) अन्य कुछ नहीं सुनता और कुछ नहीं जानता वही भूमा है। (इसके विपरीत) जहां अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है, वह अल्प है"—

यह छान्दोग्य श्रुति में सुना जाता है। वहां यह भूमा प्राण हो सकता है क्योंकि नाम वाक् चित्त ध्यान आदि में उत्तरोत्तर सिद्ध किये जा रहे आधिक्य का प्राण में ही उपसंहार होता है। तथा

'—अतिवादी हो (ऐसा कहने पर) अतिवादी हूं, यह उत्तर दिया जाय, छुपाना उचित नहीं, अतिवादी (दोषी) तो वह है जो सत्य से अतिवाद करता है"—

इस कथन से प्राण के आधिक्य को बतलाते हुए सत्यवादित्व के समर्थन से भी प्राण का पक्ष प्रबल है।

अपि च भूम्नो लक्षणान्येतानि व्याख्यायन्ते—

—"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति स भूमा"—

इत्येकम्।

—"यो वै भूमा तत्सुख"—

मिति द्वितीयम्।

—यो वै भूमा तदमृत"—

मिति तृतीयम्।

—"तरति शोकमात्मवित्। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु—'

इत्येवं प्रपन्नं प्रत्युपदेशादर्थसिद्धमात्मत्वं चतुर्थम्।

भूमशब्दभिरुक्तत्ता वैपुल्यं पंचमं चेति।

तान्येतानि सर्वाणि प्राणे संभवन्ति। तथाहि—प्राणप्रधानायां सुषुप्त्यवस्थायां तावत्—

— 'न शृणोति न पश्यति" इत्यारभ्य "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति—"

इत्यनेन ग्रन्थेन प्राणग्रस्तेषु दर्शनादिसर्वकरणव्यापारनिवृत्तिप्रतिपादनात् इत्येकम्।

भूमा के ये लक्षण बतलाए जाते हैं—

—"जहां अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता वह भूमा है"—

यह एक लक्षण है ।

—"जो भूमा है वह सुख है"—

यह द्वितीय लक्षण है ।

—"जो भूमा है वह अमृत है"—

यह तृतीय लक्षण है ।

"—आत्मवेत्ता शोक को तैर जाता है, मुझे भगवान् (आप) शोक के उस पार पहुंचाइये"—

इस प्रकार कहते हुए शरणागत के प्रति उपदेश से अर्थतः सिद्ध होने वाला आत्मत्व भूमा का चतुर्थ लक्षण है । भूमा शब्दों के प्रयोग से विपुलता पांचवां लक्षण है । ये सभी लक्षण प्राण तत्त्व में सम्भव होते हैं । देखिये प्राण में इन लक्षणों का समन्वय । सुषुप्ति अवस्था में प्राण ही प्रधान है उसमें।

—"न सुनता है, न देखता है"—

से प्रारम्भ करके—

—"प्राणाग्नियां ही इस पुर में जागतीं हैं"—

इस ग्रन्थोक्ति से प्राण से अक्रान्त होने पर देखने आदि इन्द्रियोंके समस्त कार्यों के विराम का कथन होने से समस्त इन्द्रिय व्यापार के अस्त कर देने वाले उस प्राण को ही प्रथम लक्षण लक्षित कर रहा है । ('जहां कुछ नहीं' देखता 'कुछ नहीं सुनता' यह प्रथम लक्षण भूमा का ऊपर बतलाया गया है, वह प्राण में घटित हो रहा है) ।

—"अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति अथ यदेतस्मिञ्छरीरे सुखं भवति—"

इति श्रुत्या सुषुप्त्यवस्थायां प्राणप्रधानायां सुखमुपपद्यत इति द्वितीयम् ।

—"प्राणो वा अमृतम्"—

-इति श्रुत्यामृतत्वमप्यस्य सिद्धमिति तृतीयम् ।

—"प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः"—

इत्येवमत्र प्रतिपादनादत्र प्रकरणे प्राणस्यैव सर्वात्मत्वेन विवक्षणादात्मत्वमप्यत्र-सिद्धमिति चतुर्थम् ।

-"यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्"-

इति श्रुत्या पूर्वदर्शितसर्वात्मत्वश्रुत्या चास्य वैपुल्यात्मकं भूमत्वमप्यर्थसिद्धिमिति पंचमम् ।

—"स्वप्न के कारण यहां यह देवता नहीं देखता, इससे इस शरीर में सुख होता है"—

इस श्रुति से प्राण प्रधान सुषुप्ति अवस्था में सुख होता है यह ज्ञान होता है, यह द्वितीय भूमा का लक्षण घटित हो रहा है।

—"प्राण ही अमृत है"

इस श्रुति से इसमें अमृतत्व भी सिद्ध हो रहा है, इस प्रकार तृतीय लक्षण घटित हुआ।

—"प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है, प्राण ही भ्राता है, प्राण ही भगिनी है, प्राण ही आचार्य है, प्राण ही ब्राह्मण है"—

इस प्रकार यहां प्रतिपादन होने से इस प्रकरण में प्राण के ही सर्वात्मक रूप से विवक्षित होने से उसका आत्मत्व भी यहां सिद्ध हो रहा है, यह चतुर्थ भूमा लक्षण की संगति बन रही है।

—"जैसे अरा नाभि में समर्पित होती है, उसी प्रकार इस प्राण में सभी कुछ समर्पित है"—

इस श्रुति के द्वारा इस प्राण का विपुल अर्थ प्रकट करने वाला भूमा भाव भी अर्थात् सिद्ध होता है। यह पांचवें भूमा लक्षण की प्राण में संगति है।

तस्मात् प्राण एवात्र भूमेत्येवं दुष्प्रतिपन्नं प्रत्युच्यते भूमा परमात्मा न प्राणः। "सम्प्रसादादध्युपदेशात्" संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते। बृहदारण्यके स्वप्नजागरित-स्थानाभ्यां सहपाठात्। तस्यां च संप्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादोऽभि-प्रेयते तथा च प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदेशान्न प्राणो भूमा भवितुमर्हति। नामवाक्चित्त-ध्यानादिप्रश्नप्रतिवचनपरम्परायामुत्तरोत्तरमर्थान्तरप्रतिपादनादत्रापि प्राणादूर्ध्वमुपदिष्ट-स्यास्य भूम्नः प्राणादर्थान्तरत्वसिद्धेः। ननु—

—"अस्ति भगवः प्राणाद् भूय इति प्राणाद् भूमा वाव भूयोऽस्ती"—

त्येवमिह प्रश्नप्रतिवचने प्राग्वन्नोपलभ्येते तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेशो भूम्न इति चेन्न प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं प्रति सनत्कुमारः स्वयमेव विज्ञानादि-साधनपरम्परया भूमानमुपदिशतीति प्रश्नप्रतिवचनाभावेऽप्युपसंहृत्य प्राणादूर्ध्वं भूमोपदेश-स्योपपाद्यत्वात्। तत्र यत् प्राणादधिसत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातं तदेव सत्यमिह भूमेत्युच्यते इति प्रकरणावसानादवगम्यते। तस्मात् प्राणादन्यः स भूमा परमात्मैवोपपद्यते इति सिद्धम्। तथा च शोकविनिवृत्त्यर्थमात्मविविदिषयोत्थापितस्य प्रकरणस्य—

"—तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः"—

इत्युपसंहारः स्थाने कृतो भवति। प्राणस्यैवेहात्मत्वे विवक्षिते तु तावतैव तमसः पारदर्शनस्यासंभवदुक्तिकत्वापत्तेः।

—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—

इति श्रुत्यन्तरात् परमात्मज्ञानमन्तरेण शोकविनिवृत्तेरशास्त्रार्थत्वात्। न च भूम्नोऽप्यूर्ध्वं प्रकरणान्ते कश्चिदन्योऽर्थः परमात्मत्वेनोपदिश्यते।

—"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नी—"

त्यादिना भूम्न एवाप्रकरणसमाप्तेरनुकर्षात्। तस्माद् भूमा परमात्मा। सर्वकारणतया वैपुल्यात्मकभूमत्वस्य तत्रोपपत्तेः, धर्मोपपत्तेश्च।

इस प्रकार प्राण ही भूमा है ऐसा अप सिद्धान्त स्वीकार करने वाले के प्रति कहा जाता है कि यहां भूमा शब्द से परमात्मा ही विवक्षित है न कि प्राण, क्योंकि उसका उपदेश संप्रसाद के बाद हुआ है। संप्रसाद का अर्थ यहां है सुषुप्ति का आधार। क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद में स्वप्न और जागरित के साथ संप्रसाद को भी पढ़ा गया है। और उस संप्रसाद अवस्था में प्राण जागता है, अतः प्राण को यहां संप्रसाद शब्द से अभिप्रेत किया गया है। अथ च प्राण के आगे भूमा का उपदेश होने के कारण प्राण भूमा नहीं हो सकता। नाम, वाक्, चित्त ध्यान आदि के विषय में प्रश्नोत्तर के प्रसंग में एक के अनन्तर आगे के प्रति प्रतिपादन होने से यहां भी प्राण के आगे प्रतिपादित जो भूमा है, वह प्राण से अतिरिक्त तत्त्व के रूप में सिद्ध हो रहा है। प्रश्न होता है कि—

—"भगवन् प्राण से आगे भी कुछ है, वह भूमा प्राण के आगे है"—

इस प्रकार प्रश्नोत्तर यहां पूर्ववत् नहीं दिखाई देते, इसलिए प्राण के आगे भूमा का उपदेश नहीं है, यह सन्देह निस्सार नहीं है। क्योंकि (प्रस्तुत प्रसंग में) प्राणपर्यन्त उपदेश (या अनुशासन) सुन कर नारद जब चुप हो गए तब स्वयं ही सनत्कुमार ने नारद के प्रति विज्ञान आदि के साधन की परम्परा को दिखाते हुए भूमा तत्त्व का उपदेश दिया। अतः प्रश्नोत्तर के अभाव में भी उपसंहार करके प्राण के उपरान्त भूमा का उपदेश प्रतिपादनीय हुआ। यहां जो प्राण के उपरान्त सत्य तत्त्व को कहने की प्रतिज्ञा की गई थी वही सत्य यहां भूमा बतलाया गया, यह बात इस प्रकरण के उपसंहार से ज्ञात हो रही है। इससे प्राण तत्त्व से अतिरिक्त वह भूमा परमात्मा युक्ति सिद्ध है यह स्पष्ट है। अथ च शोक के दूरीकरणार्थ आत्मा को जानने की इच्छा के द्वारा प्रारम्भ किये गये प्रकरण का—

"उस कषायों को समाप्त कर देने वाले के लिए भगवान् सनत्कुमार अन्धकार के परे उस पार स्थित तत्त्व का उपदेश दे रहे हैं"—

यह उपसंहार ठीक स्थान पर हुआ है। यदि यहां प्राण ही आत्मा रूप से अभीष्ट होता तब तो उतने मात्र से तम से पार का दर्शन असंभव होने की बात आपत्ति जनक हो गई होती—

"उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है, निकलने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

इस अन्य श्रुतिवचन से परमात्मा के ज्ञान के बिना शोक का सन्तरण शास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट नहीं है। भूमा के भी आगे प्रकरण के अन्त में कोई अन्य तत्त्व परमात्मा के रूप में उपदिष्ट नहीं है।

"हे भगवन्, वह (भूमा) किसमें प्रतिष्ठित है? अपनी महिमा में"—

इत्यादि के द्वारा प्रकरण की समाप्ति तक भूमा तत्त्व का ही विस्तार है। अतः भूमा परमात्मा है। सबका कारण होने से विपुल रूप जो भूमाभाव है उसकी तथा धर्मों की भी वहीं युक्तिसिद्ध स्थिति बनती है।

यत्तावत्—

—"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमेति"—

दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति यच्च भूमा सुखरूपत्वममृतरूपत्वं सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वं चोपपादयति तेषामेषां धर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तिः संभवति न त्वन्यत्र प्राणादौ। प्राणादिष्वप्यात्मन एवाङ्गत्वविवक्षया तदभिप्रायेणैव प्रतिपादितानां तत्तद्धर्माणामात्मपरतयैव नेयत्वात्। अन्यथा परमात्मप्रकरणे प्राणस्वभावविवक्षया तत्प्रतिपादनस्यानौचित्यापत्तेः। तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम्।

"जहां अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता अन्य कुछ नहीं जानता वह भूमा है,'—

इस के अनुसार देखने आदि व्यवहारों का अभाव भूमा में बतलाया गया है, तथा भूमा में सुखरूपता, अमृतरूपता, सत्त्वत्व, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होना, सर्वगत होना, सर्वात्मा होना बतलाया गया है, इन सब धर्मों का समन्वय परमात्मा में ही होना संभव है न कि अन्य प्राण आदि में। प्राण आदि भी आत्मा के अङ्ग के रूप में ही विवक्षित हैं अतः उसके अभिप्राय से ही प्रतिपादित उन उन धर्मों को आत्मा में ही समझना उचित होता है। ऐसा न होने पर परमात्मा के प्रकरण में प्राण के स्वभाव की विवक्षा होने से उसके प्रतिपादन का अनौचित्य आपत्ति-जनक होगा। अतः भूमा परमात्मा ही है यह सिद्ध हुआ।

अक्षरविमर्शस्तृतीय:

अक्षरमीश्वरो न शाब्दो वर्णः। त्रैकालिकाशेषविकाराश्रयाकाशविधारित्वादि-त्याह—

—"अक्षरमम्बरान्तधृतेः"–[१।३।१०]

—"सा च प्रशासनात्"—[१।३।११]

—"अन्यभावव्यावृत्तेश्च"–[१।३।१२]

—"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। सहोवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति—अस्थूलमनणु—"

इत्यादि श्रूयते। तत्राक्षरशब्देन वर्ण उच्यते परमेश्वरो वेति संशयः। अक्षरशब्द-स्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्, अथैतद्ग्रन्थस्य परमेश्वरप्रकरणत्वाच्च। तत्रेदमुच्यते—अक्षरमिह ब्रह्म स्यान्न तु वर्णः। अम्बरान्तधृतेः। पृथिव्यादेः समस्तस्य विकारजातस्य कालत्रय-विभक्तस्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा तस्याकाशस्यास्मिन्नक्षरे प्रतिष्ठितत्वमिहोच्यते। तच्चेदं पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणमिहोपदिश्यमानं वर्णे नोपपद्यते। तस्मात् सेयमम्बरान्तधृतिः परमात्मन एव धर्मो भवितुमर्हति। प्रशासनाच्च। आम्नायते हि परमात्मनः प्रशासनं तत्रैव—

—"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत"—इति।

तच्चेदं प्रशासनं पारमेश्वरं कर्म स्यान्नाचेतनस्य वर्णस्य।

अक्षर विमर्श

अक्षर शब्द ईश्वर वाचक है न कि शब्दों में आने वाले वर्णों का यहां वाचक बनता है। तीन कालों में जो समस्त विकार हैं उनका आधार आकाश है तथा उस आकाश का भी धारक अक्षर है। यही (सूत्रों द्वारा) कहा जा रहा है कि—

"—आकाश पर्यन्त का धारक होने से अक्षर परमात्मा है"— (१/३/१०)

—"वह धारण प्रशासन से होता है" (१/३/११)

—"अन्य के भाव की व्यावृत्ति से भी यह सिद्ध है।" (१/३/१२)

—"आकाश किसमें ओतप्रोत है। उसने कहा–हे गार्गि, ! ब्राह्मण गण उसे निश्चय ही अक्षर कहते हैं—(जिसमें आकाश ओतप्रोत है) जो न स्थूल है न अणु है"—

इत्यादि सुना गया है। यहां अक्षर शब्द से वर्ण (अ ई उ क ख) कहे गये हैं अथवा परमेश्वर बतलाया गया है यह सन्देह होता है, क्योंकि अक्षर शब्द वर्ण के

लिए प्रसिद्ध है तथा यह सन्दर्भ परमेश्वर के प्रतिपादन का चल रहा है। वहां यह निर्णीत हो रहा है कि यहां अक्षर शब्द ब्रह्म को ही बोधित कर रहा है न कि वर्ण को, क्योंकि अक्षर के लिए आकाश पर्यन्त को धारण करना कहा गया है। भूत भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों में विभक्त पृथिवी आदि समस्त विकार समूह को आकाश में प्रतिष्ठित बतला कर उस आकाश को यहां अक्षर में प्रतिष्ठित कहा गया है। यह पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त तत्त्वों का धारण वर्ण के द्वारा नहीं सम्भव है। अतः यह आकाश पर्यन्त का धारण परमात्मा का ही धर्म हो सकता है। प्रशासन के कारण भी यह सिद्ध है। वहीं परमात्मा का प्रशासकत्व भी कहा गया है—

—"हे गार्गि, इसी अक्षर के प्रशासन में धारित होकर सूर्य और चन्द्रमा व्यवस्थित हैं"—

यह प्रशासन परमेश्वर का कर्म है न कि अचेतन वर्ण या वर्ण समुदाय का।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च। ब्रह्मणोऽन्यस्य भावस्य वर्णस्य वा प्रधानस्य वा शारीरस्य वा व्यावृत्तिरिहोपदिश्यते। तथाहि—

—"तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ—"

इति हि तस्मादक्षरादन्यस्य द्रष्टृत्वादिकं प्रतिषेधति। तच्चेदं द्रष्टृत्वादिकं ब्रह्मण्येवाध्यवसितमन्यत्र शास्त्रे। यदि वर्णः प्रधानं शारीरो वाऽक्षरत्वेनेह विवक्षित इष्येत तर्हि तस्मादेवाक्षरादन्यस्य ब्रह्मणोपि द्रष्टृत्वादिप्रतिषेधः प्रसज्येत तथा च शास्त्रतात्पर्यविरोधः स्यात्। तस्मादतो ब्रह्मण एवाक्षरत्वेन विवक्षितादन्यस्य भावस्य शारीरादेः सर्वस्यापि द्रष्टृत्वादिभिर्व्यावृत्तेः प्रदर्शितत्वात् स परमात्मैवाक्षरमिति सिद्धम्।

अन्य भाव के निषिद्ध होने के कारण भी ऐसा ही है। ब्रह्म से भाव चाहे वह वर्ण हो या प्रधान (प्रकृति) अथवा जीवात्मा इनका निषेध यहां उपदिष्ट हो रहा है। कहा गया है—

—"हे गार्गि, निश्चय ही वह अक्षर बिना दिखाई देने वाला द्रष्टा, बिना सुनाई देने वाला श्रोता, मनन चिन्तन में न आने वाला कर्ता, ज्ञान में न आने वाला जानकार है। उससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है, उससे अतिरिक्त कोई ज्ञाता नहीं है"—

इस उक्ति द्वारा उस अक्षर से अन्य किसी भी तत्त्व के द्रष्टा आदि होने का निषेध किया गया है। ये द्रष्टा आदि धर्म शास्त्र के अन्य सन्दर्भों में केवल ब्रह्म में ही अध्यवसित हुए हैं। यदि अक्षर से अकार आदि वर्ण, प्रधान (प्रकृति) या जीवात्मा कथन के लिए अभीष्ट होगा तब तो उस अक्षर के अतिरिक्त ब्रह्म के भी द्रष्टा होने का

निषेध श्रुति के द्वारा उपदिष्ट हो जायगा, और तब शास्त्र के तात्पर्य का विरोध उपस्थित हो जायगा। अतः उस ब्रह्म को ही यहां अक्षर शब्द से विवक्षा है। द्रष्टा आदि धर्मों का ब्रह्म के अतिरिक्त जीव आदि सभी में निषेध प्रदर्शित है अतः वह परमात्मा ही हो यहां अक्षर शब्द से गृहीत है यह सिद्ध हुआ।

ओंकाराभिध्येयविमर्शश्चतुर्थः

ओंकारेणाभिध्येय ईश्वरः परमात्मा नावरं ब्रह्मेत्याह—

—"ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः"—[१।३।११]

—"एतद्वै सत्यकाम परं, चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्मादविद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति—"

—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"—

इति हि श्रूयते। तत्रैतेन परापरयोरेकतरमन्वेतीति श्रवणात्परब्रह्मणश्चापरब्रह्मणश्चाभिध्यातव्यत्वं प्राप्नोति।

किञ्च—

'स तेजसि सूर्ये तावत्सम्पन्नः। स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोक'—

मिति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वादवरब्रह्मणोऽभिध्यातव्यत्वं लभ्यते परब्रह्मणः सर्वगतत्वात्तदभिध्यानफलस्य देशपरिच्छिन्नत्वानौचित्यात्। अथापरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमभिध्यायीतेति विशेषणं नोपपद्यते। तस्मात् संशयः। तत्रेदमुच्यते। ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् स परमात्मैवायमभिध्यातव्य उपदिश्यते न त्वपरः।

—"स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरुषं पुरिशयमीक्षते"—

इति हि वाक्यशेषेऽभिध्यातव्यस्य पुरुषस्येक्षतिकर्मत्वेन व्यपदेशो दृश्यते। तत्र जीवलक्षणा मूर्तिर्जीवघनः। स च सैन्धवखिल्यवदमुष्य परमात्मनः खिल्यभाव उपाधिकृतो जीवरूपः। स हि विषयेन्द्रियेभ्यः परत्वात्पर इति भवति। तस्माच्च परात्परोऽयमीक्षितव्यः परः पुरुषोऽभिध्यातव्यत्वेनोपदिश्यते।

ओंकाराभिध्येय विमर्श

ओंकार के द्वारा ध्यातव्य ईश्वर परमात्मा ही है अवर ब्रह्म नहीं। यह कहते हैं सूत्र के द्वारा—

"ईक्षण क्रिया के कर्म के रूप में कथन किये जाने से वह ईश्वर अभिध्यातव्य है"—

—"हे सत्यकाम, निश्चय ही यह पर तथा अपर ब्रह्म ओंकार है। इसलिए अविद्वान् पुरुष इसी आयतन के माध्यम से एक को प्राप्त करता है"—

—" जो इस पुरुष का ध्यान तीन मात्राओं वाले ओं इस अक्षर से करे"—

ऐसा सुना जाता है। यहां इस कथन से पर ब्रह्म अपर ब्रह्म का ध्यान करना प्राप्त होता है।

पुनश्च

"वह सूर्य के तेज में सम्पन्न होता है, वह साम के द्वारा ऊपर ब्रह्म लोक में ले जाया जाता है"—

इस वाक्य के द्वारा उसके ज्ञाता का प्रदेश में सीमित फल कहे जाने से इसके द्वारा अवर ब्रह्म की ही अभिध्येयता प्राप्त होती है क्योंकि परब्रह्म तो सर्वगत है, सर्वत्र है, उसके अभिध्यान के फल को देश से परिच्छिन्न करके कहने में अनौचित्य आता है। जब अपरब्रह्म का ग्रहण हो गया तब (उसी के लिए) परम पुरुष का ध्यान करे ऐसा विशेषण लगाना युक्ति सिद्ध नहीं होता। इसीलिए यहां सन्देह उपस्थित है। वहां कहना यह है कि ईक्षति (ईक्षण) क्रिया के कर्म के रूप में कथन होने के कारण उस परमात्मा के ही ध्यान का उपदेश दिया जाना अभीष्ट है।

परे त्वाहुः जीवानां सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोक-निवासिनि संघातोपपत्तेरयं ब्रह्मलोको जीवघनः स्यात्, तस्मात्परो यः परमात्मा स इहा-भिध्याने कर्मभूत इति गम्यते।

किञ्च परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार इति विभज्यानन्तरमोंकारेण परं पुरुषमभि-ध्यातव्यं ब्रुवन् परमेव ब्रह्म परं पुरुषमवगमयति। किञ्च—

—"यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते"—

इति पापविनिर्मोकफलवचनं परमात्मनोऽभिध्यातव्यतां विनिगमयति।

यत्तु देशपरिच्छिन्नं ब्रह्मलोकप्राप्तिफलमुक्तं तत् क्रममुक्त्यभिप्रायं भवेदित्यदोषः। तस्मात् परमात्मैव प्रणवेनाभिध्यातव्य इति सिद्धम्।

—"वह (योगी) इस जीव घन से पुर में शयन करने वाले परात्पर पुरुष को देखता है—"

इस अवशिष्ट वाक्य में ध्यातव्य पुरुष का ईक्षण क्रिया के कर्म के रूप में उल्लेख दिखाई देता है। वहां जीव की मूर्ति ही जीवघन कही गई है। यह जीव का स्वरूप परमात्मा का खिल्य भाव है जो जीव इस उपाधि से युक्त है (छोटा रूप है)। जैसे नमक के समूह का एक टुकड़ा होता है। उसको पर इसलिए कहा जाता है कि वह इन्द्रियों और उनके विषयों से परे अर्थात् पृथक् है। उस दृष्टि से यह परमात्मा पर से भी पर (परात्पर) कहा जाता है। अभिध्यातव्य रूप से पर पुरुष का उपदेश दिया जा रहा है।

अन्य विद्वानों ने कहा कि समस्त जीव इन्द्रियों से आवृत हैं, उनका समूह समस्त इन्द्रियों के आत्म स्वरूप ब्रह्मलोक में स्थित हिरण्यगर्भ में है । अत: ब्रह्मलोक जीव का घन (समूह) रूप हुआ । उससे पर परमात्मा ही है जो यहां ध्यान क्रिया के कर्मरूप में प्रतीत हो रहा है ।

पुनश्च पर तथा अपरब्रह्म को ओंकार कह कर विभक्त करते हुए ओंकार के द्वारा परमपुरुष को अभिध्यातव्य बतलाते हुए परमब्रह्म को ही परपुरुष कहा गया है । —फिर

—"जैसे पैर उदर त्वचा से पृथक् होते हैं वैसे ही वह पाप से पृथक् हो जाता है"—

—"यह पाप के पृथक् होने की अवस्था को फल के रूप में प्रकट करने वाला वचन है जो कि परमात्मा को अभिध्यातव्य के रूप में प्रतिफलित करता है ।

पहिले देश से परिच्छिन्न ब्रह्मलोक प्राप्ति को जो अभिध्यान के फलरूप में बतलाया गया था उसको क्रम मुक्ति के लिए अभिप्रेत मानने पर दोष की सभावना नहीं रहती । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि प्रणव या ओंकार ध्यान करने के लिए अभीष्ट के रूप में उपदिष्ट है ।

दहरविमर्श पञ्चम:

हृदयाकाशस्थो दहरात्माऽयमीश्वरः परमात्मा न विज्ञानात्मा जीवो न भूताकाश इत्याह—

—"दहर उत्तरेभ्य:"—[१।३।१४]

—"गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च"—[१।३।१५]

—"धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः"—[१।३।१६]

—"प्रसिद्धेश्च"—[१।३।१७]

—"इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्"—[१।३।१८]

—"उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु"—[१।३।१९]

—"अन्यार्थश्च परामर्श:"—[१।३।२०]

—"अल्पश्रुतेरिति चेत् तदुक्तम्"—[१।३।२१]

—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्"—

इति छान्दोग्यश्रुति: श्रूयते—

दहर विमर्श

हृदयाकाश में स्थित दहर आत्मा परमात्मा ईश्वर ही है, यह विज्ञानात्मा, जीव या भूताकाश नहीं है यह विषय अग्रिम सूत्रों में सूत्रकार भगवान् बादरायण व्यास कह रहे हैं—कि—

आगे बतलाये जाने वाले कारणों से दहर परमात्मा है। १।३।१४

गति शब्दों के प्रयोग तथा श्रुति और लिङ्ग के कारण भी दहर परमात्मा का वाचक है। १।३।१५

इसको धृति और महिमा की इसमें उपलब्धि के कारण (दहर परमात्मा है) १।३।१६

और प्रसिद्धि के कारण (दहर परमात्मा है) १।३।१७

दूसरे के सम्बन्ध के कारण वह (ऐसा है) यह कहें तो ऐसा नहीं है असंभव दोष के कारण १।३।१८

यदि आगे के कथन से या उत्तरवाक्य से ऐसा माना जाय तो उसका स्वरूप तो आविर्भूत ही है। १।३।१९

परामर्श अन्य के लिए है। १।३।२०

अल्पश्रुति वाले के लिए शंका करें तो उसका कथन हुआ है। १।३।२१

—"अब यह जो इस ब्रह्मपुर में दहर कमल है वह गृह रूप है, इसके भीतर दहर आकाश है इसके भीतर विद्यमान जो तत्व है उसका अन्वेषण करना उचित है, उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए"—

यह छान्दोग्य श्रुति सुनी जाती है।

तत्र दहरे हृदयपुण्डरीके योऽयं दहर आकाशः श्रूयते स भूताकाशो वा विज्ञानात्मा वा परमात्मा वेति संशयः। तथा हि अत्र तावदाकाशशब्दः श्रूयते स भूताकाशो लोकसिद्धो ब्रह्मणि शास्त्रसिद्धः। एवमिह ब्रह्मपुरशब्दः श्रूयते। स जीवस्यापि ब्रह्मशब्दत्वादस्मिन् शरीरे च प्रवर्तते परब्रह्मलोके च। तस्मात् संशयः प्राप्नोति। किञ्च—

—"एष आत्माऽपहतपाप्मा—"

इत्यात्मशब्देनापहतपाप्मत्वादिना च विशेषितत्वात् तदाकाशस्थः परमात्मैव दहर इति लभ्यते। अथवा यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाश इति महाकाशौपम्येन हृदयाकाशं विशेषयंस्तत्रस्थं विज्ञानात्मानमवगमयति। तथा च संशयः प्राप्नोति।

वहां हृदय कमल में जो यह दहर आकाश सुनने में आ रहा है वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु की गणना में आने वाला (पंच महाभूतों में परिगणित) भूताकाश है, अथवा विज्ञानात्मा है या परमात्मा है, यह सन्देह होता है। सन्देह का कारण यह है कि यहां जो आकाश शब्द का श्रवण हो रहा है वह लोक में तो महाभूत रूप आकाश के रूप में प्रसिद्ध है तथा वही आकाश शब्द शास्त्रों में ब्रह्म के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार का यहां ब्रह्मपुर शब्द भी सुनाई दे रहा है। ब्रह्मपुर यह शब्द जीव के भी ब्रह्म शब्द के वाच्य होने से शरीर का भी बोधक है और परब्रह्म के लोक का ज्ञान कराता है। इसलिए स्वाभाविक सन्देह यहां उपस्थित होता है (कि दोनों में से यहां कौनसा अर्थ विवक्षित है)।

और फिर--"यह पापों से दूर आत्मा"—

यहां आत्मा शब्द के द्वारा तथा पापों से दूर आदि से दूर आदि से विशेषित होने के कारण उस आकाश में स्थित परमात्मा ही दहर है यह प्राप्त होता है। अथवा जितना यह आकाश है (महाभूत रूप) उतना ही यह हृदय के भीतर का भी आकाश है अतः महा आकाश की उपमा देते हुए हृदय के आकाश को विशेषता दिखाते हुए वहां स्थित विज्ञानात्मा का यहां के सन्दर्भ के द्वारा बोध कराया जा रहा है यह भी सन्देह को दृढ़ करने वाला बात ही है।

तत्रेदमुच्यते। उत्तरेभ्यो वक्ष्यमाणहेतुभ्योऽयं दहराकाशः परमात्मा न भूताकाशो जीवो वा। गतिशब्दाभ्याम्। दहरवाक्यशेषे हि गतिशब्दौ श्रूयेते—

—"इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति"—इति।

तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषयां गतिं प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधत्ते। स योऽयं दहरो ब्रह्मलोकशब्देनाभिधीयते या वा तद्विषया गतिरभिधीयते ताभ्यां दहरस्य ब्रह्मता गम्यते। न चात्र ब्रह्मणो लोक इति व्युत्पत्त्या कार्यब्रह्मणो लोकं सत्यलोकाख्यमयं ब्रह्मलोकशब्दो गममति। अहरहः सुषुप्त्यवस्थायामासां प्रजानां सत्यलोकगमनकल्पनाया अपदार्थत्वात्।

—"सता सौम्य तदा संपन्नो भवतीति"—

श्रुत्यन्तरे सुषुप्त्यवस्थायां ब्रह्मविषयस्यैव गमनस्य शास्त्रसिद्धत्वाच्च। तथा हीदं श्रुतिरूपं दृष्टं लिङ्गं चास्तीत्यतः प्रकृते ब्रह्मैव लोक इति सामानाधिकरण्यव्युत्पत्तिर्लभ्यते। तेन दहरस्यैव ब्रह्मत्वेन लोकत्वेन च प्रतिपत्तिः सिद्धयति। धृतेश्च महिम्नः स दहरः परमात्मेति लभ्यते। दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति हि प्रकृत्य—

—"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय"—

इत्यात्मशब्दो विधारयिता निर्दिश्यते । स चायं दहरे निर्दिश्यमानो विधरणलक्षणो महिमा दहरस्यैतस्य ब्रह्मतां गमयति । अस्यास्मिन्नुपलब्धेः । न ब्रह्मणोऽन्यस्मिन्नेष महिमोपलभ्यते ब्रह्मण्येव तस्य शास्त्रतः सिद्धेः ।

—"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"—इति ।

—'एष सर्वेश्वरः । एष भूताधिपतिः । एष भूतपालः । एष सेतुर्विधरण एषां लोकानमसंभेदाय"

इति चैवमादिश्रुतिवचनेभ्यः ।

यहां कहना यह है कि आगे बतलाये जाने वाले कारणों से यहां दहराकाश का अर्थ परमात्मा ही है न कि महाभूताकाश या जोव यहां दहरशब्द का अर्थ है । गति शब्दों के प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है । दहर शब्दघटित वाक्य के शेष भाग में गति वाचक शब्द सुने जा रहे हैं ।

—"प्रतिदिन जाने वाली यह प्रजा ब्रह्म लोक को नहीं जानती"—

यहां प्रसंगागत दहर को ब्रह्मलोक बतलाते हुए उसके प्रति गति प्रजा शब्द से कहे गए जीवों को बतलाई जा रही है वह यह जो दहर ब्रह्मलोक शब्द से कहा । गया और उस के प्रति गति जो बतलाई गई उन दोनों हेतुओं से दहर को ब्रह्म समझा जाता है । ऐसा नहीं है कि ब्रह्मलोक शब्द के समस्त होने के कारण ब्रह्म का लोक ऐसा विग्रह करके कार्यब्रह्म का सत्य नामक लोक यहां ब्रह्मलोक शब्द से लिया जा रहा है । क्योंकि प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में इन प्रजाओं के सत्य लोक पहुंचने की कल्पना करना असंगत हो जाता है ।

—"हे सौम्य, नव शत से संपन्न होता है"—

इस दूसरे वेद वचन में सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म के प्रति गमन ही शास्त्र से सिद्ध होता है । पुनश्च यह विषय श्रुति रूप स्वयं दृष्ट या प्रत्यक्ष तथा तथा लिङ्ग भी है अतः प्रस्तुत प्रसङ्ग में ब्रह्मलोक की व्युत्पत्ति ब्रह्म ही लोक है, यह ब्रह्म और लोक दोनों को एक ही आधार पर मान कर (समानाधिकरण्य) प्राप्त होती है । इससे दहर का ही ब्रह्मरूप से तथा लोक रूप से अभिज्ञापन सिद्ध होता है । महिमा को धृति के कारण भी वह दहर परमात्मा रूप से प्राप्त हो रहा है ।

—"इसके भीतर आकाश दहर है"—

ऐसा प्रसंग उठाकर—

—"अब यह जो आत्मा है वह सेतु है, वह विधृति है इन लोकों के नष्ट न होने देने के लिए"—

इस प्रकार आत्मा शब्द का प्रयोग विधारयिता के अर्थ में किया गया है। और वह यह दहर में बतलायी जाने वाली विधारण स्वरूप महिमा इस दहर की ब्रह्मता का बोधन करा रही है। क्यों कि वह (महिमा) इसी में (ब्रह्म में) उपलब्ध है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में यह महिमा उपलब्ध नहीं होती। शास्त्र के द्वारा वह ब्रह्म में ही सिद्ध की जाती है।

—"हे गार्गि। इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विधृत होकर ठहरे हुए हैं।"

—"यह सर्वेश्वर है, यह भूतों का अधिपति है, यह भूतों का पालक है इन सभी लोकों को नष्ट न होने के लिए यह विधरण का सेतु रूप है,"—

इस प्रकार के श्रुति वचनों से यह सिद्ध है।

–"प्रसिद्धेश्च"–

अयं तावत् दहरशब्द आकाशे प्रतिपन्नः। आकाशशब्दश्च परमेश्वरे सिद्धः—

—"आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते"—इत्यादिप्रयोगात्।

तथा चाकाशत्वस्य परमेश्वरे प्रसिद्धेः स दहरः परमेश्वरः स्यान्नान्यो जीवो वा भूताकाशो वा।

ननु वाक्यशेषे परमेश्वरादितरस्य जीवस्य परामर्शो दृश्यते—

—"अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचेति"—

अत्र हि संप्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्त्यवस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्य जीवस्यैव शरीरात् समुत्थानं संभवति। तस्मादितरपरामर्शात् स जीव एवेह दहरोऽभिप्रेतः स्यान्नेश्वर इति चेन्न असंभवात्।

न हि जीवो बुद्ध्युपाधिपरिच्छिन्नाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयते न चोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः संभवन्ति।

प्रसिद्धि के कारण भी (दहर आत्मा है)

यह दहर शब्द आकाश के लिए प्रसिद्ध है और आकाश शब्द परमेश्वर के लिए प्रसिद्ध है।

—"आकाश निश्चय ही नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है, ये सारे भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं"—

इत्यादि वाक्य प्रयोगों में परमात्मा ही आकाश शब्द से सम्बोधित है।

जब आकाशत्व परमेश्वर में प्रसिद्ध है तो वह दहर भी परमेश्वर ही है उससे भिन्न जीव या महाभूतरूप आकाश नहीं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वाक्य के शेष भाग में परमेश्वर से भिन्न जीव का भी इस सन्दर्भ में उल्लेख है।

—"अब यह जो सम्प्रसाद है, इस शरीर से उठकर परम ज्योति के रूप में संपन्न हो जाता है, अपने स्वरूप में अभिनिष्पन्न हो जाता है, वह आत्मा है, ऐसा कहा"—

यहां सम्प्रसाद शब्द दूसरी सुषुप्ति अवस्था के लिए प्रयुक्त देखा जाने के कारण उस अवस्था में पहुचे जीव को ही उपस्थित कर सकता है अन्य किसी अर्थ को नहीं। क्यों कि शरीर में रहने वाले जीव का ही शरीर से समुत्थान संभव हो सकता है। अतः अन्य के संस्पर्श के कारण वह जीव ही यहां दहर शब्द से अभिप्रेत है ईश्वर नहीं। इस उपस्थित प्रश्न का उत्तर भो निषेधात्मक हो है कि नहीं, ऐसा नहीं। दहर शब्द का अर्थ जीव होना असंभव है।

क्या बुद्धि की उपाधि से युक्त जीव की उपमा आकाश से दी जाती है। कथमपि नहीं। उपाधि के धर्मों का अपने में अभिमान रखने वाले जीव में पापों को अपहत करना आदि धर्म भी नहीं रहते।

ननु प्राजापत्यादुत्तरवाक्यादस्ति संभवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम्। तथा हि

—"य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य—

इति प्रतिज्ञाय—

—"य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा"—

इत्यादिनास्यैव जीवस्य जागरितस्वप्नसुषुप्ताद्यवस्थान्तरसंचारमाख्याय शरीर-संबन्धनिन्दापूर्वकं शरीरादुत्थितस्योत्तमपुरुषत्वं दर्शयति प्रजापतिरुत्तरग्रन्थेन। तेनैतस्य जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिधर्मसंबन्धस्तात्पर्यविषयीभूतो लभ्यते-इत्यतो जीव एवायं दहरः प्राप्नोतीति चेत्, तत्रोच्यते आविर्भूतस्वरूपस्तु जीवस्तत्रैव विवक्ष्यते न जैवेन रूपेण।

—"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"—

इति हि ब्रुवता यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं तथा व्याचष्टे । तस्मादुपाधिकल्पितरूपस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्मा नोपपद्यन्ते इति सिद्धमस्य परमात्मन एव दहरत्वम् ।

पुन: यहां प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि आगे प्रजापति से सम्बद्ध वाक्य से जीव में परमेश्वर के धर्मों के प्रकट होने की संभावना है । कहा गया है उस स्थल पर कि-

—"जो अपहत पाप्मा आत्मा है, उसका अन्वेषण करना अभीष्ट है"—

ऐसी प्रतिज्ञा के बाद कहती है श्रुति—

—"नेत्रों में जो यह पुरुष दिखाई दे रहा है, वह आत्मा है"—

इत्यादि कह कर इसी जीव का जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के भीतर संचरण का विवरण देकर शरीर के सम्बन्ध को निन्दनीय दृष्टि से बतलाते हुए शरीर से ऊपर उठे हुए जीव का उत्तम पुरुषत्व से प्रजापति सम्बन्ध आगे के ग्रन्थ से श्रुति प्रकट रही है । इससे इस जीव का ही पापों को अपहत करने वाला होना आदि धर्म से सम्बद्ध तात्पर्य का विषयी भूत रूप होना समझ में आता है । और इसीलिए जीव ही यहां दहर शब्द से कहा गया यह समझ लेना आसान है, इस आशंका के उत्तर में कहना यह है कि वहां अपने स्वरूप को आविर्भूत करने वाला ही जीव विवक्षित है न कि वह जीव जो जीव के रूप में है, (उपाधियों के अभिमान से युक्त है)

—"परम ज्योति को उपसम्पन्न होता हुआ, अपने रूप में अभिनिष्पन्न होता है"—

ऐसा कहते हुए, जो इसका पारिमार्थिक परब्रह्म स्वरूप है उस रूप में इस जीव का व्याख्यान अन्य प्रकार से किया गया है । अत: उपाधि से कल्पित स्वरूप वाले जीव के धर्म—

—"अपहत पाप्मा"—

आदि नहीं हो सकते और इसीलिए इस परमात्मा की ही दहर शब्द वाच्यता भी सिद्ध हो जाती है ।

अथ जीवेश्वरयोर्भेदं मन्वाना अत्राशङ्कन्ते—नन्वाविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्मा इष्यन्ते, तन्नोपपद्यते । तेषां जीवरूपत्वे सर्वदैव तद्भानस्य वक्तुं युक्तत्वात् । न हि स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यते इति संभवति कूटस्थनित्यस्य । लोके तावत् सुवर्णादीनां द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभि: शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युज्यते । तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युज्यते न तु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य

केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद् दृष्टिविरोधाच्च । दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम् । तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते ।

स वा हि जीवः पश्यन् शृण्वन् मन्वानो विजानन् व्यवहरति । तस्मान्नैतदस्य स्वं रूपं शरीरात् समुत्थितस्योपपादयितुं युज्यते । तथा चास्य किमात्मकमिदं शरीरात् समुत्थानं किमात्मिका च स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति चेद्—

अब जीव और ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानने वाले यहां आशङ्का करते हैं कि जिस जीव ने अपने स्वरूप को आवृत कर लिया उसमें अपहृत पाप्मत्व आदि धर्म अभाष्ट होते हैं, परन्तु ऐसा हा पाना युक्ति सिद्ध नहीं है ।

जब तक उनकी जोवरूपता है तब तक सदैव उपाधि का भान उन्हें भासित सर्वदा होना युक्ति सिद्ध रहेगा । जो कूटस्थ नित्य है वह स्वयं से ही निष्पन्न नहीं हो सकता । लौकिक उदाहरणों में तो सुवर्णादि में दूसरे द्रव्यों के सम्पर्क से उनका अपना स्वरूप दबा रहता है, उनके असाधारण विशेष रूप अभिव्यक्त किये जाते हैं, उन्हें क्षार प्रक्षप आदि से शुद्ध किया जाता है, अतः उनकी तो स्वरूप से अभिनिष्पत्ति या स्वरूप का प्रकाशन युक्तियुक्त हो सकता है । इसी प्रकार नक्षत्र आदि जिनके स्वरूप का प्रकाश दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण दब जाता है तथा रात्रि में उनके प्रकाश को दबाने वाले सूर्य के प्रकाश के अभाव में उन नक्षत्र आदि को अभिनिष्पत्ति भी युक्ति सिद्ध होती है। परन्तु ये दृष्टान्त आत्म ज्योति के लिए काम नहीं देते, क्योंकि आत्म ज्योति तो नित्य है, उसका अन्य किसी ज्योति से दबाया जा सकना संभव ही नहीं । और इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध भो होता है। दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति यहो जीव का रूप है। शरीर से न उठने वाले जोव का भा यह रूप सदा ही उपस्थित है सभी जोव देखते हुए, सुनते हुए, मनन करते हुए, जानते हुए व्यवहार करते हैं । इसलिए जोव का वह स्वरूप शरीर से समुत्थित होने पर युक्ति सिद्ध नहों हो पाता । तब इस जीव का शरीर से समुत्थान किस रूप में होगा और किसलिए होगा, और अपने स्वरूप से इसकी अभिनिष्पत्ति किस रूप में और क्यों होगी ।

अत्रोच्यते ये तु खलु जीवेश्वरयोर्नित्यभेदं प्रतिपद्यन्ते तेषामियं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्विरुध्येत, न विरुध्यते तु जीवपरमात्मनोरैक्यं प्रतिपन्नानाम् । एक एव हि परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया माययाऽनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ति । तथा चैतेऽपहतपाप्मत्वादयः परमात्मधर्मा जीवस्यापि धर्मा इष्यन्ते । किन्तु जीवे सन्तोऽप्यविद्यावशादनाविर्भूता अविद्योपरमे स्वत आविर्भवन्ति । यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं विवेकग्रहणात् प्राग् रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति । प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु स स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेनैव स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते । स ततः प्रागपि तथैव स्यादिति गम्यते । एवं प्राग् विवेकज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव

जीवस्य दृष्टिमत्यादिस्वरूपं भवति तस्याविवक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकज्ञानं शरीरात् समुत्थानं बोध्यम् । विवेकज्ञानफलरूपा च केवलात्मस्वरूपावगतिरस्य स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः । इत्थं विवेकाविवेकमात्रेणैवास्यात्मनः सशरीरत्वमशरीरत्वं चोपचरन्ति ।

–"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्"–इत्यादि ।

तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादाविर्भूतस्वरूपो जीव एव स विवेकज्ञानादाविर्भूतस्वरूपः परमात्मा इत्युच्यते । न त्वतोऽन्यादृशावाविर्भावतिरोभावौ स्वरूपस्य सभवतः व्योमवदसङ्गत्वादिति दिक् ।

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता है कि जो विद्वान् जीव तथा ईश्वर को सर्वदा भिन्न-भिन्न मानते हैं उनके मत में स्वरूप की यह अभिनिष्पत्ति विरुद्ध दिखाई देगी, परन्तु जो आचार्य जीव तथा परमात्मा को एक ही मानते हैं उनके मत में जीव स्वरूप की यह अभिनिष्पत्ति कोई विरोध नहीं रखती । परमेश्वर एकमात्र कूटस्थ नित्य है जो विज्ञान-स्वरूप है । वह अविद्या अथवा माया के द्वारा अनेक रूपों में दिखाई देता है । उससे अतिरिक्त अन्य कोई विज्ञानस्वरूप नहीं है, और इस प्रकार परमात्मा के पापों से दूर रहना आदि जो धर्म है वे धर्म जोव में भी अभीष्ट हैं, किन्तु जीव में रहते हुए भी ये धर्म अविद्या के कारण आविर्भूत नहीं हो पाते ।

अविद्या के विराम होने पर तो ये स्वयं ही आविर्भूत हो जाते हैं । जैसे श्वेतस्फटिक की स्वच्छता और सफेदी उसके स्वरूप में सम्मिलित है । वह नोले आदि रंगरूपी उपाधियों से ढँक सी जाती है । उनके हट जाने पर स्वच्छता और सफेदी स्फटिक में स्वतः आविर्भूत हो जाती है । जब स्फटिक में लाल या नीला रंग भासित नहीं होता है तब उसकी स्वच्छता और सफेदी उसमें रहते हुए भी भासित नहीं होता । परन्तु जब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है तब स्फटिक की स्वच्छता और शुद्धता मस्तिष्क में अपने ही रूप में निष्पन्न रहती है । लाल तथा नीलो उपाधियों के कारण अपने स्वरूप के तिरोधान से पूर्व भी वह वैसो ही थी । इस प्रकार सोपाधि और उपाधि विनिर्मुक्त दोनों अवस्थाओं के भेद ज्ञानरूपी विवेक ज्ञान की उत्पत्ति के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, विषय, वेदना आदि उपाधियों वाले जोव का दृष्टि, मति आदि स्वरूप अभिन्न के रूप में भासित होता है और इस मिले-जुले रूप के लिए ही वेद द्वारा जो अविद्या से पृथक्ता का ज्ञान कराया जाता है वहा उसका शरीर से समुत्थान समझना चाहिए । उपाधि या अविद्या से पृथक् जो अपने स्वरूप का विवेकज्ञान हुआ उसका फल क्या निकला ? फल यह हुआ कि अविद्या की उपाधियों से पृथक् होकर जीव को अपने स्वरूप का दर्शन हो गया । इसी को जीव की अपने स्वरूप में अभिनिष्पत्ति कहा जाता है । और इस प्रकार विवेक और अविवेक के स्वरूपों में स्थित यह जीवात्मा शरीर वाला और बिना शरीर का कहा जाता है ।

—"जो स्वयं अशरीरी है और अनवस्थित शरीरों में रहता है"

इसलिए विवेक के विज्ञान के अभाव से ही जीव के स्वरूप का प्रादुर्भाव होता है और जब विवेक का ज्ञान हो जाता है तब वह अपने स्वरूप में आविर्भूत होता हुआ परमात्मा कहा जाता है। अपने स्वरूप का यह आविर्भाव और तिरोभाव शुद्ध स्वरूप में सम्भव नहीं है क्योंकि अपने स्वरूप में वह आकाश की तरह असंग है।

नन्वेवं यदि जीवपरमात्मनोरैक्यमभ्युपगम्यते तर्हि इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभावादित्यादिना किमिति जीवस्य दहरत्वं प्रत्याख्यायते इति चेत्। तत्रोच्यते नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये चैकस्मिन्नस्मिन परमात्मनि जीवे दृष्टा अविद्योपकल्पिता धर्मा न सन्तीत्यावेदयितुं मायोपाधिकनिरुपाधिकया रूपयोर्भेदप्रदर्शनविवक्षया तथाप्रवृत्तिरस्तीत्यदोषः।

ननु –"य एष संप्रसादः"—

इत्यादिना दहरवाक्यशेषे योऽयं जीवपरामर्शो दर्शितस्तस्य परमेश्वरपरत्वेऽभ्युपगम्यमाने जीवं प्रत्युपासनाद्युपदेशाप्रसक्त्या परामर्शवैयर्थ्यं प्रसज्येतेति चेन्न। अन्यार्थश्च परामर्शः कृतोऽस्तीत्यदोषात्।

न ह्यत्र जीवपरामर्शो जीवस्वरूपपर्यवसानार्थः किन्तु परमात्मस्वरूपपर्यवसनार्थं उपनिबध्यते। संप्रसादशब्दोदितो ह जीवो जागरिते देहेन्द्रियपंजराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि देहाभिमानादुत्थाय सुषुप्तावस्थायामाकाशशब्दितं परं ज्योतिरुपसंपद्य सर्वविधविज्ञानान्यपोह्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्याह। तत्रेदं परं ज्योतिरपहतपाप्मत्वादिगुणमुपास्यमित्येवमर्थं जीवपरामर्शः क्रियते तस्मान्न वैयर्थ्यम्।

प्रश्न होता है कि यदि जीवात्मा और परमात्मा की एकता या अभिन्नता ही आपको अभीष्ट है तो—

—"दूसरे के परामर्श से वह रूप बदल लेता है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह असम्भव है"—

इत्यादि सूत्र से आपने जीव को दहर कहने का निषेध क्यों किया। इसका उत्तर है कि सवदा शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले कूटस्थ नित्य एकमात्र इस परमात्मा में जीव भाव में दिखलाई देने वाले अविद्या के द्वारा उपकल्पित धर्म नहीं हैं यह बतलाने के लिए माया उपाधि वाले तथा माया की उपाधि से रहित रूपों को दिखलाने की इच्छा से उक्त सूत्र में ऐसा कहा गया है। प्रश्न होता है,—

—"जो यह संप्रसाद है"—

इत्यादि के द्वारा दहर के वाक्यशेष में जीव का जो सम्बन्ध दिखाया गया उसे परमेश्वर के लिए समझ लेने पर जीव के प्रति उपासना आदि के उपदेशों का कोई प्रसग न रह जाने से वहां जीव का स्मरण व्यर्थ ही माना जाएगा । यह प्रश्न तब उत्तरित हो जाता है कि वहां जीव के सम्बन्ध का कथन प्रस्तुत विषय के अतिरिक्त अन्य बात को बताने के उद्देश्य से है ।

वहां जीव के परामर्श का अभिप्राय जीव के स्वरूप में पर्यवसान करना नहीं अपितु परमात्मा के स्वरूप मे पर्यवसान करना है । सम्प्रसाद शब्द से कहा गया यह जीव जाग्रत् अवस्था में देह और इन्द्रिय के पिंजरे का मालिक (स्वामी) होता हुआ उनका वासनाओं के द्वारा निर्मित स्वप्नों को नाड़ी मे विचरण करते हुए देखता और अनुभव करता है और तब वह किसी शरण को प्राप्त करने की इच्छा से अपने दोनों ही प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही देहों के अभिमान से ऊपर उठकर सुषुप्ति अवस्था में उस परमज्योति के रूप में चला जाता है जिसे आकाश कहा गया है। उस समय वह सभी प्रकार के विज्ञानों को दूर कर अपने ही स्वरूप मे स्थित हो जाता है यही बात उक्त सन्दर्भ के द्वारा स्पष्ट की गई है । वहा यह परमज्योति अपहतपाप्मत्व (पापों से सुदूर) आदि गुणों के द्वारा उपास्य होती है इसी बात को संकेतित करने के उद्देश्य स उक्त सन्दर्भ में जीव शब्द का परामर्श किया गया है, इसलिए वह परामर्श व्यर्थ नहीं है ।

ननु–

–"दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश"–

इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते । जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पते । तस्मादल्पश्रुतेर्जीव एव दहर इति चेत् तदुक्तं पूर्वमर्भकौकस्त्वप्रश्ने निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चेति । तस्मादल्पावकाशश्रवणेऽपि परमेश्वरे तद्विरोधस्य तत्र परिहृतत्वात् तदुक्तप्रकारेणैवात्रापि तत्परिहारसिद्धिरिति नास्ति विसंवादः । तस्माद्दहरः परमात्मेति सिद्धम् ।

भारूपादिधर्मचतुष्टयविमर्शः षष्ठः ।

पुनः प्रश्न होता है कि—

—"इसके मध्य में दहर आकाश है"—

यह कहते हुए श्रुति ने आकाश की अल्पता का जो विवरण दिया वह परमेश्वर में नहीं घटता । जीव तो अरा के अग्र भाग के समान है, अतः उसमें अल्पता के सुने जाने के कारण जीव को दहर क्यों न माना जाय, इसका उत्तर पहले अर्भकौकस्त्व प्रश्न में आ चुका है कि उसमें निचाय्यत्व होने से अल्पता है, अथवा व्योम के समान होने से अल्पता आभासित है । इसलिए अल्प अवकाश के सुने जाने पर भी परमेश्वर में उसके

विरोध का वहां परिहार किया गया है। उसी प्रकार यहां भी परिहार होगा, अतः कोई विसंवाद नहीं है, अंततः दहर परमात्मा है यह सिद्ध हुआ।

भारूपः परमात्मा न तेजो धातुरित्याह –

—"अनुकृते तस्य च" – [१।३।२२]

—"अपि च स्मर्यते"—[१।३।२३]

—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—

इति काठके मुण्डके च श्रूयते। तत्रेदं सर्वं यं भान्तमनुभाति यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स कश्चित् तेजोधातुर्वा प्राज्ञो वेति संदिह्यते। तत्रेदमुच्यते तस्यानुकृतेराख्यानादिह प्राज्ञ एवायं भारूपो विवक्षित इति तमेव भान्तमनुभातीत्यनुभानमाख्यायमानं तेजोधातुनावकल्प्यते। समत्वाद्धि तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति यं भान्तमनुभायुः। न हि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति। न चापीदं सूर्यादितेजस्तेजोऽन्तरेण विभातीति संभाव्यते। तेजोऽन्तरेण तेजोऽन्तरस्य प्रतिघातात्। किञ्च न केवलं सूर्यादीनामपितु सर्वस्याप्यर्थजातस्य भानं तदधीनमित्याख्यायते। तदेतत् प्राज्ञपरिग्रहे सत्येवावकल्प्यते न तेजोधातुपरिग्रहे।

"—भारूपः सत्यसंकल्प"

इति श्रुत्या प्राज्ञस्य भारूपत्वावबोधनाच्च।

—भारूपादिधर्मचतुष्टय का विचार—

परमात्मा आभारूप है वह तेजो धातु नहीं है—

—"और उसका अनुकृति के कारण"—[१।३।२२।]

—"पुनश्च स्मरण किया जाता है"—[१।३।२३]

कठोपनिषद और मुण्डकोपनिषद में यह मन्त्र सुना गया है कि,—

—"न तो वहां सूर्य भासित होता है, न ये चन्द्र और तारा समूह, ये बिजलियां भी वहां भासित नहीं होतीं, अग्नि वहां कहां से भासित होगा, उसी की दीप्ति के बाद सब कुछ भासित होता है, उसकी आभा से यह दृश्य जगत् दीप्तिमान है"—

यहां यह सब दृश्य जगत् जिसकी दीप्ति के बाद तथा जिसकी आभा से विभावित है वह कोई तेजोमय धातु है, या प्राज्ञ आत्मा है यह सन्देह होता है। वहां यह कहना है कि उसको अनुकृति के कथन के कारण यहां यह आभा रूप प्राज्ञ आत्मा ही है, इसलिए उसी के प्रकाश के उपरान्त सब कुछ भासित होता है, इस अनुमान

का कथन तेजोमय धातु के द्वारा अवकल्पित किया जाता है। तेजो धातुओं की समानता के कारण सूर्यादि को अन्य किसी तेजो धातु की जरूरत नहीं है कि जिसके प्रकाशित होने के अनन्तर ये प्रकाशित हों। कोई दीपक किसी दूसरे दीपक के प्रकाशित होने के अनन्तर स्वयं प्रकाशित होने की अपेक्षा नहीं रखता दूसरी बात यह भी है कि सूर्यादि का प्रकाश किसी दूसरे प्रकाश के अनन्तर से प्रकाशित हो भी नहीं सकता क्योंकि एक तेज दूसरे तेज के प्रकाश को रोक देता है।

उपर्युक्त श्रुति वाक्य में जब हम यह सुन चुके हैं कि न केवल सूर्य आदि ही अपितु संसार के सभी प्रकाश उसके प्रकाशित होने के अनन्तर ही प्रकाशित होते हैं तब यह बात केवल प्राज्ञ आत्मा के ग्रहण करने से चरितार्थ होती है न कि किसी तेजोमय धातु के ग्रहण करने पर,—

—"वह परमात्मा आभारूप है सत्य संकल्प है"—

इस श्रुति के द्वारा प्राज्ञ आत्मा को दीप्तिरूप में या भारूप में बतलाया गया है।

किञ्चात्रैव—

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निर्मलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥"

इत्येवमुत्तरग्रन्थे ज्योतिषां सूर्यादीनां ज्योतिरित्युक्त्वा स्वरूपस्य विज्ञानघनस्य विज्ञानप्रसादेनैव सर्वेषां सूर्यादीनां भानबोधनात् तदनुसारेणेहाप्यर्थो नेयः। तस्मात् प्रज्ञात्मा भारूपो ज्योतिषां ज्योतिः। तमेव भान्तमिदं सर्वमनुभाति न तस्य भानाय सूर्यादयोऽपेक्ष्यन्ते इति सिद्धम्। अपि चैवं स्मर्यते—

—"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥
—"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"
—"यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।"

इति भगवद्गीता।

पुनश्च यही—

—"हिरण्यमय परमकोष में निर्मल रजोविरहित ब्रह्म है वह शुभ है, वह ज्योतियों की ज्योति है, आत्मवेत्ताओं ने उसको इसी रूप में जाना है"—

इस प्रकार आगे के ग्रन्थ में सूर्य आदि ज्योतियों की भी वह ज्योति है ऐसी अग्नि के द्वारा स्वयं ज्योति स्वरूप विज्ञानघन के विज्ञान के प्रसाद से हो सभी सूर्य आदि के प्रकाश का बोध होने से उसी के अनुसार यहां भी अर्थ लिया जाता है। इसलिए प्रज्ञात्मा आभारूप ज्योतियों को ज्योति है। उसी के प्रकाशित होने पर ये सब प्रकाशित होते हैं, उसे प्रकाशित करने के लिए सूर्य आदि किसी ज्योति की आवश्यकता नहीं होती। पुनश्च स्मरण किया गया है कि—

—"आकाश में यदि एक साथ हजार सूर्य की आभा उत्थित हो जाय तो वह उस महात्मा (विराट् पुरुष को) एक झलक मात्र होगी"—

—"उसकी सूर्य चन्द्रमा तथा अग्नि कोई भी प्रकाशित नहीं करता, जहां जाकर लौटना नहीं होता वह मेरा परम धाम है।"

—'आदित्य में जो तेज सारे संसार को प्रकाशित कर रहा, है जो चन्द्रमा में स्थित तेज ससार को अपना प्रकाश दे रहा है, तथा जो तेज अग्नि में स्थित होकर संसार को ज्योति दे रहा है, वह तुम मेरा ही तेज समझो"—

भगवद्गीता के ये सन्दर्भ भो इस सन्दर्भ के सर्वथा समर्थक हैं।

प्रमितविमर्श सप्तमः

अंगुष्ठादिप्रमितः परमात्मा न शारीरो विज्ञानात्मा इत्याह—

—"शब्दादेव प्रमितः"—[१।३।२४]

—"हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्"—[१।३।२५]

—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति"—

इति काठकवाक्यं श्रूयते।

—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व-एतद्वै तत्-"

इति च श्रूयते।

तत्रायमंगुष्ठप्रमितः पुरुषो विज्ञानात्मा वा परमात्मा वेति संशयः। तथाहि—

—"अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।

इत्यादि स्मृतेः, संभवाच्च संसारिणि शरीरिण्यंगुष्ठपरिमाणता उपपद्यते। अनन्तायामविस्तारे तु भगवति परमात्मनि सांगुष्ठमात्रता नोपपद्यते तस्माद्विज्ञानात्मेत्येकः पक्षः।

प्रमित विमर्श

अंगूठे आदि के आकार में बतलाया जाने वाला परम-आत्मा है न कि शरीरस्थित विज्ञानात्मा। इस विषय को कहने के लिए सूत्र है कि--

—"शब्द प्रमाण से ही वह सीमित आकार वाला है"—

—"हृदय में अपेक्षा से मनुष्य यहां अधिकृत है"--

कठोपनिषद के वाक्य में यह सुना जाता है कि–

--"आत्मा के मध्य में अंगुष्ठ मात्र पुरुष है"--

पुनश्च यह भी सुना जाता है कि–

"ज्योति जैसे बिना धुएं के दिखाई देती है, वैसे ही अंगुष्ठ मात्र पुरुष भी बिना धुएं की ज्योति है। वह भूत और भविष्य का स्वामी है, आज भी और कल भी, यह वह है"—

वहां यह सन्देह होता है कि यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष विज्ञानात्मा है या परमात्मा है। कहा गया है कि—

"उसके उपरान्त सत्यवान् के शरीर से पाश में बंधे हुए, अपने वश में आए हुए अंगुष्ठ मात्र पुरुष को यमराज ने बल पूर्वक खींच लिया"—

यह संभव भी है। जो शरीर धारी संसारी पुरुष है उसमें अंगूठे के समान आकार का होना युक्ति-युक्त है। अनन्त आयामों में विस्तृत भगवान् परमात्मा में व , अंगुष्ठ आकार का होना युक्ति सगत नहीं होता। अतः उक्त अगुष्ठमात्र बतलाने वाला प्रसङ्ग विज्ञानात्मा को बतलाता है—

यह एक पक्ष है।

अथ ईशानो भूतभव्यस्येत्युक्त्या परमात्मेति गम्यते। परमेश्वरातिरिक्तस्य भूत-भव्येशानायोग्यत्वादिति द्वितीयः पक्षः। तत्रेदमुच्यते। शब्दादेव हेतोः प्रमितः परमात्मा।

—"एतद्वैतत्"—

इति हि शब्द एवेह प्रकृतं पृष्टमर्थमनुसंधाय प्रमितत्वेन विवक्षितमर्थं निरूपयति।

—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद"—

इत्येवं यद् ब्रह्म पृष्टम्—एतद्वै तदंगुष्ठप्रमितमिति। तस्मान्न विज्ञानात्मा। यत्तु परमात्मनोऽगुष्ठप्रमितत्वं नोपपद्यते इत्युक्तं तन्न। हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् तदु-

पपत्ते । मनुष्यमधिकृत्य हीदमुक्तं विजानीयात् । तत्र सर्वगतस्याप्यस्य परमात्मनो हृदय-प्रदेशेऽवस्थानमपेक्ष्यैवमंगुष्ठप्रमितत्वमुक्तं स्यात् । यथाकाशस्य वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्व-मुपचरन्ति तद्वत् ।

अब उसी मन्त्र में आगे उसी के विशेषण या वर्णन परक शब्दों में जो 'भूत और भविष्य का स्वामी' यह कहा गया है उससे वहां परमात्मा का ही बोध होता है, क्यों कि परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई भूत और भविष्य का स्वामी होने की शक्ति नहीं रख सकता। यह बात द्वितीय पक्ष के रूप में सामने आती है। यहां हम यह कहते हैं कि शब्द के कारण ही परमात्मा सीमाबद्ध है।

—"यह निश्चय ही है"- -

यह शब्द ही यहां प्रकृत में पूछे गए अर्थ का अनुसन्धान करके सीमा बद्ध के रूप में अपने विवक्षित अर्थ को बतला रहा है।

—"तुम उस परमात्मा का ऐसा रूप, जो तुमने देखा है उसे कहो, जो धर्म से अलग है, अधर्म से भी अलग है, जो सम्पादित तथा असम्पादित कार्यों से भी पृथक् है, जो भूत और भविष्य से भी भिन्न है"—

इस प्रकार जिस ब्रह्म का प्रश्न किया गया —

—"वह यही अंगुष्ठ के आकार वाला है" —

इसलिए वह विज्ञानात्मा नहीं है।

जो यह कहा गया कि परमात्मा का आकार अंगुष्ठ के समान परिमित हो ही नहीं सकता तो यह बात नहीं है--

हृदय के अधिकरण (आधार स्थान) के अनुरोध से मनुष्य के अधिकार के रूप में वह प्राप्त है"—

यह उक्ति मनुष्य के संबंध में समझी जानी चाहिए। वहां इस परमात्मा के सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी हृदय प्रदेश में अवस्थान का रूप निर्धारित करते हुए अंगुष्ठ मात्र बतलाया गया होगा। जैसे आकाश को बांस के अन्तर का छोटा-सा आकाश बतला दिया जाता है।

नन्वत्रैव परेण ग्रन्थेन विज्ञानात्मानमेवांगुष्ठप्रमितं शब्देन निरूपयति—

—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतमिति"—

न च स्वाच्छरीरात्तं परमात्मानं प्रवृहेदिति संभवति। तत्कथं परमात्मनोंऽगुष्ठ-प्रमितत्वे काठकवाक्यस्य तात्पर्यमुन्नीयते इति चेत् सत्यम्। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां

प्रवृत्तिः । क्वचित् परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा क्वचित्तु विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेश-परा । तत्रेदं विज्ञानाऽत्मनोंऽगुष्ठमात्रस्य परमात्मनैकत्वमुपदेष्टुं परमात्मनोंऽगुष्ठप्रमितत्व-मुपदिश्यते न त्वस्यांगुष्ठमात्रत्वे तात्पर्यमस्तीत्यदोषः ।

इति सप्तानां यौगिकविचालिशब्दानामैदम्पर्याधिकरणं समाप्तम्—

अथ कर्मणि विद्यायामधिकारव्यवस्थाधिकरणम् । तत्र त्रयो विमर्शाः ।

प्रश्न होता है कि यहीं आगे के ग्रन्थांश मे विज्ञानात्मा को ही शब्दतः अगुष्ठमात्र बतलाया गया है कि—

—"अंगुष्ठमात्र आकार का अन्तरात्मा पुरुष सदा जन-जन के हृदय में सन्निविष्ट है, जैसे मूंज से इषीका को हटा दिया जाता है वैसे ही उसे अपने शरीर से पृथक् करके समझना चाहिए, धैर्य से उस अमृत शुक्र को जानना चाहिए"—

अपने शरीर से उस परमात्मा को पृथक् करना संभव नहीं है तब कैसे परमात्मा को अंगुष्ठमात्र आकार बतलाने में कठोपनिषद के उक्त वाक्य का तात्पर्य समझा जा रहा है। इस प्रश्न पर कहना है कि बात यह सच है। वेदान्त वाक्यों का व्यवहार दो रूपों में चल रहा है। कहीं तो यह व्यवहार परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करने के लिए है, तथा कहीं विज्ञानात्मा का परमात्मा के साथ एकत्व बतलाने के लिए यह व्यवहार हुआ है। यहां जो परमात्मा के अङ्गुष्ठमात्र बतलाने के उपदेश का उपक्रम है, वह मनुष्य के हृदय प्रदेश में संस्थित विज्ञानात्मा, जो कि अङ्गुष्ठ मात्र है, उसका परमात्मा के साथ एकत्व बतलाने के लिए है, न कि यहां अङ्गुष्ठमात्र कथन का कोई स्वतन्त्र तात्पर्य है। यह समझ लेने पर कोई दोष नहीं आता।

इस प्रकार सात यौगिक विचाली शब्दों का निश्चित अर्थ बतलाने वाला अधि-करण पूर्ण हुआ।

अब कर्म तथा विद्या में अधिकार की व्यवस्था का अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

इसमें तीन विमर्श हैं।

देवाधिकारविमर्शः प्रथमः

यज्ञकर्मणि ब्रह्मविद्यायां मनुष्यवद्देवानामप्यधिकारोस्ति । सामर्थ्याद् विग्रहवत्वाद-र्थित्वादप्रतिषेधाच्चेत्याह—

—"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्"—[१।३।२६]

—"विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्"—[१।३।२७]

—"शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"—[१।३।२८]

—"अत एव च नित्यत्वम्"—[१।३।२९]
—"समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च"—[१।३।३०]
—"मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः"—[१।३।३१]
—"ज्योतिषि भावाच्च"—[१।३।३२]
—"भावं तु बादरायणोऽस्ति हि"—[१।३।३३]
—"शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि"—[१।३।३४]
—"क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्"—[१।३।३५]
—"संस्कारपरामर्शात् तद्भावाभिलापाच्च"—[१।१।३६]
—"तदभावनिर्द्धारणे च प्रवृत्तेः"—[१।३।३७]
—"श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च"—[१।३।३८]

देवाधिकार नाम का प्रथम विमर्श—

मनुष्यों का जैसे यज्ञ कर्म तथा ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने में अधिकार है वैसे ही देवताओं का भी यज्ञ के सम्पादन तथा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में अधिकार है। क्योंकि उनमें भी इन दोनों के लिए सामर्थ्य है। देवता भी शरीर धारी हैं। वे भी कामना रखने वाले हैं तथा उनके लिए यज्ञकर्मों के सम्पादन तथा ब्रह्म विद्या की संप्राप्ति के लिए कोई निषेध नहीं किया गया है। सूत्रकार महर्षि बादरायण व्यास इस विषय को सूत्रों के द्वारा प्रकट करते हैं"—

—"बादरायण का मत है कि मनुष्य के ऊपर की देव आदि योनियों का भी यज्ञ और ब्रह्मविद्या में अधिकार है—

—"संभव होने के कारण"—[१/३/२६]

—"कर्म में विरोध है ऐसा नहीं, क्योंकि अनेक प्रतिपत्तियां दिखाई देती हैं—"
—[१।३।२७]

—"शब्द अनित्य नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के कारण देवादि की सत्ता शब्द से ही है [१।३।२८]

—"और इसीलिए उनकी नित्यता भी है"—[१।३।२९]

—"दर्शन और स्मृति के कारण समान नाम रूप होने से इनकी पुनरावृत्ति में भी विरोध नहीं है"—[१।२।३०]

—"मधु विद्या आदि में असंभव होने से देव आदि का अधिकार नहीं है, यह जैमिनि का कथन है—[१।२।३१]

—"ज्योति में भाव होने से अधिकार है [१।३।३२]

—"उनको अधिकार भाव है यह बादरायण का कथन है [१।३।३३]

—"अनादर के श्रवण से शोक उत्पन्न हुआ जिसकी सूचना समीप जाने से मिली" –

—"अन्यत्र चैत्ररथ के साथ कथनरूपी लिङ्ग से क्षत्रियत्व का ज्ञान है"–[१।२।३५]

—"संस्कार के कथन के कारण शूद्र के लिए संस्कार के अभाव का कथन करने से शूद्र का अधिकार नहीं है"—[१।:।३६]

—"उसके अभाव के निर्धारण में प्रवृत्ति के कारण उसका अधिकार नहीं है—[२।३।:७]

—"श्रवण अध्ययन के लिए प्रतिषेध है, स्मृति कथन से भी अधिकार नहीं है—[१।३।३८]

अथेह प्रासङ्गिकाः केचिदर्था व्यवस्थाप्यन्त । पूर्वं तावन्मनुष्यमधिकृत्य परमात्मनों-ऽगुष्ठमात्रत्वमुपपादितम् । तेनेदं ब्रह्मशास्त्रं मनुष्याधिकारेणैव प्रवर्तते इति कश्चिद् भ्रान्त्या व्यवस्येत् । स तथार्थो मा प्रसञ्जोत्यत इदं प्रकरणमारभ्यते—तदुपर्यपि देवलोके-ऽस्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारो, देवानामप्यत्राधिकारसंभवादिति बादरायणो मन्यते । शक्तत्व-मथित्वमपर्युदस्तत्वं वेदोपनीतत्वं चाधिकारकारणानि । तत्र तावदस्ति तेषां सामर्थ्यम् । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात् । अर्थित्वं च मोक्षविषयं संभवति देवा-दिलोकसुखस्यापि मर्यादावत्वात् क्षयातिशययुक्तत्वाच्च ।

न च तेषां क्वचिदधिकारप्रतिषेधः श्रूयते । न चानुपनीतत्वमनधिकारहेतुः, उप-नयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्, तेषां च स्वयं प्रतिभातवेदत्वात् ।

अब यहां कुछ अर्थों की व्यवस्था की जाती है । पहिले मनुष्य को अधिकृत करके परमात्मा के अङ्गुष्ठ मात्र होने का प्रतिपादन किया गया । उससे किसी को यह भ्रम होना संभव है कि यह ब्रह्म शास्त्र मनुष्य को ही केवल अपना ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार दे रहा है, (अन्य किसी को नहीं) । ऐसा तात्पर्य न समझ लिया जाय इस उद्देश्य से इस प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है । मनुष्य के ऊपर भी देवलोक ब्रह्मविद्या में अधिकार रखता है, क्योंकि ब्रह्मविद्या में देवों का भी अधिकार होना संभव है यह बादरायण भगवान् मानते हैं । ब्रह्मविद्या में अधिकार के कारण ये हैं–शक्तियुक्त होना, ब्रह्मविद्या की कामना से युक्त होना, एकाग्रता होना, तथा वेदों में उपनीत होना । देवों में ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने की शक्ति या सामर्थ्य है । क्योंकि वे शरीर धारी हैं, इसका पता मन्त्रों से, अर्थवादों से, इतिहासों तथा पुराणों से मिलता है । क्योंकि देवादि लोकों का जो सुख ऐश्वर्य समृद्धि आदि है, उसकी भी सीमा है, (वह निस्सीम निरतिशय नहीं है) । तथा

वह क्षय और अतिशय से युक्त भी है। अर्थात् उस देव लोकस्थ सुख का क्षय भी होता है और उनमें भो एक का दूसरे से बढ़ा चढ़ापन ईर्ष्या आदि दुःख का कारण भो बनता है।

सीमा में आबद्ध व्यक्ति सीमा से बाहर जाने या मुक्त होने का सर्वदा अभिलाषी रहता है। अतः जब देव गण को अर्थी या कामनायुक्त बतलाया जा रहा है तो जो कामनाएं मनुष्य लोक में हुआ करतीं हैं अथवा यहां मनुष्य लोक में जिन कामनाओं का होना संभव नहीं है, उन कामनाओं का देवलोक में होना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि कामना उसी वस्तु की हुआ करती है जिसका अभाव हो। मनुष्य लोक में जिन वस्तुएं के अभाव के कारण उनकी जो कामना होती है मनुष्य उसका भी अर्थी हो सकता है, देवताओं का ऐश्वर्य मनुष्यों से अत्यधिक होने के कारण वह उनको नित्य प्राप्त होने से उन लौकिक पदार्थ धनादि की उन्हें कोई कामना नहीं हो सकतो। उनका अर्थित्व या उनकी कामना तो मोक्ष के लिए ही हो सकतो है, क्योंकि मोक्ष के सन्दर्भ में देवता और मनुष्यों की स्थिति एक सी ही है। अतः उनका अर्थित्व मोक्ष विषयक ही होगा।

ब्रह्मविद्या में देवताओं के अधिकार का निषेध कहीं सुनने में नहीं आया। प्रश्न हो सकता है कि देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार कैसे माना जा सकता हैं, जब कि उनमें षोडषादि कोई संस्कार नहीं होते, फलतः उपनयन संस्कार भी नहीं, और अनुपनीत का वेद में अधिकार नहीं, ब्रह्म विद्या भी वेद मूलक होने से उसमें भी उनके अनुपनोत होने के कारण उनका ब्रह्मविद्या में कैसे अधिकार माना जायगा। इसका उत्तर है कि उपनयन संस्कार का उद्देश्य तो वेदों का अध्ययन ही है न। वे वेद देवताओं को स्वयं भासित हैं।

"एकशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास।

भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मे-"

त्यादिश्रुत्या देवादीनामपि विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादिश्रवणाच्च। तस्मादेभिर्हेतुभिर्देवादीनामप्यत्र ब्रह्मविद्यायामधिकारः संभवतीत्येकः सिद्धान्तः सिद्धः।

—"मघवा (इन्द्र) प्रजापति के समीप एक सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहे (वेद पढते रहे)"—

वरुण के पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के समीप पहुंच कर प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन् मुझे ब्रह्म का अध्यापन कीजिए –"

इत्यादि श्रुति वाक्यों से देवादि का भी विद्याग्रहण के लिए ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का अनुष्ठान सुना गया है। इसलिए देवों का भी इस ब्रह्मविद्या में अधिकारी होना सम्भव है, यह एक सिद्धान्त सिद्ध होता है—

देवानित्यचेतनविग्रहविमर्शो द्वितीयः

तदुपष्टम्भकतया च सन्ति विग्रहवन्तश्चेतनविशेषा अपि देवा इति द्वितीयसिद्धान्तः सिद्धः। अत एव चैते देवा अनित्याः सन्तीति तृतीयसिद्धान्तः सिद्धः। नन्वेवं देवादीनां विग्रहवत्त्वाभ्युपगमे विरोधः कर्मणि स्यात्। तथाहि—विग्रहवत्त्वाद् ऋत्विगादिवदमीषां देवानामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गताभ्युपगमे बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानं नोपपद्यते। इति चेन्न। अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिर्दृश्यते शास्त्रे। तथाहि—

—"कतिदेवा"—

इति शाकल्येन पृष्टो याज्ञवल्क्यो निवेदयति—

—"त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा"—

—"महिमान एवैषामेते। त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः षड् देवाः त्रयो देवाः। द्वौ देवौ। अध्यर्द्धो देवः। एको देवः प्राण"—

इति तत्रेयं देवानां प्राणैकरूपतां दर्शयन्ती श्रुतिस्तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति।

द्वितीय विमर्श

उसी को दृढ़ करने के लिए यह सिद्धान्त भी सिद्ध होता है कि देवगण शरीरधारी तथा चेतन विशेष हैं। इसीलिए ये देवगण अनित्य हैं यह तीसरा सिद्धान्त है। इस प्रकार देव आदि को शरीरधारी कहने से कर्म में विरोध आने की आशंका नहीं है। विरोध की आशंका का सन्देह इसलिए होता है कि यज्ञ यागों में ऋत्विग् आदि की उपस्थिति जैसे कार्य का अङ्ग होती है वैसे ही देवताओं का स्वरूपतः सन्निधान भी कर्माङ्ग के रूप में स्वीकृत होता है। यदि देवताओं को शरीरधारी माना जाता है तो एक साथ जब अनेक यज्ञ याग आदि चलते हैं तब शरीरधारी एक ही इन्द्र का अनेक सुदूर स्थलों पर एक साथ सन्निधान तर्क सिद्ध नहीं होता। यदि यह आशंका का कारण है तो यह निर्मूल है, क्योंकि देवगण एक साथ अनेक रूप ग्रहण करते देखे जाते हैं। शास्त्र में ही देवतात्मा का एक साथ अनेक स्वरूप धारण करना देखा जाता है। जैसा कि—

—"कितने देव हैं"

इस शाकल्य ऋषि के प्रश्न पर याज्ञवल्क्य ने निवेदन किया कि—

—"तैंतीस सौ"—

—"तैंतीस हजार"—

—"इनकी ये महिमाएं ही हैं, देवता तैंतीस ही हैं, छः देव हैं, तीन देव हैं, दो देव हैं, डढ़ देव हैं, एक प्राण नाम का देव है।"—

इस प्रक र देवों की प्राणों से एकरूपता को दिखलाती हुई श्रुति उसी एक प्राण की एक साथ अनेकरूपता को प्रकट कर रही है।

आत्मनो वै सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ।
कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीञ्चरेत्।
प्राप्नुयात् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगुणानिव।

इत्येवं प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनां युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयन्ती स्मृतिरप्याजातसिद्धानां देवानामनेकप्रतिपत्तिमञ्जसा प्रापयति। तथा चानेकरूपप्रतिपत्तिसंभवादेकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छति परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिशक्तियोगादित्युपपद्यते। तस्माद्देवादीनां विग्रहवत्त्वाभ्युपगमेऽपि नास्ति विरोधः कर्मणीति सिद्धम्।

नन्वेवमपि शब्दे विरोधः स्यात्। शब्दः शास्त्रं वेद इत्येकार्थाः। वेदाश्च नित्या इष्यन्ते। तत्र शब्दस्यार्थेनौत्पत्तिकं संबन्धं भगवान् बादरायणो मन्यते। स यदि बादरायण एवेदानीममीषां वेदप्रसिद्धानां देवानां विग्रहवत्वाभ्युपगमेन प्राप्तमनित्यत्वं देवानां प्रतिपादयेत् तर्हि शब्दार्थसम्बन्धस्यौत्पत्तिकत्वं विरुध्येत। विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवद्भिरनित्यैर्देवैः कृतसम्बन्धानां शब्दानां नित्यत्वासंभवादिति चेन्न।

—"हे भरतर्षभ, योगी योगबल को प्राप्त करके अपने आपको अनेक सहस्र रूपों में प्रकट करता हुआ उन सब रूपों से पृथ्वी पर विचरण कर सकता है, अपने कुछ रूपों से वह विषयों का ग्रहण कर सकता है, कुछ रूपों से उग्र तपश्चर्या कर सकता है, बाद में जैसे सूर्य अपनी समस्त किरणों को समेट लेता है—"

इत्यादि वर्णनों के द्वारा स्मृति ग्रंथ भी अणिमा आदि ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेने वाले योगियों के एक साथ अनेक शरीर धारण करने की बात कहते हुए अजात सिद्ध देव योनि स्थित देवताओं की एक साथ अनेक स्वरूपों में उपस्थिति को स्वतः सिद्ध बतला रहे हैं।

(जब मनुष्य शरीरधारी योगी गणों में योग बल से अनेक सहस्त्र रूपों के ग्रहण की क्षमता आ जाती है तो देव योनि में तो समस्त सिद्धि बिना योगादि साधनों के स्वतः ही प्राप्त हैं, उन्हें अनेक शरीर एकसाथ धारण करने में कोई अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना

पड़ता) और इस प्रकार जब अनेक स्वरूपों में स्वयं को प्रकट करने का सामर्थ्य (योगबल से) संभव हो जाता है तब एक एक देवता अपने को बहुत रूपों में विभक्त करके बहुत से यागों में एकसाथ कर्माङ्गता को प्राप्त कर लेता है और अन्तर्धान शक्ति सम्पन्न होने के कारण अन्य लोगों को उसका दर्शन भी नहीं होता यह तर्क सम्म। बात सामने आ जाती है। इसलिये देव आदि को शरीरधारी मान लेने पर भी कर्म में कोई विरोध नहीं आता यह सिद्ध हुआ।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार मान लेने पर शब्द में विरोध होगा। शब्द कहें, शास्त्र कहें या वेद कहें, एक ही बात है। वेद नित्य रूप से हो मन्त्र के रूप में अभीष्ट हैं। वहां शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं। वही बादरायण यदि यहां इन वेदों में प्रसिद्ध देवों का शरोरधारो होना मान लेते हैं, तब जो शरीरधारी हैं, वे अनित्य हैं, और देवों को शरीरधारी मान लेने पर वे भी अनित्य हो जायेंगे, और तब शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है यह उत्पत्ति सिद्ध सम्बन्ध या शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध खतरे में पड़ जायेगा क्योंकि शरीर का योग होने पर हम लोगों की तरँह जन्म मृत्यु भी उनकी होगी, वे अनित्य होंगे, और उनके साथ जिन वेद शब्दों का सम्बन्ध है, उनकी भी नित्य होने की सम्भावना नहीं रह जायेगी। यह शंका नहीं करनी चाहिए।

अतः प्रभवात्।

जननमरणयोगादनित्यानामपि देवानामुत्पत्तिमस्मादेव हि वैदिकाच्छब्दात् स मन्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः। अनुमानं स्मृतिः। ताभ्यां हि गम्यते वेदेभ्यो देवा उत्पन्ना इति। तथाहि—

—"एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभिसौभगा"—

इत्यस्या ऋचः शब्दैर्देवादीनामुत्पत्तिं छान्दोग्यश्रुतिस्तावदाह।

—"एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत। असृग्रमिति मनुष्यान्। इन्दव इति पितृन्। तिरःपवित्रमिति ग्रहान्। आशव इति स्तोत्रम्। विश्वानीति शस्त्रम्। अभिसौभगेत्यन्याः प्रजा"—इति।

एवं वाजसनेयकश्रुतिरप्याह षष्ठ काण्डे—

—"स मनसा वाचं मिथुनं समभवत् तेऽष्टौ वसवोऽसृज्यन्त, त एकादश रुद्राः, ते द्वादशादित्याः स मनसैव वाचं मिथुनं समभवत् स विश्वान्देवानसृजत"—इति।

स्मृतिरप्याह —

—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।"— इति।

नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः । इति--
सर्वेषां च स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"— इति च ।

"इसो से प्रभव होने के कारण (ऐसा माना जायेगा)

जन्म मृत्य के योग से अनित्य होने पर भी देवताओं की उत्पत्ति इस वेद शब्द के आधार पर वे (बादरायण) मानते हैं। यह प्रत्यक्ष और अनुमान से माना जाता है। श्रुति को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्मृति अनुमान है। उन दोनों प्रमाणों से ज्ञात है कि वेदों से देव उत्पन्न हैं। उदाहरणार्थ—

—एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः—

—"विश्वान्यभि सौभगा—"

इस ऋचा के शब्दों से देव आदि की उत्पत्ति छान्दोग्य श्रुति ने बतलाई है।

—'एते," यह कहकर प्रजापति ने देवों को उत्पन्न किया, 'असृग्रम्' कहकर मनुष्यों को उत्पन्न किया, 'इन्दवः' कहकर पितरों को उत्पन्न किया, 'तिरः पवित्रम्' कह कर ग्रहों को उत्पन्न किया 'आशवः" कहकर स्तोत्रों को उत्पन्न किया, 'विश्वानि' कहकर शास्त्रों को उत्पन्न किया, 'अभिसौभगा' कहकर अन्य सारी प्रजा को उत्पन्न किया"—

इसी प्रकार वाजसनेयक श्रुति के षष्ठ काण्ड में भी कहा गया है कि—

—"वह मन से वाणी का मिथुन बना, वे आठ वसु उत्पन्न हुए, वे एकादश रुद्र हुए, वे द्वादश आदित्य हुए, वह मन से ही वाणी का मिथुन हुआ, उसने विश्वदेवों को उत्पन्न किया—"

स्मृति ,ने भी कहा—

—"प्रारम्भ में स्वयंभू के द्वारा अनादि अनन्त वेदमयी दिव्या नित्या वाणी प्रकट की गई, जिससे समस्त व्यवहार प्रवृत्त हुए"—

—"उस महेश्वर ने आदि में वेद के शब्दों से ही भूतों के नाम रूप तथा कर्मों का प्रवर्तन किया"—

—"उसने सभी के नाम और कर्मों का पृथक् पृथक् निर्माण प्रारम्भ में वेद के शब्दों से ही किया और उन्हीं से पृथक् संस्थाएं भी बनाई"—

किञ्च सर्व एवैतेऽनित्याः पदार्थाः शब्दादेवोत्पद्यन्ते इति गम्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । तथाहि-चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन् कर्त्ता नूनमिदमित्थं संपादयेयमित्यादि बुद्धौ भाव-

यति पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथैवानुमीयते–प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं चिकीर्षितविषयाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः । पश्चात् तदनुगतानर्थान् ससर्जेति श्रुतिरप्येतमर्थमनुगमयति—

—"स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजते—"

इत्येवमादिः । तस्माद्देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽनित्यत्वे चाभ्युपगतेऽपि न तावता शब्दे विरोधः प्राप्नोतीति सिद्धम् ।

अत एव च नित्यत्वं शब्दानामुपपद्यते । यत इमे देवाः सर्वेऽपि शब्देभ्य एवोत्पन्नाः सन्तीति । किञ्च नित्यः खल्वसौ प्रजापतिस्तस्येदं विज्ञानमपि नित्यमेव स्यात् । अत एव च तद्विज्ञानरूपाणाममीषां वैदिकशब्दानामपि नित्यत्वमर्थसिद्धं लभ्यते । किञ्च प्रजापतेर्विज्ञानरूपत्वादिमे वेदशब्दाः प्रमाणभूता एव सन्तीति स्थिते अत एव च नित्यत्वमेषां शब्दानामभ्युपगच्छामः । अयमेव हि प्रमाणभूतो वैदिकः शब्दो वेदशब्दानां नित्यत्वं न आचष्टे—

—"यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्"—

इति सुकृतेन वाचो लाभयोग्यतामागच्छन् । अथ ऋषीणां बुद्धौ प्रादुर्भूतां तां वाचमलभन्तेत्यर्थः । स्मरति चैवं भगवान् वेदव्यासोऽपि ।

—"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा"—इति ।

तस्माद्देवादीनां विग्रहवत्त्वेनानित्यत्वे च स्थितेऽपि स नित्यो वेदशब्द इति सिद्धान्तः सिद्धः ।

—पुनश्च ये सभी अनित्य पदार्थ शब्द से ही उत्पन्न होते हैं यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान से जानी जाती है । देखिये हम सभी जानते हैं कि किसी वस्तु के निर्माण की इच्छा करने वाला निर्माता 'मैं इस वस्तु को इस रीति से बनाऊंगा' इत्यादि बातों को पहले ही अपनी बुद्धि में जमा लेता है, उसके उपरान्त वह उस वस्तु के निर्माण में लगकर उसे बनाता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । उसी प्रकार यह अनुमान होता है कि इस सम्पूर्ण प्रजा की सृष्टि करने के पूर्व प्रजापति के मन में उत्पन्न करने के लिए अभीष्ट पदार्थों के लिए सारे शब्द प्रकट या भासित हुए, उसके अनन्तर उन शब्दों से सम्बद्ध सभी पदार्थों का प्रजापति ने निर्माण या रचना की । इस बात को श्रुति भी अनुमोदित कर रही है—

—"उसने 'भू' शब्द का उच्चारण किया और तब भूमि का निर्माण किया"—इत्यादि ।

अतः देव आदि को शरीरधारी तथा अनित्य मान लेने पर भी उतने मात्र से शब्द में कोई विरोध नहीं आता यह सिद्ध हुआ ।

और इसीलिये शब्दों की नित्यता भी सिद्ध हो रही है क्योंकि ये समस्त देव शब्दों से ही समुत्पन्न हुए हैं। पुनश्च यह ऊपर के विवरण में चर्चा में आये प्रजापति नित्य हैं (उत्पत्ति और विनाश से रहित हैं)। उनका यह (शब्दात्मक) विज्ञान भी नित्य ही होना स्वाभाविक है। और इसीलिए उनके विज्ञान को रूपायित करने वाले वैदिक शब्दों की भी नित्यता अर्थतः सिद्ध हो जाती है। अथ च प्रजापति के विज्ञान को रूपायित करने के कारण ये वेद शब्द प्रमाणभूत हैं, यह इन वैदिक शब्दों की सर्वोपरि स्थिति है। और इसीलिए इन शब्दों को हम नित्य मानते हैं। प्रमाणभूत वेदों के यही शब्द वेद के शब्दों की नित्यता का कथन कर रहे हैं—

—"यज्ञ से वाणी की पदवी को विस्तृत करते हुए उसके ऋषियों में प्रविष्ट होने को जाना"—

इस प्रकार पुण्य के प्रभाव से वाणी के लाभ की योग्यता को प्राप्त किया। इसका तात्पर्य है कि ऋषियों की बुद्धि में प्रादुर्भूत उस वाणी को प्राप्त किया। इसी बात का भगवान् वेदव्यास ने भी स्मरण किया है कि—

—"युग के (पूर्व सृष्टि के) अन्त में इतिहास सहित वेदों का अन्तर्धान हो गया था, स्वयं भू की कृपा और आज्ञा के अनुसार उस पूर्व के ज्ञान विज्ञान को तपश्चरण पूर्वक ऋषियों ने प्राप्त किया। इसलिये देवता आदि शरीरधारी होने तथा उनके अनित्य होने पर भी वेदों के शब्द नित्य ही हैं, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

ननु यदि देवादयो विग्रहयोगादनित्या इष्यन्ते, नित्यास्तु वैदिकाः शब्दाः, तथा च वृत्तौ विरोधः प्राप्नोति। प्रलीय पुनः प्रभवो जगत आवृत्तिः। तत्र तावत् प्रलीयमानानां देवादीनां प्रलीयमानान्येव नामरूपाणि स्युः। तानि पुनरन्यस्मिन् सृष्टिपर्यये प्रभूयमानानां तेषां तेषां देवादीनामन्यान्येव यदृच्छयोपकल्पितानि प्रभवेयुरिति प्राप्नोति। विग्रहयोगाद्धि देवादीनामप्यस्मदादिभिः सामान्यं कृतं स्यात् अस्मदादीनां च प्रेत्यभावे नामरूपाणि भिद्यन्ते तत एव च पूर्वजन्मसिद्धास्तत्तन्नामरूपव्यवहारा निवर्तन्ते। एवमविशेषादमीषामपि परकल्पजातानां पूर्वकल्पसिद्धा वैदिका नामरूपव्यवहारा निवर्तेरन् अपराश्चापराश्च कल्पेरन्। तथा चावश्यममीषां वैदिकनामरूपव्यवहाराणामप्यनित्यत्वं प्राप्तं भवति। अनित्यार्थानित्यरूपोपकल्पितानां नाम्नामनित्यताया नाप्राप्तत्वात्।

प्रश्न होगा कि यदि शरीरधारी होने से देवता आदि को अनित्य के रूप में स्वीकार किया जा रहा है, तब वेदों के शब्द तो नित्य हैं, तब आवृत्ति में विरोध होगा। जगत् का लय होकर पुनः उत्पन्न होना ही उसकी आवृत्ति है। तब होगा तो यही कि पूर्व जगत् के लय होने की स्थिति में देवों का भी लय हो जायेगा और उनके नाम और रूप का भी लय हो जायेगा। प्रलीन हुए देवादि के नाम और रूप पुनः सृष्टि होने पर उनके पुनः उत्पन्न होने पर भी जब उनके नाम और रूप होंगे तो वे पहली सृष्टि के नाम और रूप

से भिन्न होंगे और इच्छा से कल्पित होंगे, यही बात तो समझ में आती है। देव आदि भी जब शरीर धारी हैं तब हम लोगों से कई बातों में उनकी समानता होगी ही। हम लोगों में मृत्यु हो जाने पर नाम और रूप भिन्न हो जाते हैं, इसीलिए पूर्वजन्म के निश्चित नाम रूप और व्यवहार निवृत्त हो जाते हैं। इसीप्रकार शरीरधारी होने में विशेषता का अभाव होने के कारण जब ये देव आदि दूसरी सृष्टि या दूसरे कल्प में उत्पन्न होंगे, तब पूर्व कल्प में सिद्ध जो इनके नाम रूप और व्यवहार थे वे निवृत्त हो जायगे, उनसे भिन्न दूसरे दूसरे नाम रूप और व्यवहार कल्पित होंगे। और इस प्रकार अवश्य ही इन वेदों में प्रयुक्त नाम रूप और व्यवहारों की अनित्यता भी चली आयेगी। अनित्य अर्थों के लिए अनित्य रूपों की अनित्यता नहीं संभव है, ऐसा तो नहीं है।

वैदिकास्तु नामशब्दा नित्यत्वान्न विपर्यस्येयुः प्रलीयप्रभवेऽप्येकरूपास्तिष्ठेयुरिति कथमेषां वैदिकशब्दानामलब्धप्राक्कल्पीयविषयाणां सामर्थ्यमिदानीं कल्पे स्यात्। तस्माद्देवादीनां विग्रहवत्त्वानित्यत्वयोरभ्युपगमे वेदनित्यतावादिनामावृत्तौ विरोधः प्राप्नोतीति चेत् सत्यम्। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो द्रष्टव्यः।

तथा हि—इमौ तावज्जगतः प्रलयप्रभवावीश्वरस्य हिरण्यगर्भस्य स्वापप्रबोधविध्येते। यथा चायं जीवः सुप्त्वा प्रतिबुध्यते एवमयं हिरण्यगर्भः सुप्त्वा प्रतिबुध्यते। स यथा जीवः पूर्वप्रबोधवदेव सर्वान् नामरूपव्यवहारानविशेषमुत्तरप्रबोधे कुरुते एवमयमीश्वरो हिरण्यगर्भः पूर्वसृष्टिवदेव सर्वान्नामरूपव्यवहारानविशेषमुत्तरसृष्टौ कुरुते।

वेदों के संज्ञा वाचक शब्द नित्य हैं, प्रलय में भी वे अव्यवस्थित नहीं होंगे, पुनः नवीन सृष्टि में भी वे पूर्व सृष्टि की तरह ही उसी रूप में स्थित रहेंगे, (परन्तु इन शब्दों के पुराने कल्प के अर्थों का तो लय हो गया, अब वे सब तो नए होंगे,) तब इन वेद शब्दों को जब अपने पुराने अर्थों का योग नहीं मिला तो इनका इस कल्प में सामर्थ्य कहां रहेगा। इसलिए देव आदि को शरीर धारी और अनित्य दोनों मानने में वेद को नित्य मानने वाले सिद्धान्त में सृष्टि की पुनरावृत्ति होने पर विरोध प्राप्त होगा। यह प्रश्न उपस्थित होता है और बात सच है। इसका उत्तर है कि नई सृष्टि में भी देव आदि के नाम और रूप पूर्व सृष्टि के समान ही होते हैं इसलिए जिस विरोध की आशंका है उसका निवारण हो जाता है।

इस प्रकार समझना होगा कि इस जगत् के प्रलय तथा उत्पत्ति को हिरण्यगर्भ ईश्वर के शयन और जागरण के रूप में बतलाना वेदों को अभीष्ट है जैसे यह जीव शयन करके जागता है वैसे ही हिरण्यगर्भ शयन करता और जागता है। वह जीव जैसे शयन काल के पूर्व के ही नाम रूप और व्यवहार शयन से जागने के उपरान्त चलाता है, वैसे ही यह हिरण्यगर्भ ईश्वर पूर्व सृष्टि के समान ही बिना विशेषता के सभी नाम रूप और व्यवहारों का प्रवर्तन उत्तर सृष्टि में करता है।

ननु चेह जीवस्वापे सर्वव्यवहारानुच्छेदाद् व्यवह्रियमाणानामर्थानां समाननामरूपत्वमर्थसिद्धं भवति। प्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदात्पूर्वव्यवहारस्योत्तरसृष्टावनुसन्धातुमशक्यत्वान्नाविशेष इति चेन्न।

दर्शनात् स्मृतेश्च—

तथा हि—

—"यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति

अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति। श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति। मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते। यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवाः देवेभ्यो लोकाः"—

इति कौषीतक्यादिश्रुतिभ्यः स्वापप्रबोधयोरेव प्रलयप्रभवत्वप्रतिबोधनादमुष्य हिरण्यगर्भस्वापस्य जीवस्वापेन तुल्यत्वावगमादिह यथा जीवस्वापे सुषुप्तस्य स्वापकाले यावद्व्यवहारोच्छेदेऽपि पुरुषान्तरव्यवहारानुच्छेदाद् दृश्यन्ते प्रबुद्धस्य तस्य प्राक्संस्कारवतः समाननामरूपव्यवहाराः। एवममुष्य हिरण्यगर्भस्य स्वापकाले तदीययावद्व्यवहारोच्छेदेऽपि हिरण्यगर्भान्तरव्यवहारानुच्छेदादनुवर्तन्ते निर्विशेषं प्रबुद्धस्य तस्य प्राक्संस्कारवतः समाननामरूपव्यवहाराः।

प्रश्न होता है कि जीव के शयन में समस्त व्यवहारों का समापन तो होता नहीं अतः व्यवहार में आने वाले अर्थों का समान नाम रूप और व्यवहार अर्थ सिद्ध ही रहता है। किन्तु प्रलय में तो समस्त व्यवहार मूलतः समाप्त हो जाते हैं, अतः पूर्व सृष्टि के व्यवहारों का प्रलय के उपरान्त होने वाली नवीन सृष्टि में अनुसन्धान होना असंभव है। अतः जीव के शयन और जागरण में तथा प्रलय और उसके उपरान्त होने वाली सृष्टि में कोई विशेषता नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। [विशेषता की आशंका है, जीव के स्वप्न में व्यवहार का मूलतः उच्छेद नहीं होता, पूर्व का अनुसन्धान जागरण होने पर बना रहता है, परन्तु प्रलय में पूर्व के नाम रूप और व्यवहारों का मूलतः समापन हो जाता है, तब आगे होने वाली सृष्टि में पूर्व की सृष्टि के नाम रूप और व्यवहारों का अनुसन्धान कैसे होगा]। उत्तर में कहा जाता है कि यह शंका नहीं होनी चाहिए।

—"दर्शन से और स्मृति के कारण"—

—"कौषीतकी उपनिषद् के वाक्यों में कहा गया है कि"—

—"जब शयन काल में कोई स्वप्न नहीं देखता, तब प्राण ही एक रूप में रहता है, तब वाणी अपने सभी नामों के साथ इसमें (प्राण में) विलीन हो जाती है, आंख

अपने समस्त रूपों के साथ इसमें लीन हो जाती हैं, कान अपने समस्त शब्दों के साथ इसमें लीन हो जाते हैं, मन अपने समस्त ध्यान के साथ इसमें लीन हो जाता है। वह जब जागता है तब जैसे प्रज्वलित विशाल अग्नि के ढेर के अङ्गार सभी दिशाओं में छिटकते हैं, उसी प्रकार जागरण के अनन्तर सभी प्राण अपने अपने आयतनों की ओर फैलते हैं, प्राणों से देवता विस्तार प्राप्त करते हैं और उनसे लोक प्रकाशित होते हैं"—

इस सन्दर्भ में शयन और जागरण को ही प्रलय और सृष्टि के रूप में चित्रित किया गया है और इस हिरण्यगर्भ के शयन की जीव के शयन से समानता बतलाई गई है। उसमें जैसे जीव के शयन में उस काल में शयनकर्ता के समस्त व्यवहार उच्छिन्न (अज्ञात) हो जाने पर भी दूसरे पुरुषों के व्यवहारों का समापन नहीं होता और जागने पर पुराने संस्कारों के कारण वही नाम रूप और व्यवहार प्रयोग में आते हैं, वैसे ही उस हिरण्यगर्भ की भी शयन अवस्था में उसके समस्त व्यवहारों के विलीन हो जाने पर भी, अन्य हिरण्यगर्भ के व्यवहारों के विलीन या उच्छिन्न न होने के कारण उसके जागरण काल में (सृष्टि काल में) पुराने संस्कारों के कारण वैसे ही नाम रूप और व्यवहार अनुगत हो जाते हैं। जीव और हिरण्यगर्भ में इस सन्दर्भ में कोई विशेषता नहीं रहती।

अथ यथास्य जीवस्य प्रेत्य जन्मान्तरसंभवस्तथास्य हिरण्यगर्भस्य महाप्रलयोत्तरं पुनः संभवः। तत्र यद्यपि सर्वव्यवहारप्रवर्तकस्य वेदस्य विज्ञानापरपर्यायस्य स्वयं पूर्वजन्मवत् सर्वविषयावगाहितया प्रतिभानं न सामान्येन दृश्यते तथापि यथा जीवस्य नवजातस्य गुरुशिक्षया विज्ञानं प्रसीदति एवममुष्य हिरण्यगर्भस्य नवजातस्येश्वरस्य परमेश्वरानुग्रहात् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानं श्रूयते—

—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"—इति।

तथा च पारमेश्वरविज्ञानात्मको वेदो महाप्रलयोत्तरं नवजातहिरण्यगर्भायेश्वराय परमेश्वरकृपयैव संपद्यते तदनुसारेणैव च स हिरण्यगर्भः सर्वमर्थं यथायथं प्राग्वज्जनयतीति विद्वांसः पश्यन्ति। श्रूयते च—

—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इति।
स्मर्यते च—
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥

अथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ।।
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह ।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ।।" इति ।

अब जैसे इस जीव की मृत्यु के अनन्तरपुनः उसे दूसरा जन्म प्राप्त होता है वैसे ही इस हिरण्यगभ का भी महाप्रलय के उपरान्त पुनः उद्भव होता है । वहां यद्यपि समस्त व्यवहार के संचालक विज्ञान या वेद का, जिसमें समस्त विषयों का समावेश है, उसका पूर्वजन्म की तरँह अनुसन्धान या प्रतिभान सामान्यरूप से देखने में नहीं आता-(मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त उसके पुनर्जन्म धारण करने पर सभी मनुष्यों को सामान्यरूप से पूर्वजन्म की स्मृति और वैसे नाम रूप और व्यवहार प्राप्त नहीं होते) तथापि नवीन जन्म होने पर जीव को गुरु के पास शिक्षाग्रहण करने पर जैसे विज्ञान की प्राप्ति होती है, वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होने वाले इस हिरण्यगर्भ ईश्वर को परमेश्वर के अनुग्रह से पूर्वसृष्टि के नाम रूप और व्यवहारों का अनुसन्धान हो जाता है ऐसा वेद में सुना जाता है—

—"सृष्टि के आदि में जो ब्रह्मा को समुत्पन्न करता है, और जो उसे पूर्वसृष्टि के नामरूप व्यवहारात्मक वेदों का उपदेश प्रदान करता है, जो देव आत्मा और बुद्धि को प्रकाशित करने वाला है, मैं उसी का अभिलाषी उसकी शरण ग्रहण करता हूं"—

इसके अनुसार परमेश्वर के विज्ञान रूपी वेद महाप्रलय के अनन्तर नवीन उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ ईश्वर को परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त हो जाते हैं और उसी के अनुसार वह हिरण्यगर्भ सभी अर्थों की पूर्व सृष्टि के अनुसार ही सृष्टि कर देता है, ऐसा विद्वान्गण देख रहे हैं इन वैदिक सन्दर्भों में । पुनरपि सुना जाता है कि—

—"विधाता ने सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष (आदि) को यथापूर्व (पूर्व सृष्टि के समान) कल्पित किया"—

स्मृतियों में भी आया है कि—

—"रात्रि के अनन्तर (प्रलय के उपरांत क्योंकि ब्रह्मा की रात्रि को ही प्रलय की संज्ञा दी गयी है) उत्पन्न होने वाली सृष्टि के ऋषियों को विधाता वे ही नाम और वे ही वेद प्रदान करते हैं जो पूर्व सृष्टि में इनको प्राप्त थे । जैसे ऋतुओं में ऋतुओं के अनेक रूपों वाले चिन्ह परिवर्तन होने पर स्वतः दिखाई देते हैं, वैसे ही एक सृष्टि का लय होने पर दूसरी सृष्टि के समस्त तत्त्व प्रादुर्भूत हो जाते हैं ।

—"तत्त्वों के अभिमानी देवगण भी अपनी पूर्व सृष्टि में स्थित नामों और रूपों के साथ इस नवीन सृष्टि में भी प्रादुर्भूत हो जाया करते हैं—"

तथा चेत्थं दर्शनात् स्मृतेश्च सिद्धात् समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधः सिद्धः ।

नन्वस्तु वेदानां नित्यत्वम् । अस्तु वा कर्मणि शब्दे चावृत्तौ च विरोधपरिहारा-द्देवादीनां विग्रहवत्त्वम् । अस्तु वा तेषां शक्तत्वमर्थित्वमपर्युदस्तत्वं प्रतिभातवेदत्वं च । तथापि नैषां तावद्यज्ञादौ कर्मण्यधिकारः सिद्धान्तयितुमिष्यते देवानां देवतान्तराभावाद् ऋषीणामार्षेयान्तराभावाच्च । न हीन्द्रादीनामिन्द्राद्युद्देशेन किञ्चित् कृत्यमस्ति न वा भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया । तस्मादेषां देवादीनां यथा कर्मण्यनधिकारः प्राप्नोति एव-मेवैतेषां मध्वादिष्वसंभवाद् विद्यायामप्यनधिकारं जैमिनिरभ्युपैति । अस्ति हि मधुविद्या—

—"असौ वा आदित्यो देवमधु"—

इत्यारभ्य समाम्नाता । तत्र यथा मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासते न तथा देवाः शक्नुवन्ति कर्तुम् । कं हि नामान्यमादित्यमयमादित्य उपासीत । अपि च—आदित्य-व्यपाश्रयाणि पञ्चरोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्चदेवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यतीत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्ति दर्शयति । वस्वादयस्तु कानन्यान् वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः, कं चान्यवस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः । अपि च—

—"अग्निः पादो वायुः पादः आदित्यः पादो दिशः पादः ।

वायुर्वाव संवर्गः । आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ।"

इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः संभवति ।

इस प्रकार वेद और स्मृतियों के आधार पर पूर्व सृष्टि के समान ही उत्तर सृष्टि के नाम रूप और व्यवहारों की आवृत्ति में विरोध नहीं आता ।

पुनः प्रश्न होता है कि मान लिया कि वेद नित्य है, यह भी मान लिया कि पूर्व सृष्टि के नाम रूप और व्यवहारों की उत्तर सृष्टि में आवृत्ति होने से विरोध का परिहार हो गया यौर देवता शरीरधारी सिद्ध हो गए । यह भी सिद्ध मान लिया कि ये देवगण अनेक सहजात शक्तियों से सम्पन्न हैं, इनमें अर्थित्व है, ये अपर्युदस्त हैं और इनमें वेद प्रतिभासित हैं । तो भी यज्ञ के सम्पादन करने में भी इनका अधिकार है यह बात सिद्धांत रूप से स्वीकार करने में बाधा है, क्योंकि देवों के यज्ञ करने पर (यज्ञ में आकर हवि ग्रहण करने वाले) दूसरे देवगण इनसे भिन्न हैं ही नहीं, ऋषियों से भिन्न दूसरे आर्षेय हैं ही नहीं । इन्द्र आदि के लिए इन्द्र आदि को उद्देश्य बनाकर कोई यज्ञीय कृत्य तो होता नहीं (यज्ञ में तो यजमान इन्द्र आदि देवों को तृप्त करने के लिऐ आहुति प्रदान करता है । जब इन्द्र आदि स्वयं यज्ञ के सम्पादक के रूप में आहुति दे रहे हैं तो अन्य किस देव को

उद्देश्य बनाकर वे आहुतियां प्रदान करें) भृगु आदि ऋषियों का भी भृगु आदि के सगोत्र होने पर यज्ञ में कोई कृत्य नहीं रह जाता। इसलिए इन देव आदि का जैसे यज्ञ आदि कर्मों में कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता है वैसे ही मधु आदि विद्याओं में भी इनका अधिकार असम्भव होने से विद्या में भी इनके अधिकार की कोई सम्भावना नहीं है यह महर्षि जैमिनि का मानना है। मधु विद्या नाम की एक प्रशस्त विद्या है—

—"यह आदित्य ही मधु है"—

इस प्रकार प्रारम्भ करके इस मधु विद्या का विवरण दिया जाता है। जैसे आसन स्थित होकर मनुष्य आदित्य में स्थित मधु की उपासना करते हैं, वैसी उपासना देवगण नहीं कर सकते। क्योंकि यदि आदित्य भी मधु विद्या की उपासना में लगे तो उसका उपास्य बनने के लिए अन्य कौनसा आदित्य उपलब्ध होगा। मधु विद्या की उपासना में आदित्य के उद्देश्य से पांच रोहित आदि अमृतों का उपक्रम करके, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत तथा साध्य ये पांच देवगण क्रम से उस अमृत का उपभोग करते हैं यह बतलाकर, जो इस अमृत को अपने उक्त स्वरूप में जानता है, वह वसुओं में से एक का रूप ग्रहण करता हुआ अपने अग्नि रूप मुख से इसी अमृत का दर्शन प्राप्त करके तृप्त हो जाता है, इत्यादि विवरण करते हुए वसु आदि देवगणों के द्वारा उपजीव्य अमृत का ज्ञान प्राप्त करने वालों को वसु आदि की महिमा की प्राप्ति हो जाती है यह कहा गया है। जब वसु आदि देवगण स्वयं ही मधु विद्या के उपासक मान लिये जायेंगे तो वे अमृत के उपभोग करने वाले दूसरे किन वसु आदि का ज्ञान प्राप्त करेंगे तथा अन्य किन वसु आदि देवों की महिमा प्राप्त करने की अभिलाषा करेंगे। अथ च

—"अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशाएं पाद हैं। वायु संवर्ग है, आदित्य ब्रह्म है, वह आदेश है"—

इत्यादि देवताओं को आत्मा मानकर जो उपासनाएं विहित हैं उन उपासना के स्थलों पर उन्हीं देवात्माओं का उपासनाओं में अधिकार सम्भव नहीं है।

अपि च –

—"इमावेव गोतमभरद्वाजौ अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः"—

इत्यादिष्वृषिसंबन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षिणामधिकारः संभवति।

—"ज्योतिषि भावाच्च"—

—"चित्रं देवानामुदगादनीक"—

मिति मन्त्रवर्णादमुष्मिन् द्युस्थाने सौरज्यौतिषि सर्वे देवाः भवन्तीति विज्ञायते। तस्य च ज्योतिषो मृदादिवदचेतनत्वावगमान्न तद्विशेषरूपाणाममीषां देवानां कर्मणि विद्यायां वाधिकारः संभवति।

अपर आह । "ज्योतिषि भावाच्च"—

—"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्"—

इति श्रुतेरमीषां देवानां परस्मिन् ज्योतिषि भाव औपासनिकः श्रूयते । तथा चामीषां ज्योतिष्येवाधिकारभावात् परज्योतिषोऽन्यत्र देवयजनादिकर्मणि देवताविशेषोपासनात्मकविद्यायां वाऽधिकाराभावः सिद्धो भवति इति जैमिनिः प्रत्यवतिष्ठते ।

इसी प्रकार—

—"यही गौतम तथा भरद्वाज हैं, यही गौतम हैं, यह भरद्वाज हैं"—

इत्यादि ऋषिगण जिन उपासनाओं में उपास्य रूप में उपदिष्ट हैं उन उपासनाओं के सम्पादन में उन्हीं (गौतम, भरद्वाज आदि) ऋषियों का अधिकार (उपासक रूप से] संभव नहीं है

—"ज्योति में भाव के कारण (अधिकार नहीं है)"—

—"देव समूह का विचित्र उदय हुआ"—

इस मन्त्र के अक्षरों से उस आकाश प्रदेश में सूर्य को ज्योति में सभी देवताओं की स्थिति का ज्ञान होता है । वह ज्योति मिट्टी आदि के समान ही अचेतन के रूप में ज्ञात है, तब उसी के विशेष रूपों में संस्थित इन देवताओं का कर्मों के सम्पादन और विद्याओं को ग्रहण करने में अधिकार होना सम्भव ही नहीं है ।

यहीं दूसरा भी मत है,—"ज्योति के भाव के कारण"—

—"उस ज्योतियों की ज्योति अमृत आयु (तत्व) की देवगण उपासना करते हैं"—

इस श्रुति के आधार पर इन देवताओं का परमज्योति में उपासना का अधिकार सुना जाता है । इसी के आधार पर महर्षि ने अपना यह सिद्धांत स्थिर किया ।

देवताओं का उपासना करने का अधिकार केवल परम ज्योति में ही है । इस प्रकार परम ज्योति में ही केवल अधिकार श्रवण के कारण परम ज्योति के अतिरिक्त देवताओं के उद्देश्य से सम्पादित होने वाले यज्ञ यागादि कर्मों में तथा विशेष देवताओं की उपासना की विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है यह सिद्ध होता है ।

भावं तु तेषामधिकारस्य बादरायणो मन्यते । तथा हि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रासु उपास्यत्वोपासकत्वयोरेकत्रासंभवादवकल्पतेऽधिकाराभावस्तथापि न सर्वत्राविशेषेणानधिकारः शक्य उत्प्रेक्षितुम् । न च क्वचिदसंभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्य-

धिकारोऽपोद्येत । अन्यथा मनुष्याणामपि सर्वेषां ब्राह्मणादीनामविशेषेण सर्वेषु राजसूया-दिष्वधिकारो नास्तीति कृत्वा सर्वत्रानधिकारः प्रसज्येत । अस्ति हि देवादीनां विद्याया-मधिकारसमर्पिका श्रुतिः—

—"तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्"—इति ।

—"ते होचुः—हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकाना-प्नोति सर्वांश्च कामान्"—इति ।

—"इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज, विरोचनोऽसुराणाम्"—इत्यादिः ।

अथवा न केवलमस्यां ब्रह्मविद्यायामेवाधिकारः । श्रूयते हि—

—"अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्यामिति,

स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्,

ततो वै सोऽन्नादो देवानाभवत् । अग्निर्वै देवानामन्नादः"—इति ।

तथा—

—"इन्द्रो वा अकामयत ज्यैष्ठ्यं देवानामभिजयेयमिति स एतमिन्द्राय ज्येष्ठाय पुरोडाशमेकादशकपालं निरवपत् महाव्रीहीणाम्, ततो वै स ज्यैष्ठ्यं देवानामभ्यजयत्"—इत्यादि ।

परन्तु महर्षि बादरायण यज्ञ यागादि कर्मानुष्ठान और मधु विद्या आदि महा-महिमाशालिनी विद्याओं के अध्ययन में देवताओं तथा ऋषियों के अधिकार को स्वीकार करते हैं । इस पक्ष का समर्थन इस प्रकार होता है कि देवता आदि को उपास्य रूप में प्रकट करने वाली मधु विद्या आदि विद्याओं में उपास्य और उपासक दोनों एक ही नहीं हो सकते इस आधार पर देवताओं के लिए अध्ययन का अधिकार इनके प्रति यद्यपि सिद्ध नहीं होता तो भी सामान्यतया सभी विद्याओं के विषय में देवताओं तथा ऋषियों को अध्ययन का अधिकार है ही नहीं यह समझना उचित नहीं । यदि कहीं किसी का अधिकार संभव नहीं होता तो उसके निर्देशन से जहां उसका अधिकार संभव है वहां से भी उसके अधिकार का निषेध समझा जाय तो वह वस्तुस्थिति का अपलाप करना होगा । क्योंकि ऐसा होने पर तो मनुष्यों पर भी यह बात लागू होगी कि ब्राह्मणों को राजसूय आदि यज्ञों के अनुष्ठान का अधिकार नहीं है तो [जिसका कहीं किसी अनुष्ठान में अधिकार नहीं, उसका कहीं भी अधिकार नहीं इस उपर्युक्त देवता विचार में निष्कर्ष रूप में बनाये गये नियम से] ब्राह्मण का किसी भी यज्ञ के अनुष्ठान में अधिकार नहीं रह जायेगा । देवताओं का भी विद्याओं में वेदबोधित अधिकार है—

—"तब जो जो देवताओं में जाग गया वह वही हो गया, ऐसा ही ऋषियों में हुआ और मनुष्यों में भी ऐसा ही हुआ"—

—"उन्होंने कहा- हम उस आत्मा को चाहते हैं जिस आत्मा का अन्वेषण करके सभी लोकों को प्राप्त किया जा सकता है तथा सभी कामनाओं को प्राप्त किया जा सकता है"—

—'देवताओं में इन्द्र गया, असुरों में विरोचन गया"— इत्यादि।

अथवा देवता आदि का अधिकार केवल इस ब्रह्म विद्या में ही हो ऐसा नहीं है, अपितु सभी कर्मों तथा सभी विद्याओं में बिना किसी भेदभाव के देवादि का अधिकार है। सुना जाता है कि—

—"अग्नि ने कामना की कि मैं देवताओं का अन्नाद बनूं, उसने इस अग्नि के लिए कृत्तिका के उद्देश्य से अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्माण किया उसके उपरान्त वह देवताओं का अन्नाद हो गया, निश्चय ही अग्नि देवताओं का अन्नाद है"—

पुनश्च—

—"इन्द्र ने कामना की कि मैं देवताओं में जो ज्येष्ठता है उसका अधिकार प्राप्त करने में विजय प्राप्त करूं। उसने इस इन्द्र के लिए एकादश कपाल के पुरोडाश का निर्माण किया, यह पुरोडाश सुन्दर व्रीहि से (चावल के भात से) निर्मित था। उसके अनन्तर इन्द्र ने देवताओं में ज्येष्ठता पर विजय प्राप्त की"— इत्यादि—।

एतेन पूर्वपूर्वाग्नीन्द्रादियजनेनोत्तरेषामग्नीन्द्रादिदेवानामैश्वर्यादिप्राप्तिः कर्मफलभूदित्यवगम्यते। एवमत्र मध्वादिविद्यासु भविष्यति। वस्वादिदेवानां कल्पभेदेन भिन्नतयोपास्योपासकभावस्योपपत्तेः। किञ्च अस्ति हि मध्वादिषु संभवो, ब्रह्मण एव सर्वत्र निचाय्यत्वात्। तथा हि। विद्याया ब्रह्मोपनिषत्वश्रवणाद् वस्वादिभोग्यभूतादित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं तदवस्थस्य ब्रह्मण एवेत्यवगम्यते। तथा च कार्यकारणोभयावस्थं ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वसुरुद्रादिभावं प्राप्य तदन्ते कारणात्मकं परं ब्रह्मैवाप्नोतीत्युपासनफलं भवति। ईदृशं चेदमुपासनमादित्यवस्वादीनामपि संभवति। तस्मादस्ति कर्मणि विद्यायां च विशेषेण देवादीनामप्यधिकार इति सिद्धम्।

इस संदर्भ से पहिले के अग्नि इन्द्र आदि के द्वारा सम्पादित यजन कर्म से आगे के अग्नि इन्द्र आदि देवताओं को ऐश्वर्य आदि की उपलब्धि हुई, वह उन सम्पादित कर्मों के फल के रूप में उन्हें प्राप्त हुई थी ऐसा समझा जाता है। वही बात यहां मधु विद्या आदि के प्रसंग में भी समझी जा सकती है, क्योंकि वसु आदि देवताओं की उपास्य उपासक स्वरूप की सिद्धता कल्प भेद के आधार पर सिद्ध हो जाती है- [जो पहिले की सृष्टि के वसु आदि देवगण थे।)

दूसरी बात यह भी है कि मधु विद्या आदि विद्याओं में भी देवों आदि के अध्ययनाधिकार की सम्भावना है, क्यों कि सर्वत्र अध्येतव्य विद्याओं में ब्रह्म ही ज्ञातव्य है। इस विषय का स्पष्टीकरण यह है कि विद्या-मात्र का दूसरा नाम ब्रह्मोपनिषद् है, यह श्रुति में सुना जाता है। तब वसु आदि देवताओं का भोग्य रूप आदित्य का जो अंश है उसकी उपासना का विधान (मधु विद्या) उस अवस्था में स्थित ब्रह्म की ही उपासना का विधान है यह ज्ञात होता है। इस प्रकार कार्य अवस्था और कारण अवस्था में इन दोनों अवस्थाओं में संस्थित ब्रह्म की उपासना करने वाला आगे के कल्प या भाविनी सृष्टि में वसु रुद्र, आदि के स्वरूप (पद) को प्राप्त कर उसके उपरांत सबके कारणभूत परमब्रह्म को ही प्राप्त करता है, ऐसा उपासना का फल कहा गया है। इस प्रकार की यह उपासना आदित्य वसु आदि देवगण भी कर सकते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि यज्ञ यागादि कार्यों में तथा विद्याध्ययन में विशेष रूप से देवता आदि का भी अधिकार है।

यत्तु ज्योतिषि देवानां स्वरूपसत्वान्नाधिकार इत्याक्षिप्तम् तन्न। भूतधातूनामग्निवायुविद्युदादित्यानां ज्योतिषामन्येषां चाचेतनत्वेऽपि तदधिष्ठातारो देवतात्मानश्चेतना देवा इष्यन्ते।

—"मृदब्रवीत्, आपोऽब्रुवन्"—

इत्यादि चेतनव्यवहाराणामन्यथानुपपत्तेश्च स्वस्वाधिष्ठाने स्थिता अन्यत्रापि यथेच्छं गन्तुं शक्नुवन्ति। अस्ति हि देवानामैश्वर्ययोगाज्ज्योतिराद्यात्मभिरवस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। श्रूयते हि सुब्रह्मण्यार्थवादे —

—"मेधातिथिं ह काण्ववायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार"—

—इति। अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलको योगः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्।

> "पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
> न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥"

इत्यादि श्रुतेर्योगमाहात्म्यस्य प्रख्यापितत्वात्। तस्मादाजातसिद्धानां योगिनामेषां देवानामस्ति नानाविग्रहग्राहित्वमिति नानुपपत्तिरधिकारस्य। तस्मादस्ति देवानामप्यधिकार इति सिद्धम्।

यह जो सन्देह प्रकट किया गया कि देवताओं का स्वरूप ज्योतिर्मय होने से उनका विद्याध्ययन और यज्ञ यागादि कर्मों के सम्पादन में अधिकार नहीं बनता, तो ऐसा नहीं समझना चाहिये। पंचमहाभूतों के धातु के रूप में अवस्थित अग्नि, वायु, विद्युत, आदित्य आदि ज्योतियों तथा पृथ्वी आदि अन्यों के अचेतन होने पर भी उनके अधिष्ठाता देवता आत्मा वाले चेतन देवता अभीष्ट हैं।

—"मिट्टी बोली, जल बोले"—

इत्यादि चेतने में होने वाले 'बोलने आदि' व्यवहारों की इस प्रकार के चेतनाधिष्ठत मानने के अतिरिक्त और कोई तर्कसंगतता नहीं है अतः ये अभिमानी (तत्तत् तत्त्वों के) के देवगण अपने अपने आश्रय में स्थित होते हुए इच्छा होने पर अन्यत्र भी जा सकते हैं। देवताओं में ऐश्वर्य नामक सिद्धि का योग होने के कारण ज्योति के रूप में अपने को स्थित रखने का और इच्छानुसार अनेकानेक रूपों को धारण करने का सामर्थ्य है। सुब्रह्मण्य अर्थवाद में सुना जाता है कि —

—"काण्वायन मेधातिथि का इन्द्र मेष का रूप बनाकर हरण कर ले गया"—

अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति का फल रूपी संयोग स्मर्यमाण होकर साहस मात्र से निषिद्ध नहीं किया जा सकता।

—"पृथिवी जल तेज वायु आकाश में पञ्चात्मक योग गुण के उत्थित और प्रवृत्त होने पर, उस योगी को योगाग्निमय शरीर की उपलब्धि हो जाती है, उसको न रोग होता है और न ही वृद्धावस्था या मृत्यु उसके पास तक पहुच पाती हैं"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा योग के महात्म्य के प्रख्यापित किये जाने से उक्त निष्कर्ष सामने आ जाता है। अतः देवत्व प्राप्ति के साथ ही समस्त सिद्धियों से सम्बद्ध हो जाने वाले इन देवताओं में अनेक प्रकार के शरीरों का धारण करने का सामर्थ्य होने से अध्ययन तथा कर्मों में अधिकार प्राप्ति में कोई तर्कसिद्ध अड़चन नहीं आती यह सिद्ध हुआ।

शूद्रमनुष्यादिकारविमर्शस्तृतीय:

ननु कर्ममीमांसोक्तस्याधिकारनियमस्येत्थं प्रत्याख्याने यथाऽधिकारसमर्पकलिङ्गश्रवणाद् देवादीनामविशेषेण कर्मणि विद्यायां चाधिकारः समर्थितस्तथा मनुष्येषु शूद्राणामप्यविशेषेणाधिकारः प्रसज्यते। संवर्गविद्यायां शूद्राधिकारबोधकलिङ्गश्रवणात्। तत्र हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुमाचार्यो रैक्वः शूद्रशब्देन परामृशति—

—"अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु"—

—"आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा"—इति।

तस्मादस्ति विद्यायां शूद्रस्याधिकार इति प्राप्ते उच्यते। न शूद्रस्याधिकारोऽस्ति। शूद्राधिकारसमर्पकलिङ्गस्य कुत्राप्यश्रवणात्। यत्तु संवर्गविद्यायां जानश्रुतेः शूद्रशब्देन परामर्शो लिङ्गमुक्तं तन्न। पदार्थानवबोधात्।

तत्र हि हंसयोः कथाप्रसंगे स्वस्यानादरं श्रुतवतोऽस्य जानश्रुतेः राज्ञः शुगुत्पेदे। तया शुचा निमित्तेन रैक्वसमीपे तस्य राज्ञ आद्रवणात् तस्येयमुत्पन्ना शुगनेन शूद्रशब्देन सूच्यते न तु जातिशूद्रत्वम्। शुचा द्रवतीति शूद्र इति व्युत्पत्तेर्लिलक्षयिषितत्वात्।

तृतीय विमर्श

यहां प्रश्न होता है कि कर्म मीमांसा में कहे गये अधिकार के नियम का इस प्रकार गला घोट देने से, अधिकार के अनुसार सम्पर्क चिन्ह के सुनने पर देव आदि का यज्ञ यागादि कर्मों तथा विद्याध्ययन में अधिकार का जो समर्थन किया गया उससे तो शूद्रों को भी ब्राह्मणादि के समान ही कर्म सम्पादन तथा विद्याऽध्ययन में समान रूप से अधिकार प्राप्त हो जायेगा। क्योंकि संवर्गविद्या में शूद्र के अधिकार को बतलाने वाला चिन्ह वेद में विद्यमान है। वहां पौत्रायणि जनश्रुति जो सेवा की इच्छा रखता था उसे रैक्व ऋषि ने शूद्र शब्द से सम्बोधित किया है—

—"ओ हो हो अरे शूद्र! गौओं के साथ तेरी समानता हो"—

—"शूद्र, तू इसे ले आ, तू इसी मुख से बोलना"—

इसलिए विद्या प्राप्ति में शूद्र को अधिकार प्राप्त है, इस विचार के उपस्थित होने पर हमारा कथन है कि शूद्र का यज्ञ यागादि कर्मों के अनुष्ठान तथा मधु विद्या आदि विद्याओं के अध्ययन का अधिकार नहीं है। क्योंकि वेद म शूद्र को कर्मों के सम्पादन तथा विद्याओं के अध्ययन के अधिकार का बोधन करने वाला कोई चिन्ह कहीं प्राप्त नहीं है। यह जो जानश्रुति का शूद्र शब्द से सम्बोधन का चिन्ह बतलाया गया वह युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा अर्थ प्रकट करते समय वहां के शब्दों के अर्थों पर ध्यान नहीं दिया गया।

यहां दो हंस पक्षियों की कथा में प्रसंग आने पर अपना अनादर सुन कर राजा जानश्रुति के मन में शोक उत्पन्न हुआ। उस शोक के कारण उस राजा के रैक्व ऋषि के पास जाने से उसके भीतर उत्पन्न हुए इस शोक को यहां शूद्र शब्द से कहा गया है न कि जाति से उसे शूद्र बतलाया गया है। जो शोक से द्रवित हो जाय विह्वल हो उठे वह शूद्र होता है यह शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति यहां लक्षित हो रही है।

ननु कथमिदं गम्यते तत्र शूद्रशब्दो जातिशूद्राभिप्रायो नास्तीति चेद्—अनधिकारादेवेति ब्रूमः।

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्।

उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते।

—"अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे"

—इति । तत्रायमभिप्रतारी चैत्ररथो नाम क्षत्रपतिर्विज्ञायते कापेययोगात् ।

"एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्"—

इति श्रुत्या चैत्ररथस्यैव क्षत्रपतेः कापेययोगावगमात् । तेन च क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनमस्य जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति ।

प्रश्न होता है कि यह कैसे मालुम हुआ कि यहां का शूद्र शब्द जाति अर्थ में नहीं है, इसके उत्तर में यही कहना है कि शूद्र वेद आदि विद्याओं में अधिकृत नहीं है, इसीलिए उक्त शूद्र शब्द जाति वाचक नहीं है ।

—"क्षत्रियत्व के ज्ञान के कारण आगे चैत्ररथ (शब्द) के चिन्ह के कारण (शूद्र शब्द यहां जातिपरक नहीं है)"—

आगे संवर्ग विद्या के शेष वाक्य में चैत्ररथी को अभिप्रतारी क्षत्रिय बतलाया गया है—

—"शूद्र से परिविष्यमाण कापेय शौनक और अभिप्रतारी कक्षसेनी से ब्रह्मचारी ने भिक्षा प्राप्त की"—

वहां यह अभिप्रतारी चैत्ररथ नाम का क्षत्रिय है ऐसा कापेय के योग से ज्ञात होता है ।

—"इससे चैत्ररथ को कापेयों ने यज्ञ कराया"—

इस श्रुति से चैत्ररथ नाम के क्षत्रपति को ही कापेयों ने यज्ञ कराया यह कापेय के योग से अवगत होता है ।

इससे अभिप्रतारी क्षत्रिय के साथ समान विद्या के सन्दर्भ में कथन होने के कारण यह जान श्रुति भी क्षत्रिय ही था ऐसा सूचित होता है । क्योंकि प्रायः समानों का ही एक साथ कथन देखा गया है । इसलिए यह जानश्रुति क्षत्रिय ही था यह सिद्ध होता है । यही उपयुक्त भी है । अन्यथा जाति से उसे शूद्र समझने पर उसे संवर्ग विद्या के उपदेश के श्रुति वचन अन्य श्रुति वचनों के विरुद्ध पड़ जायेंगे ।

दूसरे श्रुति वचन में—

—"संस्कार का परामर्श होने से और उसके अभाव का कथन होने से"—

कहा गया है—

—"उसका उपनयन किया,

—"भगवन् मुझे पढ़ाइये, कह कर समीप गया"—

—"ब्रह्मपरायण, ब्रह्मनिष्ठ, परमब्रह्म के अन्वेषण में लगे इस समस्त तत्त्व को समझा सकेंगे, यह निश्चय करके समिधा हाथ में लेकर वे सब भगवान् पिप्पलाद के समीप गए।

समानानामेव प्रायेण समभिव्याहारदर्शनात्। तस्मादयं जानश्रुतिः क्षत्रिय एवासीदिति सिद्धम्। युक्तं चैतत्। अन्यथा तस्य जातिशूद्रत्वाभ्युगमे शूद्राय तस्मै संवर्गविद्योपदेशश्रुतिः श्रुत्यन्तरविरुद्धा स्यात्। श्रुत्यन्तरे—

—"संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च"—

तथाहि

"तं होपनिन्ये"

—"अधीहि भगव इति होपससाद"—

—"ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः" इति।

—"तान् हानुपनीयैव"—

—इत्यादयो विद्याप्रदेशेषूपनयनसंस्कारपरामर्शिकाः श्रुतयोऽसंस्कृतानामत्रानधिकारं दर्शयन्ति। असंस्कृताश्च ते शूद्राः।

"शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः।"

—"न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हती—"

त्यादिस्मृतिभिस्तेषां संस्काराभावस्याभिलापात् तद्भावनिर्द्धारणे च प्रवृत्तेः। किं गोत्रोऽसीति हारिद्रुमतेन गौतमेन पृष्टः सत्यकामो जाबालिः।

—"स होवाच नाहमेतद्वेद—यद्गोत्रोऽहमस्मि अपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि"—

—"तं होवाच। नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सौम्याहर—उप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः"—

इति श्रुतौ शूद्रत्वाभावनिर्द्धारणे प्रवृत्तिं पश्यामः। यद्यविशेषाच्छूद्रस्याप्यत्र विद्यायामधिकारोऽभविष्यत् तदा नैतदेवमुपनेतुं गोत्रादिनिर्णये प्रवृत्तिरभविष्यत्। किञ्च शूद्रस्य वेदश्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधादनधिकारो गम्यते। तथाहि—

—"पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्। तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञियः"—इति हि श्रूयते।

तत्र शूद्रसमीपेऽध्ययनप्रतिषेधात् सुतरां शूद्रस्याध्ययनप्रतिषेधः सिद्धः। स्मृतेश्च। तथाहि—

—"अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्, उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः"—इति

—"न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेद्"—

इत्यादिस्मृतिवचनमस्य वेदश्रवणादिप्रतिषेधं विधत्ते। न चानुपश्रृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञानतदर्थानुष्ठानानि संभवन्ति तस्माच्छूद्रस्य वेदपूर्वकं विद्याग्रहणे नास्त्यधिकार इति सिद्धान्तः सिद्धः।

कर्मणि विद्यायामधिकारव्यवस्थाधिकरणं समाप्तम्

अथ चतुर्णां निरूढविचालिशब्दानामैदम्पर्याधिकरणम्। तत्र चत्वारो विमर्शाः।

—"उनका उपनयन किया"—

इत्यादि वाक्यों में विद्याध्ययन के प्रसंग में उपनयन संस्कार का विधान बतलाने वाले श्रुतिवाक्य जो संस्कारों से रहित हैं उनके अध्ययन में अधिकार न होने की सूचना देते हैं। शूद्र का संस्कार नहीं होता।

—"शूद्र चतुर्थ वर्ण है, वह एक ही जाति है"—

—"शूद्र को कोई पाप नहीं लगता, उसका संस्कार नहीं होता"—

इत्यादि स्मृति वाक्यों में शूद्रों के लिए संस्कारों के अभाव का अभाव होने से, यह शूद्र है या अन्य कोई ऐसा निश्चय करने के लिए पूछा हरिद्रुमत गौतम ने कि तुमारा गोत्र क्या है, यह प्रश्न किया गया सत्यकाम जाबाल से—

—"उसने कहा, मैं यह नहीं जानता कि मेरा क्या गोत्र है, मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने उत्तर दिया, मैं परिचारिका सेविका का कार्य करती थी, और बहुत से लोगों की सेवा करती थी, मैंने अपने यौवनकाल में तुम्हें प्राप्त किया, मैं इतना ही जानती हू, यह नहीं बतला सकती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। उसको (सुनकर) कहा गौतम ने) ब्राह्मण के अतिरिक्त इतनी स्पष्टता से (अपने घृणित जन्मगाथा) कोई नहीं बतला सकता, सौम्य, तुम समिधा लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा। तुमने सत्य का परित्याग नहीं किया, इस श्रुति में शूद्रत्व के, अभाव के निर्धारण में श्रुति वचन मिलते हैं। यदि बिना किसी भेद भाव के शूद्र का भी यहां विद्याध्ययन में अधिकार होता तब उपनयन के लिए गोत्र आदि के निर्णय करने की आवश्यकता न होती। पुनश्च शूद्र जाति के व्यक्ति के लिए वेद श्रवण रूपी अध्ययन के निषेध का श्रवण होने से उसका इस विषय में अधिकार नहीं है यह ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ—

"शूद्र जहां स्थित है, वह श्मशान है, अतः शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए, अतः बहुत पशु रखने वाला शूद्र यज्ञ में उपयोगी नहीं है' —

ऐसा सुना जाता है। यहां शूद्र के समीप बैठकर अध्ययन करने का निषेध होने के कारण शूद्र का स्वयं अध्ययन का निषेध करना तो अपने आप हो सिद्ध हो गया। स्मृति वचन भी इसके साक्षी हैं, कहा गया है—

"यह (शूद्र) जब वेद का श्रवण करे तो गरम लाख और पारे से उसके कर्ण छिद्र भर दिए जांय, जब वह वेद मन्त्र का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट ली जाय, यदि वह वेद को याद रखकर धारण करे तो उसके शरीर का भेदन कर दिया जाय"–इत्यादि।

—"इसको (शूद्र को) धर्म का उपदेश न दे, इससे कोई व्रत न करावे"—

इत्यादि स्मृति वाक्य शूद्र के वेद श्रवण आदि का प्रतिबन्ध कर रहे हैं यदि शूद्र जाति का व्यक्ति वेद का श्रवण ही न करे तो उसका अध्ययन, अर्थज्ञान, या उसके कर्तव्य का अनुष्ठान आदि सम्भव ही न होगा। इसलिए शूद्र को वेदपूर्वक विद्याऽध्ययन का अधिकार नहीं है, यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ।

(शूद्र वर्ण के व्यक्तियों के लिए ब्रह्मसूत्र और उसके विविध भाष्यों मे यही बातें सर्वत्र प्रकट की गई हैं। धर्मशास्त्र के ग्रन्थ, जिन्हें स्मृति शब्द से कहा जाता है, वहां शूद्र वर्ण के साथ व्यवहार के नियमों की शृंखला को देखकर उनमें अमानवीय व्यवहार के दर्शन होते हैं आज के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से। परन्तु इसकी जो छान-बीन की गई है, उससे इसके कुछ तो मनोवैज्ञानिक कारण सामने आये हैं और कुछ कारण ऐतिहासिक हैं। दण्ड विधान में कठोरता का विवरण केवल शूद्र के ही लिए नहीं अपितु नियमों के विरुद्ध चलने वाले सभी लोगों के लिए दण्ड विधान के कठोर नियम व्यवहृत हुए थे जिन्हें आज हम अमानुषिक कह देते हैं। उच्च वर्ण के लोगों के लिए ऐसे दण्डविधान का नाम प्रायश्चित्त था। उन प्रायश्चित्तों के विवरणों से ज्ञात होता है कि वे कैसे कठोर व्यवहार थे जिनसे उन लोगों को गुजरना पड़ता था। उस समय की अव-धारणा के अनुसार दण्ड विधान कठोर ही होना चाहिये, जिससे भयभीत होकर लोगों को नियमों की अवहेलना करने का साहस ही न हो।

ऐतिहासिक कारणों की जो छान-बीन हुई है, उसके अनुसार प्रारम्भ में तो चारों वर्ण भारतीय समाज के अंग ही थे, परन्तु विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों के बढ़ जाने पर और आक्रमण के उपरान्त उन आक्रान्ताओं के लौट जाने पर जो कुछ लोग यहां रह जाते थे या बन्दी बना लिये जाते थे ऐसे विदेशी सैनिकों को अन्तिम वर्ण संस्था अर्थात् शूद्र वर्ण में हो स्थान मिलता चला गया। इसीलिए धर्मशास्त्रों स्मृतियों आदि में अधिकार अनधिकार की चर्चाओं तथा प्रसंगों में शूद्र वर्ण के लोगों को शिल्प

अनेक व्यवसाय तथा त्रैवर्णिकों की सेवा करने के अतिरिक्त उच्च अधिकारों से, विद्याओं से पृथक् रखा गया। भावना यही बतलाई गई कि उच्च कोटि का ज्ञान विज्ञान निम्न कोटिके लोगों के पास जाने पर उसके दुरुपयोग से विनाशकारी परिणाम आने पर व्यापक रूप से सामाजिक क्षति होगी। पुनरपिशूद्रवर्ण के लोगों के प्रति आदर और उदारता के दृष्टान्तों की भी धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों में कमी नहीं है। पाठकों को इन सन्दर्भों पर क्रोध न प्रकट कर इनको अपने उसीकाल के परिप्रेक्ष्य में समझने की चेष्टा करनी होगी अनुवादक।)

कर्म विद्याधिकार व्यवस्थाधिकरण-समाप्त

कम्पनाद् १।३।३९

—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति"—इति।

—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा"—

इत्यनयोर्वाक्ययोर्मध्ये—

—"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति,"—

—"भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः"—

इति काठकवाक्यं श्रूयते। तत्र सर्वस्य जगतः प्राणाश्रयं कम्पनं श्रूयते। प्राणस्य भयकारणत्वं च तद्विज्ञानादमृतप्राप्तिश्चेति। तत्रायं प्राणः पञ्चवृत्तिर्वायुर्वा ब्रह्म वेति संशयः। वायौ हि पर्ज्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्ते इत्याचक्षते तेन वायुनिमित्तं महद्भयानकं वज्रमुत्पद्यते। वायोः कम्पकत्वं च लोके दृष्टम्।

—"वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरपपुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद"—

इति बृहदारण्यकश्रुत्या वायुविज्ञानादमृतप्राप्तिश्चोपपद्यते। तस्माद्वायुरिह प्राण इत्येकः पक्षः।

भय का हेतु शास्ता

"कम्पन के कारण (ब्रह्म जगत् का शासक है) (१।३।३९)

—"आत्मा के मध्य में अंगुष्ठमात्र पुरुष रहता है"—

—"अंगुष्ठ मात्र पुरुष अन्तरात्मा है—"

इन दोनों वाक्यों के बीच—

—"यह जो कुछ क्रम से सारा दृश्यमान जगत् है वह निकलते हुए प्राण से कम्पित है। बडा भयानक वज्र उद्यत है, जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं—"

—"इसके भय से अग्नि तप रहा है, इसके भय से सूर्य तप रहा है, इन्द्र और वायु तथा पांचवां मृत्यु इसीके भय से दौड़ रहे हैं।"

यह कठोपनिषद का वाक्य सुनने में आता है। वहां सुनने में यह आता है कि समस्त जगत् के प्राणों में कम्पन होता है। प्राण के भय का कारण तथा उसके ज्ञान से अमृत की प्राप्ति होना भी सुनने में आता है। वहां यह प्राण पांच व्यवहारों वाला वायु है या ब्रह्म है, यह सन्देह होता है। वायु जब पर्जन्य (वर्षा) के रूप में प्रकट होता है तब विद्युत (बिजली) स्तनयित्नु (बादल) वृष्टि (वर्षा) अशनि बिजली गिरना ये रूप प्रकट होते हैं ऐसा कहा जाता है। अतः वायु के कारण महाभयानक वज्र उत्पन्न होता है। वायु का प्रकम्पित करने वाला होना संसार में देखने में आता है।

—"वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समाष्टि है, जो इस तत्त्व को जानता है वह अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करता है"—

इस बृहदारण्यक श्रुति के द्वारा वायु के विज्ञान से अमृत की प्राप्ति होती है यह उपपन्न है। इसलिए यहां वायु को ही प्राण कहा गया यह एक पक्ष है।

अंगुष्ठ के समान आकार वाला परमात्मा पहिले आगे के प्रकरण में यहां निर्दिष्ट हुआ है। उसके मध्य में वर्णित इस प्राण को कैसे हम अकस्मात् वायु समझलें। और फिर इसके पहिले—

—"वही शत्रु है, वह ब्रह्म है, उसी को अमृत कहा जाता है उसी में समस्त लोक आश्रित हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं करता"—

इससे स्पष्ट ही यहां ब्रह्म का निर्देश हो रहा है। और आगे—

"—इसके भय से अग्नि तपता है"—

इत्यादि कथन से वायु सहित जगत् के भय का कारण सबके शासक के रूप में ब्रह्म ही बतलाया जा रहा है। इन दोनों उद्धरणों के बीच में निर्दिष्ट कल्पित करने वाला प्राण वायु नहीं हो सकता क्योंकि उसका यहां प्रसङ्ग नहीं है।

अब अमृत के फल के श्रवण से भी यह प्राण शब्द परमात्मा के लिए ही समझ में आता है।

—"उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मृत्यु के उस पार निकलने का और कोई मार्ग नहीं है"—

इस मन्त्र के अक्षरों से प्राण शब्द का अर्थ वायु समझने के सारे तर्क समाप्त हो जाते हैं।

वाजसनेयि ब्राह्मण में जो वायु के विज्ञान से अमृतत्व प्राप्ति की बात कही गई है वह आपेक्षिक ही है, (किसी की अपेक्षा से किसी को अमृत कहना ही यहां आपेक्षिक होगा), वहीं दूसरे प्रकरण में परमात्मा का कथन करके—

"इसके अतिरिक्त आर्त है"—

ऐसा कहते हुए वायु आदि को आर्त बतलाया गया है। अन्य प्रमाण है कि—

—"तुम उस तत्व को बतलाओ जिसे तुम समझते हो कि वह धर्म से अलग, अधर्म से भी पृथक् कृत और अकृत से भी पृथक् भूत और भव्य से भी भिन्न है"—

इस प्रकार पूछे जाने पर उसके उत्तर में परमात्मा का निरूपण करने के लिए प्रकरण के प्रारम्भ होने पर वहां वायु का कथन समञ्जस नहीं होता। क्योंकि प्रकरण से उसकी संगति नहीं बैठती। इसलिए उक्त कारणों से यहां प्राण का अर्थ परमात्मा ही है यह दूसरा पक्ष हुआ।

अंगुष्ठप्रमितः परमात्मा पूर्वं पश्चाच्चेह प्रकरणे निर्दिश्यते। तदन्तराले निर्दिश्यमानमिमं प्राणं कथमकस्माद्वायुं प्रतिपद्येमहि। किञ्चेतः पूर्वम्—

—"तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन"—

इति स्पष्टं ब्रह्मैव निर्दिश्यते। उत्तरत्र च भयादस्याग्निस्तपतीत्यादिना सवायुकस्य जगतो भयहेतुः सर्वशासकतया ब्रह्मैव निर्दिश्यते। तथा च तयोरन्तराले निर्दिष्टोऽयं कम्पयिता प्राणो न वायुर्भवितुमर्हति अप्रक्रान्तत्वात्।

किञ्च अमृतत्वफलश्रवणादप्ययं प्राणः परमात्मेति गम्यते।

—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—

इति मन्त्रवर्णाद्वायुविज्ञानेऽमृतत्वोदयस्य निरस्तत्वात्।

यत्तु वाजसनेयके वायुविज्ञानादमृतत्वमाख्यातं तदापेक्षिकं स्यात्। तत्रैव प्रकरणान्तरे परमात्मानमाख्याय—

—"अतोऽन्यदार्तं"—

मितिवाय्वादेरार्तत्वाभिधानात्। किञ्च—

—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद"—

इत्येवं पृष्टस्य परमात्मनो निरूपणाय प्रवृत्ते प्रकरणे वाय्वभिधानं नावकल्पते। अप्रकृतत्वात्।

तस्मादेभिर्हेतुभिरयं प्राणः परमात्मैवेत्यपरः पक्षः।

तत्र ब्रूमः। कम्पनाद्धेतोः परमात्मैवायं कम्पयिता प्राणो न पञ्चवृत्तिर्वायुः"—

भयादिन्द्रश्च वायुश्चेत्युक्त्या वायोरपि कम्पने हेतुत्वोपपादनात् अन्यत्राप्येतदर्थकं श्रुत्यन्तरं ब्रह्मविषयमेव पश्यामः।

—"भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इति।

प्राणशब्दोऽप्ययं ब्रह्मणि नाप्रसिद्धः प्राणस्य प्राणमित्यादौ श्रुत्यन्तरे दर्शनात्। तस्मादयं सर्वभयहेतुः कम्पयिता प्राणः सर्वशासकत्वात् परमात्मैवेति सिद्धम्।

यहां हमारा कथन है कि कम्पन का हेतु होने के कारण परमात्मा ही यहां प्राण शब्द का अर्थ है न कि पांच व्यवहारों वाला वायु यहां प्राण शब्द से अभिप्रेत है।

—"इसके भय से इन्द्र और वायु भी—"

(अपना कार्य करते हैं) इस उक्ति में वायु को भी कँपाने वाला हेतु उपदिष्ट हुआ है। अन्य स्थल पर भी इस प्रकार के प्रसङ्ग की उक्तियां ब्रह्म के लिए ही बतलाई गई हैं-

—"इसके भय से हवा बहती है. इसके भय से सूर्य उदित होता है, इसके भय से इन्द्र अग्नि तथा पांचवां मृत्यु (अपने कार्यवश) दौडते रहते हैं"—

"यह प्राण शब्द भी ब्रह्म के लिए अप्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि अन्य श्रुति में ब्रह्म को प्राणों का प्राण बतलाया गया है इसलिए यह सबके भय का कारण और सबको कम्पित करने वाला सबका शासक होने के कारण परमात्मा हो हैं, यह सिद्ध होता है।

परं ज्योतिर्द्वितीयो विमर्शः

—"ज्योतिर्दर्शनात्"—[१।३।४०]

काठकेऽङ्गुष्ठमितनिरूपणप्रकरणे एव—

—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—

—इति सर्वज्योतिषां छादकमनुग्राहकं च किञ्चिज्ज्योतिर्निर्दिश्यते—

—"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः"

—इत्यादिस्मृतिषु च किंचित्परं ज्योतिः स्मर्यते–

तदिति च परं ब्रह्मैव प्रतिपत्तव्यम् । आथर्वणे परं ब्रह्माधिकृत्यैवास्य श्लोकस्य दर्शनात् ।

—"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"—इति ।

—"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः"—इति ।

—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते"—

इत्यादिषु च परब्रह्मपरतया ज्योतिःशब्दस्य दर्शनात् ।

अपर आह ।

—"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"—

इति छान्दोग्ये श्रूयते ।

परम ज्योति विमर्श

—"वह (परम ब्रह्म) ज्योति है, (श्रुति में) देखने के कारण—

कठोपनिषद श्रुति में अङ्गुष्ठानिरूपण के प्रकरण में ही—

—"न वहां सूर्य भासित होता है, न चन्द्रमा और तारे भासित होते हैं, ये बिजलियां भी वहां भासित नहीं होती, यह अग्नि वहां कैसे भासित होगा, उसी (ब्रह्म या आत्मा) के भासित होने के बाद सब भासित होता है, यह सब कुछ उसी आभा से भासित हो रहा है"—

इस वाक्य में ऐसी ज्योति का कथन है जो सभी ज्योतियों का आवरण करने वाली और सब को अनुगृहीत करने वाली है ।

—"आकाश में यदि सहस्र सूर्य की कान्ति एक साथ प्रकट हो जाय तो वह उस महात्मा (विराट् पुरुष) की आभा के सदृश होगी"—

इत्यादि स्मृति वाक्यों में किसी परम ज्योति का स्मरण किया गया है । उसे भी परम ब्रह्म ही समझना चाहिए ।

अथर्ववेद में परम ब्रह्म के निरूपण में यह श्लोक देखा जाता है कि—

—"परम ज्योति में उपसम्पन्न होकर अपने रूप में अभिनिष्पन्न होता है"—

—"अब जो इसके आगे स्वर्ग की ज्योति प्रकाशित है"—

इत्यादि वाक्यों में परम ब्रह्म के लिए ज्योति शब्द का प्रयोग देखा गया है।

दूसरा मत है—

—"यह सम्प्रसाद इस शरीर से उठकर परम ज्योति के रूप में परिणत होकर अपने रूप में अभिनिष्पन्न होता है"—

—यह छान्दोग्य में सुना गया है।

तत्र समुत्थायोपसम्पद्यत्युक्त्या ज्योतिषोऽर्चिरादिमार्गस्थत्वं प्रतीयते।

—"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते"—

इति नाडीखण्डश्रुतौ चादित्यप्राप्तिरभिधीयते। तस्मादर्चिरादिमार्गस्थं सौरं तेज एवात्र ज्योतिः स्यादिति कश्चिद् व्यवसाययति तं प्रत्युच्यते ज्योतिरिह परमात्मा विवक्षितस्तथा दर्शनात्।

—"य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य"—

इति प्रतिज्ञाय—

—"एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति",—

चानुसंधाय—

—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"—

इत्येवमस्या ज्योतिःसंपत्तेरशरीरत्वमुपदर्श्य—

—"परंज्योतिः स उत्तमः पुरुषः"—

इति परोत्तमशब्दाभ्यां विशेष्य च परस्मिन्नेव ब्रह्मणि ज्योतिःशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति।

द्विविधा तु मुक्तिर्भवति, क्रममुक्तिरात्यन्तिकमुक्तिश्च। तत्र येयमादित्यप्राप्तिरुक्ता सा क्रममुक्तिः, गत्युत्क्रान्तिसंबन्धात्। आत्यन्तिके तु मोक्षे गत्युत्क्रान्त्योरभावस्य सिद्धान्तितत्वात्।

वहां "उठकर" "परिणत होकर" इन शब्दों के द्वारा ज्योति का आर्चि आदि मार्ग में स्थित होना बतलाया हुआ प्रतीत होता है।

—"अब जहां से इस शरीर से उत्क्रमण करता है तो इन्हीं रश्मियों से ऊपर की ओर उठता है"—

इस नाड़ीखण्डश्रुति वाक्य में आदित्य की प्राप्ति बतलायी गई है। इसलिए आर्चि आदि मार्गों में स्थित सूर्य का तेज ही यहां ज्योति शब्द से कथित है, ऐसा जो किसी

का कथन है उसके प्रति यह उत्तर है कि ज्योति शब्द से यहां परमात्मा ही विवक्षित है क्योंकि श्रुति में ऐसा ही देखा गया है।

—"जो पापों से दूर आत्मा है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए"—

ऐसी प्रतिज्ञा करके-

—"उसी को मैं तुम्हें पुनः बतलाऊंगा"—

ऐसा अनुसन्धान करके

—"उसकी अशरीरी अवस्था में प्रिय अप्रिय का स्पर्श नहीं होता"—

इत्यादि कथन से इसकी ज्योति रूप सम्पत्ति का शरीरी न होना बतला कर 'परमज्योति ही वह उत्तम पुरुष है, इस प्रकार 'पर' तथा 'उत्तम' शब्दों के विशेषण उसके साथ लगाकर परब्रह्म में ही ज्योति शब्द का तात्पर्य दिखलाया गया है।

मुक्ति दो प्रकार की होती है, एक क्रम मुक्ति तथा दूसरी आत्यन्तिक मुक्ति। उनमें यह जो आदित्य की प्राप्ति बतलाई गई है वह गति और उत्क्रान्ति का सम्बन्ध होने के कारण क्रम मुक्ति है। जो आत्यन्तिक मुक्ति प्रतिपादित है उसमें तो गति और उत्क्रांति का अभाव सिद्धान्त रूप से बतलाया जाता है।

—"अर्थान्तर के कथन से वह (ब्रह्म) आकाश है"—[१।३।४१]

छान्दोग्य में सुना जाता है कि—

आकाशः तृतीयो विमर्शः

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। [१।३।४१]

—"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद् ब्रह्म, तदमृतं स आत्मा"—इति छान्दोग्ये श्रूयते।

तत्राकाशः परमात्मा न भूताकाशः। नामरूपाभ्यामर्थान्तरत्वेन नामरूपयोर्निर्वोढृत्वेन च स्वशब्देन च व्यपदेशात्। न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं संभवति। विकारजातस्य सर्वस्य नामरूपाभ्यां व्याकृतत्वात्।

—'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति'—

श्रुतेर्नामरूपनिर्वहणस्यापि ब्रह्मण्येवोपदिष्टत्वाच्च। किञ्च—

—"तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा"—

इति स्पष्टमत्र ब्रह्मवादोपपादकाः शब्दाः श्रूयन्ते । तस्मादाकाशः परमात्मेति सिद्धम् ।

—"आकाश निश्चय ही नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है, उनके मध्य में जो है वह ब्रह्म है, अमृत है, वह आत्मा है"—

यहां आकाश शब्द परमात्मा को बतलाता है, न कि पंच-महा-भूत में परिगणित आकाश को। क्योंकि नाम और रूप के अतिरिक्त अर्थ को बतलाया जा रहा है यहां, नाम और रूप का निर्वाह करने वाला उसे बतलाया जा रहा है और अपने वाचक शब्द से भी उसका कथन किया जा रहा है। ब्रह्म के अतिरिक्त नाम और रूप से कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

समस्त विकार समूह का नाम और रूप से स्पष्टीकरण होता है।

—"इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विभाग करता हूं"-

इस श्रुति वाक्य से नाम और रूप का निर्वाह भी ब्रह्म में ही उपदिष्ट हुआ है।

पुनश्च—

—'वह ब्रह्म है, वह आत्मा है"

इन वाक्यों में स्पष्ट ही ब्रह्म के उपपादक शब्द सुनने में आते हैं। इसलिए आकाश परमात्मा है यह सिद्ध हुआ।

विज्ञानमयश्चतुर्थो विमर्शः

—"सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन"—[१।३।४२]

—"पत्यादि शब्देभ्यः"—[१।३४३]

बृहदारण्यके—

—"कतम आत्मा। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"—

इत्यादिना भूयानात्मविषयः श्रूयते। तत्रेदं जीवस्वरूपाख्यानं परमेश्वरस्य रूपाख्यानं वेति संदेहे ब्रूमः—परमेश्वरोपदेशपरं हि तद्वाक्यं न तु जीवमात्रान्वाख्यानमस्ति। सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शरीराद् भेदेन व्यपदेशात्। तथा हि—

—"अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्"—

इति सुषुप्तिश्रुतौ।

—"अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति"—

इति उत्क्रान्तिश्रुतौ च परिष्वंगान्वारोहाभ्यां प्राज्ञस्यात्मनः शारीराद् भेदो व्यपदिश्यते। प्राज्ञश्चायमुभयत्र परमेश्वर इष्यते। तथैवात्र संभवात्। यत्तूपक्रमे--

--योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु"--

इत्याख्यानात् संसारिस्वरूपपरमिदं वाक्यमिति कश्चिद् व्यवसाययेत् तन्न। संसारिस्वरूपमनूद्य तस्य परब्रह्मणैक्यमुपपादयितुं तथाख्यानात्। तथा हि—

—"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु"—

इत्युपसंहरन् महानज आत्मेति परमेश्वरशब्देनोल्लिख्य, अस्य संसारिणो विज्ञानमयस्य परमेश्वरेण तादात्म्यं प्रदर्शयति।

विज्ञानमय चतुर्थ विमर्श

सुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति के भेद के द्वारा—[१।३।४२]

— "पति आदि शब्दों से"—[१।३।४३]

बृहदारण्यक उपनिषद में—

—"आत्मा कौनसा है। जो यह प्राणों में हृदय में विज्ञानमय अन्तर्ज्योति पुरुष है"—

इत्यादि के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में बहुत सुनने में आया है। वहां यह सारा कथन जीव के स्वरूप के लिए है अथवा यह परमेश्वर के स्वरूप का कथन है, इस सन्देह के उपस्थित होने पर कहना यह है कि वह वाक्य परमेश्वर के उपदेश का है न कि वहां केवल जीव के स्वरूप का बखान किया गया है। क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में उसका कथन शरीर से भिन्न कहकर किया गया है। कहा है-

—"यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से आलिङ्गित होकर न तो बाहर का कुछ भी जानता है और न भीतर"—यह सुषुप्ति श्रुति का वाक्य है।

—"यह शरीर आत्मा प्राज्ञ आत्मा के द्वारा अन्वारूढ़ होकर शरीर को छोड़कर जाता है"—

यह उत्क्रान्तिश्रुति वाक्य है। दोनों में परिष्वङ्ग तथा अन्वारोह से प्राज्ञ आत्मा का शरीर से भेद प्रदर्षित किया गया है। उक्त दोनों स्थलों पर प्राज्ञ शब्द से परमेश्वर हा कथित है। क्योंकि वैसा ही अर्थ किया जाना यहां सम्भव है। उपक्रम में—

—"यह प्राणों में विज्ञानमय"—

इस कथन से यह वाक्य संसारी के स्वरूप को बतलाने के लिए प्रयुक्त है ऐसा यदि कोई आग्रह करे तो वह नहीं बनता। यहां संसारी के स्वरूप का अनुवाद करके उसका परब्रह्म के साथ ऐक्य बतलाने के लिए यह समस्त कथन है जैसे कि—

—"यह वह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणों में विज्ञानमय है"—

इस प्रकार उपसंहार करते हुए महान् अज आत्मा आदि का परमेश्वर शब्द से उल्लेख करके इस विज्ञानमय संसारी का परमेश्वर के साथ तादात्म्य बतलाया गया है।

तस्मादिदं जीवे परमेश्वरस्वभावाख्यानमिति लभ्यते। पत्यादिशब्देभ्यश्च।

—"स सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिरि"—

त्येवं जातीयकाः परमेश्वरस्वभावप्रतिपादनपराः शब्दाः श्रूयन्ते।

—"स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्"—

इत्येवंजातीयकाश्च संसारिस्वभावप्रतिषेधनपराः। तस्मादिदं वाक्यं जीवस्वरूपनिरूपणपरं नास्तीति विज्ञायते। किञ्च—

—"अनन्वागतस्तेन भवति असंगो ह्ययं पुरुषः। अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान शोकान् हृदयस्य भवती"—

त्येवमाद्यक्षरेणेदं वाक्यं परमेश्वरस्वरूपप्रतिपादनपरमिति स्पष्टं गम्यते। तस्मादसंसारी परमेश्वर एवेह विवक्षित इति सिद्धम्।

इति समन्वयाध्यायेऽस्फुटलिंगपादस्तृतीयः

इसलिए इस प्रकरण में जीव में परमेश्वर के स्वभाव का बखान है यह स्पष्ट है। पति आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी की पुष्टि करता है।

—"वह सबको वश में रखने वाला, सब का ईशन करने वाला सबका अधिपति है"—

इस प्रकार के परमेश्वर के स्वभाव को बतलाने वाले शब्द सुने जाते हैं।

—"वह साधु कर्मों से बड़ा नहीं है और न ही असाधु कर्मों से छोटा है"—

इत्यादि वाक्यों से संसारी जीव के स्वभाव का यहां प्रतिषेध किया गया है। यह संदर्भ वाक्य में जीव के स्वरूप का निरूपण करने के लिए प्रयुक्त नहीं है, यह ज्ञात हो रहा है। पुनश्च—

—"यह असंग पुरुष उससे अन्वागत नहीं है, वह पुण्य से अनुगत नहीं है। तब हृदय के सारे शोकों से उत्तीर्ण हो जाता है"—

इत्यादि अक्षरों से यह वाक्य परमेश्वर का प्रतिपादन करता है यह स्पष्ट हो रहा है। इसलिये यहां असंसारी परमेश्वर ही विवक्षित है यह सिद्ध हुआ।

—□—

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

प्रधानकारणतावादप्रत्याख्याने प्रथमेऽधिकरणे त्रयो विमर्शाः

अव्यक्तशब्दविमर्शः प्रथमः

अव्यक्तम्—आकाशाक्षरविद्याविद्याबीजेति पञ्चरूपं न तु सांख्योक्तं त्रिगुणमित्याह—

—"आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च"— [१।४।१]

—"सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्"—[१।४।२]

—"तदधीनत्वादर्थवत्"—[१।४।३]

—"ज्ञेयत्वावचनाच्च"—[१।४।४]

—"वदतीति चेन्न, प्राज्ञो हि प्रकरणात्"—[१।४।५]

—"त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च"—[१।४।६]

—"महद्वच्च"—[१।४।७]

ननु ब्रह्मण एव जगत्कर्तृत्वं न प्रधानस्य । उक्त रीत्या शास्त्रवाक्यानामैकमत्येन ब्रह्मणि समन्वयदर्शनात् । अत एवेदं सांख्योक्तं प्रधानमशब्दमनुमानमित्याख्यातमेतावता ग्रन्थेन । तदयुक्तम् सर्वेषां शास्त्रवाक्यानां ब्रह्मण्येव समन्वयाभावात् ।

प्रथम अध्याय–चतुर्थ पाद

प्रधान (प्रकृति) कारणतावाद के प्रत्याख्यान के लिए, प्रथम अधिकरण में तीन विमर्श हैं—उनमें यह अव्यक्त शब्द का प्रथम विमर्श है—

अव्यक्त

आकाश, अक्षर, विद्या, अविद्या और बीज इन पांच रूपों में अव्यक्त प्रकट होता है न कि सांख्योक्त त्रिगुण रूपों में, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार आगे के सूत्र कहते हैं–

–"कुछ लोगों के मत में वह अनुमान सिद्ध है परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीर रूपक में विन्यास के द्वारा ग्रहण है, ऐसा हो दिखाती है [श्रुति]"– [१/४/१]

–"वह तो सूक्ष्म है क्योंकि वह उस योग्यता से सम्पन्न है"–[१/४/२]

–"[अन्य सब] उसके अधीन होने से अर्थवान् है"–[१/३//३]

–"उसके लिए ज्ञेयता का कथन नहीं है"–[१/४/४]

–"वह बोलता है (यदि यह कहो तो) तो ऐसा नहीं है--प्रकरण के अनुसार वह प्राज्ञ है [१/४/५]

–"इस प्रकार तीन का ही उपन्यास है, प्रश्न भी है (उन्हीं के लिए) [१/४/६]

–"और महत् की तरह"— (है)– [१/४/७]

प्रश्न है कि ब्रह्म को ही जगत् का कर्तृत्व प्राप्त है न कि जगत् का बनाने वाला प्रधान नाम का तत्व है क्योंकि उक्त विधि से समस्त शास्त्र वाक्य एकमत से (जगत् के कर्त्ता के प्रतिपादन में) ब्रह्म में ही घटित हो रहे हैं। इसीलिए यहां तक के ग्रन्थ संदर्भ के द्वारा सांख्योक्त प्रधान (या प्रकृति) को अशब्द [वेद वाक्यों से जगत् के कारण के रूप में अप्रतिपादित] या अनुमान के रूप में बतलाया गया है। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि समस्त श्रुति वाक्यों का (सृष्टि के कर्ता के रूप में) ब्रह्म में ही समन्वय है ऐसा नहीं है।

आनुमानिकमिदं प्रधानमप्येकेषां शाखिनां काठकश्वेताश्वतरमैत्रायणीयानां समये जगत्कारणं श्रूयते तथा हि काठके तावत् पश्यामः।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति ॥

एतावन्त एव हि संख्यायाः पञ्चविंशतिराख्याताः । पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि मनश्चेति षोडशविकृतयः । पञ्च तन्मात्राः, अहंकारः, महान्, अव्यक्तम् इत्यष्टौ प्रकृतयः । पुरुषो विभुरलिङ्गःकार्यत्वकारणत्वाभ्यां शून्यो बहुसंख्य एकः । इत्थं पञ्चविंशतिः । अत्रेन्द्रियार्थमनस्तन्मात्राहङ्कारमहान्ति व्यक्तानि । एतदेव तु सर्वं जगदनभिव्यक्तनामरूपबीजात्मकं प्रागवस्थं सदव्यक्तमित्युच्यते । सा मूलप्रकृतिः, तत्प्रधानम् । व्यक्ताव्यक्तोभयभिन्नस्तु चिन्मात्ररूपः साक्षी पुरुषः । स न प्रकृतिर्न वा विकृतिरिति सांख्या आतिष्ठन्ते । तदेतत्सर्वं काठकश्रुतिसिद्धमिति नेदं तावदव्यक्तमनुमानमात्रमशब्दं वाक्यमभ्युपगन्तुमिति चेन्न । एतद्वचनस्यान्यार्थकतया तदाधारेण कल्पितस्य सांख्योक्तस्य तादृगर्थस्यापदार्थत्वात् ।

काठक श्वेताश्वर मैत्रायणी शाखाओं में अनुमान सिद्ध यह प्रधान भी सिद्धान्त रूप से जगत् के कारण के रूप में सुना जाता है । कठोपनिषद में देखते हैं कि–

"–इन्द्रियों से पर अर्थ है, अर्थ से पर मन है, मन से पर बुद्धि है, बुद्धि से पर महान् आत्मा, महान् से पर अव्यक्त, अव्यक्त से पर पुरुष है, पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह काष्ठा (अन्तिम) है, वह परा गति है"–

–"उस तत्व का निश्चय करके मृत्यु के मुख से मनुष्य छूट जाता, है जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवान्, अनादि, अनन्त, महत् से पर और ध्रुव है"–

–"इन्द्रियों से पर मन है, मन से सत्त्व उत्तम है, सत्त्व से महान् आत्मा अधिक है, उससे अव्यक्त उत्तम है, अव्यक्त से व्यापक, अलिङ्ग पुरुष पर है, जिसे जानकर जन्तु मुक्त हो जाता है तथा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है"–

संख्या में जो २५ तत्वों की गणना है वे इस प्रकार हैं– पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच महाभूत, मन ये सोलह विकार, पांच तन्मात्राएं, अहंकार, महान् अव्यक्त ये आठ प्रकृतियां, इनके अतिरिक्त व्यापक अलिङ्ग, कार्य कारण से शून्य बहुत्व संख्या वाला एक पुरुष । इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्व हुए । इनमें इन्द्रिय, उनके अर्थ, मन, तन्मात्राएं तथा महान् व्यक्त हैं । यही सब जगत् जब अभिव्यक्त अवस्था में नहीं रहता, जब बीजात्मक अभिव्यक्ति से पूर्व की अवस्था में रहता है, तब अव्यक्त कहा जाता है, वही मूल

प्रकृति या प्रधान शब्द से कहा जाता है। चिन्मात्र स्वरूप वाला साक्षी पुरुष व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओं से भिन्न है। सांख्य दर्शन में पुरुष को न प्रकृति ही माना गया है न विकृति ही कहा गया है। यह सब कठश्रुति में प्रसिद्ध है अतः इसे केवल अव्यक्त, अनुमान मात्र या शब्द प्रमाण से बहिर्भूत वाक्य नहीं मानना चाहिये, यह जो पक्ष उपस्थित किया जाता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि कठोपनिषद् के इन वचनों के अर्थ भिन्न हैं, तग्रः इन वचनों के आधार पर कल्पित सांख्य दशन में बतलाये गये सिद्धान्त उक्त शब्दों के अर्थ नहीं होने से अपदार्थ हैं।

तथा हि तत्रेदमव्यक्तपदं न गुणत्रयरूपं प्रधानं ब्रूते, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः। प्रकरणात् परिशेषाच्चार्थः परिगृह्यते। प्रकृतं चेहात्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपकं क्लृप्तं पश्यामः। तथा हि दर्शयति।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

इत्थमिदं प्रकृतमध्वनः पारं विष्णुपदमेव दर्शयितुमिन्द्रियादिभ्यः सर्वेभ्यः परं तमात्मानमुपदिशति इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिना। तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते।

—"इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वमिति"—

वाजसनेयकश्रुतेरिहापीन्द्रियहयगोचरत्वेनार्थानामिन्द्रियेभ्यः परत्वमुक्तम्। विषयेन्द्रियव्यवहारस्य मनोमूलत्वान्मनसो विषयेभ्यः परत्वम्। सविकल्पकं मनो निश्चयात्मिका बुद्धिस्तस्माद् बुद्धेर्मनसः परत्वम्। बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। भोक्तुश्च भोगोपकरणात् परत्वमिति बुद्धेरात्मा महान् पर आख्यातः।

यहां बात यह है कि अव्यक्त शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) वाले प्रधान या प्रकृति के लिए हुआ ही नहीं है क्योंकि वहां अव्यक्त शरीर के रूपक विन्यास में गृहीत है। किसी भी शब्द के अर्थ का निर्णय प्रकरण और परिशेष के आधार पर निर्णीत हुआ करता है। प्रकरण के अनुसार यहां आत्मा और शरीर को रथ का स्वामी और रथ के रूपक अलंकार का प्रयोग करके वर्णित किया गया है। देखिये उपनिषद् सन्दर्भ उस विवरण को दिखा रहा है कि—

–"समझो इस प्रकार कि आत्मा तो रथ का स्वामी है, शरीर जो हमारा है वह स्वयं रथ ही है, बुद्धि जो इसमें है, इह इस रथ का संचालक सारथी है, मन ही घोड़े की लगाम है, इन्द्रियां ही घोड़े हैं इस रथ में जुते हुए, जिधर ये घोड़े रथ को ले जाते हैं वे विषय कहे गये हैं आत्मा इन्द्रिय मन से युक्त भोक्ता है, ऐसा मनीषियों का कथन हैं, जिसका सारथी विज्ञान है, जिसके अधिकार में मनरूपी लगाम है, वह इस मार्ग को पार कर जाता है, जो वह विष्णु का परम पद है"–

इस प्रकार यह जो वर्णन में आया विष्णु पद है उसी को दिखाने के लिए इन्द्रिय आदि सबसे परे उस आत्मा का उपदेश दिया जाता है जिसके लिए यहां "इन्द्रियों से पर अर्थ हैं आदि कहा गया है। वहां यह भी समझना होता है कि जिन। इन्द्रिय आदि की पहिले के रथ के रूप की कल्पना में अश्व आदि के रूप में कल्पित करके बतलाया गया है, उन्हीं का यहां भी ग्रहण है,

–"इन्द्रियों में है ग्रहत्व और विषयों में है प्रतिग्रहत्व"–

इस वाजसनेयक श्रुति के द्वारा यहां भी इन्द्रिय रूपी घोड़ों के गोचर के रूप में अर्थों को इन्द्रियों से भिन्न कहा गया है। विषय और इन्द्रियों के व्यवहार का मूल है मन इसलिए मन को विषयों से पृथक् कहा गया है। बुद्धि और मन भी यहां पृथक् पृथक् हैं, उसका भेद यह है कि मन सविकल्पक अर्थात् अनेक बातें सोचने वाला है तथा बुद्धि एक का निश्चय करने वाली है। यही कारण है कि बुद्धि और मन भिन्न-भिन्न तत्त्वों के रूप में अनुभूत हो रहे हैं। जो भी भोग्य पदार्थ हैं वे बुद्धि पर आरोहण करके भोक्ता के समीप जाते हैं। भोग्य पदार्थों से भोक्ता भी भिन्न है इसलिए महान् आत्मा को बुद्धि से भिन्न या पर कहा गया है।

अयमेव च महानात्मा शरीरी जीवो रथित्वेनोपक्षिप्तः। तदित्थं परमपददिदर्शयिषया तान्येव प्रकृतानीन्द्रियादीनि समनुक्रामन् परिशिष्यमाणेनेहाव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाणं प्रकृतं शरीरमेव दर्शयतीति गम्यते। शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्याविद्यावतो भोक्तुरेव रथादिरूपककल्पनया–

—"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ"—

इत्यादिना प्रदर्शितयोगप्रक्रियया च परमपदप्राप्तेरुपायस्य विवक्षितत्वात्। तेनैतदुक्तं भवति। वाचं मनसि संयच्छेत्। वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत। मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेनाध्यवसायस्वभावायां बुद्धौ धारयेत्। तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तरि नियच्छेत्। महान्तं त्वात्मानं सूक्ष्मतां गमयित्वा शान्ते आत्मनि परस्मिन् पुरुषे प्रतिष्ठापयेदिति। तथा च वैष्णवस्य परमपदस्य दुरधिगमत्वात् तदुपायतयैषामिन्द्रियादीनां हयादिरूपितानां वशीकरणप्रकारोऽयमाख्यायते न त्वत्र

कापिलतन्त्रप्रसिद्धस्य प्रधानस्य कश्चित् प्रसङ्ग उपपद्यते। तस्मात् सिद्धमस्मिन् काठक-वाक्ये तदव्यक्तपदं शरीरपरमस्तीति।

इसी शरीरी जीव महान् आत्मा को यहां रथी कहकर समझाया गया है। इस प्रकार परमपद को समझाने की इच्छा से उन्हीं प्रकृति प्रसूत इन्द्रिय आदि का वर्णन करते हुए बाकी के लिए इस अव्यक्त शब्द से शरीर को ही बतलाया है यह ज्ञात हो रहा है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना (अनुभव) से संयुक्त अविद्यावान् भोक्ता की ही रथादि के रूप में कल्पना की गई है।

–"प्राज्ञ वाणी और मन को (आत्मा में अर्पित करे) इत्यादि वाक्यों में प्रदर्शित योग की प्रक्रिया से परम पद की प्राप्ति का उपाय दर्शाया गया है। इस सब का निष्कर्ष यह है कि वाणी को मन के प्रति अर्पित कर दिया जाय, इसका तात्पर्य यह हुआ कि वाणी आदि बाह्य इन्द्रियों के व्यापार से अपने को हटाकर मनोमात्र में अपने को स्थित रक्खे। विषयों के विकल्पों में अभिमुख मन को भी विकल्पों में दोष देखते हुए निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि में धारित करे। उस बुद्धि को भी भोक्ता महान् आत्मा में प्रतिष्ठित करे। और महान् आत्मा को सूक्ष्मता में ले जाता हुआ पर पुरुष शान्त आत्मा में प्रतिष्ठापित करे। और इस प्रकार दुरधिगम परम वैष्णव पद को प्राप्त करने के उपाय के रूप में अश्व आदि के रूप में निरूपित इन इन्द्रिय आदि के वशीकर की यह प्रक्रिया यहां बतलाई जा रही है न कि कपिल महर्षि के सांख्य दर्शन में प्रसिद्ध प्रधान नाम के तत्त्व के निरुपण का यहां कोई प्रसंग आया है। अतः सिद्ध हुआ कि कठोपनिषद् की उक्त श्रुति में आया हुआ अव्यक्त शब्द शरीर परक है।

ननु स्थूलत्वात् स्पष्टतरमिदं शरीरं नाव्यक्तशब्दमर्हतीति चेत् सत्यम्। द्विविधं हि शरीरं भवति। स्थूलं सूक्ष्मं च। तत्रेदं सूक्ष्मं शरीरमिहाव्यक्तशब्देन विवक्ष्यते। तस्या-व्यक्तशब्दार्हत्वात्। बन्धमोक्षव्यवहारस्य च तदधीनत्वादर्थवदिदमुच्यमानं जीवात्तस्य पर-त्वम्। यथा वेन्द्रियव्यापारस्यार्थाधीनत्वादर्थानामिन्द्रियेभ्य परत्वमाख्यायते तद्वत्।

परे त्वाहुः--सूक्ष्मं तु तदर्हत्वादिह विवक्ष्यते नेदं स्थूलम्। अस्यैव तु स्थूलस्य यदारम्भकं भूतसूक्ष्मं तदव्यक्तं बोध्यं तस्य रथवत् पुरुषार्थसाधनार्हत्वात्। अथवा तस्या-व्यक्तशब्दार्हत्वात्।

--"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति"--

श्रुत्या नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यास्यैव जगतः प्रागवस्थायाः परित्यक्तनामरूपाया बीजशक्तेरव्यक्तशब्दयोग्यत्वेन श्रवणात्। नन्वेवं तर्हि सोऽभ्युपगतः प्रधानकारणवादो भव-तापि। अस्यैव जगतः प्रागवस्थाया अव्याकृतनामरूपायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति चेन्न। न वयमेतद् बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तं नाभ्युपगच्छामः। किन्तु केवलमस्य स्वातन्त्र्यमेवापव-दामः तदधीनत्वादर्थवत् सृष्टौ तस्योपयोगं पश्यामः।

प्रश्न हो सकता है कि शरीर तो स्थूल है और अव्यक्त का अर्थ है कि जो इन्द्रियों की पहुंच के बाहर हो, व्यक्त न हो, तो यह प्रश्न उचित ही है। शरीर दो प्रकार का है स्थूल तथा सूक्ष्म। इनमें से यहां अव्यक्त शब्द का प्रयोग जिस के लिए हुआ है, वह सूक्ष्म शरीर है, क्योंकि वही अव्यक्त शब्द से कहे जाने योग्य है। उस सूक्ष्म शरीर के अधीन है सारा बन्धन और मोक्ष का व्यवहार। अतः जीव से सूक्ष्म शरीर को पर बतलाना भी युक्ति युक्त ही है। सूक्ष्म शरीर को जीव से पर बतलाना वैसा ही है, जैसे इन्द्रियों के व्यापारों के अर्थों के अधीन होने के कारण अर्थों को इन्द्रियों से पर कहा जाता है।

अन्य लोग इसका दूसरे प्रकार से अर्थ करते हुए कहते हैं कि अव्यक्त शब्द से अव्यक्त होने की योग्यता के कारण सूक्ष्म शरीर का ही यहां ग्रहण किया जाता है न कि इस स्थूल शरीर का। इस स्थूल शरीर को उत्पन्न करने वाला जो पंच महाभूतों का सूक्ष्म अंश है वही अव्यक्त शब्द से बोध्य है। वही रथ के समान पुरुषार्थ को सिद्ध करने की योग्यता रखता है। अथवा वही अव्यक्त शब्द के अर्थ होने की योग्यता वाला है।

—"वह यह तब अव्याकृत रूप में था"—

इस श्रुतिवाक्य के द्वारा नाम और रूप में प्रकट होने वाले इसी संसार के पूर्व की नाम रूप से परित्यक्त (पहिले की) जो बीज शक्ति रूप अवस्था है, उसी का अव्यक्त शब्द के अर्थ के योग्य के रूप में श्रवण किया गया है।

यहां प्रश्न होता है कि यह मान लेने पर तो आपने भी आखिर प्रधान कारण-वाद को मान ही लिया। इसी जगत् की पूर्वावस्था का नाम ही तो प्रधान (या मूल प्रकृति) है जिसमें नाम और रूप अस्पष्ट रहते हैं तो इसके उत्तर में कहना है कि नहीं, ऐसा कथमपि नहीं समझना चाहिए। भाई हम बीज शक्ति की अवस्था में स्थित अव्यक्त तत्त्व का निषेध तो नहीं करते, हम तो सृष्टि की प्रक्रिया में इस अव्यक्त की स्वतन्त्रता को अस्वीकार करते हैं। अर्थों की उत्पत्ति अव्यक्त के अधीन होने से सृष्टि की प्रक्रिया में उसका उपयोग तो हम देखते ही हैं।

यथा सांख्याः स्वतन्त्रां कांचित् प्रागवस्थां प्रधानाख्यां जगत्कारणत्वेनाभ्युपगम्य तदधीनतयैवार्थानां भूतसूक्ष्माणां तन्मात्राख्यानां जगत्कारणत्वं मन्यन्ते न स्वतन्त्रम्, तद्व-देवास्य जगत्प्रागवस्थारूपस्याव्यक्तस्य परमेश्वराधीनतयैव जगत्कारणत्वं न स्वतन्त्रमिति प्रतिपद्यामहे। यथा भूतसूक्ष्मेभ्य एवोत्पन्नानीमानि सर्वाणि भौतिकानि प्रधानादव्यक्ता-दुत्पद्यन्ते इति सांख्या मन्यन्ते तथैतस्मादपि प्रधानादुत्पन्ननीमानि सर्वाणि परमेश्वरादे-वोत्पद्यन्ते इति मन्यामहे। परमाणव एव जगत्कारणमिति परीक्षकाणां पूर्वा दृष्टिः। परमाणुभ्योऽप्यूर्ध्वं प्रधानमव्यक्तं जगत्कारणमिति परीक्षाविशेषाद् परा दृष्टिः। अथाव्य-क्तादप्यूर्ध्वं सर्वस्येशानः परमात्मैव जगत्कारणमिति परीक्षातिशयादुत्तमा दृष्टिः। सा

काष्ठा तत्र विश्रामः । नात ऊर्ध्वं किञ्चिदस्ति यस्य कारणत्वं परीक्षकैः परीक्ष्येत् तस्मात् परमात्मैव जगत्कारणं न ततोऽर्वाचीनं प्रधानं परमाणवो वेति सिद्धम् । तथा च स्मर्यते —

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। इति ।

जैसे सांख्य दर्शन के आचार्य जगत् की एक स्वतन्त्र पूर्व की अवस्था को प्रधान (या मूलप्रकृति) संज्ञा देते हुए उसे जगत् का कारण मानते हुए उसी के अधीन भूतों के सूक्ष्म रूप तन्मात्रा नाम वाले अर्थों को जगत् का कारण मानते हैं, वे उन्हें स्वतन्त्र नहीं मानते, उसी प्रकार हम जगत् की प्रागवस्था के रूप में स्थित अव्यक्त को परमेश्वर के आधीन रहते हुए ही जगत् का कारण मानते हैं, अव्यक्त को हम स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण नहीं मानते । जैसे पंचमहाभूतों के सूक्ष्म रूप से ही समुत्पन्न ये समस्त भौतिक पदार्थ प्रधान अव्यक्त से उत्पन्न हैं ऐसा सांख्य दर्शन के आचार्य मानते हैं, वैसे ही इस प्रधान तत्त्व से उत्पन्न सारे पदार्थ भी परमेश्वर से ही उत्पन्न हैं, यह हमारा मानना है । परमाणु ही जगत् के कारण हैं, यह परीक्षकों की पहली दृष्टि है । परमाणुओं से भी ऊपर प्रधान या अव्यक्त जगत् का कारण है यह विशेष परीक्षण के आधार पर बनी परा दृष्टि है । अब अव्यक्त से भी आगे सब का ईशान परमात्मा ही जगत् का कारण है यह अत्यन्त अतिशय परीक्षण के आधार बनी उत्तमा दृष्टि है । वह पराकाष्ठा है, वहीं (कारणता का) विश्राम है । इससे आगे ऐसा कुछ नहीं है जिसके कारण का परीक्षकगण परीक्षण कर सकें । अतः परमात्मा ही जगत् का कारण है, उससे नीचे के तत्त्व प्रधान या परमाणु नहीं यह सिद्ध होता है । इसी का स्मरण किया गया है कि—

—"भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह मेरी आठ भेदों में भिन्न रूप से पाई जाने वाली प्रकृति है । इससे भिन्न मेरी एक अन्य प्रकृति को हे महाबाहु तुम समझो, वह जीव है, जिससे इस जगत् का धारण हो रहा है ।"—

—"समस्त भूतों का उत्पत्ति स्थान यही है, यह निश्चय पूर्वक समझ लो । मैं ही समस्त जगत् का उत्पादक और उसका लय करने वाला हूँ । हे धनञ्जय, मुझ से आगे

और कुछ भी नहीं है, जैसे धागे में मणियों का समूह पिरोया रहता है (हार के रूप में) वैसे ही यह समस्त दृश्य प्रपञ्च मुझ में पिरोया हुआ है।"—

परमाणूनां प्रधानस्य वा जगत्प्रभवाश्रयपरायणत्वं मन्यमानास्तत्र तत्रैवैषां सर्वेषां कार्यजातानां मयीत्यात्मोपसम्पत्तिं मन्यन्ते श्रुतिस्तु—

"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिरिति"—

परमात्मोपसम्पत्तिं विधत्ते। तस्मात् तस्मिन्नानुमानिके प्रधाने जगत्कारणता श्रुतिसिद्धा नास्तीति गम्यते।

परे त्वाहुः—

—"तदधीनत्वादर्थवत्"—

परमेश्वराधीनं हीदमव्यक्तं सप्रयोजनम्। तस्य बीजशक्तिरूपत्वात्तेन विना परमेश्वरस्यापि स्रष्टृत्वानुपपत्तेः। तेन विना मुक्तामुक्तव्यवस्थानुपपत्तेश्च। तदभ्युपगमे तु विद्यया बीजशक्तिनाशे पुनरुत्पत्तिलक्षणा मुक्तिरुपपद्यते। तस्मादव्यक्तमवश्यमभ्युपेयम्। तस्य स्वातन्त्र्यं केवलमपोद्यते इत्यवधेयम्।

परमाणु या प्रधान को जगत् की उत्पत्ति स्थिति का कारण मानने वाले इन सब कार्य पदार्थों का परमाणु प्रधान आदि को 'मयि' (मुझ में) शब्द से सम्बोधित मान लेते हैं। परन्तु वेद को तो—

—"वह पराकाष्ठा है, वह परमगति है"—

इस कथन से आत्मा की उपसम्पत्ति अभीष्ट है। अतः उस अनुमान मात्र से सिद्ध होने वाले प्रधान (प्रकृति) में जगत् की कारणता वेद को अभीष्ट नहीं है, यह ज्ञात होता है।

दूसरे विचारकों का कथन है कि—

—"उसके अधीन होने से अर्थवान् है"—

परमेश्वर के अधीन यह अव्यक्त प्रयोजन के साथ है। क्योंकि वह बीज शक्ति स्वरूप है और उसके बिना परमेश्वर भी संसार का स्रष्टा नहीं कहला सकता और उसके बिना मुक्त तथा अमुक्त की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। उसे स्वीकार कर लेने पर तो अविद्या से बीज शक्ति का नाश हो जाने पर पुनः उत्पत्ति वाली मुक्ति का होना युक्ति-संगत हो जाता है, इसलिए अव्यक्त तत्त्व को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। हम सृष्टि में उसकी स्वतन्त्रता मात्र को अस्वीकार करते हैं।

तस्यैतस्याव्यक्तस्य पाञ्चरूप्यं प्रतिपन्नाः स्मः ।

—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'—

श्रुतिसिद्धम् आकाशमव्यक्तम्—इत्येकम् ।

—"अक्षरात्परतः पर"—

इति श्रुतिसिद्धमक्षरं द्वितीयम् ।

—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु हेश्वर"—

मिति मन्त्रोक्ता मायेति तृतीयम् । द्विविधा सा माया विद्या चाविद्या च । तत्राविद्यावत्त्वे जीवस्य सर्वे व्यवहाराः सन्तन्यन्ते । तस्मात् सेयमविद्यैवाव्यक्तम् । इयमेवाविद्या बीजशक्तिः परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिर्यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः इति चतुर्थम् । भूतसूक्ष्ममव्याकृतं ह्यवस्थाविशेषमापन्नं शरीरं भवति । शरीरावस्थं चेदमव्याकृतमव्यक्तशब्देनोच्यते इति पञ्चमम् । सर्वमिदमेकार्थप्रत्ययसारम् ।

तत्र यदिदं शरीरमव्यक्तं तदिह काठकवाक्ये विवक्ष्यते । तस्यैव प्रकृतत्वात् । न तु गुणत्रयरूपं प्रधानम् । तस्याप्रकृतत्वात् ।

—"ज्ञेयत्वावचनाच्च"—

सांख्यैस्तावद्गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यं वदद्भिः प्रधानं ज्ञेयत्वेन स्मर्यते । इह तु काठकश्रुतौ—

—"यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छतीति"—

पुरुषस्यैव ज्ञेयत्वं न तु तदव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते । ननु—

—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते"—

इत्येवमत्रापि श्रुतौ प्रधानं ज्ञेयत्वेन वदन्तीति चेन्न । प्राज्ञो हि स उच्यते प्रकरणान्न प्रधानम् । प्राज्ञस्यैव हीदं प्रकरणं पश्यामः ।

—"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः"—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते"—

इत्येवं तस्यैवादौ दुर्विज्ञेयत्वमाख्याय तद्विज्ञानार्थं—

—"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ"—

इत्यादिना संयमस्य विहितत्वात् तस्मान्नात्र कठश्रुतौ सांख्यप्रसिद्धस्य प्रधानस्यास्ति कश्चित् प्रसङ्ग इति प्रतिजानीमहे ।

हमने इस अव्यक्त के पांच रूपों को जाना है।

—"हे गार्गि इस अक्षर में आकाश ओतप्रोत है"—

इस श्रुतिवाक्य से सिद्ध होने वाला आकाश अव्यक्त है, यह अव्यक्त का पहिला रूप है।

—"अक्षर से परे वह पर है"—

इस श्रुति के द्वारा अक्षर अव्यक्त का दूसरा रूप है।

"प्रकृति को माया समझना चाहिये और महेश्वर को मायी समझना चाहिये"—

इस मन्त्र में कही गयी माया अव्यक्त का तीसरा स्वरूप है। वह माया दो प्रकार की है, एक है विद्या और दूसरी है अविद्या। उनमें अविद्या के साथ होने पर जीव के सारे व्यवहार चलते हैं इसलिए यह अविद्या ही अव्यक्त है। यह अविद्या ही बीज शक्ति है, यह परमेश्वर का आश्रय लेने वाली है, यह मायामयी महानिद्रा (महासुषुप्ति) है जिसमें स्वरूप के ज्ञान से रहित होकर संसार के जीव सो रहे हैं, यही भूतों का सूक्ष्म भाग जो अव्याकृत होता है वही विशेष अवस्था में पहुंच कर शरीर हो जाता है और शरीर की अवस्था में यह अव्याकृत अव्यक्त शब्द से कहा जाता है, यह अव्यक्त का पांचवां रूप हुआ। ये पांचों उस एक ही अव्यक्त की अवस्था मात्र हैं।

उनमें शरीर रूपी जो अव्यक्त की अवस्था है वह कठोपनिषद् के वाक्यों में विवक्षित है, क्योंकि वहां प्रसंग उसी का चल रहा है। न कि अव्यक्त शब्द से तीन गुणों वाली प्रकृति या प्रधान वहां विवक्षित है क्योंकि उसका वहां प्रसंग नहीं है।

(इसी बात को सूत्रकार कहते हैं)

—"पुनश्च ज्ञेयत्व का कथन न करने के कारण"—

सांख्य के आचार्य गुणों और पुरुष के अन्तर के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होना मानते हैं और वे प्रधान या मूल प्रकृति को ज्ञेय या जानने योग्य मानते हैं।

—"जिसको जानकर जन्तु मुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है"—

ऐसा कहते हुए पुरुष को ही ज्ञेय बतलाया है न कि वह अव्यक्त यहां ज्ञेय बतलाया गया है।

प्रश्न होता है कि—

"ऐसे तत्त्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त करके मृत्यु के मुख से छुट्टी मिल जाती है, जो शब्द से रहित स्पर्श शून्य रूप वर्जित तथा अव्यय है"—

इस प्रकार यहां की श्रुति में भी प्रधान को ज्ञेय के रूप में बतलाया गया है, तो यह प्रश्न निरर्थक है, प्रकरण के अनुसार वह प्राज्ञ के लिए कहा गया है न कि प्रधान या प्रकृति के लिए। हम देख रहे हैं कि यह प्रकरण प्राज्ञ के निरूपण का ही है।

—"पुरुष से पर और कुछ नहीं है, वह पराकाष्ठा है, वह परमगति है"—

"यह गूढ़ आत्मा सब भूतों में रहता हुआ भी प्रकाशित नहीं होता — (इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं बनता)।

इस प्रकार प्रारम्भ में उसे कठिनता से जानने योग्य बतला कर उसे जानने के लिए—

"प्राज्ञ पुरुष वाणी और मन का संयमन करे"—

इत्यादि वाक्यों से संयमन का विधान किया गया है। इसलिए यहां कठोपनिषद् श्रुतिवचनों में सांख्य दर्शन में प्रसिद्ध प्रधान तत्त्व के निरूपण का कोई प्रसंग नहीं है यही निश्चय होता है।

किञ्च—त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्चेह कठश्रुतौ विधीयते-पितृसौमनस्य-विषयश्चाग्निविषयश्चात्मविषयश्चेति। नातोऽन्यस्य प्रधानविषयस्य तत्रोपन्यासो भवितु-मर्हति।

तत्रायमात्मा द्विविधः—जीवात्मा परमात्मा च। तयोश्च शारीरान्तर्यामिणोरयम-विद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तो भेदव्यपदेशो न पारमार्थिको घटाकाशमहा-काशवत्। अत एवेदं द्विरूपमेकं ब्रह्मावगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं च तद्वि-परीतं सर्वोपाधिविवर्जितं चेति। तयोस्तादात्म्यं श्रुतिरभिप्रैति। सोऽयं द्विविधोऽप्यात्मा तत्रैकस्मिन्नेव तृतीयवरप्रश्ने विषयीक्रियते—

—"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
'एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः—।"
इति जीवात्मानं विषयीकरोति।
—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद"—

इति परमात्मानम् तत्प्रतिवचनेऽपि स द्विविध एवात्मा विषयीक्रियते।

—"हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्यात्मा भवति गौतम॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।" इति जीवात्मा ।

—"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः"—

इत्यादिभिश्च परमात्मा स उपन्यस्यते ।

पुनश्च कठोपनिषद् वाक्यों में तीन तत्त्वों के निरूपण का ही प्रारम्भ और उनके लिए ही प्रश्न उठाए गये हैं—वे तीन तत्त्व हैं, पितरों का सौमनस्य, अग्नि और आत्मा । इनसे अतिरिक्त प्रधान विषय का उपन्यास या कथन वहां नहीं हो सकता ।

वहां यह आत्मा दो विधाओं वाला है जीवात्मा और परमात्मा । इन दोनों में वस्तुस्थिति में (पारमार्थिक) कुछ भी भेद न होने पर भी शरीर और अन्तर्यामी में अविद्या के द्वारा उपस्थित किये गये कार्य और साधनों की उपाधियों के भेद से ही भेद प्रतीत वैसे ही होता है जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद न होने पर भी उपाधिवशात् भेद व्यवहार होता है । इसीलिए यह एक ही ब्रह्म दो रूपों में समझा जाता है, एक वह जो नाम रूप विकारों की भेद वाली उपाधियों से विशिष्ट है और दूसरा उससे विपरीत समस्त उपाधियों से वर्जित । श्रुति वचनों में इन दोनों के तादात्म्य (एकरूपता) का अभिप्राय प्रकट किया गया है । इस दोनों प्रकार के आत्मा को एक ही तृतीय वर प्रदान में विषय बनाया गया है ।

"प्रेत मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी वह अस्तित्व में है तथा अन्यों का कहना है कि शरीर के नष्ट होने के बाद कोई अस्तित्व नहीं रहता, हे यमदेव, तुम्हारे द्वारा उपदिष्ट होकर मैं जान जाऊंगा मेरे अभीष्ट वरों में से यह तीसरा वर है"—

यह प्रकरण जीवात्मा को ही अपना विषय बनाता है ।

—"धर्म से अलग अधर्म से भी पृथक् अपने किये और बिना किये कार्यों से पृथक्, भूत और भविष्य से भिन्न जो तत्त्व दिखाई देता है, उसे बतलाओ"—

यहां परमात्मा को विवेचन का विषय बनाया गया है । उसके उत्तर में भी दोनों प्रकार के आत्म भेदों को विषय बनाया गया है ।

—"हे गौतम, तुम्हें इस गुप्त सनातन ब्रह्म को कहता हूं, मरणोपरान्त आत्मा की जो स्थिति होती है, उसका विवरण इसमें आ जाता है । कुछ शरीरधारी मरण के उपरान्त तथा अन्य शरीरी अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार स्थाणुभाव को ओर जाते हैं"—

इससे जीवात्मा को कहकर

—"यह विपश्चित न उत्पन्न होता है और न मरता है और न ही मरने के उपरान्त पुनः उत्पन्न होता है"—

इत्यादि वचनों से वह परमात्मा कहा गया है।

तदित्थमिह त्रयाणामेव प्रश्नोऽस्तीत्यतस्त्रयाणामेवोपन्यासेन भवितव्यमिति प्रधानविषयकप्रश्नाभावादपृष्टस्य चानुपन्यसनीयत्वान्नात्र प्रधानोपन्यासः संभवतीति प्रतिजानीमहे। अत एव च न प्रधानार्थन्तत्रेदमव्यक्तपदं भवितुमर्हति।

—"महद्वच्च"—

अयं हि महच्छब्दः सांख्यैः प्रथमजे सत्तामात्रे प्रयुज्यते वैदिके तु प्रयोगे भोक्ताऽयं जीवः शरीरी महच्छब्देनाभिधीयते न सत्तामात्रम्।

—"बुद्धेरात्मा महान् परः"—
—"महान्तं विभुमात्मानम्"—
—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्"—

इत्येवमादिष्वात्मशब्दसामानाधिकरण्येन प्रयोगात्। तथा च यथायं महच्छब्दोऽन्यपरोऽप्यन्यपरतया सांख्यैरिष्यते तस्मादप्रमाणम्—इत्यवगन्तव्यम्।

इत्यव्यक्तशब्दविमर्शः

इस प्रकार यहां तीनों के ही विषय में प्रश्न हुआ है अतः तीनों का ही विवरण यहां दिया जाना चाहिए, यहां प्रधान तत्त्व का कोई प्रसंग नहीं है ऐसा हम समझते हैं। इसीलिए यहां का यह अव्यक्त शब्द भी प्रधान का वाचक नहीं हो सकता।

"—और महत् के समान' —

यह महत् शब्द सांख्य दर्शन में प्रथमतः उत्पन्न सत्ता मात्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक प्रयोग में तो यह भोक्ता शरीरी जीव महत् शब्द से सम्बोध्य होता है न कि आदिम अवस्था की सांख्योक्त सत्ता मात्र।

—"बुद्धि से महान् आत्मा पर है"—
—"महान् व्यापक आत्मा को (जानो)"—
—"इस महान् पुरुष को मैंने जाना"—

इत्यादि स्थलों पर महान् तथा आत्मा का एक ही के लिए प्रयोग हुआ है। अब जैसे यह 'महान्' शब्द अन्य अर्थ वाला होने पर अन्य ही अर्थ में सांख्याचार्यों के व्यवहार में आता है, वैसी ही स्थिति इस 'अव्यक्त' शब्द की भी है। इसका भी अर्थ दूसरा ही है। किन्तु सांख्य दर्शन में इसका व्यवहार भी अन्य अर्थ में ही किया जाने से वह प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता यह समझ लेना चाहिए।

द्वितीयः अजाशब्द विमर्शः

अजा त्रिवर्णा तेजोऽबन्नरूपा न तु सांख्योक्ता गुणत्रयीत्याह—

—"चमसवदविशेषात्"—[१।४।८]

—"ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके"—[१।४।६]

—"कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः"—[१।४।१०]

अथ भूयोऽपि सांख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते —

—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते—

जहात्येतां भुक्तभोगामजोऽन्यः" ।—

इति मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णैर्गुणपरैः रजःसत्त्वतमसामुपलक्षणात् तेषां साम्यावस्थावयवधर्मं लोहितशुक्लकृष्णेतिव्यपदिष्टा मूलप्रकृतिरजन्योपदिश्यते । तामेव प्रकृतिमेकः पुरुषः सेवमानः सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति, अन्यः पुनरजः पुरुषो जातवैराग्यविवेकज्ञानः कृतभोगापवर्गा तामेनां प्रकृतिं परित्यजति स मुच्यते—इति हि तदर्थः । तथा च श्रुतिमूलैव सा प्रधानादिकल्पना सांख्यानामिति चेन्न ।

चमसवदविशेषात् ।

—"दूसरा विमर्श–'अजा' शब्द"—

अजा तीन वर्ण वाली तेज अप् अन्न स्वरूपा है न कि सांख्य दर्शन में व्याख्यात गुणत्रयी 'अजा' है यह बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

—"चमस के समान विशेषता न होने के कारण"—(१।४।८)

—"ज्योति का उपक्रम करने वाली है, ऐसा कुछ लोग पढ़ते हैं"—(१।४।६)

—"कल्पना के उपदेश के कारण मधु (विद्या) आदि की तरह विरोध नहीं आता"—(१४।१०)

अब यहां पुनः सांख्य दर्शन के विद्वान् कहते हैं

—"एक लोहित शुक्ल कृष्णा अपने समान बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली अजा का एक इच्छा रखने वाला अज अनुशयन करता है, तथा भुक्त भोगा उस को दूसरा अज छोड़ता है"—

इस मन्त्र के लोहित शुक्ल कृष्ण शब्द रज तम और सत्त्व गुणों के लिए प्रयुक्त है, ये शब्द गुणों के उपलक्षण है उनकी साम्यावस्था के अवयव धर्मों मे जिसका लोहित शुक्ल कृष्ण इन शब्दों से बखान हुआ है वह अजन्या (अनादि) मूल प्रकृति उपदिष्ट हुई है। एक पुरुष उसी प्रकृति का सेवन करता हुआ "मैं सुखी दुखी मूढ़ हूं", ऐसा समझता हुआ विवेक के अभाव में संसरण करता है। दूसरा जो अज पुरुष है, जिसे वैराग्य और विवेक ज्ञान हो चुका है वह भोग तथा अपवर्ग का संपादन करने वाली इस प्रकृति को छोड़ देता है, वह मुक्त हो जाता है, यही इस मन्त्र का अर्थ है। इसलिए सांख्यदर्शन की प्रधान तत्त्व आदि की कल्पना श्रुति मूलक ही है, ऐसा जो कहा जाता है तो उसका उत्तर नकारात्मक है। सूत्र यहां कहता है—"चमस की तरँह विशेषता न होने के कारण—

कहा गया है—

"—चमस नीचे की ओर बिलवाला और ऊपर ढक्कन वालाहै"—

तथा हि—

—"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न"—

इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते नियन्तुम् सर्वत्रापि यथाकथञ्चिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः। एवमिहापि विशेषावधारणकारणाभावात् सांख्यवादसमर्थकत्वमस्य मन्त्रस्योपकल्प्य प्रधानमत्राजापदेनाभिप्रेतमिति न शक्यते नियन्तुम्। सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः।

किञ्च—

—"इदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" —

इति वाक्यशेषात् तत्र यथा चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति एवमिहापि विशेषनिरूपणात् उत्पद्यमाना ज्योतिरुपक्रमात् तेजोऽबन्नलक्षणा चतुर्विधभूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तथा ह्यधीयत एके शाखिनः।

—"यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य"—इति।

अस्माच्च रोहितादिशब्दसामान्यादेतानि परमेश्वरादुत्पन्नानि तेजोऽबन्नान्येवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते न रजःसत्त्वतमांसि। रोहितादिशब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद् गुणेषु च भाक्तत्वात् सति मुख्यलाभे भाक्तकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

नन्वेषां तेजोऽबन्नानां जातिनिमित्तोऽयमजाशब्दस्तत्र नोपपद्यन्ते। नाप्यजाकृतिनिमित्तः संभवति। तदभावात्। तस्मादेषां त्रैरूप्येण न त्रिरूपा काचिदजा शक्या प्रतिपत्तुमिति चेन्न। कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः।

यथैव खलु--आदित्यस्यामधुनो मधुत्वं वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वं द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्--इत्येवमन्यत्रान्यत्र कल्पना क्रियते एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यते ।

इस मन्त्र में स्वतन्त्र रूप से यह चमस नाम अभिप्रेत है ऐसा नियमन नहीं किया जा सकता । क्योंकि जिस किसी प्रकार सर्वत्र ही नीचे को ओर बिल आदि की कल्पना हो सकती है । इसी प्रकार यहां भी किसी विशेष अर्थ के निश्चय के कारण के अभाव में सांख्य सिद्धान्त के समर्थन की इस मन्त्र से कल्पना करके प्रधान या मूल प्रकृति यहां अजा शब्द से बतलाई जा रही है ऐसा नियमन नहीं किया जा सकता । क्योंकि सर्वत्र ही जैसी तैसी कल्पना करके अजात्व आदि संपादन तो हो ही जायगा । पुनश्च—

—"यह वह सिर है, नीचे बिल वाला चमस ऊपर से ढका है"—

इस शेष वाक्य से वहां जैसे चमस विशेष का ज्ञान होता है वैसे ही यहां भी विशेष प्रकार के निरूपण के हेतु से उत्पन्न होने वाली जो ज्योति है वह तेज अप् और अन्न स्वरूपा है जो चार प्रकार के भूत समूह की प्रकृति रूपा यह अजा समझी जानी उचित है । कुछ शाखाओं के स्वाध्यायी गण इसको ऐसा ही मानते और समझते भी हैं ।

—"अग्नि का जो रोहित रूप है, वही रूप तेज का शुक्ल हो जाता है और जल का रूप कृष्ण वर्ण का है"—

इस सामान्य अनेकत्र विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हुए भी एकरूप उच्चारित होने वाले रोहित शब्द की सामान्यता के कारण परमेश्वर से उत्पन्न ये तेज जल और अन्न ही यहां समझे जा सकते हैं न कि रज सत्व और तम । रोहित आदि शब्दों का विशेष रूपों में मुख्य अर्थ माना गया है तथा गौण अर्थों में उनका प्रयोग द्वितीय कोटि का है (भाक्त है) और (नियम यह है कि किसी शब्द के अर्थ के विषय में एकाधिक अर्थ सामने आने पर इस शब्द का यहां अर्थ क्या है यह जब निर्णय करना हो तब यदि उसका मुख्य अर्थ वहां संगत होता है तो उसे छोड़कर गौण अर्थ को ग्रहण करके वाक्य में उसको संगति करने को चेष्टा को अस्वीकार किया गया है) मुख्य अर्थ का लाभ होने पर गौण अर्थ की कल्पना करके वाक्यार्थ में उसकी संगति करना अन्याय माना गया है । [अतः अजा शब्द को प्रधान या मूल प्रकृति अर्थ में लगाना ठीक नहीं] ।

प्रश्न होता है कि तेज अप् अन्न के लिए यह जाति निमित्तक अजा शब्द समञ्जस नहीं लगता । अजा शब्द को आकृति निमित्त भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि आकृति का यहां अभाव है । इसलिए (तेज अप् अन्न के) तीन रूप होने के कारण कोई तीन रूप वाली ही अजा स्वीकार की जानी उचित है, यदि यह समाधान किया जाय तो वह ठीक नहीं है । सूत्रकार कहते हैं कि अजा की कल्पना करके उसका उपदेश दिये जाने से मधु आदि की तरँह ही कोई विरोध नहीं आता । जैसे आदित्य मधु नहीं है फिर भी उसे मधु

बतलाया गया, और वाणी धेनु नहीं है फिर भी उसे धेनु कहा गया, द्युलोक आदि अग्नि नहीं है फिर भी उन्हें अग्नि कहा गया, इसी प्रकार अन्यत्र अन्यत्र (वेद के सन्दर्भों में) कल्पना की गई है, वैसे ही यहां अजा न होने पर भी अजात्व की कल्पना की गई है।

यथा हि लोके यदृच्छया काचिदजा लोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा बहुसरूपप्रजा च। तां कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत। कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्। एवमियमपि तेजोऽबन्नलक्षणा चराचरभूतप्रकृतिस्त्रिरूपा बहुसरूपचराचरलक्षणं विकारजातं जनयति। अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते विदुषा तु सा परित्यज्यते—इत्येवं कल्पनोपदेशोऽयम् तस्मादविरोधस्तेजोऽबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य।

अत्रायं क्षेत्रज्ञभेदोऽप्युपदिष्टो न पारमार्थिकतया नेयः—

—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा"—

इत्यादिश्रुतिभ्यस्त्वैक्यावधारणात्। उपाधिनिमित्तस्तु मिथ्याज्ञानकल्पितः स भेदः क्वचिदुपदिश्यते इत्यविरोधः। तस्मादजामन्त्रेणापि सांख्योपकल्पितः प्रधानकारणवादो नोपदिश्यते इति सिद्धम्।

जैसे संसार में संयोगवश कोई अजा (बकरी लाल सफेद और काले रंग की बहुत से बच्चों वाली और अपनी तरँह बहुत परिवार वाली हो, कोई बकरा उसका भोग करने के लिए उसके साथ सोये तथा दूसरा कोई बकरा भोग करने के बाद उसे छोड़ कर अलग हट जाय, इसी प्रकार यह तेज अप् अन्न वाली चर अचर भूत प्रकृति तीन रूप वाली बहुत से अपने ही रूप के से चर अचर रूप वाले विकार समूह को उत्पन्न करती है, वह अविवेकी क्षेत्रज्ञ के भोग में आती है और विवेकी के द्वारा छोड़ दी जाती। इस प्रकार यह कल्पनापूर्वक दिया गया उपदेश है। अतः तेज अप् अन्न के लिए अजा शब्द के प्रयोग में कोई विरोध नहीं आता।

यहां जो क्षेत्रज्ञ के भेद का उपदेश हुआ है वह भी पारमार्थिक रूप से नहीं लिया जाना चाहिए—

—"सभी भूतों में एक ही देव गूढ़ है, वह सर्व व्यापक है, समस्त भूतों का वह अन्तरात्मा है"—

इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा ऐक्य का निश्चय घोषित है। जहां कहीं किसी के द्वारा भेद का उपदेश हुआ है उसका कारण उपाधि जनित मिथ्या ज्ञान की कल्पना है। अतः विरोध नहीं आता। इसलिए अजा शब्द युक्त मन्त्र के द्वारा भी सांख्य दर्शन में उपकल्पित प्रकृति कारणवाद (या जड़ कारणवाद) का उपदेश नहीं दिया गया है यह सिद्ध हुआ।

पञ्चजनशब्दविमर्शस्तृतीयः

पञ्चजनाः प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनोरूपा पञ्चब्रह्मपुरुषाः न तु सांख्योक्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि इत्याह—

—"न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च"—[१।४।११]

—"प्राणादयो वाक्यशेषात्"—[१।४।१२]

—"ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने"—[१।४।१३]

अथ भूयोऽपि सांख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते।

—"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः—

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्माऽमृतोऽमृतम्"—

इति वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र पञ्चसंख्याविषया पञ्चसंख्या श्रूयते। तेन पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशति सम्पद्यन्ते एतान्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। इति।

तथा चानया श्रुत्या पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात् प्रधानादीनां श्रुतिसिद्धत्वमस्तीति। चेत् तत्रोच्यते न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वमस्ति।

पञ्चजन शब्द का तृतीय विमर्श

(वेद संदर्भों में प्रयुक्त) पञ्चजन प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, मनरूप पांच ब्रह्म पुरुष हैं न कि सांख्योक्त पच्चीस तत्त्व, इस विषय को बतलाते हुए सूत्रकार महर्षि बादरायण कहते हैं—

संख्या के संग्रह से भी नहीं [सांख्य सिद्धान्त वेद सम्मत नहीं] क्योंकि उनमें नाना भाव हैं और संख्या से अधिकता है।"—[१।४।११]

—"वाक्यशेष से प्राणादि इसके अर्थ हैं"—[१।४।१२]

—"अन्त के अभाव में ज्योति से संख्या पूर्ति है [१।४।१३]

अब पुनरपि सांख्याचार्यों का कथन होता है कि—

—"जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित है ब्रह्म से अमृत होने वाला विद्वान् उसी अमृत तत्त्व को आत्मा मानता है"—

ऐसा वाजसनेयी शाख्याध्यायी समुदाय का मत है। वहां पंच संख्या से सम्बद्ध पांच संख्या सुनी गई है। इससे पांच को पांच से गुणित करके पच्चीस संख्या हो जाती है। इतनी ही संख्या के तत्त्व सांख्य दर्शन में गिनाये गये हैं—

—"मूल प्रकृति अविकृति है, महद् आदि सात प्रकृति विकृतियां हैं, सोलह विकार हैं, पुरुष न प्रकृति है न विकृति है"—

अथच उक्त श्रुति में भी पच्चीस तत्त्वों का संग्रह होने से प्रधान आदि तत्त्व श्रुति को भी मान्य हैं, यदि यह कहा जाता है तो वहां कहना यह है कि संख्या का संग्रह कर लेने पर भी प्रधान आदि तत्त्वों की श्रुति समझना सिद्ध नहीं होती।

नानाभावात् नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि। नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति येनेदं पञ्चकानां पञ्चकत्वमुपपाद्येत। ननु यथा—

पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः—

इत्यादौ द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं वक्तुमवयवसंख्यया व्यवहरति तथैवेयं पञ्चविंशतिसंख्या यथाकथञ्चिदवयवद्वारेणोपलक्ष्यते इति चेदस्त्वेवम् तथापि न निस्तारः। परस्येह पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समस्तत्वात्। तेन पञ्च पञ्चेति वीप्साया अलाभात्। एकस्याः पञ्चसंख्याया अपरया पञ्चसंख्यया विशेषितुमशक्यत्वात्। नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते इति चेन्न। मानाभावात्। इह तावज्जनानां पञ्चत्वमुपदिश्यते तत्त्वानां तु पञ्चत्वं सांख्यैरिष्यते इति नानात्वं भवति। न च तत्त्वेषु जनशब्दं रूढम्पश्यामः। यदि तु जन्यन्ते जना इति व्युत्पत्त्या जनशब्देन विकाराः सर्वे गृह्येरन् तथापि न निस्तारः। तत्त्वानां नानाभावात्। सन्ति कानिचित् तत्त्वानि विकृतिभूतानि, अपराणि प्रकृतिविकृतिभूतानि, प्रकृतिमात्रं किञ्चिदनुभयलक्षणं च किञ्चित्। तत्राविशेषेण सर्वाणि शक्यन्ते जनशब्देन ग्रहीतुम्। अतिरेकाच्च। पञ्चविंशतिरेव तत्त्वानि सांख्यैरिष्यन्ते। इह तु श्रुतावात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यातिरेकं पश्यामः। पञ्चविंशतेराकाशस्य चात्मनि प्रतिष्ठितत्वाख्यानात्। आत्मा चायं सांख्यानां पञ्चविंशः समाख्यातः। इह तु स पञ्चविंशतेराकाशस्य चाधारः समाख्यायते। तस्मादतिरिच्यतेऽर्थः। किञ्च न संख्यामात्रसाम्यश्रवणेनाश्रुतानां तत्त्वानामुपसंग्रहः शक्यः कर्तुम्। अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः।

ऐसा नाना भाव के कारण मानना पड़ता है। ये पच्चीस तत्त्व नाना प्रकार से परिगणित होते हैं। श्रुति प्रतिपादित पच्चीस संख्या में पांच पांच का समूह होना कोई साधारण धर्म नहीं है जिससे पांच पांच का पञ्चक समूह बन जाय। प्रश्न होता है कि जैसे—

"—पांच और सात वर्ष तक इन्द्र द्वारा वर्षा नहीं की गई"—

इत्यादि वाक्यों में बारह वर्ष तक की अनावृष्टि (वर्षा के अभाव) को बतलाने के लिए अवयव की संख्या से व्यवहार किया गया है वसे ही यह पच्चोस संख्या जिस किसी प्रकार अवयव के द्वारा उपलक्षित हो रहो है तो इस प्रश्न पर कहना यह है कि यही मान लिया जाय तो भो परिणाम आपके पक्ष में नहीं जा पाता। (पञ्च पञ्चजन इस श्रुति वाक्य में) दूसरा पञ्च शब्द जन शब्द के साथ समास में आया हुआ है। उससे पांच पांच इस पुनः प्रयोग की स्थिति नहीं आती। पहिली पांच संख्या से दूसरी पांच संख्या को विशेषित नहीं किया जा सकता। पुन: प्रश्न होता है जो जन पहिले पांच संख्या के द्वारा गिने जा चुके हैं वे हो पुन: पांच संख्या से गुणित होकर पच्चोस संख्या में पहुंच जायेंगे। इस प्रश्न का उत्तर भो नानाभाव के कारण नकारात्मक ही है। नानाभाव का आशय है कि यहां वेदवाक्य में तो जन को पांच बतलाया गया है और सांख्यदर्शन में तत्त्वों को पच्चीस गिनाया गया है। जन शब्द तत्त्वों के लिए रूढ़ तो है नहीं। यदि जो जनित हो (उत्पन्न हो) वही जन कहा जाता है, ऐसी व्युत्पत्ति जनशब्द की मानकर समस्त विकारों का जनशब्द से ग्रहण मान लिया जाय तब भी संगति बैठने वाली नहीं है। क्योंकि तत्त्वों के रूप अनेक प्रकारके हैं। कुछ तत्त्व तो प्रकृति रूप हैं, दूसरे विकृति रूप हैं। कोई केवल प्रकृति रूप ही है, और कोई न प्रकृति रूप है और न विकृति रूप है। अतः सामान्यतया (बिना विशेषता बतलाए) इन सभी को जनशब्द का अर्थ नहीं समझा जा सकता।

—"अतिरेक के कारण भी ऐसा नहीं हो सकता"—

सांख्य दर्शन में केवल पच्चीस तत्त्व ही अभीष्ट हैं। उक्त श्रुति में तो आत्मा और आकाश को सम्मिलित कर देने पर पच्चीस संख्या से गणना आगे बढ़ती दिखाई दे रही है। कहा गया है कि पच्चीस तत्त्व और आकाश आत्मा में प्रतिष्ठित हैं। सांख्य सिद्धान्त में तो इस आत्मा या पुरुष को पच्चीसवां तत्त्व गिना गया है। उक्त वेद वाक्य में तो वह आत्मा पच्चीस तत्त्वों और आकाश का आधार बतलाया गया है। अतः गणना में अतिरेक (वृद्धि) हो रही है। फिर बात यह भी है कि केवल संख्या की समानता को सुनकर जिन तत्त्वों को सुना ही नहीं गया उनका संग्रह नहीं किया जा सकता क्योंकि जिस संख्या को (पच्चीस) पकडा जायगा उसकी पूर्ति तो दूसरी चीजों को गिन कर भी पूरी की जा सकती है।

देखिए पच्चीस संख्या की दूसरे तत्त्वों की गणना से पूर्ति के अन्य प्रकार भी हैं। कहीं देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राक्षस ये पंच जन व्याख्यात हुए है।

—"दिक्संख्ये संज्ञायाम्"—

तथा हि केश्चित्—देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसीति पञ्चजना व्याख्यायन्ते दिक्संख्ये संज्ञायामिति समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावेन पञ्चजनशब्देन संज्ञिनामाकांक्षायां पुनः पञ्चशब्देन तदुल्लेखात्—सप्त सप्तर्षय इतिवत् । अथान्यैरिह निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चजनशब्देन परिगृह्यन्ते । क्वचिच्च—यत्पाञ्चजन्यया विशा इति प्रजापरः प्रयोगः । विग्रहधारिमात्रे पञ्चजनशब्दस्य रूढत्वात् ।

तथा च नानारूपेणेदं पञ्चजनत्वं पश्यन्ति ।

ऋषिपितरः, देवासुराः, गन्धर्वमनुष्याः, पशुपक्षिणः, ओषधिवनस्पतयः, इति पञ्चजनाः । पाञ्चभौतिकाः प्राणाः, एषां जन्यानामेवाधारो ब्रह्माण्डमाकाशः इति केचित् । परेत्वाहुः पशवः, पक्षिणः, कीटाः, कृमयः, स्थावरा इति पञ्च पञ्चजनास्ते हि प्रत्येकं पञ्चधा कृताः, पुरुषः, अश्वः, गौः, अविः, अजः इति पञ्चपशवः, वयांसि, कीटपतङ्गाः, दंशमशकाः, मत्स्याः दिवान्धमूषकाः इति पञ्च पक्षिणः सहस्रपदाः । शतपदाः । बहुपदाः । अष्टापदाः । षट्पदाः इति पञ्च कीटाः बिलेशयाः । पुरीष्याः । दैहिकाः । वृक्ष्याः । फलजाः—इति कृमयः वनस्पतयः । ओषधयः । तृणानि । वल्ल्यः । स्तम्बाः—इति पञ्च स्थावराः । तदित्थमिह पञ्चजनस्य नानाभावो भवति ।

वयं तु ब्रूमः । त इह पञ्चजनाः प्राणादयो वाक्यशेषात् प्रतीयन्ते इति । उत्तरस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः ।

"प्राणस्य प्रणमुतचक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः"—इति ।

तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात् पञ्चजना विवक्ष्यन्ते । जनः पुरुष इति पर्यायवाचिनौ भवतः तेन "ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः"—इति पुरुषशब्दवदिह प्राणेषु जनशब्दः प्रयुक्तो द्रष्टव्यः । पुरुषजनादिशब्दानां विवक्षावशात्पुरुषान्वितार्थेषु प्रयोगस्य श्रुतिशैलीसिद्धत्वात् । सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः"—

—इत्यादिश्रुत्या तथावगमात् । तस्मादिह प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि पञ्चजनाः पञ्च यस्मिन्नध्यस्तास्तमेवात्मानममृतं ब्रह्म मन्ये, तस्माच्च मनादहं विद्वानमृतोऽस्मीति मन्त्रदृग्वाक्यार्थः सिद्धः । ज्यौतिषैकेषामसत्यन्ने ।

इह हि प्राणादिषु माध्यन्दिना अन्नमामनन्ति काण्वास्तु तन्नामनन्ति । तेषामेषां काण्वानां समये ज्योतिषा पञ्च संख्यापूर्तिर्द्रष्टव्या । तेऽपि हि ।

"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना"

—इत्यतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—

—"तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरिति"—

इस सूत्र से समास का विधान होने से ज्ञात संज्ञा के अभाव से पंच जन शब्द से उसके संज्ञी की आकांक्षा होने पर पुनः पञ्च शब्द से उसका उल्लेख किया है- जैसे 'सप्तर्षि सात हैं' इस वाक्य में होता है।

अब अन्य विद्वान् निषदादि वर्णों को पञ्चजन शब्द से ग्रहण करते हैं। कहीं "पाञ्चजन्य या दिशा" आदि वाक्यों में पञ्चजन शब्द का प्रयोग प्रजा के लिए हुआ है। क्योंकि समस्त शरीरधारियों में पञ्चजन शब्द रूढ़ है।

इस पञ्चजनत्व को अनेक रूपों में देखा जाता है। ऋषि, पितृ, देवासुर, गन्धर्व-मनुष्य, पशु पक्षी, ओषधि वनस्पति, ये पञ्चजन हैं। पाञ्चभौतिक प्राण अथवा इनका आधार भूत, ब्रह्माण्ड या आकाश पञ्चजन कहा गया है ऐसा कुछ लोगों का कथन है। दूसरे लोग कहते हैं कि पशु, पक्षी, कीट, कृमि, तथा स्थावर ये पञ्चजन हैं, जिनमें प्रत्येक के पांच-पांच भेद हैं। पांच पशु हैं–पुरुष, अश्व गौ, भेड़ तथा बकरी। पांच पक्षी हैं पक्षी, कीट, पतंग, दंशमशक, मत्स्य तथा दिन में अन्धे चूहे। पांच कीड़े हैं– सहस्रपद, शतपद, बहुपद, अष्टापद और षट्पद। पांच कृमि हैं-बिलेशय, पुरीष्य, दैहिक, वृक्ष्य और कफज। पांच स्थावर हैं– वनस्पति, ओषधियां, तृण, वल्ली, तथा स्तम्ब इस प्रकार पञ्चजन शब्द के नाना अर्थ हैं।

हमारा तो कहना है कि वाक्य शेष के आधार पर यहां पञ्चजन शब्द से प्राण आदि का ग्रहण होता है। आगे के मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने के लिए प्राण आदि पांच बतलाए गए हैं।

–"जिसको प्राणों का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न, मन का मन समझा"–

वे ही इस वाक्य शेष में आये पञ्चजन शब्द से कथित हैं। जन और पुरुष पर्याय शब्द हैं। इससे—

—'निश्चय ही ये वही पांच ब्रह्म पुरुष हैं"—

इसमें पुरुष शब्द के समान यहां प्राणों के लिए जन शब्द का प्रयोग हुआ है, यह समझना चाहिए। पुरुष जन आदि शब्दों का विवक्षा के आधार पर पुरुष से सम्बद्ध अर्थ में प्रयोग श्रुति की शैली में सिद्ध है।

—"किसी के मत में अन्न के न रहने ज्योतिष से पूर्ति होगी"—

यहां प्राण आदि में माध्यान्दिनशाखा के अध्येता अन्न की गणना करते हैं, परन्तु काण्वशाखा वाले उसे नहीं गिनते। अब इन काण्वशाखाध्यायियों के मतमें पांच संख्या की पूर्ति ज्योति से करनी चाहिए। वे भी—

—"जिसमें पांच पञ्चजन हैं"—

इससे पूर्व के मन्त्र में ब्रह्म का स्वरूपनिरूपण करने के लिए ज्योति का अध्ययन किया जाता है—

—"ज्योति की ज्योतिका देवताओं ने (दर्शन किया)"—

नन्विदं ज्योतिरुभयेषामपि तुल्यवत्पठ्यते तत्कथं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया काण्वानां गृह्यते माध्यन्दिनानां नेति चेदपेक्षाविशेषादिति ब्रूमः । माध्यन्दिनानां प्राणादिष्वन्नाम्नानादिहैव पञ्चसंख्या लभ्यते इति न मन्त्रान्तरपठितज्योतिषोऽपेक्षा भवति । काण्वानान्त्वसत्यन्ने ज्योतिषा तत्पूरणमपेक्ष्यते । यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनो ग्रहणं चाग्रहणं च भवति तद्वदिहापि द्रष्टव्यम् ।

तदित्थमेषां श्रुतिप्रदेशानामन्यपरत्वान्न प्रधानविषया श्रुतिरस्तीत्यशब्दं तदानुमानिकं प्रधानं प्रतिजानीमहे । शास्त्रानुक्तश्चायं प्रधानकारणवादो न प्रमाणमिति सिद्धम् ।

ब्रह्मकारणतावादसमर्थने द्वितीयेऽधिकरणे चत्वारो विमर्शाः ।

प्रश्न होता है कि जब इस ज्योति का दोनों शाखाओं में समानरूप से अध्ययन होता है तो एक ही मन्त्र की पांच संख्या में ज्योति का ग्रहण काण्वशाखावाले करते हैं और माध्यन्दिनशाखावाले नहीं करते इसका क्या कारण है, तो इसका उत्तर है कि विशेष प्रकार की अपेक्षा से ही ऐसा हुआ है । माध्यन्दिनशाखा में प्राण आदि में अन्न का कथन होने से यहीं पांच संख्या की पूर्ति हो जाती है, इसलिए दूसरे मन्त्र में पठित ज्योति से संख्या पूर्ति की वहां आवश्यकता नहीं रहती । काण्वशाखा में अन्न का ग्रहण न होने से ज्योति से सख्या की पूर्ति अपेक्षित रहती है । जैसे अतिरात्र के समान होने पर भी वचन भेद से षोडषी का ग्रहण और अग्रहण होता है, वैसा ही यहां भी समझना चाहिए ।

इस प्रकार इस श्रुति का तात्पर्य अन्यत्र होने के कारण श्रुति में प्रधान या मूल प्रकृति का प्रतिपादन नहीं है । अतः अनुमान सिद्ध इस प्रधान तत्त्व को शब्द प्रमाण सिद्ध नहीं माना जा सकता और शास्त्र में अप्रतिपादित यह प्रधान कारण प्रमाण कोटि में नहीं आता ।

कारणत्वविमर्शः

कार्यक्रमनानात्वेऽपि सर्वत्र कारणताया एकस्मिन् ब्रह्मण्येवोपपत्तेर्विप्रलम्भो नास्तीति नाप्रामाण्यमित्याह—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः [१।४।१४]

समाकर्षात् [१।४।१४]

ननु ब्रह्मकारणवादेऽपि शास्त्राणि नैकवाक्यतया समनुयन्ति । अन्यान्यरूपेण कार्यकारणभावस्य तत्र तत्र श्रवणात् । तथा हि । क्वचिदाकाशादिका सृष्टिराम्नायते ।

—"आत्मन आकाशः संभूत"–इति ।

क्वचित्तेजआदिका—

—"तत्तेजोऽसृजतेति" –

क्वचित् प्राणादिका—

"स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धामिति" ।

क्वचिद् ब्रह्मादिका सृष्टिः—

—"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते"—इति ।

क्वचित्क्रमेण लोकानां सृष्टिराम्नायते ।

—"स इमांल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरआप" इति ।

सोऽयमित्थं कार्यविगानादसमन्वयः प्राप्नोति । एवं कारणविगानादप्यसमन्वयं पश्यामः । क्वचित्तावदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—

—"असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायतेति" ।

—"असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् समभवदिति" च ।

क्वचित्पुनरसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका सृष्टिरुच्यते—

—"तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदिति" ।

कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच ।

कथमसतः सज्जायेतेति । सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति ।

क्वचित्तु स्वयंकर्तृकैव जगतो व्याक्रिया निगद्यते—

—"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नारूपाभ्यामेमव व्याक्रियते"– इति ।

कारणत्व–विमर्श

कार्यों के क्रम में अनेक प्रकार होने पर भी सर्वत्र कारणता के एक ही ब्रह्म में समन्वित होने के कारण विरोध के न आने से अप्रामाणिकता नहीं आती, इसके प्रकट करने के लिए वेदान्त सूत्र हैं कि—

—"और आकाश आदि में कारणत्त्व से (ब्रह्मव्याप्त है) जैसा कि व्यपदेश किया गया है"— (ब्र. सू. १।४।१४)

"समाकर्षण के कारण"— (ब्र. सू. १।४।१५)

प्रश्न है कि ब्रह्मकारणवाद में भी शास्त्र वचन एक वाक्यतया संगत देखे जाते हैं। क्योंकि कार्यकारणभाव अनेक स्थलों पर अन्यान्य रूपों में ही सुना जाता है। उदाहरणार्थ कहीं प्रारम्भ में आकाशपूर्वक सृष्टि सुनी जाती है—

—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ"—

कहीं तेज प्रारम्भ में माना गया है—

—"उसने तेज को उत्पन्न किया"—

कहीं प्राण से सृष्टि का प्रारम्भ सुना गया है—

—"उसने प्राण को उत्पन्न किया प्राण से श्रद्धा उत्पन्न हुई"—

कहीं ब्रह्मा से सृष्टि के आरम्भ का कथन है—

—"जो सर्वज्ञ है, सर्ववेत्ता है, जिसका तप ज्ञानमय है, उससे यह ब्रह्म, नाम, रूप तथा अन्न उत्पन्न होते हैं"—

कहीं बिना क्रम के लोकों की सृष्टि का कथन हुआ है—

—"उसने इन लोकों को उत्पन्न किया"—

—"अम्भ, मरीचि, मर, आप, (उत्पन्न हुए)"—

इस प्रकार कार्य पदार्थों के अन्यथा अन्यथा विवरण से असमन्वय प्रतीत होता है।

इसी प्रकार के समन्वय का अभाव कारण के कथन में भी देखने में आ रहा है। कहीं सृष्टि का निर्माण असत् से कहा गया है--

--"यह प्रारम्भ में असत् था, उससे सत् उत्पन्न हुआ"—

—"प्रारम्भ में यह असत् ही था, उससे सत् हुआ, तब आगे सृष्टि हुई"--

कहीं असद्वाद का निराकरण करते हुए सृष्टि के प्रारम्भ में सत् का निर्देश किया गया है—

—"कुछ लोगों ने कहा कि प्रारम्भ में असत् ही था। हे सौम्य, यह कैसे हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित हुआ। असत् से सत् कैसे हो सकता है। हे सौम्य, प्रारम्भ में सत् ही था।—"

कहीं जगत् की उत्पत्ति (बिना किसी कारण के) स्वयं ही मानी गई है—

—"यह सब अव्याकृत था, इसका व्याकरण नाम तथा रूप से हुआ"—

इत्थमनेकधा विप्रतिपत्तिर्दृश्यते। वस्तुनि च विकल्पो नावकल्पते। तस्मात् परस्परव्याघातादयं ब्रह्मकारणवादोऽपि नतरां प्रमाणं भवितुमर्हतीति चेदत्रोच्यते। इह तावद् द्विधाऽऽक्षेपः प्रदर्शितः कार्यविषयकविज्ञानेन कारणविषयकविज्ञानेन च। तत्र सत्यपि कार्यविषयकविज्ञाने स्रष्टरि तस्मिन् ब्रह्मणि न किञ्चिद्विगानं प्राप्नोति। कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः।

कार्यक्रमोऽयमाकाशादिर्वा स्यात् तेजआदिर्वा प्राणादिर्वा लोकादिर्वा अन्यादिर्वा तथापि तेषामाकाशादिषु कारणत्वेन परिगृहीतं ब्रह्म यथैकत्र व्यपदिष्टं तथैव सर्वत्र कार्यक्रमे उच्यते न तत्र विप्रतिपत्तिं पश्यामः तथाहि—

—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—

—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजतेति"—

सत ईक्षितुः सृष्टिरुच्यते।

—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजै"—

इति आत्मन ईक्षितुः सृष्टिरुच्यते।

—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"—

इति सत्यज्ञानानन्तब्रह्मापरपर्यायादात्मनः सृष्टिरुच्यते।

—"य सर्वज्ञः सर्वविदिति"—

सर्वज्ञात् सृष्टिरुच्यते। एवमेतेषु सर्वत्र नामभेदेन व्यपदिष्टादेकस्मादेव चेतनाद्-ब्रह्मणः सृष्टिराम्नायत इति कारणपक्षे तावद्विरोधो नास्तीति सिद्धम्।

इस प्रकार अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियां दिखाई देती हैं। जो वस्तु है उसमें विकल्प की कोई सम्भावना नहीं है।

[कोई वस्तु यह ऐसी हो सकती है, वैसी भी हो सकती है, इस प्रकार का विकल्प किसी अस्तित्व वाले पदार्थ में नहीं हो सकता वह तो एक रूप ही है]

इसलिए परस्पर व्याघात वचनों से यह ब्रह्म का कारण मानने वाला सिद्धान्त भी कथमपि प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस प्रश्न पर हमारा कथन है कि यहां दो प्रकार से आक्षेप किया गया है, कार्य विषय के विज्ञान को लेकर तथा कारण विषय के

विज्ञान को लेकर। वहां कार्य विषयक व्यतिक्रम के होने पर भी उस स्रष्टा ब्रह्म के विषय में कोई व्यतिक्रम प्राप्त नहीं होता क्योंकि आकाश आदि के कारण के रूप में उसी का निर्देश किया गया है।

कार्यों की उत्पत्ति का यह क्रम आकाश से प्रारम्भ किया जाय, तेज से, प्राण से, लोक से या अन्य किसी से प्रारम्भ किया जाय तो भी उन आकाशादि के कारण के रूप में गृहीत ब्रह्म जैसे एक स्थान पर बतलाया गया है, वैसे ही सर्वत्र बतलाया गया है। उदाहरणार्थ—

"हे सौम्य, प्रारम्भ में यह सत् ही था, और वह एक तथा अद्वितीय ही था"—

—"उसने ईक्षण किया कि मैं बहुतों में उत्पन्न होऊं, उसने तेज की उत्पत्ति की"—

इससे ईक्षा करने वाले सत् से सृष्टि कही गई है। इस प्रकार इन सभी वाक्यों में केवल नाम भेद से कहे गए एक ही चेतन ब्रह्म से सृष्टि बतलाई गई है, अतः कारण पक्ष में कोई विरोध नहीं है, यह सिद्ध होता है।

कार्यविषये तु सत्यपि विगाने न क्षतिः। ब्रह्मशास्त्रे ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यत्वात्। कारणत्वान्यथानुपपत्त्या तु तत्सम्बन्धेन तत्र तत्र क्रमाक्रमवैषम्यमनपेक्ष्यैव कार्यजातमुल्लिख्यते इत्यतस्तद्विगानस्याकिञ्चित्करत्वात्। कार्यत्वेन विवक्षितानां सर्वेषामुत्पत्तिक्रमस्याविवक्षितत्वाच्च। कार्यक्रमविरोधस्यापि—

—'न वियदश्रुते'—

रित्यादिनोत्तरत्र परिहरिष्यमाणत्वाच्च। तस्मादिह कार्यक्रमविगानेऽपि ब्रह्मणः कारणत्वे नास्ति विरोध इति सिद्धम्।

ननु दर्शितं कारणविषयमप्यन्यद्विगानं सद्वादासद्वादयोर्विरोधेन प्रवर्तमानत्वादिति चेन्न,—

समाकर्षात्।

असद्वा इदमग्र आसीदिति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते।

—"असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्—

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः"—

इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मादौ निर्द्धार्य तस्यैव सृष्टिकर्तृत्वेनोत्तरत्र समाकर्षात् तत्सत्यमित्याचक्षते इत्येवं तस्यैव चोपसंहारे समाकर्षात्। किञ्च असदेवेदमग्र आसीत्, तत्सदासीत् तत्सत्यमभवदिति असत्त्वेनादौ प्रतिज्ञातस्यैवोत्तरत्र सत्पदेन समाकर्षान्नैतस्यासत्पदस्य निरात्मकपरत्वेनेह विवक्षा लभ्यते। नामरूपव्याकृतवस्तुविषयस्यैव

सच्छब्दस्य लोके प्रसिद्धतया तादृशब्याकरणाभावापेक्षयैव सतो ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेरसत्वेनाभिधानस्येहार्थप्राप्तत्वात् ।

कार्य के विषय में तो क्रम में विरोध होने पर भी कोई क्षति नहीं है। क्योंकि ब्रह्मशास्त्र में जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म का ही प्रतिपादन होता है। कारण कोई अन्य हो नहीं सकता उससे सम्बद्ध सृष्टि के क्रम या अक्रम की विषमता की अपेक्षा के बिना ही कार्य समूह का उल्लेख हुआ है। अतः उसमें विरोध आना भी कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता। जिनकी उत्पत्ति का विवरण कार्य के रूप में देना है उनके क्रम में यदि कहीं कोई व्यतिक्रम भी हो गया तो उससे कोई सैद्धन्तिक हानि नहीं होती, क्योंकि कार्य पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम बतलाना विषय के रूप में अभीष्ट ही नहीं है। कार्य पदार्थों के उत्पत्ति के क्रम में जो विरोध दिखाई देता है उसका परिहार भी "न वियदश्रुतेः" इस सूत्र के द्वारा आगे किया जायगा। इसलिए यहां कार्य या औत्पत्तिक तत्त्वों के क्रम में अन्यथा भाव होने पर भी ब्रह्म के कारण रूप में स्वीकार में कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध हो रहा है।

प्रश्न होता है कि कारण विषयक श्रुतिवचन में विरोध भी देखा गया है क्योंकि श्रुतिवचनों में सद्वाद और असद्वाद इन दोनों का विवरण मिलता है और दोनों परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हैं तो यह प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता—

–"समाकर्ष के कारण"–

"यह (प्रपंच) प्रारम्भ मे असत् था" यहां असत् का निराकरण कारण के रूप में नहीं सुनाया जा रहा है।

–"ब्रह्म को असत् समझने वाला स्वयं भी असत् हो जाता है, जो ब्रह्म को अस्ति (है) ऐसा समझता है उसके अस्तित्व को लोग स्वीकार करते हैं"–

इस प्रकार असद् वाद का निषेध करते हुए आदि में अस्तित्वस्वरूप वाले ब्रह्म का निर्धारण करके आगे सृष्टिकर्ता के रूप में उसीका समाकर्षण किया गया है। और यह भी कथनीय है कि—

"प्रारम्भ में असत् ही था, वह सत् था, वह सत्य हो गया।"

इस प्रकार प्रारम्भ में असत् रूप से जिसका परिचय दिया गया उसी का आगे सत् शब्द से समाकर्षण किये जाने से इस असत् पद की यहां निरात्मक अर्थ में विवक्षा नहीं है। संसार में नाम और रूप से पहिचान में आने वाली वस्तु को ही सत् कहा जाता है, जिस स्थिति में नाम और रूप का भेद प्रकट नहीं हुआ है उसी स्थिति को उस

प्रकार प्रकट होने के अभाव की अपेक्षा करते हुए सत् ब्रह्म की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था को यहां असत् कहना अर्थ से प्राप्त होता है।

अत्यन्ताभावपरत्वाभ्युपगमे तु—

"—असदेवेदमग्र आसीत् तत्सदासीदि"—

त्येवमसतः सत्वेन समाकर्षोऽसमञ्जस एव स्यात्।

अथ असदासीदिति वाक्यस्यार्थद्वयप्रतिभासात् कदाचिदसतो निरात्मकादेव सृष्टिं भ्रान्त्या कश्चिदल्पबुद्धिर्व्यवसाययेत् तस्य तद्भ्रमनिवारणेन वास्तवमर्थं स्पष्टीकर्तुमिव चैतस्यां छान्दोग्यश्रुतौ तदसतः सदुत्पत्तिवादः प्रत्याख्यायते। कथमसतः सज्जायेतेत्यक्षर-भङ्ग्या साधारणलोकभ्रमसिद्धनिरात्मकोपादानत्वनिरासे एव तात्पर्यलाभात्। वस्तुनि विकल्पानौचित्यात्। तस्मादिह यावदेवेदं ब्रूते—

—"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति।"—

तावदेवेदं ब्रूते—

—"असदेवेदमग्र आसीदिति"—

अव्याकृतस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात्। तस्मादुभयोः श्रुत्योरैकार्थ्यं लभ्यते इति ब्रह्मणः कारणत्वे नास्ति इति सिद्धम्।

यदि हम असत् का अर्थ सत्ता का (अस्तित्व का) अत्यन्त अभाव ग्रहण करें तब तो—

-"प्रारम्भ में यह सब असत् ही था वही सत् हुआ"

इस वाक्य में असत् से सत् का समाकर्षण करने में असमञ्जसता बनी रहेगी।

अब—"असत् था" इस वाक्य के दो अर्थों के प्रकट होने से भ्रान्तिवश यदि कोई अल्प बुद्धि वाला निरात्मक असत् से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानने लगे उसका भ्रम निवारण करने के लिए ही मानों इस छान्दोग्य श्रुति में उस असत् से सत् की उत्पत्ति के वाद का निराकरण किया गया है।

-"असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा"-

इन अक्षरों की भंगिमा से साधारण लोक में उपस्थित होने वाले भ्रम से उपस्थित निरात्मक के ग्रहण के खंडन का ही तात्पर्य इससे सिद्ध किया जा रहा है। क्योंकि वस्तु में विकल्प की आशंका असंभव है। इसलिए जैसे ही यह कहा जाता है कि—

—"यह सब उस समय अव्याकृत था"—

उसी समय यह भी कहा गया कि—

– "प्रारम्भ में यह असत् ही था"—

जो अव्याकृत था उसके व्याकृत कार्यों में अनुप्रवेश से उसका समाकर्षण हुआ। इसलिए उक्त दोनों श्रुतियों का एक ही तात्पर्य है, अतः ब्रह्म के कारणत्व में कोई विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

कर्तृत्वविमर्शो द्वितीय:

परमात्माऽयमीश्वरः कर्ता न जीवो न मुख्यप्राण इत्याह।

जगद्वाचित्वात्। [१।४।१६

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्। [१।४।१६]

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके। [१।४।१८]

"यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः"

—इति कौषीतकीये श्रूयते। तत्रायं वेदितव्यतयोपदिष्टोऽर्थो जीवो वा मुख्यप्राणो वा परमात्मा वेति संशयः। तथाहि - जीवस्तावद्भोक्तृत्वाद् भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते। वाक्यशेषे च—सुप्त पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात् प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात् प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति। पुनश्चान्ते—

—"एवमेवैष प्रजात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैते आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति"—

इति स्पष्टमेव जीवलिङ्गं पश्यामः। तस्माज्जीवो वेदितव्य इति प्राप्नोति।

अथवा मुख्यप्राणो वेदितव्यः यस्य वैतत्कर्मेति श्रवणात् परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्। वाक्यशेषे च—

अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवतीति—

प्राणस्य स्पष्टमुल्लेखात्। ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना—

—"आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुष"—

इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि प्राणावस्थाविशेषतयैवोपपन्नत्वात्—

—"कतम एको देवः प्राण"–

इति वाजसनेयश्रुत्या सर्वेषां देवतात्मनां प्राणैकरूपत्वावसायाच्च । तस्मान्मुख्य-प्राणो वेदितव्यः प्राप्नोति ।

कर्ता का विमर्श

सृष्टि का कर्ता यह परमात्मा ईश्वर है न वह जीव है न मुख्य प्राण है इसका विवरण देने के लिए वेदान्त सूत्रकार कहते हैं—

जगत् का वाचक होने से (जगत्कर्ता परमात्मा है) [१।४।१६]

जीव में मुख्य प्राण के लिङ्ग होने से ऐसा नहीं है कहने पर उत्तर है कि उसका व्याख्यान हो चुका है । [१।४।१७]

जैमिनि का कथन है कि अन्यार्थक है । प्रश्न और व्याख्यान के द्वारा भी यह सिद्ध होता है ऐसा कुछ मानते हैं । [१।४।१८]

—"हे बालाके, जो इन पुरुषों का कर्ता है, जिसका यह कर्म है, वह जानने योग्य है"—

यह वाक्य कौषीतकि उपनिषद में सुना गया है । वहां यह जो वेदितव्य के रूप में उपदिष्ट अर्थ है वह जीव है अथवा मुख्य प्राण है अथवा परमात्मा है यह सन्देह होता है । संशय की स्थिति यह है कि जीव भोक्ता है अतः भोग की सामग्री स्वरूप इन पुरुषों का वह कर्ता है, यह युक्ति युक्त है । और श्रुति वाक्य के शेष भाग में सोए हुए पुरुष का उदाहरण देते हुए, सोए हुए पुरुष को आवाज देने पर, शब्द को शयनावस्था में न सुनने के कारण प्राण आदि भोक्ता नहीं हैं यह स्पष्ट हो रहा है, [यदि प्राण भोक्ता होता तो शयनावस्था में भी वह तो शरीर में है ही, शब्द करने पर उसे ज्ञान होता, परन्तु ऐसा नहीं है ।] परन्तु सोते हुए पुरुष को जगाने के लिए जब छडी आदि से आघात किया जाता है तो वह आघात प्राण आदि पर न हो कर भोक्ता जीव को जगाने के लिए होता है । फिर अन्त में—

—"इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा इन आत्माओं के द्वारा उपयुक्त होता है, इसी प्रकार ये आत्मा इस आत्मा का भोग करते हैं"—

इस वर्णन से जीव का चिन्ह हम देखते हैं अतः जीव को जानना चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है ।

अथवा मुख्य प्राण को जानना चाहिए जिसके ये कर्म हैं ऐसा सुनने से, उसी का ज्ञातव्यत्व प्राप्त होता है, परिस्पन्द स्वरूप वाले जो कर्म हैं वे प्राण के ही आश्रित हैं । वाक्य के शेष भाग में कहा भी गया है कि—

—"अब इसमें प्राण ही एक ही रहता है"—

यहां प्राण का स्पष्ट उल्लेख है । बालाकि ने आगे—

—"आदित्य में पुरुष, चन्द्रमा में पुरुष"

कहकर जिन पुरुषों का निर्देश किया है वे भी प्राण की अवस्था विशेष के ही रूप में युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं ।

—"एक देव कौनसा है, वह प्राण है"

इस वाजसनेयि श्रुति के द्वारा सभी देवताओं की अवसान में प्राणोंके साथ ही एकरूपता है । इसलिए मुख्य प्राण ही ज्ञातव्य के रूप में प्राप्त होता है ।

अथवा परमात्माऽयं वेदितव्यः स्यात् ।

—"मृषा वै खलु मां संवदिष्ठा—ब्रह्म ते प्रब्रवाणीति"—

इत्यमुख्यब्रह्मवादितया बालाकिमपोद्य राज्ञाजातशत्रुणामुख्यब्रह्मणोपक्षिप्तत्वात् । स यद्यजातशत्रुरप्यमुख्यमेवेदं ब्रह्म प्रतिपादयेत् तर्हि स उपक्रमो बाध्येत । तस्मादुपक्रम-सामर्थ्यादिह परमात्मा वेदितव्यः प्राप्नोति । इत्थं त्रयाणामपि लिंगदर्शनात् सन्देहे प्रसक्ते निर्णय उच्यते । यस्य वै तत् कर्मेति वाक्ये सर्वनाम्नो जगद्वाचित्वात् यस्य जगत् सामान्यं कर्म स जगत्कर्ता परमात्मैवायं वेदितव्यतयाऽवधारयितव्यो न तु जीवो वा मुख्यप्राणो वेति । न हि धर्माधर्मलक्षणस्य जीवकर्मणो नापि परिस्पन्दलक्षणस्य प्राणकर्मणोऽयमिह कर्मशब्देन निर्देशः । तयोरप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च । असति विशेषोपादाने सन्निहितवा-चिना शब्देन सन्निहितवस्तुसामान्यस्यैव ग्रहणौचित्याच्च । तस्मात् प्रत्यक्षसंनिहितं जगदेवै-तदा विवक्षितमिति गम्यते ।

ननु—"य एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म"—

स्येवमत्र जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादसति विशेषसंनिधाने तस्यैव ग्रहणौचित्याच्च नैतदो जगद्वाचित्वं लभ्यते इति चेन्न पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफल-स्य वा कर्तृशब्देनैवोपात्तत्वाल्लिङ्गवचनविगानाच्च तेषां पुरुषाणामेतदा ग्रहणानवक्लृप्तेः ।

अथवा परमात्मा ही ज्ञातव्य है—

—"तुमने मुझसे व्यर्थ ही इतना संवाद किया, अब मैं तुम्हें ब्रह्म को बतलाता हूं"—

इस प्रकार अमुख्य ब्रह्म की चर्चा करने वाले बालाकि को रोक कर राजा अजात शत्रु ने मुख्य ब्रह्म के कथन का प्रारम्भ किया । वह राजा अजात शत्रु भी यदि अमुख्य

ब्रह्म का ही प्रतिपादन करे तो जो उपक्रम उसने किया वह बाधित हो जायगा। अतः उपक्रम के सामर्थ्य से यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञातव्य या वेदितव्य तो परमात्मा ही है। इस प्रकार तीनों [जीव, प्राण एवं परमात्मा] के चिन्हों के श्रुति वाक्यों में उपलब्ध होने से सन्देह होता है कि उक्त सन्दर्भ में इनमें से किसका वर्णन अभीष्ट है, [श्रुति ने ज्ञातव्य किसे बतलाया है] तब वहां निर्णय बतलाया जाता है कि—

—"जिसका यह कर्म है"

इस श्रुतिवाक्य में सर्वनाम [एतत्] पद से जगत् का ग्रहण होता है। अर्थ यह होता है कि इस जगत् का निर्माण जिसका सामान्य कर्म है वह जगत् का निर्माता परमात्मा ही यहां वेदितव्य बतलाया गया है, यही निश्चय करना उचित है। न तो जीव वेदितव्य है और न मुख्य प्राण ज्ञातव्य के रूप में उपदिष्ट है। धर्म और अधर्म का स्वरूप रखने वाला जो जीव का कर्म है, अथवा परिस्पन्द स्वरूप वाला जा प्राण का कर्म है वे दोनों ही यहां कर्म शब्द से निर्दिष्ट नहीं है। क्योंकि न तो वे प्रसग प्राप्त हैं और नहीं उनके लिए यहां किसी शब्द का प्रयोग ही हुआ है। यह नियम है कि जब किसी विशेष को बतलाने के लिए प्रवृत्ति नहीं है तो समीप में जिस शब्द का प्रयोग हुआ है उसके द्वारा समीपस्थ सामान्य वस्तु का हो ग्रहण उचित होता है। अतः उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'एतत्' इस शब्द से प्रत्यक्षतया समीपस्थ जगत् ही बतलाने के लिए अभीष्ट है यह प्रतीत होता है।

प्रश्न होता है कि—

—"जो इन पुरुषों का कर्ता है और जिसका यह कर्म है"—

इस मन्त्र वाक्य में जगत् के एकदेश भूत पुरुषों का विशेष रूप से ग्रहण सुना जा रहा है, और जब विशेष विषय को समीप में कहा गया हो तो सर्वनाम शब्द से उस विशेष का ही ग्रहण होना उचित है, (विशेष का समीप्य न होने पर ही सामान्य का ग्रहण उचित माना गया है परन्तु यहां तो पुरुष शब्द से जगत् के एक विशेष अंश का ग्रहण हुआ अतः 'एतद्' यह सर्वनाम शब्द भी अब सामान्य रूप से जगत् को न बतला कर विशेष रूप से समीप कहे गए पुरुष को ही प्रस्तुत करेगा) तब एतद् शब्द को जगत् वाचक मानना प्राप्त नहीं होता। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि ऐसा नहीं है। उक्त वाक्य—

—एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म"—में पुरुष विषयक जो कर्तृत्व है अथवा क्रिया का जो फल है उसका ग्रहण तो कर्ता शब्द से ही हो गया है तथा एतत् शब्द से पुरुष का ग्रहण मानने पर लिङ्ग और वचन भी विपरीत जाते हैं [एतत् नपुंसक लिङ्ग है, पुरुष पुल्लिङ्ग है, एतद् एक वचन है पुरुषाणां बहुवचन है) अतः एतत् शब्द से पुरुष का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

वाशब्दश्चेहैकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वं व्युदासयति। केवलमेषां पुरुषाणामेव कर्ता किन्त्वेतदविशेषितं सर्वं जगदेव यस्य कर्म स वेदितव्य इति तात्पर्यात्। तस्मादेतदो जगद्वाचित्वात् परमात्मा वेदितव्यो विवक्षित इति सिद्धम्।

अन्ये त्वाहुः। अस्तु वा पुरुषाणामेवेहैतदा परामर्शस्तथापि अंगुलिग्रहणेन सर्वशरीरग्रहणन्यायादेकदेशवचनस्य बहुवचनोपात्तस्य पुरुषशब्दस्य विवक्षावशादिह जगद्वाचित्वाज्जगत्कर्तुरेव ग्रहणं सिद्धम्। अथवैतेषां पुरुषाणां कर्तापि न स्वतन्त्रतयाऽन्यः परमेश्वरादवकल्पते। तस्मात् पुरुषकर्तृत्वेनापि स परमेश्वर एवेह वेदितव्यो विवक्षित इति सिद्धम्। ननु भवेदेवं सिद्धिर्यद्यत्र परमात्मेतरलिङ्ग प्रतिपक्षिभूतं न श्रूयेत। दर्शितं तु पूर्वं त्रिविध लिङ्गम्। तस्मादिह जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नैकान्ततो ब्रह्मलिंगेनैव निर्णयः। शक्य आस्थातुमिति चेत् तद् व्याख्यातम्।

इस वाक्य में प्रयुक्त वा शब्द एक अंश में रहने वाले कर्तृव्य को अलग कर रहा है। जिसका तात्पर्य यह प्रकट हो रहा है कि वह (परमात्मा) न केवल इन पुरुषों का ही निर्माता है अपितु यह सारा संसार ही उस का कर्म है। निष्कर्ष यह कि उक्त श्रुति वाक्य में आया हुआ 'एतत्' शब्द जगत् का वाचक है और इस वाक्य से परमात्मा ही ज्ञातव्य रूप से विवक्षित है यह सिद्ध हुआ।

अन्य विद्वानों का कहना है यहां 'एतद्' शब्द का अर्थ पुरुष ही मान लिया जाय तो भी उंगली के पकड़ लेने पर जैसे पूरे शरीर को पकड़ लिया यह मान लिया जाता है वैसे ही एक अंश के वाचक बहुवचन में प्रयुक्त पुरुष शब्द का विवक्षा के कारण यहां जगत् अर्थ ही मान लिया जायगा और जगत् के कर्ता का ही यहां ग्रहण होता है यह सिद्ध हो जायगा। प्रश्न होगा कि ऐसा तो तब माना जा सकेगा जब यहां परमात्मा से भिन्न उसके विरुद्ध कोई चिन्ह सुनाई नहीं देगा। पहिले उस प्रकार के तीन तरँह के चिन्ह दिखाए जा चुके हैं। इसलिए यहां जीव या मुख्य प्राण के चिन्हों से एकान्ततः ब्रह्म के चिन्ह से ही निर्णय किया जाना आस्था युक्त नहीं हो सकेगा। इस प्रश्न के उत्तर में आगे के—

—"जीव या मुख्य प्राण के चिन्ह के कारण (परमात्मा) अर्थ नहीं है ऐसा नहीं क्योंकि उपसना तीन प्रकार की है, वह उसी के आश्रित है, उसका योग भी कारण है"—

इस सूत्र से स्पष्ट हो चुका है।

पुनश्च शास्त्र के इस प्रस्तुत सन्दर्भ में जीव या मुख्य प्राण के वर्णन की प्रधानता का निराकरण प्रायः प्रतर्दन के वाक्य से ही हो चुका है तब"—

—"अथवा जिसका यह कर्म है"

इस वाक्य से ब्रह्म की विषयता मात्र का द्रढ़ी करण किया गया है यह समझ लेना चाहिए।

और जिसे आप जीव का चिन्ह यहां बतला रहे हैं वह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि महर्षि जैमिनि यहां जीव का परामर्श या स्मरण अन्य उद्देश्य से किया गया है ऐसा मानते हैं। उनका ऐसा मानना प्रश्न और व्याख्यान के कारण है। जो पुरुष गहरी नींद में सोया है उसको जगाने पर स्पष्ट होता है कि जगाया गया है प्राण आदि के अतिरिक्त जीव को, उस जीव से भी अतिरिक्त जो तत्त्व है प्रश्न किया गया है उसी के सम्बन्ध में—

—"हे बालके, यह पुरुष कहां सोया था, यह कहां था, कहां से यह आया"—

—"जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगादिति"—सूत्रेण। तथा चेह शास्त्रे जीवमुख्यप्राणविषयतायाः प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैव निरस्तप्रायत्वादिह यस्य वैतत्कर्मेति वाक्येन ब्रह्मविषयतामात्रं द्रढीक्रियते इत्यवधेयम्।

किञ्च यत्तावदिह जीवलिंगं ब्रूषे तन्नोपपद्यते। अन्यार्थं तु जीवपरामर्शं जैमिनिर्मन्यते। प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नस्तावत् सुषुप्तपुरुषबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ततया जीवं प्रतिबोध्य पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयः क्रियते—

—"क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट, क्व वा एतदभूत् कुत एतदागाद्"—इति।

अथ व्याख्यानमपि—

"—यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति"—इति।

—"एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः"—

इति च दृश्यते। तेनायमर्थो लभ्यते। सुषुप्तिकाले जीवपरेण ब्रह्मणैकतां गच्छति। परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायते इति। तस्माद् यत्रास्य जीवस्य निःसंबोधस्वच्छतारूपः स्वापो भवति तस्य चैतस्योपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितस्य जीवस्वरूपस्य विभ्रंशरूपमागमनं यतो भवति स परमात्मा स वेदितव्य इति ह्यत्र श्रुत्यर्थो गम्यते। तथा च न वेदितव्यतया जीवलिङ्गमिह किञ्चिदस्तीति बोध्यम्।

अपि चैवमेके शाखिनो वाजिसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति। तथा हि—

—"य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्व वै तदभूत्, कुत एतदागादिति"—

प्रश्नः ।

—"य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते"— इति ।

—"सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति"—

इति च व्याख्यानम् ।

अब व्याख्यान में भी—

—"जब सोते समय कोई स्वप्न नहीं देखता, तब वहां केवल एक प्राण ही रहता है"—

—"इस आत्मा से समस्त प्राण आयतन की ओर जाते हैं, प्राणों से देवों के पास, देवों से लोकों में जाते हैं"—

यह वर्णन देखने में आता है। इससे अर्थ यह निकलता है कि सुषुप्ति काल में जीव परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है और उस परब्रह्म से प्राण आदि जगत् का जन्म होता है। अतः जहां इस जीव को बिना बाहरी ज्ञान के स्वच्छता रूप वाली गहरी नींद आती है, उस समय अपनी उपाधि के कारण विशेष प्रकार का ज्ञान हट जाता है, जीव के ऐसे स्वरूप का विभ्रंश रूपी आगमन जहां से होता है उसी को परमात्मा समझना चाहिये, यही यहां श्रुति का अर्थ समझ में आता है। और इस प्रकार यह समझ लेना उचित होगा कि वेदितव्य या ज्ञातव्य के रूप में यहां जीव का कोई चिन्ह नहीं बतलाया गया है।

वाजसनेयी शाखा का अध्ययन करने वाले यहां के इस बालाकि-अजात शत्रु के संवाद में स्पष्ट ही विज्ञानमय शब्द से जीव का कथन करके उससे भिन्न परमात्मा को स्वीकार करते हैं।

उदाहरणार्थ—

—"जो यह विज्ञानमय पुरुष है, वह कहां उत्पन्न हुआ, यह कहां से आया"—

इसी प्रश्न पर

—"यह जो हृदय के भीतर आकास है उसमें यह शयन करता है"—

—"यहीं सब आत्मा फैलते हैं"—

यह उसका व्याख्यान है।

तत्रैतस्य विज्ञानमयस्य जीवस्य स्वापकाले यत्र स्थितिर्यतश्चागमनं स आकाशः परमात्मा वेदितव्यः पर्यवस्यति न जीवः। व्युच्चरन्तीति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते। तस्माज्जीवलिंगं नास्तीति सिद्धम्। प्राणलिङ्गमप्येतेनैव निरस्तं वेदितव्यम्।

वहां इस विज्ञानमय जीव की निद्रा की अवस्था में जहां स्थिति होती है और जहां से यह आता है, उस आकाश को परमात्मा समझना होता है न कि वह जीव है।' उपाधि से युक्त आत्माओं का व्युच्चरण अर्थात् दूसरे स्थान से उत्थान मानते हुए परमात्मा को ही कारण मानते हैं यह स्पष्ट हो जाता है। इसलिए यहां जीव का चिन्ह नहीं है यह सिद्ध हो गया। प्राण का चिन्ह भी यहां नहीं है यह भी इसी कथन से स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिये।-

भोक्तृत्वविमर्शस्तृतीय:

भोक्ताऽयं जीवात्माऽपीश्वरः परमात्मा, न त्वन्यो भेदबुद्धेरौपाधिकत्वात्— इत्याह

—"वाक्यान्वयात्"—[१।४।१९]

—"प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्य:"—[१।४।२०]

—"उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमि:"—[१।४।२१]

—"अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:"—[१।४।२२]

—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—।

—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:"—

—"मैत्रेयि, आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्"—

इति बृहदारण्यके श्रूयते। तत्रायमात्मशब्देन विज्ञानात्मा वा परमात्मा वा विवक्षित इति संदेह:। प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति। मध्येऽपि—

—"इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति"—

भूतेभ्यो विज्ञानात्मनां समुत्थानोक्तेश्च। उपसंहारेऽपि—

—"विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति"—

विज्ञानधातोरेव निर्देशाच्च।

अथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्तु परमात्मोपदेशः प्राप्नोति।

तदित्थं संशये निर्णय: क्रियते। परमात्मैवायमुपदिश्यते वाक्यान्वयात्। वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रत्यन्वितावयवं लक्ष्यते। तथा हि—

भोक्ता का विचार-विमर्श-३

यह भोक्ता जीवात्मा होने पर भी ईश्वर परमात्मा है, कोई अन्य नहीं, क्योंकि भेद बुद्धि औपाधिक है, वास्तविक नहीं, इस विषय के लिए वेदान्त सूत्र इस प्रकार है—

–"वाक्यों के अन्वय से"–

–"प्रतिज्ञा की सिद्धि के कारण चिन्ह है, यह आश्मरथ्य का कथन है"–

–"उत्क्रमण अवस्था की वह स्थिति होने के कारण औडुलोमी ऐसा मानते हैं"–

–"अवस्थिति के कारण ऐसा है, यह काशकृत्स्न का मानना है"–

–"अरे, सब की कामना के लिए सब प्रिय नहीं हुआ करते, अपनी कामना के लिए सब प्रिय हुआ करते हैं"–

–"अरे, आत्मा ही श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है"–

–"हे मैत्रेयि, अरे, आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मति से, विज्ञान से यह सब कुछ ज्ञात हुआ है"–

यह बृहदारण्यक में सुना जाता है। वहां आत्मा शब्द से विज्ञानात्मा का ग्रहण अभीष्ट है या परमात्मा का यह सन्देह उपस्थित होता है। प्रिय के रूप में संसूचित आत्मा से भोक्ता का उपक्रम किये जाने से यह उपदेश विज्ञानात्मा को लक्षित कर रहा है ऐसा प्रतिभासित होता है। बीच में कहा है कि–

"—यह महाभूत अनन्त है अपार है इन महाभूतों से विज्ञान घन ही उठता है, और उनके नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाता है, मृत्यु के अनन्तर कोई संज्ञा (नाम) नहीं रह जाता"—

इस प्रकार विज्ञानात्माओं, भूतों से समुत्थान कहे जाने से भी विज्ञानात्मा ही यहां विवक्षित प्रतीत होता है। उपसंहार को भी देखने पर यही प्रकट हो रहा है–

–"जो विज्ञाता है, उसे किसके द्वारा जाना जा सकता है"–

यहां भी विज्ञान धातु के ही निर्देश होने से विज्ञानात्मा ही यहां लक्षित हो रहा है।

दूसरी ओर आत्म विज्ञान के द्वारा समस्त विज्ञानों का उपदेश दिये जाने से यहां का कथन भी परमात्मा को लक्षित कर रहा है यह माना जा सकता है।

इस प्रकार सन्देह उपस्थित होने पर अब निर्णय किया जाता है कि यहां वाक्यों का ठीक ठीक अन्वय परमात्मा में ही होने के कारण यहां का उपदेश परमात्मा के ही लिये

है, यह समझा जाता है। इस वेद वाक्य के पूर्व और पश्चात् के शब्दों पर ध्यान देने से यह लक्षित हो रहा है कि वाक्य के शब्द परमात्मा में ही अन्वित हो रहे हैं। देखिये—

—"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान वेद तदेव मे ब्रूही"—

त्येवममृतत्वमिच्छन्तीं मैत्रेयीं प्रति विज्ञानोपदेशः परमात्मविज्ञानं गमयतीति।

—"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"—

इत्यादिना ततोऽन्यत्रामृतत्वलाभाभावश्रवणात्। किञ्चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान-मुच्यमानं परमात्मोपदेशं गमयति।

—"ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद"—

इत्यादिनोत्तरग्रन्थेन तदुपपादनाच्च। किञ्च—

—"इदं सर्वं यदयमात्मेति"—

सर्वस्य वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति। दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद"—

इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेवैनं गमयति। तस्मात् सर्वेषां वाक्यानां परमात्मन्येवान्वयादयं परमात्मोपदेश इति सिद्धम्।

ननूक्तप्रियसंसूचनोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेशोऽस्तीति चेन्न। एतद्धि प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्तनं प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गं बोध्यम्।

—"आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, इदं सर्वं यदयमात्मा"—

इत्येवं ह्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्। तत्सिद्ध्यर्थमिदं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणं क्रियते। तथा च श्रूयते—

—"जिससे मैं अमर न बन सकूं, उसका मैं क्या करूं, जो कुछ आपने जाना है वही मुझ से कहिये—"

इस प्रकार अमरता की अभिलाषा रखने वाली मैत्रेयी के प्रति जो विज्ञान का उपदेश दिया गया है इस परमात्मा के विज्ञान की ओर ही ले जाता है।

—"वित्त से (धन से) अमृतत्त्व की तो कोई आशा नहीं की जा सकती"—

इत्यादि वाक्य के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के अतिरिक्त अमृतत्त्व के लाभ का अभाव ही रहता है, यह सुना गया है।

पुनश्च आत्मा के विज्ञान से सब कुछ विज्ञात हो जाता है यह जो कहा गया तो यह कथन भी परमात्मा के उपदेश को ही संकेतित करता है।

—"जिसने आत्मा से अन्य तत्त्व को ब्रह्म समझ रखा है, वह ब्रह्म से दूर हो गया है"—

इत्यादि आगे के वाक्य से उसी बात को तर्क से सिद्ध किया गया है। पुनश्च

—"यह जो कुछ है वह सब आत्मा है"—

इस वाक्य के द्वारा समस्त वस्तुएं आत्मा से भिन्न नहीं, यह बतलाया जा रहा है। और उसी आत्मा से अभिन्नता का दुन्दुभि आदि के दृष्टान्त के द्वारा द्रढीकरण किया गया है।

—"इस सघन भूत का वह निःश्वास ही है जो ऋग्वेद है"—

इत्यादि वचनों के द्वारा प्रकरण प्राप्त आत्मा ही नाम रूप प्रपञ्च का कारण है यह बतलाते हुए उसे परमात्मा ही बतलाया है। इस प्रकार विषयों, इन्द्रियों, अन्तःकरण सहित प्रपञ्च का एक ही अयन है जो न भीतर है न बाहर है जो सम्पूर्ण है, जो प्रज्ञानघन है, इस विषय को समझते हुए उसे परमात्मा में ही समन्वित किया गया है। अतः सभी वाक्यों का समन्वय परमात्मा में ही होने से यह उपदेश परमात्मा के सन्दर्भ में ही है यह सिद्ध होता है।

प्रश्न होता है कि ऊपर उद्धृत वाक्यों में (अपने लिए सब कुछ प्रिय होता है") इत्यादि के द्वारा यहां विज्ञानात्मा ही उपदेश का विषय है ऐसा क्यों न माना जाय तो इसका उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। यह जो प्रियत्व की संसूचना से युक्त आत्मा का विवरण है वह उसके द्रष्टव्यत्वादि का ही संकीर्तन किया गया है (वह सर्वाधिक प्रिय है अतः उसे ही देखना चाहिए इत्यादि वाक्य इसी सन्दर्भ के हैं) यह परमात्मा के प्रतिपादन के ही चिन्ह समझे जाने चाहिए।

—"आत्मा के ज्ञात होने पर यह (प्रपंच) सब कुछ विज्ञात हो जाता है, यह सब कुछ जो भी कुछ दृश्य विस्तार है, वह आत्मा ही है"—

—"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति"—इति।

तस्माज्जीवानामप्यस्माद्ब्रह्मण एवोत्पत्तेस्तत्रैव चाप्ययाद् ब्रह्मकार्यत्वं गम्यते। कार्यकारणयोश्चाभेदाध्यवसायादेकेन कारणेन विज्ञातेन सर्वाणि कार्यजातानि विज्ञायन्ते, इति यथैतदन्यकार्यप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वं तथैवास्य जीवस्यापि ब्रह्मणस्तस्मादभेदः सूच्यते। अन्यथा तयोरभेदानध्यवसाये परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा हीयेत इत्याश्मरथ्यो मन्यते। अस्मिन् मते जीवात्मपरमात्मनोः कार्य-कारणभावकृतभेदो वास्तविकस्त्वभेदो गोरसक्षीरशरवद्-हेमकुण्डलवद्वा इति प्रतिभाति। अथवा-उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्थमभेदेनोपक्रमणं क्रियते। तथा च श्रूयते—

—"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यते।" इति—

—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय"—

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।" इति च।

इस प्रकार आत्मा के विज्ञान से सब कुछ विज्ञात हो जाता है यह प्रतिज्ञा की गई है। उसी को सिद्ध करने के लिए यह उपक्रम है विज्ञानात्मा और परमात्मा के अभेद के अंश को प्रकट करने के द्वारा।

उसी प्रतिपादन में यह मन्त्र स्मरणीय है—

—"जिस प्रकार धक् धक् जलती हुई अग्नि के ढेर से हजारों अंगारे उसी रूप वाले उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार हे सौम्या अक्षर ब्रह्म से (सहस्रशः) पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा उसी में लीन होते हैं—"

उक्त वेद वचन से सिद्ध है कि जीवों की उत्पत्ति भी उसी ब्रह्म से हुई है और उनका लय भी उसी में होता है अतः यह सब ब्रह्म का कार्य है और कार्य तथा कारण का कथम की शैली में अभेदरूप से भी कथन होता है, जिसे 'अभेदाऽध्यवसाय' कहते हैं, इसका फल यह होता है कि एक कारण को ठीक से जान लेने पर उस पर स्थित समस्त कार्य समुदाय सुज्ञात हो जाता है तब जैसे समस्त कार्य प्रपञ्च अपने कारण के रूप में ब्रह्म है, परमात्मा हैं, वैसे ही यह जीव भी ब्रह्म या परमेश्वर से अभिन्न है ऐसा सूचित होता है। यदि जीव और परब्रह्म का का अभेदाध्यवसाय नहीं (वे दोनों एक ही हैं। यह निश्चय न हो) तो आश्मरथ्य आचार्य का कहना है कि परब्रह्म के ज्ञान हो जाने पर भी जीवात्मा या विज्ञानात्मा का ज्ञान न होने से एक के विज्ञान से सब कुछ का ज्ञान होने की जो प्रतिज्ञा की गई है उसमें बाधा उपस्थित होगी। इस मत में जीवात्मा और परमात्मा में कार्यकारण भाव से उत्पादित भेद ही है, वास्तव में तो इनमें अभेद ही है जैसे दूध मलाई रबड़ी आदि में कार्य कारण का भेद होने पर भी वास्तव में तो अभेद ही है, और कुण्डल में कार्यकारण का भेद होने पर भी वास्तव में तो अभेद ही है

वही स्थिति जीवात्मा तथा परमात्मा के विषय में भी समझ में आती है। इस विषय में श्रुतिवाक्य भी सुना जाता है—

"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर परमज्योति बनकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है"

"जैसे बहती हुई नदियां समुद्र में अपने नाम और रूप को छोड़कर अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मज अपनोनाम और रूर से विमुक्त होकर दिव्य परस्पर पुरुष में मिल जाता है"—

तस्मात् ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य विज्ञानात्मन एवास्माद्देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिसंघातादुत्क्रमणदशायां परमात्मभावः संपद्यते इति प्रतीयते। उपाधिविनाशेन जीवभावापोहनात्स्वरूपसंपत्त्या परमात्मरूपत्वावसायात् इत्यौडुलोमिर्मन्यते। अस्मिन्मते जीवात्मपरमात्मनोरवस्थाकृतभेदो वास्तविकस्त्वभेदो जलबुद्बुदवज्जलतरंगवद्वा इति प्रति-भाति।

अथवा--अवस्थितेर्हेतोरिदमभेदेनोपक्रमणं क्रियते। तथा च श्रूयते—

—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति"—

—"मन्त्रवर्णश्च भवति"—

—"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते इति"—

तस्मादस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानं सर्वत्र प्रतीयते--न तु तेजः प्रभृतीनां सृष्टिवदस्यापि जीवस्य पृथक् सृष्टिः क्वचिदपि श्रूयते।

अत एव तत्त्वमस्यादि श्रुतयोऽप्यञ्जसोपपद्यन्ते। तस्मादविकृतः परमेश्वर एवाय जोवः सर्वत्रावतिष्ठते। इति काशकृत्स्नो मन्यते-अस्मिन्मते जीवात्मपरमात्मनोरत्यन्ताभेदो रसोत्पन्नद्रुमे रसवदिति प्रतिभाति।

अतः ज्ञान ध्यान आदि साधनों के अनुष्ठान से प्रसाद से परिपूर्ण विज्ञानात्मा ही शरीर छोड़ने के समय इस देह इन्द्रिय मन बुद्धि के समूह को छोडकर परमात्मा के स्वरूप में चला जाता है, ऐसा प्रतीति होता है। आचार्य औडुलोमिने तर्क से इसकी पुष्टि की है कि उपाधि के कारण जीव भाव का अपोहन (दूरोकरण) करके अपने रूप की संपत्ति के प्राप्त हो जाने से परमात्मा का स्वरूप प्राप्त हो जाने के कारण उक्त सिद्धान्त की पुष्ठि होती है। इस मत में जीवात्मा और परमात्मा में अवस्था के कारण भेद है वास्तव में तो अभेद है जैसे जल बुद्बुद या जल-तरंग में अवस्था के कारण भेद है वास्तव में अभेद है, यह प्रतीत होता है।

अथवा यह भेद [अवस्था के आधार के स्थान पर] अवस्थिति के आधार पर [अवस्थित के हेतु से] यह जीवात्मा और परमात्मा के अभेद कथन का उपक्रम किया जा रहा है, यह माना जा सकता है। श्रुति कहती है–

"इस जीव आत्मा के द्वारा अनु प्रवेश करके मैं नाम और रूप का पृथक्करण करूं"—

मन्त्र में भी आया है—

"—वह धीर, सभी रूपों का चयन करके उनका नामकरण करता हुआ उन्हें सम्बोधित करता है"—

अत: इसी परमात्मा का अवस्थान सर्वत्र इस विज्ञानात्मा के रूप में भी प्रतीत हो रहा है।

ऐसा नहीं दिखाई देता कि तेज आदि महाभूतों की उत्पत्ति की तरँह जीवात्मा की पृथक् सृष्टि कहीं बतलाई ग ईहो। इसीलिए

—"वह तुम हो"—

आदि श्रुतिवाक्य भी अनायास युक्तिसिद्ध हो जाते हैं। अत: अविकृत परमेश्वर ही यह जीव सर्वत्र अवस्थित है। यह सिद्धान्त है आचार्य व्याशकृत्स्न का। इस मत का सार यह प्रतीत हो रहा है कि जीवात्मा और परमात्मा में अत्यन्त अभेद वैसे ही है जैसे रसा से (पृथ्वी से) उत्पन्न वृक्ष में रसवत्ता रहती है।

स्रष्टृत्वविमर्शश्चतुर्थः

प्रकृतिर्जगदुपादानमीश्वरः परमात्मा। प्रतिज्ञानादभिध्यानात्प्रभवप्रलयाम्नानात् स्वयं करणात् परिणामाद् योनित्वाख्यानाच्चेत्याह—

—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्"—[१।४।२३]

—"अभिध्योपदेशाच्च"—[१।४।२४]

—"साक्षाच्चोभयाम्नानात्"—[१।४।२५]

—"आत्मकृतेः परिणामात्"—[१।४।२६]

—"योनिश्च हि गीयते"—[१।४।२७]

ननु ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणाद् ब्रह्मणश्चेतनस्य कर्तृत्वमाख्यातमेतावता ग्रन्थेन। तच्चैतदस्य ब्रह्मणः कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वमात्रं निष्पद्यते नैतावता तस्योपादानत्वं

प्राप्नोति। उपादानस्येक्षापूर्वककर्तृत्वाप्रसिद्धेः। तस्माद् ब्रह्मणोऽतिरिक्तं प्रधानं प्रकृतित्वेनावश्यमभ्युपगन्तव्यमिति चेन्न। तद्धि ब्रह्म यथा निमित्तमभ्युपेयते तथा प्रकृतिश्च। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। प्रकृतिरुपादानं समवायिकारणमित्यनन्यार्थम्। छान्दोग्यश्रुतौ तावत्—

—"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्। यथैकेन विज्ञानेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवति"—

—"इत्येषा हि प्रतिज्ञा नोपादानत्वमन्तरेणोपपद्यते। कार्यस्योपादानाव्यतिरेकादुपादानविज्ञानेनैव सर्वविज्ञानसंभवात्। एवं हि दृष्टान्तमाह—

—"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—इत्यादि।

तथा चैतेन सर्वविधमृन्मयोपादानभूतमृत्तिकादृष्टान्तेनास्य ब्रह्मणोऽपि सर्वजगदुपादानत्वं गमयति। बृहदारण्यकेऽपि—

—"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"—इति प्रतिज्ञा।

"यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति"

—इति दृष्टान्तश्च तमेवार्थं गमयतः। तत्रैव पुनः

"आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुति मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्"—इति प्रतिज्ञा—

"स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः"—इति दृष्टान्तः।

एवमन्यत्रापि वेदान्ते यथासंभवं दृश्यमानयोः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरनुपरोधेन ब्रह्मणः प्रकृतित्वं गम्यते।

अभिध्योपदेशाच्च।

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय—"

इत्येवमादिषु तस्येक्षितुश्चेतनस्य प्रत्यगात्मविषयतयैव बहुभवनाभिध्यानं श्रूयते। तस्माद्यत्तावन्निमित्तं ब्रह्म तदेव प्रकृतिरपीति गम्यते।

स्रष्टा चतुर्थ विमर्श प्रकृति जगत् को कहते हैं, उसका उपादान कारण ईश्वर परमात्मा है। यह सिद्धान्त, प्रतिज्ञान, अभिध्यान, सृष्टि और प्रलय के वर्णनों से स्वयं

करण से, परिणाम से तथा योनित्व के बखान से सिद्ध हो रही है। वेदान्त सूत्र इसी का विवरण दे रहे हैं—

—"और प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त के अनुपरोध से वह प्रकृति है"—(१।४।२३)

—"अभिध्योपदेश के कारण भी यही स्थिर होता है"—(,।३।१०)

—"दोनों के साक्षात् कथन से भी यह सिद्धान्त स्थिर होता है"—(१।४।२५)

—"आत्मकृति का परिणाम भी इसका कारण है"—(१।४।२६)

—"और योनिका निरूपण भी इस विषय में है"—(१।४।२७)

यहां तक के ग्रन्थ से यह विषय स्पष्ट हुआ विचारपूर्वक सृष्टि का निर्माण है अत- चेतन ब्रह्म ही जगत् का कर्ता है। यह जो ब्रह्म का कर्तृत्व है वह घट का कुलाल (कुम्हार) निमित्त कारण है, जैसे स्वर्णाभूषण का सुनार (स्वर्णकार) निमित्त कारण है वैसे ही चेतन ब्रह्म भी इस संसार का निमित्त कारण हो सकता है, उसका जगत् के निर्माण में उपादान कारणत्व सिद्ध नहीं हो पाता। क्योंकि उपादान कारण कहीं विचार-पूर्वक कार्य को उत्पन्न करता हुआ प्रसिद्ध नहीं है।

इसलिए ब्रह्म से अतिरिक्त प्रधान प्रकृति रूप से अवश्य स्वीकारणीय है। इसका उत्तर है कि ऐसा कुछ नहीं है। क्योंकि ब्रह्म जैसे निमित्त कारण माना जा रहा है वैसी ही प्रकृति के निमित्त कारण मानने पर भी स्थिति रहेगी प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का इसमें उपरोध नहीं होता। प्रकृति कहें, उपादान कहें या समवायि कारण कहें बात एक ही है। छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है—

—"क्या वह आदेश भी तुमने पूछा जिससे बिना सुना भी सुना हुआ हो जाता है, असंमत भी संमत हो जाता है, बिना जाना भो जाना हुआ हो जाता है। जैसे एक को जानने से सब कुछ दूसरा बिना जाना हुआ भा जाना हुआ हो जाता है"—

यह प्रतिज्ञा वह तत्त्व जब तक उपादान कारण न हो तब तक नहीं हो सकती। कार्य मात्र अपने उपादान कारण के बिना नहीं रह सकता और उपादान कारण के ज्ञान होने पर कार्य मात्र का ज्ञान होना सम्भव हो जाता है। उसके लिए दृष्टान्त इस प्रकार दिया गया है कि—

—"हे सोम्य, जैसे एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से मिट्टी से बने सभी पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं विकार रूप पदार्थों का कथन तो व्यवहार तक ही रहता है, अन्तिम सत्य तो उन पदार्थों में मृत्तिका ही है"—

और अब इस सभी का मृण्मय वस्तुओं की उपादान कारण रूप मृत्तिका के दृष्टान्त के द्वारा इस ब्रह्म की भी समस्त जगत् की उपादान कारणता प्रतिसूचित हो जाती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी—

—"हे भगवन्, किसके जान लेने पर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है"—

यह प्रतिज्ञा है, तथा दृष्टान्त है—

—"जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं"—

यह ये प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उसी अर्थ की अभिव्यंजना कर रहे हैं। फिर प्रतिज्ञा वाक्य आता है कि—

"सुनो भाई, आत्मा के देखने सुनने और मनन करने और विज्ञात होने पर यह सब कुछ विदित हो जाता है"—

फिर दृष्टान्त वाक्य यह है कि—

"कोई व्यक्ति जैसे दुन्दिभि के ताडित होने पर बाहर के किसी अन्य शब्द को सुन पाने में असमर्थ हो जाता है, दुन्दुभि के ज्ञान से दुन्दुभि के आघात शब्द का ज्ञान होता है"—

इसी प्रकार वेदान्त में अन्यत्र भी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभूत प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के बिना उपरोध के ब्रह्म का प्रकृति होना प्रतीत करा दिया गया है।

—"और अभिध्या के उपदेश से"—

—"उसने कामना की कि मैं जो एक हूं वह बहुतों में प्रकट हो जाऊं, उसने देखा कि मैं बहुतों में प्रकट हो जाऊं"—

इत्यादि सन्दर्भों में ईक्षण करने वाले उस चेतन का प्रत्यगात्मा के रूप में ही बहुत हो जाने का अभिध्यान सुना जा रहा है। इसलिए जो ब्रह्म निमित्त है, वही प्रकृति भी है यह भासित हो रहा है।

ननु—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चेति"—

श्रुतेस्तन्तुनाभदृष्टान्तेनास्य चैतन्यात्मना निमित्तत्वं तद्गतप्रधानादिशक्तिद्वारकं च प्रकृतित्वं स्यादिति चेन्न।

—"साक्षाच्चोभयाम्नानात्"—

—"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति"—

—इत्युभयोः प्रभवप्रलययोः साक्षादत्रात्मानं पश्यामः । तस्मान्निमित्तत्वं वा नावच्छेदभेदेन कल्पयितुं शक्नुमः ।

—"आत्मकृतेश्च"—

—"तदात्मानं स्वयमकुरुत"—

—इति ह्येकस्यैवार्थस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं च गम्यते ।

—"परिणामाच्च"—

"सच्च त्यच्चाभवन्निरुक्तं चानिरुक्तं च"—

—इत्यादिना ब्रह्मण एवास्य विकारात्मना परिणाम आम्नायते ।

"योनिश्च हि गीयते"—

—"कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्"— इति ।

—"यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"—

—इति च । योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः । तस्माद् ब्रह्मणः प्रकृतित्वं सिद्धम् ।

अथवा योनिश्च हि गीयते । योनिः प्रभव उत्पत्तिस्थानमुपलब्धिस्थानं वा । तद्यथेवं ब्रह्म निमित्तं भवति, प्रकृतिश्च तथैवेदं योनिश्च गीयते तस्मिन् ब्रह्मणि सर्वधर्मोपपत्तेरिति दिक् ।

—"एतेन सर्वे व्याख्याताः"—[१।४।२८]

योऽयमित्थं प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापः प्रदर्शितः एतेनैवान्येप्यण्वादिकारणवादाः प्रत्याख्याता वेदितव्याः तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरुद्धत्वाच्च । अपर आह । एतेन प्रदर्शितन्यायकलापेनाऽन्येऽपि सर्वे वेदान्तवाक्यविशेषा ब्रह्मपरतया व्याख्याता वेदितव्याः ।

॥ इति चतुर्थपादः ॥

इति शारीरकसूत्राणां शारीरकविज्ञानभाष्ये प्रथमः पदविमर्शाध्यायः पूर्णः ।

प्रश्न होता है कि—

—"जैसे मकड़ी उत्पन्न करती और नष्ट करती है"—

इस श्रुति के मकड़ी के दृष्टान्त से जो चैतन्य के रूप में निमित्त है और संसारगत प्रधान आदि की शक्ति का द्वार है वही प्रकृति है ऐसा क्यों न माना जाय, तो इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

—"और साक्षात् दोनों (सृष्टि और प्रलय) के कथन से (ब्रह्म प्रकृति है)"—

—"ये समस्त भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं"—(आकाश यहां परमात्मा है)

इस प्रकार सृष्टि और प्रलय दोनों का साक्षात्करण यहां आत्मा को ही जब बतलाया गया है तो निमित्त के भेद से एक एक पदार्थ का कारण पृथक् पृथक् कल्पित नहीं किया जा सकता।

—"और आत्मा की कृति के कारण"—

—"उसने स्वयं अपने को उत्पन्न किया"—

इस वाक्य में एक ही अर्थ को कर्ता और कर्म दोनों बतलाया गया है।

—'और परिणाम के कार"ण—

—" 'सत्' और 'त्य' निरूक्त और अनिरूक्त हुए"

इत्यादि वाक्य के द्वारा यह जगत् ब्रह्म का ही विकारात्मक परिणाम है यह स्थिर किया गया है।

—"और योनि गाया गया है"—

—"कर्ता ईश्वर पुरुष ब्रह्म योनि को" (नमस्कार है)

—"जिसे धैर्यशाली भूतों की योनि के रूप में देखते हैं"—

योनि का अर्थ है प्रकृति। इसलिए ब्रह्म का प्रकृतित्व सिद्ध हुआ।

अथवा 'योनिश्च हि गीयते' सूत्र का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि योनि अर्थात् उत्पत्ति का स्थान या उपलब्धि का स्थान। तब जैसे यह ब्रह्म निमित्त कारण है और यह प्रकृति है वैसे ही यह योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान के रूप में भी गाया गया है। क्योंकि उस ब्रह्म में सभी धर्मों की संगति हो जाती है।

—"इससे सभी की व्याख्या हो गई"—(१।४।२८)

यह जो इस प्रकार प्रधान को कारण बतलाने वाले वाद (प्रधान कारणतावाद) का निषेध करने वाला सिद्धान्त-समूह दिखाया गया, उसी से अन्य अणु आदि को कारण बतलाने वाले वादों का भी निषेध समझ लेना होगा। (जड़ कारणवाद का खण्डन ही इन सबका भी खण्डन है) क्योंकि वे भी प्रधान कारणवाद का निषेध करने वाले प्रधान तर्क अर्थात् अशब्द हैं, (वेद शब्दों से प्रतिपादित नहीं है) और शब्द प्रमाण के विरुद्ध भी हैं।

दूसरी व्याख्या है कि इस प्रदर्शित सिद्धान्त समूह या तर्क समूह से अन्य भी सभी वेदान्त के विशेष वाक्य ब्रह्म परक हैं यह व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

[शारीरक सूत्रों के शारीरिक विज्ञान भाष्य का प्रथम अध्याय-पदविमर्शाध्याय पूर्ण हुआ]

—□—

अथद्वितीयाध्यायस्य प्रथम: पाद:

मतविमर्शाध्याय:

तत्र प्रथमतो ब्रह्मवादे सांख्यप्रदर्शिताक्षेपनिरासाधिकरणं दशविमर्शमुपक्रम्यते ।

यहां प्रथमतः ब्रह्मवाद में सांख्यमत में प्रदर्शित आक्षेपों के निराकरण का दस विमर्श वाला अधिकरण उपक्रान्त होता है।

शारीरकसिद्धान्तपरीक्षा

—"स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्"—[२।१।१]

—"इतरेषां चानुपलब्धेः"— [२।१।२]

—"एतेन योगः प्रत्युक्तः"— [२।१।३]

ननु ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्येतावन्मात्रमेतावता ग्रन्थेनोपपादितं तदयुक्तम् । तथा च सति स्मृत्यनवकाशदोषः प्रसज्येत । तथा हि परमर्षिकपिलप्रणीतायां स्मृतौ तदन्यासु च कतिपयीषु स्मृतिषु प्रधानमचेतनं जगतः कारणमाख्यातम् । ताश्च मोक्षसाधनं सम्यग्दर्शनमेवाधिकृत्य प्रणीता दृश्यन्ते इत्येतासां ब्रह्मातिरिक्तकारणताप्रतिपादयित्रीणामसम्यग्दर्शनत्वाभ्युपगमे स्वार्थेऽनवकाशादानर्थक्यमेव प्रसज्येत । तच्च नावकल्पते । कपिलप्रभृतीनामप्रतिहतार्षविज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात् ।

शारीरक सिद्धान्त परीक्षा —

—यदि कहें कि स्मृति को अवकाश न मिलने का दोष आयेगा तो ऐसा नहीं है क्योंकि (इस स्मृति को मान लेने पर) अन्य स्मृति के अनवकाश के दोष का प्रसङ्ग आ जायगा।—[ब्र. सू. २।१।१]

—अन्यों की उपलब्धि न होने के कारण – [१।२।२]

— इससे योग का भी उत्तर हो गया—[१।२:३]

एक पूर्व पक्ष यहां है कि ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय में सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है इतने मात्र का जो प्रतिपादन हुआ है वह युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा होने पर स्मृति को अवकाश न मिलने का दोष प्रसक्त होगा। कहना यह है कि परम ऋषि कपिल के द्वारा विरचित स्मृति में तथा उसके अतिरिक्त कुछ स्मृतियों में अचेतन प्रकृति वाले प्रधान नाम के तत्त्व को जगत् का कारण निश्चित किया गया है। ये स्मृतियां मोक्ष के साधनस्वरूप सम्यक् दर्शन को ही आधार बना कर निर्मित हुई हैं यह ज्ञात हो रहा है। अतः ये जगत् का कारण ब्रह्म के अतिरिक्त तत्त्व को मानती हैं, यदि इनके दर्शन को असम्यक् (अनुचित) माना जायगा तब ये अपने प्रतिपादन में अटपटी (अनवकाश) हो जांयगी और तब यह निरर्थक भी सिद्ध हो जांयगी। यह बात मानने योग्य नहीं है, क्योंकि कपिल महर्षि आदि का ऋषि विज्ञान अप्रतिहत (दोष रहित) रूप से प्रसिद्ध है।

—"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्"—

—इति श्रुत्या कापिलविज्ञानस्य याथार्थ्यावगमाञ्च। न च वयं कपिलादिवत् स्वतन्त्रप्रज्ञाः। तस्मात् स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवतामस्माकं परतन्त्रप्रज्ञानां प्रख्यातप्रणेतृकस्मृत्यवलम्बेनैव श्रुत्यर्थावधारणा युज्यते न तु तद्विरोधेन। तस्मात्कापिलाद्यनवकाशदोषप्रसङ्गाद् ब्रह्मकारणतावादो न श्रुत्यर्थ इति चेन्न अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।

उभयविधा हि स्मृतयो दृश्यन्ते—प्रधानकारणवादिन्य ईश्वरकारणवादिन्यश्च। तत्रेश्वकारणताभ्युपगमे यथा प्रधानकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्यन्ते तथा प्रधानकारणताभ्युपगमे ता ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ता यथा—

—"जो प्रारम्भ में कपिल महर्षि थे उन्हें भूत और भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान था"—

इस श्रुति वाक्य के आधार पर कपिल का विज्ञान यथार्थ विज्ञान के रूप में ज्ञात है। हम लोग कपिल आदि के समान स्वतन्त्र प्रज्ञा के धनी नहीं हैं, इसलिए स्वतन्त्र रूप से श्रुति के अर्थ का निश्चय कर सकने में असमर्थ परतन्त्रप्रज्ञा वाले, हम लोगों के लिए प्रख्यात प्रणेताओं के द्वारा विरचित स्मृति का अवलम्ब लेकर ही श्रुति के अर्थ की अवधारणा युक्तिसंगत हो सकती है, न कि उसका विरोध करते हुए हम श्रुति के अर्थ तक पहुंचने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए कपिल महर्षि आदि विरचित स्मृति के अनवकाश दोष का प्रसङ्ग आ जाने के कारण ब्रह्मकारणतावाद श्रुति का अर्थ नहीं हो सकता, यह पक्ष माननीय नहीं है, क्योंकि इसको मानने पर अन्य स्मृति के अनवकाश का दोष प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

स्मृतियां दोनों प्रकार की दिखाई दे रही हैं, प्रधान या प्रकृति को जगत् का कारण कहने वाली स्मृतियां भी हैं तथा ईश्वर को जगत् का कारण बतलाने वाली श्रुतियां भी हैं। उनमें जैसे ईश्वर को कारण मानने पर प्रधान को कारण मानने वाली स्मृतियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता उसी प्रकार प्रधान को कारण मानने पर ईश्वर कारणवादी स्मृतियों के अनवकाश हो जाने की परिस्थिति आ जायेगी।

'यत्तत् सूक्ष्ममविज्ञेयम्''
'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते।'
'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।'
'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे संप्रलीयते।'
'अतश्च संक्षेपमिमं शृणध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
इत्येवमाद्याः पुराणस्मृतयः। महाभारतेऽपि—
"बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु।
बहवः पुरुषा राजन् सांख्ययोगविचारिणाम्।
बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्।
ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्।
विश्वमूर्द्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः।
एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्।
इऽयेवमैकात्म्यं सर्वात्मत्वं च निर्धार्यते। श्रुतौ च—
"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।"
इत्येवं सर्वात्मत्वं श्रूयते। तस्मादेता वेदानुसारिण्यः स्मृतयो भवन्ति।

वे स्मृतियां उदाहरणार्थ ये हैं—
—"जो वह सूक्ष्म अविज्ञेय है"—
—"वह भूतों का अन्तरात्मा तथा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है"—

—"हे द्विजश्रेष्ठ, उससे (परब्रह्म से) तीन गुणों वाले अव्यक्त की उत्पत्ति हुई"—

—हे ब्रह्मन्, निर्गुण पुरुष में अव्यक्त का लय हो जाता है"—

—"इसलिए इस संक्षिप्त कथन को सुनिये कि प्राचीन नारायण ही इस सारे प्रपंच के रूप में दृष्टिगोचर हैं। वह सृष्टि काल में रचना करते हैं और फिर संहार काल में उसको स्वाहा करते हैं।"

—"मैं ही समस्त संसार का उत्पत्तिस्थान और प्रलयस्थान हूं"—

आदि पुराण स्मृतियां हैं। महाभारत में भी—

"हे ब्रह्मन्, पुरुष बहुत हैं अथवा एक ही है,—

हे राजन्, सांख्य और योग के अनुसार विचार करने वाले पुरुष को बहुवचन में मानते हैं, बहुत से पुरुषों का उत्पादक स्थान जैसे एक होता है, ऐसे ही (सब पुरुषों का) उत्पादक गुणों में सर्वाधिक उस पुरुष का मैं पूर्ण रूप से वर्णन करूंगा। वह मेरा अन्तरात्मा है, तुम्हारा तथा देह में स्थित अन्य जितने भी हैं सभी का साक्षिस्वरूप यह पुरुष है। यह किसी के द्वारा कभी भी कहीं गृहीत नहीं हो सकता। वह विश्व मस्तक वाला (सब ओर मस्तकवाला) सब ओर भुजाओं वाला सभी ओर पैर, नेत्र, नाक वाला एक मात्र स्वतन्त्र रूप से भूतों में सुखपूर्वक विचरण करता है"—

इस प्रकार एकात्मत्व तथा सर्वात्मत्व का निर्धारण किया गया है। तथा श्रुति में—

—"जहां ज्ञानी के लिए समस्तभूत आत्मा हो बन गए उस सर्वत्र एकत्व को देखने वाले के लिए कौनसा मोह या शोक बचा रह गया"—

अथ कापिलादितन्त्रेषु वेदविरुद्धमात्मभेदकल्पनं स्मर्यते। तस्मादेता वेदविरुद्धाः स्मृतयः। तथा चेत्थं विप्रतिपत्तौ स्मृतीनामवश्यमन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च कर्तव्यतया प्राप्ते श्रुत्यनुसारिण्य एव स्मृतयः प्रमाणमितरा अनपेक्ष्या इति युक्तम्।

या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतमास्थतुं शक्यम्। कापिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। तस्माद्वेदविरुद्धमिदं प्रधानकारणवादि कापिलं तन्त्रं न प्रमाणम्।

—"इतरेषां चानुलब्धेः"—

प्रधानादितराणि यानि महदादीनि प्रधानपरिणामत्वेन काषिले तन्त्रे व्याख्यातानि तान्यपि वेदे लोके च नोपलभ्यन्ते । वेदे क्वचिच्छ्रुतस्य महदादिपदस्यान्यपरत्वेन व्याख्यातत्वात् ।

—"एतेन योगः प्रत्युक्तः"—

सांख्यस्मृतिवदेव योगस्मृतावप्युक्तानां प्रधानमहदादीनां वेदविरुद्धत्वाल्लोकाप्रसिद्धत्वाच्च तुल्यन्यायात् ।

इस प्रकार सर्वात्मत्व सुना गया है । इसलिए ये हैं वेदानुसारिणी स्मृतियां ।

अब देखिए महर्षि कपिल आदि प्रणीत सांख्य आदि तन्त्रों की ओर, जिनमें वेद के विरुद्ध आत्म के भेदों की कल्पना दिखाई दे रही है इसलिए ये हैं वेद से विरुद्ध स्मृतियां । तब इस स्थिति में अवश्य ही हमें किसी स्मृति का अङ्गीकार और अन्य का त्याग करना पड़ेगा, उस स्थिति में श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृतियां ही प्रमाण कोटि में समाविष्ट होंगी अन्य स्मृतियां अपेक्षित नहीं होंगी यही युक्तियुक्त है ।

जिस श्रुति को कपिल के ज्ञान का अतिशय प्रकट करने वाली बतलाया गया है उस श्रुति के आधार पर वेद विरुद्धहोने पर भी महर्षि कपिल के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि कपिल शब्द तो अनेक स्थानों पर प्रयोग में आ सकता है । (यह आवश्यक नहीं कि श्रुति में कहे गए कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक कपिल हों) । यह मानना समीचीन होगा कि श्रुति में जिस कपिल का नामोल्लेख हुआ है, वे सांख्योपदेष्टा कपिल से भिन्न हैं, सगर के पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक कपिल महर्षि का वहां उल्लेख है । इसलिए वेद विरुद्ध यह प्रधान को जगत् का कारण बतलाने वाला कपिल का तन्त्र (सांख्य दर्शन) प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

—"इतर तत्त्वों की उपलब्धि न होने के कारण भी [कपिल तन्त्र] प्रमाण नहीं है ।"

प्रधान नामक तत्त्व से भिन्न महदादि जो तत्त्व समूह प्रधान तत्त्व के परिणाम के रूप में कपिल के तन्त्र (सांख्य दर्शन) में प्रसिद्ध हैं वे भी वेद और लोक में प्राप्त नहीं होते । वेद में जो कहीं 'महत्' आदि शब्द आते हैं, उनकी भी व्याख्या सांख्य संमत न करके दूसरे ही अर्थों में की गई है ।

—इससे योग का भी उत्तर हो गया"—

इदं च सांख्ययोगयोः प्रत्याख्यानं वेदविरुद्धांशमात्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । न तु सर्वांशेनापोद्यते । श्रुत्यविरुद्धांशेऽपि तत्प्रत्याख्याने प्रमाणाभावात् । तद्यथा

—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः"—

इति श्रुतिसिद्धं पुरुषस्य विशुद्धत्वं सांख्येऽपि स्मर्यते—

—"अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रह—"

इति श्रुतिसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं योगेऽभ्युपगम्यते। तन्नाप्रमाणमिति बोध्यम्। एतेषु सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि।

—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं"—

—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीत्यादि"—

—श्रुतिभ्यो वेदविरुद्धतर्कविष्टम्भेन गृहीतानामर्थानामप्रामाणिकत्वावगमात्।

इति श्रुतिविरुद्धस्मृत्या अप्रामाण्यवादः।

क्योंकि जैसे सांख्य दर्शन में प्रतिपादित प्रधान और महत् आदि तत्त्व वेद और लोक में अप्रसिद्ध हैं वही स्थिति इनकी योग के प्रतिपादन में भी है। (योग दर्शन में भी सांख्य प्रतिपादित प्रधान आदि तत्त्वों को सांख्य की प्रतिपादन शैली में ही मान लिया गया है अतः सांख्य दर्शन के खण्डन में प्रयोग में लाये गये तर्क योग दर्शन के तत्त्वों के उत्तर में भी तुल्य न्याय से लागू हो जाते हैं।)

(सांख्य और योग तन्त्रों के अस्वीकार के विषय में एक बात साफ तौर से यहीं ध्यान में लेने की है कि) सांख्य और योग का यह अस्वीकार केवल उतने ही अंश में अभीष्ट है जितने अंश में वेद से विरोध आता है। पूर्णतया सांख्य और योग के सिद्धान्तों का अस्वीकार करना अभीष्ट नहीं है। सांख्य और याग के जो अंश श्रुति का विरोध नहीं करते उनको भी अस्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। उदाहरण के लिए—

—"यह पुरुष असंग है"—

यह पुरुष की विशुद्धता श्रुति बोधित है, उसका सांख्य में भी स्मरण हुआ है।

—"जो परिव्राट् है, वह रंगरहित वस्त्र धारण करने वाला मुण्डित सिर वाला तथा संग्रह न करने वाला है"—

यह निवृत्ति मार्ग की निष्ठा श्रुति सिद्ध ही है जिसका योग में भी विवरण उपलब्ध है। यह सब अप्रमाण नहीं है। इसी प्रक्रिया को समस्त तर्कों के स्वीकार और अस्वीकार में भी काम में लेना होगा—(जो तर्क श्रुति के अनुकूल हो वही स्वीकार्य होता है, श्रुति विरुद्ध तर्क अस्वीकार करने योग्य हैं)

—"उस बृहत् को वेद को नहीं जानने वाला नहीं मानता"—

—"उस औपनिषद् पुरुष को पूछता हूं"—

इत्यादि श्रुति वचनों से वेद के विरुद्ध तर्कों के आश्रय से गृहीत अर्थों की अप्रामाणिकता समझने में आ रही है।

यह हुआ श्रुति विरुद्ध स्मृतियों का अप्रामाण्यवाद—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्। [१।४।४]
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्। [१।४।५]
दृश्यते तु। [१।४।६]
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्। [१।४।७]
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्। [१।४।८]
न तु दृष्टान्तभावात्। [१।४।९]
स्वपक्षदोषाच्च। [१।४।१०]
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः। [१।४।११]
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः [१।४।१२]

—"विलक्षणता न होने से शब्द प्रमाण के आधार पर इसका वही रूप है"— [१/४।४]

—"विशेष और अनुगति के कारण अभिमानी का कथन है"—[१।४।५]
—"दिखाई तो दे रहा है"—[१/४/६]
—'यदि असत् कहो तो ऐसा नहीं, वह तो प्रतिषेध मात्र है"—[१/४/७]
—'प्रलय में वैसा ही प्रसंग आने से असमञ्जसता होगी"—[१/४/८]
—"इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है"—[१/४/९]
—"अपने पक्ष में दोष के कारण भी"—[१/४।१०]
—"तर्क के अप्रतिष्ठित होने के कारण अन्यथा अनुमान करने पर भी मुक्ति के अभाव का प्रसंग आयेगा"—[१/४/११]
—'इससे शिष्टों के द्वारा अस्वीकृत मतों का भी व्याख्यान हो गया"— [१/४/१२]

ननु यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते। विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मणश्चेतनस्य विशुद्धस्य कार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगदचेतनमशुद्धं च दृश्यते। न च विलक्षणयोः प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। न च रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका न वा शरावादयः सुवर्णप्रकृतिकाः संभवन्ति। मृदैव मृदन्विता विकाराः

क्रियन्ते सुवर्णेन सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हति न तु सुखदुःखमोहरहितस्य चेतनस्य ब्रह्मणः।

सन्देह किया जाता है कि संसार के मूल में जो चेतन ब्रह्म को स्वीकार किया जा रहा है वह तर्क युक्ति संमत नहीं है। क्योंकि यह जो संसार की रचना रूपी विकार है वह अपनी ब्रह्म रूप प्रकृति से (समान धर्मा न होकर) विलक्षण दिखाई देता है। यह जो विशुद्ध चेतन ब्रह्म के कार्य के रूप में अभिप्रेत जगत् का निर्माण है वह अचेतन और अशुद्ध दिखाई दे रहा है। ऐसा नहीं देखने में आता कि कोई विकार अपनी प्रकृति रूप वस्तु से सर्वथा विलक्षण दिखाई देता हो। सोने से बनने वाले रुचक आदि आभूषणों की प्रकृति मिट्टी नहीं हो सकती और न ही कुल्लड़ घड़ा आदि की प्रकृति के रूप में हम सुवर्ण को स्वीकार कर सकते हैं। मिट्टी के विकार रूपी पदार्थ मिट्टी से ही बनते हैं और स्वर्ण के विकार रूप आभूषण स्वर्ण से ही बन सकते हैं।

इसी प्रकार यह जगत् भी अचेतन है, सुख दुःख मोहात्मक है अतः इसका कारण भी अचेतन और सुख दुःख मोहात्मक ही होगा, जो सुख दुःख मोह से रहित चेतन ब्रह्म है वह कैसे अचेतन सुख, दुःख मोहात्मक जगत् का कारण माना जा सकता है।

नन्वस्मादेव चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणादिदं समस्तं जगच्चेतनमवगमिष्यामि। प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयावश्यम्भावात्। परिणामविशेषात्तु काष्ठलोष्टादीनां चैतन्यस्याविभावनं भविष्यति। स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्च्छाद्यवस्थासु चैतन्याविभावनवत्! इत्थं चैषां कार्यकारणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽप्यत एव विभावितत्वाविभावितत्वकृताद्विशेषादरूपादिभावाभ्यां च गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते—इति चेन्नैतदेवमविशेषेण सर्वस्य चैतन्यमभ्युपगन्तुं शक्यम्। स्वापमूर्च्छाद्यवस्थास्वविभावितचैतन्यानामवस्थान्तरे चैतन्योपलब्धिवदेषां काष्ठलोष्टदीनां कदाचिदपि चैतन्यानुपलब्धेः। नित्यानुपलब्धचैतन्यानामपि चेतनत्वाभ्युपगमेऽयं लोकप्रसिद्धश्चेतनाचेतनविभागो व्युच्छिद्येत। तथात्वं च शब्दात् प्रतिपद्यामहे। तथा हि—विज्ञानं चाविज्ञानं चेति श्रावयन्ती श्रुतिर्जडचेतनविभक्तत्वं जगतः प्रतिपादयति।

अब एक उपाय यहां यह है कि श्रवण में जब संसार की प्रकृति चेतन के रूप आ रही है तो उस चेतन प्रकृति से प्रादुर्भूत समस्त संसार भी चेतन ही है ऐसा क्यों न मान लिया जाय। क्योंकि प्रकृति के रूप का अपने विकार में होना अवश्यम्भावी है। लकड़ी पत्थर आदि में जो चैतन्य का प्रकटीकरण नहीं देखने में आता उसका कारण विशेष प्रकार का परिणाम ही माना जा सकता है (जिसके कारण विद्यमान चैतन्य भी प्रकट रूप से गृहीत नहीं होने पाता)। जिनका चैतन्य स्पष्ट है ऐसे आत्मा वालों में भी निद्रा

मूर्छा आदि अवस्थाओं में चैतन्य का प्रकट अनुभव कहां हो पाता है ? इस प्रकार इन कार्यों और कारणों या आत्माओं का चेतनत्व अभिन्न और व्यापक है तब भी प्रकट और अप्रकट रूप की विशेषता के कारण तथा अरूप आदि भावों के कारण गौण और प्रधान भाव मानने में विरोध नहीं आ सकेगा, ऐसा तर्क उपस्थित करने पर यह स्पष्ट उत्तर है कि इस प्रकार सामान्यतया बिना विशेषता के सबकी चैतन्य रूपता नहीं मानी जा सकती । स्वप्न, मूर्छा आदि अवस्थाओं में चैतन्य के प्रकट न होने की स्थिति वाले मनुष्य आदि में और लकड़ी पत्थर आदि में भेद यह है कि स्वप्न मूर्छा आदि के पहिले और बाद में उनमें चैतन्य का प्रकटीकरण अनुभव में सबको आता है जबकि लकड़ी, पत्थर आदि में कभी भी चैतन्य के प्रकटीकरण का अनुभव किसी को भी कभी भी होता हो नहीं । जिनमें चैतन्य उपलब्ध होता ही नहीं उनमें भी अप्रकट अवस्था में चैतन्य के मान लेने पर तो जगत् में चेतन और अचेतन की प्रसिद्धि के कारण जो व्यवहार चला आ रहा है वही उखड़ जायगा । हम शब्द प्रमाण के आधार पर उस स्वरूप को स्वीकार करते हैं । स्पष्टीकरण यह है कि विज्ञान और अविज्ञान को बतलाने वाली श्रुति जगत् को जड़ और चेतन में विभक्त बतला रही है—

ननु यदि जडचेतनविभक्तत्वं जगतः श्रुत्यभिमतमभविष्यत् तर्त्हि—

—"मृदब्रवीत्"—

—"आपोऽब्रुवन्,"—

—"तत्तेज ऐक्षत"—

—"ता आप ऐक्षन्त"—

—"श्रृणोत ग्रावाणः,"—

—"स्वधिते मैनं हिंसीः"—

—"ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय"—

इत्येवमादिष्वचेतनेष्वपि चेतनवदेवाविशेषेण व्यवहाराः श्रौता न प्रावर्त्स्यन्त इति चेन्न । अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्यां तत्र प्रतीयते न तु तेषां स्वतश्चैतन्यं तावता संभाव्यते ।

—"एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमानाः"—(२।१४ कौ०)"

—"ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा"—

इति कौषीतकीयश्रुतौ देवताशब्देन स्पष्टं जडेभ्यो भूतेन्द्रियेभ्यश्चेतनस्य तदभिमानिनो विशेषोपदेशात् । अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते ।

—"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"—

इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां बोधयति । एवमेव—

—"तत्तेज ऐक्षत"—

इत्यादिष्वपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यते तुल्यन्यायादिति द्रष्टव्यम् । तस्मादचेतनमिदं जगदस्ति ब्रह्मविलक्षणमतो नेदं ब्रह्मप्रकृतिकं संभवति। विकाराणां प्रकृतिविलक्षणत्वादर्शनादिति चेन्नैतदस्ति । दृश्यते तु लोके विकारेषु प्रकृतिवैलक्षण्यमपि यथा चेतनोत्पन्नेष्वचेतनेषु केशनखादिषु यथा वा केषुचिदचेतनोत्पन्नेषु—गोमयादिजातेषु वृश्चिकादिषु । बदरादिफलकीटश्चेतनो नूनमचेतनादेव फलादुत्पन्नो दृश्यते । तस्माज्जडचेतनवैलक्षण्यं न प्रकृतिविकृतिभावं व्याहन्ति ।

प्रश्न होता है कि यदि श्रुति को जगत् का जड़ और चेतन में विभक्त होना अभिमत हो तो—

—"मिट्टी बोली"—

—"जल बोले"—

—"वह तेज देखने लगा"—

—"वे जल देख रहे थे"—

—"हे पत्थरों, सुनो"—

—"हे छुरी, तुम इसकी हिंसा मत करना"—

—"वे प्राण "मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं" इस विवाद में पड़कर ब्रह्म के पास गए, उन्होंने अपनी बात कही, आप हमारा निर्णय करें"—

इत्यादि स्थलों पर अचेतन पदार्थों में चेतनों के समान व्यवहार श्रुति में प्रयोग में न लाये जाते । ऐसा सन्देह करने पर उत्तर नकारात्मक ही है । विशेष और अनुगति के कारण इन स्थलों पर उन अचेतन पदार्थों के अभिमानी जो चेतन हैं उन्हीं का विवरण मिल रहा है न कि इन उदाहरणों में उन उन पदार्थों में स्वतः चैतन्य श्रुति को अभिमत है ऐसी संभावना होती है ।

—"ये देवता अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद कर रहे थे"—

—"उन सभी देवताओं ने प्राणों में श्रेष्ठत्व को जाना"—

इस कौषीतकीय श्रुति में देवता शब्द से स्पष्टतया जड़ पदार्थ तथा भौतिक इन्द्रियों के लिए उनके अभिमानी देवताओं का विशेष रूप से उपदेश है । मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराणादि से सर्वत्र अभिमानी चेतन देवता अनुगत हैं यह बात ज्ञात हो रही है ।

—"अग्नि ने वाणी के रूप में मुख में प्रवेश किया"—

इस प्रकार के श्रुति वचन इन्द्रियों के अनुग्राहक देवताओं का बोधन कर रहे हैं इसी प्रकार—

—"उस तेज ने देखा"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों में भी पर अधिष्ठाता देवता का ही जो अपने विकारों में अनुगत है, उसके द्वारा ही यह देखने की क्रिया कही जा रही है, यह कथन उपर्युक्त उद्धरणों से तुल्य न्याय में आता है। अतः यह अचेतन जगत् ब्रह्म से विलक्षण है अतः इसकी प्रकृति को चेतन ब्रह्म के रूप में नहीं समझा जा सकता। क्योंकि विकार भूत पदार्थ अपनी प्रकृति से विलक्षण नहीं हुआ करते, इस महती शंका को भी निरस्त हो समझना चाहिए। क्योंकि सांसारिक विकारों में अपनी प्रकृति से विलक्षणताएं देखने में आती हैं, जैसे चेतन में उत्पन्न केश नखून आदि अचेतन हैं, और कुछ अचेतनों में उत्पन्न गोबर आदि जड़ अचेतनों से बिच्छू आदि चेतन उत्पन्न होते देखे जाते हैं। बेर आदि फलों में पैदा होने वाले कीडे चेतन ही हैं जो अचेतन फल आदि से उत्पन्न होते हैं। इसलिए जड़ और चेतन की विलक्षणता प्रकृति और विकृति भावों में अवरोध उत्पन्न नहीं करती।

ननु विषमोऽयं दृष्टान्तः। अचेतनस्यैव शरीरस्याचेतनकेशनखाद्युत्पत्तौ प्रकृतित्वात्। अचेतनानामेव च वृश्चिकादिशरीराणामचेतनगोमयादिकार्यत्वात्, सत्यम्, तथापि तु दृश्यते पूर्वं चैतन्यायतनभावमनुपगताया अचेतनायाः प्रकृतेः पश्चाच्चैतन्यायतनभावोपगमात्मकं वैलक्षण्यम्। दृश्यते तु किञ्चिदचेतन चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति, किञ्चिन्नेति वैलक्षण्यम्। किञ्च तथात्वं च शब्दादिति वदता भवता यथा विज्ञानं चाविज्ञानं चेति श्रुतिप्रामाण्याज्जगतो जडचेतनविभक्तत्वमभ्युपगम्य जडस्य चेतनप्रकृतिकत्वं दूष्यते, तथैव तु जगति यावानयं चेतनभागस्तस्याचेतनप्रधानप्रकृतिकत्वाभ्युपगमे प्रकृतिविलक्षणत्वदोषदूषितत्वं दृश्यते। अचेतनं हि प्रधानमचेतनानेव सर्वानारभेत न चेतनान्। चेतनानां कार्यत्वानभ्युपगमे तु स लोकप्रसिद्धश्चेतनाचेतनविभागस्तवापि नूनं व्युच्छिद्येत। तस्मादिदं जडचेतनवैलक्षण्यं न प्रकृतिविकृतिभावं व्याहन्ति।

फिर कहा जाता है कि यह दृष्टान्त तो विषम दृष्टान्त है। अचेतन शरीर से ही अचेतन केशनखादि उत्पन्न होते हैं, अतः जैसी प्रकृति है वैसा ही उसका विकार है। बिच्छू आदि के शरीर भी अचेतन ही हैं जिनको कि गोबर आदि अचेतनों से उत्पत्ति होती दिखाई देती है। उत्तर में कहा जाता है कि यह उत्तर सत्य है। परन्तु फिर भी तो यह देखने में आ ही रहा है कि पहिले चैतन्य के आयतन के भाव में न आने वाली अचेतन प्रकृति बाद में चैतन्य का आयतन बन गई और उसमें विलक्षणता भी आ गई। यह भी दिखाई दे रहा है कि कोई अचेतन चैतन्य का आयतन बन रहा है कोई नहीं बन रहा, यह

विलक्षणता लक्षित हो रही है। पुनश्च इस भाव को शब्द प्रमाण से बतलाते हुए आपने जैसे विज्ञान और अविज्ञान को श्रुति के प्रामाण्य के आधार पर जगत् के जड़ और चेतन के विभाग का कारण माना और जड़ के चेतन की प्रकृति होने में दोष दिखाया वैसे ही तो संसार में जितना चेतन का भाग है उसके अचेतन प्रधान को प्रकृति मान लेने पर प्रकृति से विलक्षणता का दोष उसमें आ ही जायगा। प्रधान या प्रकृति जो अचेतन है वह अपने से उत्पन्न होने वाले सभी अचेतनों की ही उत्पत्ति का आरंभ करेगी, उससे चेतन की उत्पत्ति संभव न होगी। यदि चेतन को उत्पन्न ही नहीं मानेंगे या उसकी कार्यता ही स्वीकार न करेंगे तब तो आपके मतानुसार भी संसार में प्रसिद्ध चेतन और अचेतन का व्यवहार विच्छिन्न होने लगेगा। इसलिए यह जड़ और चेतन की विलक्षणता प्रकृति और विकृतिभाव (कार्य कारण भाव) को नष्ट नहीं कर सकती।

किञ्च—अवश्यं केनचिद्धर्मेण प्रकृतिवैलक्षण्यं विकारेषु भाव्यम्। अशेषाणां हि प्रकृतिधर्माणां याथातथ्येनानुवृत्तावसत्यतिशये च प्रकृतिविकारभावस्य लोके कुत्राप्यदृष्टत्वात्। दृश्यते तु विकारेषु केषांचित्प्रकृतिगतानामेव धर्माणामन्वयः केषांचित्प्रकृतिविलक्षणानां च। तथा चेहापि। दृश्यते तु विकारेष्वाकाशादिषु सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभावः सर्वत्रानुवर्तमानः। तस्मान्नानुपपत्तिः प्रकृतिविकारभावस्य।

पुनश्च यह भी विचारणीय है कि अपनी कारण भूता प्रकृति से विकारों में जो विलक्षणता आती है उसका कारण कोई न कोई धर्म हुआ करता है। यदि प्रकृति (कारण) के सारे धर्म अपने विकार (कार्य) में जैसे के तैसे आ जांय और कोई अतिशय (विशेषता) न होने पाये तो ऐसा प्रकृति और विकार का रूप (कार्य और कारण का रूप) संसार में कहीं दिखाई नहीं देता। दिखाई तो यही दे रहा है कि विकारों में (कार्य पदार्थों में) कुछ बातें तो अपनी प्रकृति (कारण) की आती हैं तथा कुछ बातें (धर्म) उससे विलक्षण भी आती हैं। वैसा ही यहां भी है। आकाश आदि विकार रूप पदार्थ हैं: उनमें अपने कारण रूप ब्रह्म का सत्ता (आस्तित्व) रूप ब्रह्म का स्वभाव सर्वत्र विद्यमान है। इसलिए प्रकृति और विकार भाव (कार्य कारण भाव) में कोई अड़चन उत्पन्न नहीं होती।

ननु—'सदेवेदमग्र आसीत्"—

इतिश्रुत्या सत्कार्यवादः श्रूयते। यदि तु चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं ब्रह्माचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरसत् प्रसज्येत, इति चेन्न। प्रतिषेधमात्रत्वात्। असदिति ब्रुवता कस्य सतः प्रतिषेध आक्षिप्यते कार्यात्मना सतो वा कारणात्मना सतो वा। न तावत् कार्यात्मना सतः। तस्य प्रागुत्पत्तेरिव कार्यकालेऽपि प्रतिषेधमात्रत्वात्। न हीदानीमपीदं कार्यमृते कारणात्मनः स्वतन्त्रं नाम किञ्चिदस्ति।

—"सव त परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद"—

इत्यादिश्रुतेः कारणव्यतिरेकेण कार्यस्य सर्वथा प्रतिषिद्धत्वात् । अथ न कारणात्मना सतोऽयं प्रतिषेधः । उभयत्राविशिष्टत्वात् । कारणात्मना हि कार्यस्य सत्वमिदानीं च प्रागुत्पत्तेश्चाविशिष्टं पश्यामः । तस्मात् प्रतिषेधमात्रं हीदमसदिति । न त्वस्य प्रतिषेध्यमस्तीत्यनाक्षेप्यमेतद्भवति ।

—प्रश्न होता है कि—

—"यह दृश्यमान प्रपञ्च पहिले सत् ही था"—

इस श्रुति वचन के द्वारा सत्कार्यवाद सुना जा रहा है । यदि शुद्ध शब्द आदि से विहीन चेतन ब्रह्म अचेतन अशुद्ध शब्द आदि से युक्त संसार रूपी कार्य का कारण माना जाये तब तो कार्य रूप संसार अपनी उत्पत्ति से पहिले असत् हो जायगा । इस शंका को काई स्थान नहीं मिल सकता । क्योंकि वह तो निषेध मात्र है । आपका कहना है कि इस तरँह असत्कार्यवाद आ जायगा तो आपसे प्रश्न यह है कि असत् कह कर आप किस सत् पदार्थ के निषेध करने का उपक्रम कर रहे हैं, क्या कार्यात्मा के रूप में सत् का निषेध आप कर रहे हैं या कारण रूप में जो सत् है उसका निषेध आप कर रहे हैं । कार्यात्मा रूप से सत् का निषेध तो किया नहीं जा सकता क्योंकि उत्पत्ति के पहिले के ही समान कार्यकाल में भी उसका प्रतिषेध मात्र ही होगा । इस समय भी यह कार्य कारणात्मा स्वतन्त्र तो कुछ है नहीं ।

—"सब कुछ उसे दे दिया जो आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ जान गया"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा कारण के बिना कार्य का सर्वथा निषेध किया गया है । अब यह कारण के रूप में सत् का प्रतिषध तो नहीं है । क्योंकि यह दोनों ही जगह समान है । कारणात्मा के रूप में कार्य की सत्ता इस समय तथा उत्पत्ति के पूर्व समान रूप से हम देख रहे हैं । इसलिए यह असत् कथन प्रतिषेध मात्र ही है, इसका कोई प्रतिषेध्य न होने से यह आक्षेप रहित है ।

ननु स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वादिधर्मकं हीदं कार्यं यदि ब्रह्मकारणकमिष्येत तर्हि अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसं प्राप्नोति । प्रलयकाले प्रतिसंसृज्यमानं हीदं कार्यकारणाविभागमापद्यमानं सदात्मीयेन धर्मेण कारणं दूषयेदिति ब्रह्मणोऽपि स्थौल्यसावयवत्वादिप्रसङ्गः स्यात् । तदिदमसमञ्जसम् ।

किञ्च अपीतौ सर्वस्यैतस्य सुखदुःखमोहात्मकस्याविभागेन ब्रह्मवदेकरूपत्वप्रसङ्गात् पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद् भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसं दृश्यते ।

किञ्च भोक्तृणां जीवानामपीतौ परब्रह्मणैक्यं गतानां ब्रह्मवद्भावप्रसङ्गादविभागे स्थिते ततो—ब्रह्मणः सकाशात् पुनरुत्पत्तिकाले मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यसमञ्जसं प्राप्नोति।

किञ्च यदि पूर्वोक्तासामञ्जस्यवारणार्थमपीतौ भोक्तृणां जीवानां—भोक्तृवदेव पार्थक्येन स्थितिं कश्चित् प्रसञ्जयेत् तदाऽपीत्याद्यसिद्धिः प्राप्नोतीत्यसमञ्जसं भवति। अत्रोच्यते। न तावदाद्यमसामञ्जस्यं संभवति। दृष्टान्तभावात्। यथा हि पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो नापीतौ पृथिवीमात्मीयेन धर्मेण संसृजति तद्वदिहापि कारणमपि गच्छत्कार्यं नात्मीयेन धर्मेण कारणं दूषयेत्। अथवा-यथायं मायावी मायया स्वयंप्रसारितया त्रिष्वपि कालेषु न स्पृश्यते, मायाया अवस्तुत्वात्, एवमयं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते। यथा वा स्वप्नद्रष्टैकः स्वप्नावस्थाधर्मैर्न स्पृश्यते— प्रबोधकाले तेषामनन्वागतत्वात् एवमवस्थात्रयसाक्षी परमात्मैकोऽपि नैतैरवस्थाधर्मैः स्पृश्यते— इति सामञ्जस्यं सिद्धम्।

पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि स्थूलता, अवयवसहितता, अचेतनता, परिच्छिन्नता, अशुद्धता आदि धर्मों से युक्त यह जो कार्य रूप प्रपंच है, यदि उसका कारण ब्रह्म ही है तब प्रलय में तद्वान् के प्रसङ्ग से असमञ्जसता प्राप्त होगी। प्रलय काल में प्रतिसंसृष्ट होने वाला यह कार्यप्रपञ्च कारण से विभक्त होता हुआ अपने धर्म से कारण को भी दूषित करेगा और तब ब्रह्म की भी स्थूलता, सावयवता यादि प्राप्त होगी और तब असमञ्जस की स्थिति बनेगी।

पुनश्च प्रलय में यह जो सुख दुःख मोहात्मक सारा फैला हुआ प्रपञ्च है वह एक रूप होगा ब्रह्म से, और जब इसकी पुनः उत्पत्ति होगी तब नियम रूपी कारण रहेगा नहीं और तब भोक्ता और भोग्य आदि के विभाग से उत्पत्ति नहीं होगी, वह असमञ्जस की स्थिति होगी।

पुनश्च भोक्ता जो समस्त जीव हैं वे सब ब्रह्म के साथ एक रूप हो जायंगे और ब्रह्म के सद्भाव के प्रसंग से उससे अविभक्त होकर स्थिति होगी, तब उस ब्रह्म से पुनः उत्पत्ति के समय मुक्त पुरुषों की पुनः उत्पत्ति होने का प्रसङ्ग आने से एक नया असमञ्जस उपस्थित होगा।

और फिर पूर्वोक्त असमञ्जस स्थिति को दूर करने के लिए प्रलय काल में भोक्ता जीवों को भोक्ता के समान ही पृथक् स्थिति रहने का कोई समर्थन करने लगे तब तो प्रलयावस्था का स्वरूप ही नहीं बनेगा और नयी असमञ्जस स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

ये सारी जो शंकाए उपस्थित हैं इनका उत्तर दिया जाता है कि पहिली जो असमञ्जस परिस्थिति बतलाई गई उसका कोई प्रसंग नहीं आता। क्योंकि उसका दृष्टान्त मौजूद है। जैसे पृथिवी का विकार रूप चार प्रकार का भूत समूह (जल, तेज, वायु, आकाश) प्रलय अवस्था में पृथिवी को अपने धर्मों से लिप्त नहीं करता वैसे ही प्रलय अवस्था में अपने कारण में समाने वाले कार्य पदार्थ भी अपने धर्मों से कारण को दूषित नहीं करते, अथवा (दूसरा उदाहरण दिया जा रहा है कि) जैसे कोई माया फैलाने-मायावी पुरुष अपनी ही फैलाई हुई माया के द्वारा तीनों कालों में प्रभावित नहीं होता, क्योंकि माया कोई वस्तु है ही नहीं, वैसे ही यह परमात्मा भी संसार की माया के संस्पर्श से पृथक् रहता है। (पुनः एक और उदाहरण) अथवा जैसे कोई स्वप्न देखने वाला स्वप्न की अवस्थाओं में लिप्त नहीं होता क्योंकि जाग्रत् अवस्था तथा स्वप्नावस्था साथ नहीं चलती, इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं का साक्षी एक मात्र परमात्मा इन अवस्थाओं के धर्मों के स्पर्श की सीमा में नहीं आता। इस प्रकार सामञ्जस्य सिद्ध हो जाता है।

यत्तु नियमकारणाभावादसामञ्जस्यमुक्तं तदपि न। दृष्टान्तभावात्। यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादौ स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तावपि पुनः प्रबोधे विभागः प्राग्वदनुवर्तते तद्वदिहापि भविष्यति। तथा च श्रूयते।

—"इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे" इति।

—"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदाभवन्ति" इति।

एतेनैव मुक्तात्मनां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः। सम्यग्ज्ञानेनोत्पत्तिबीजस्य मिथ्याज्ञानस्यापोदितत्वात्।

—"यथाकर्म यथाविद्यम्" —

इति कौषीतकीयश्रुत्या कर्मविद्यानुसारेणैवोत्पत्तेः श्रूयमाणतया विमुक्तौ तदभावेन पुनरुत्पत्तेरप्रसङ्गात्। एवं चतुर्थमप्यसामञ्जस्यं नास्ति, भोक्तृणां ब्रह्मणा कारणेन विभक्त-स्थितेरस्वीकारात्। तस्माद् ब्रह्मणः प्रकृतित्वाभ्युपगमे कथमप्यसामञ्जस्यं नास्तीति सिद्धम्। अत एव च ब्रह्मणः प्रकृतित्वे य इमे प्रदर्शिता आक्षेपास्तेऽप्यनाक्षेप्या इत्यपि सिद्धम्।

जो नियम कारण के अभाव में असमञ्जस स्थिति दिखाई गई वह भी नहीं ठहर सकती। क्योंकि उसके निराकरण के लिए भी दृष्टान्त विद्यमान है। जैसे गहरी निद्रा (सुषुप्ति) या समाधि की अवस्था आदि में स्वाभाविक रूप से अविभाग की स्थिति में

पहुंचने पर भी फिर जागने पर विभाग की अवस्था पूर्ववत् अनुवर्तमान हो जाती है वैसे ही यहां भी होगी। इस विषय में श्रुति वचन भी है कि—

—"यह सारी प्रजा सपन्न होने पर नहीं जानती थी कि वह संपन्न हो रही है, वह यहां व्याघ्र या सिंह या भेडिया या शूकर या कीडा या पतङ्गा या डांस या मशक जो कुछ होती है वह वह हो जाती है"—

इसी तर्क से मुक्त आत्माओं की पुनरुक्ति के प्रसङ्ग में जो प्रश्न उठाया गया था उसका भी उत्तर हो गया। क्यों कि सम्यक् ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने का बीज जो मिथ्या ज्ञान है उसी का दूरीकरण कर दिया गया।

—"कर्मानुसार विद्यानुसार"

इस कौषीतकीय श्रुति के द्वारा कर्म और विद्या के अनुसार ही उत्पत्ति सुनी जाने के कारण विमुक्त पुरुषों में उसका अभाव हो जाने के कारण पुनः उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आता। इसी प्रकार चतुर्थ असमञ्जसता की स्थिति (जो ऊपर कही गई है) भी नहीं आती क्योंकि भोक्ताओं की अपने कारण परब्रह्म से विभक्त स्थिति स्वीकार्य नहीं है। अतः ब्रह्म को प्रकृति या मूल कारण मान लेने पर किसी प्रकार से कोई असमञ्जस की स्थिति नहीं आती, यह सिद्ध हुआ। और ब्रह्म को प्रकृति मान लेने पर जिन आक्षेपों की आशंका की गई थी वे भी निरस्त हो गए।

—स्वपक्षदोषाच्च—

सर्वोऽप्ययं ब्रह्मणः प्रकृतित्वपक्षे प्रदर्शितो दोषः प्रधानप्रकृतित्वपक्षेऽपि तुल्यमेवापतति। तथा हि—शब्दादिमता जगत उत्पत्तौ शब्दादिहीनस्य प्रधानस्यापि प्रकृतित्वं नोपपद्यते विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणाविभागाभ्युपगमात् तद्वत्प्रसङ्ग इत्यसामञ्जस्यमपि समानम्। तदित्थमुभयोः पक्षयोः समाने दोषे पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मप्रकृतित्वपक्षे सर्वे दोषाः समुद्धृताः। प्रधानप्रकृतित्वपक्षे तु तिष्ठन्त्येव ते दोषाः। तस्मात् प्रधानस्य प्रकृतित्वं नोपादेयम्। शास्त्रविरुद्धत्वाच्छुष्कतर्कमात्राधारेणोपकल्पितत्वाच्च।

—तर्काप्रतिष्ठानाच्च—

न निरागमास्तर्काः प्रतितिष्ठन्ति। पुरुषमतिवैरूप्यादुत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्। कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षिता अपि तर्का अन्यैरभियुक्ततरैराभास्यमाना दृश्यन्ते तैरप्युत्प्रेक्षितास्तदन्यैराभास्यन्ते इत्यतस्तादृशैस्तर्कैरुपकल्पिता अर्था न शक्यन्ते सत्यतया समाश्रयितुम्। दृश्यते हि प्रसिद्धमाहात्म्यानामपि तीर्थंकराणां कपिलकणादप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिः।

ननु-अप्यन्यथानुमेयं येनासौ प्रतिष्ठितस्तर्को भवेत् । नापि केऽपि तर्का अप्रतिष्ठिताः सन्तीति कृत्वा सर्व एव तर्का अप्रतिष्ठिता एकान्ततः संभवन्ति । सर्वतर्काप्रतिष्ठायां सर्व-लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येनानागतेऽध्वनि प्रवर्तमानो लोको दृष्यते । श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्द्धारणं तर्केणैव क्रियते ।

—"आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।"

इति ब्रुवन्मनुरपि तर्काधारेणैव श्रुत्यर्थावबोधनमनुजानीते ।

तस्मात् सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कोऽवश्यमाश्रयणीयस्तथाविधतर्कसिद्ध एव चार्थः प्रति-त्तव्य इति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति हि सर्वेषा-मैकमत्येन सिद्धोऽर्थः । सम्यग्ज्ञानेन चैकरूपेण भाव्यं वस्तुतन्त्रत्वात् । वस्तुनि च विप्रति-पत्तौ स्थितायां सम्यग्ज्ञानत्वं नास्तीति निश्चीयते । तर्कज्ञानानां तु परस्परविरोधाद्विप्रति-पत्तिः प्रसिद्धा । यदेकेन तार्किकेण सम्यग्ज्ञानतया प्रतिष्ठाप्यते तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितमपरेण व्युत्थाप्यते । न चायं प्रधानवाद एव सर्वैस्तार्किकैः सत्यतया परिगृहीतो येन तस्य सम्यग्ज्ञानत्वं प्रतिपद्येमहि । वेदस्य तु नित्यत्वाऽद्विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वाच्च तज्ज-नितज्ञानस्य सम्यक्त्वं सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम् । तद्विरोधेन चानिर्द्धारितसम्यक्-त्वस्य प्रधानादिवादस्य सन्दिग्धयाथार्थ्यस्याश्रयणे तत्सम्यक्त्वभ्रमेण प्रवृत्तानां जीवानां संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत ।

—"अथ च स्वपक्ष दोष के काहण (ऐसा सिद्धान्त है)" ।

ब्रह्म के प्रकृतित्व पक्ष में प्रदर्शित उक्त सारे दोष यदि ब्रह्म को प्रकृति न मानकर प्रधान को प्रकृति माना जाय तो उसी रूप में वहां भी आ जाते हैं । जैसे कि शब्द आदि से युक्त जगत् की उत्पत्ति में शब्द आदि से हीन प्रधान नामक तत्व का प्रकृति रूप होना युक्ति संगत नहीं होता, क्योंकि यह विकार प्रकृति से विलक्षण है । अत एव विलक्षण कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार करने के कारण उत्पत्ति के पहिले असतकार्यवाद पूर्व प्रदर्शित आक्षेप की तरह यहां भी समान भाव से विद्यमान है । तथाच प्रलयकाल में कारण और कार्य की विभक्त अवस्था के अभाव में पहिले जैसा प्रसङ्ग आ जाने के कारण जो असमञ्जसता है वह भी समान ही है । जब एक पक्ष में दिखाया गया दोष दोनों पक्षों में समान है तब ब्रह्म को प्रकृति मानने के पक्ष में उन दोषों का उत्तर हो जाने के कारण उस सिद्धान्त में तो इन दोषों की स्थिति रही नहीं परन्तु प्रधान को प्रकृति मानने के पक्ष में तो व दोष अभी भी विद्यमान हैं । इसलिए सदोष हाने के कारण प्रधान नामक तत्व को संसार की प्रकृति या मूल मानना स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि यह शास्त्र के विरुद्ध है और केवल शुष्क तर्क मात्र के आधार पर कल्पित है ।

पुनश्च तर्क के प्रतिष्ठित न होने के कारण (प्रधान को प्रकृति नहीं माना जाता) बिना आगम के तर्क प्रतिष्ठित नहीं होता क्योंकि पुरुषों की मतियां विरूप होती हैं और उत्प्रेक्षाएं निरङ्कुश होती हैं। कुछ प्रमाणिक विद्वानों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक स्थापित किये गए तर्क भी अन्य उनसे भी अधिक प्रामाणिक विद्वानों के द्वारा काट दिये जाते हैं। और उनके द्वारा उठाये गए तर्क उनसे भिन्न विद्वानों के द्वारा विछिन्न कर दिये जाते हैं। इस प्रकार इन तर्कों के सहारे बनाये गए सिद्धान्तभूत अर्थ सत्य रूप से आश्रय के लिए गृहीत नहीं किये जा सकते। देखा जा रहा है कि जिनका महत्व प्रसिद्ध है ऐसे कपिल कणाद आदि आचार्यों, ऋषियों में भी आपस में मतभेद है।

क्यों नहीं हम ऐसे अनुमान का आश्रय लेते जिससे यह तर्क का मार्ग प्रतिष्ठित हो जाय। ऐसा तो नहीं हो सकता कि कुछ तर्क प्रतिष्ठित नहीं हो सके तो सारे तर्क पूर्णतया अप्रतिष्ठित हो रह जायेंगे। यदि सभी तर्क अप्रतिष्ठित मान लिये जायेंगे तब तो सारे ही व्यवहारों के लुप्त होने का खतरा खड़ा हो जायेगा। भूत काल और वर्तमान काल के व्यवहारिक मार्गों के आधार पर ही भविष्य के मार्ग पर चलने की संसार को प्रक्रिया देखने में आ रही है। श्रुति के अर्थ के विषय में विप्रतिपत्ति (सन्देह) होने पर तर्क के द्वारा ही मिथ्या का निराकरण करते हुए सत्य के रूप निश्चय में सहायता ली जाती है।

—"ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट धर्मों का अनुसन्धान जो व्यक्ति वेद और शास्त्र से विरोध न रखने वाले तर्कों के आधार पर करता है, केवल वही धर्म के मर्म को जानता है, इतर नहीं"—

ऐसा कहते हुए भगवान् मनु भी श्रुति के अर्थ के परिज्ञान के लिए तर्क का आधार ग्रहण करने की आज्ञा दे रहे हैं।

अत: सदोष तर्क के परित्याग पूर्वक निर्दोष तर्क का आश्रय अवश्य लेना चाहिए और निर्दोष तर्क के आधार पर समझ हुए अर्थ को अपने व्यवहार का आधार बनाना चाहिए, ऐसा कहे जाने पर भी रास्ता साफ होता नहीं दिखाई देता। (मोक्ष ही चरम लक्ष्य है जीवन का) मोक्ष सम्यक् ज्ञान से ही मिल सकता है इसे सभी विचारक आचार्यगण स्वीकार करते हैं। सम्यक् ज्ञान जानने वाले पर आधारित न होकर ज्ञेय वस्तु पर आधारित है (उसे वस्तु तन्त्र कहते हैं) और वह सम्यक् ज्ञान सभी ज्ञाताओं को एक ही रूप का होना चाहिए।

क्यों कि ज्ञाता के भेद से तो ज्ञान में, उसके वस्तु तन्त्र होने के कारण भेद आ ही नहीं सकता।

और जब वस्तु ही (जिसके आधार पर सम्यक् ज्ञान प्रतिष्ठित है) विप्रतिपत्ति (सन्देह) के घेरे में पड़ी है तो सम्यक् ज्ञान ही नहीं है यह निश्चय करना पड़ता है।

तर्क से प्राप्त ज्ञान तो परस्पर विरुद्ध हुआ करते हैं, अतः उनसे होने वाली विप्रतिपत्ति (सन्देहात्मकता) प्रसिद्ध है। किसी तार्किक विद्वान् के द्वारा जो एक सम्यक् ज्ञान प्रतिपादित किया जाता है उसे दूसरा तार्किक विद्वान् अपने तर्कों से उखाड़ फेंकता है। उस के द्वारा प्रतिष्ठापित ज्ञान को फिर अन्य तार्किक विद्वान् उखाड़ फेंकता है। और ऐसा भी नहीं है कि यह प्रधानवाद (मूलप्रकृतिवाद) सभी तार्किकों के द्वारा सत्यरूप से स्वीकार कर लिया गया हो, जिससे कि हम उसे निर्भ्रान्ति सत्य ज्ञान के रूप में स्वीकार कर सकें। वेद तो नित्य हैं और आदि ज्ञान के जनक हैं, अतः उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान की सत्यता को तो सभी तार्किक छुपा नहीं सकते। वेद के विरोध में खड़े हुए जिस ज्ञान की सत्यता निश्चित नहीं है ऐसे प्रधान कारणता आदि वादों की यथार्थता सन्दिग्ध है तब उस आधार पर सत्य ज्ञान के भ्रम से प्रवृत्त होने वाले जीवों का संसार से मोक्ष का प्रसंग नहीं आ सकता, यह असमाधेय विप्रतिपत्ति है।

किञ्च प्रतिसञ्चरक्रमे कार्याणां कारणे लयो दृष्टः। तथा च प्रधानस्य प्रकृतित्वे सर्वेषामेषां कार्यकारणादिविकारजातानां प्रधाने लयोऽभ्युपगम्येत नत्वात्मनि। आत्मवेदनातिरिक्तस्य च प्रकारस्य मोक्षमार्गत्वं नास्तीति श्रुतिः प्राह।

—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति"—

तस्मात् प्रधानप्रकृतित्ववादे स्वीकृते सत्यविमोक्षप्रसङ्गः स्यात्। अतः श्रुतिविरुद्धः प्रधानप्रकृतित्ववादो नाभ्युपगन्तव्यः। एतेन शिष्टापरिग्रहा अण्वादिकारणवादा अपि व्याख्याताः। तेषां शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीतत्वात् तर्कनामात्रसारत्वाद् वेदविरुद्धत्वाच्च। स यथा प्रधानकारणवादः कपिलाद्युत्प्रेक्षितः प्रत्याख्यात एवमिमेऽण्वादिकारणवादा अपि कणादाद्युत्प्रेक्षिताः प्रत्याख्याता वेदितव्याः। इति कार्यकारणयोः साधर्म्यवैधर्म्यवादः।

दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि प्रलयावस्था के विचार में क्रम के अनुसार कार्य पदार्थों का अपने कारण में लय होना देखा जाता है। यदि प्रधान को आदि कारण माना जायगा तब सभी कार्य कारण आदि विकार समूह का प्रधान में लय होगा, न कि आत्मा में। आत्म ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का और कोई भी मार्ग है ही नहीं, यह श्रुति की घोषणा है—

—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—

—"उस को जान कर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है, जन्म मरण शृंखला से बाहर होने के लिए (मुक्त होने के लिए) अन्य कोई मार्ग ही नहीं है"—

इसलिए प्रधान को मूल प्रकृति या आदिकारण मानने पर मोक्ष की प्राप्ति असंभव हो जायगी। इसलिए प्रधान को आदिकारण मानने का मत श्रुति विरुद्ध होने के

कारण स्वीकरणीय नहीं है । इसी ऊहापोह से शिष्टों के द्वारा अस्वीकृत परमाणु कारण-वाद आदि का भी मूल कारण के रूप में स्वीकार किये जाने के पक्ष का उत्तर हो गया । क्योंकि मनु व्यास आदि शिष्टों में से किसी ने भी परमाणु कारण वाद को अंशतः भी ग्रहण नहीं किया है । ये तर्क मात्र का क्षणिक आनन्द देने के लिए हैं और वेद प्रतिपादित तत्त्व के विरुद्ध हैं । जिस प्रकार कपिल आदि के द्वारा सोचा गया प्रधानकारणवाद निरस्त किया गया उसी प्रकार कणाद आदि के द्वारा परमाणु आदि कारणवाद प्रत्याख्यात समझ लेना चाहिए ।

—"भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्, स्याल्लोकवत्"—[२।१।१३]

ननु यदि ब्रह्मकारणवादोऽभ्युपगम्येत तर्हि कार्यकारणयोरनन्यत्वस्य वक्ष्यमाणतया सर्वेषामेषां भोग्यजातानां भोक्त्रापत्तिः प्रसज्यते । भोक्ता चेतनः शारीर आत्मा । भोग्यास्तु शब्दादयो विषया इति हि तयोर्विभागेनास्ति लोकशास्त्रप्रसिद्धिः । तत्र चेतनस्य भोक्तुः प्रकृतित्वाभ्युपगमे भोक्तैव भोग्यभावमापद्येत । तथा चायं भोक्तृभोग्ययोरविभागः प्रसज्येत इति चेत् तत्रोच्यते । स्याल्लोकवत् । लोके यथा दृश्यते समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनां परस्परविभागः परस्परसंश्लेषादिलक्षणव्यवहारश्च एवमिहापि भविष्यति । तस्माद् ब्रह्मणः प्रकृतित्वे नानुपपत्तिरिति सिद्धम् ।

इति ब्रह्मकारणवादः ।
कार्यकारणविभागव्यवहारवादश्च ।
कार्यकारणयोर्व्यावहारिकभेदवादः ।
—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"—[२।१।१४]
—"भावे चोपलब्धेः"—[२।१।१५]
—"सत्वाच्चावरस्य"—[२।१।१६]
—"असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्"—[२।१।१७]
—"युक्तेः शब्दान्तराच्च"—[२।१।१८
—"पटवच्च"—[२।१।१९]
—"यथा च प्राणादि"—[२।१।२०]

कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत् । कारणं तु परं ब्रह्म । तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वं बोध्यम् । आरम्भणशब्दादिभ्यो हेतुभ्यः । तथा हि—

—"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भिणंवकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—

—"यदि अविभाग में भोक्ता की आपत्ति हो तो, लोक दृष्टान्त से समाधान होता है"—[२।१।१३]

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि संसार का आदि कारण परब्रह्म को माना जा रहा है तब यह सिद्धान्त भी आगे प्रकट किया जाने को है कि कार्य और

कारण मूलतः भिन्न नहीं होते, उस स्थिति में समस्त भोग्य वस्तुएं भोक्ता भी सिद्ध हो जायेंगी। शरोर स्थित चेतन आत्मा भोक्ता माना गया है। उससे भिन्न शब्द आदि विषय भोग्य माने गए हैं यह लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध है। अब यहां यदि चेतन भोक्ता को ही प्रकृति माना जाता है, उनका भोक्ता से विभाग तो (काय कारण के अभिन्न होने से) भोक्ता हो भोग्य भाव को भी प्राप्त होगा और इस प्रकार हो जायगा भोक्ता और भोग्य पदार्थों में अभेद, यह जो सन्देह उठ खडा हो रहा है, उसके समाधान के लिए कहा जाता है कि—यह भी लोक दृष्टान्त से ही समझ लेने लायक बात है। लोक में देख रहे हैं हम कि समुद्र से उसका जल पृथक् नहीं है फिर भी जल के विकार जो फेन वीची तरङ्ग बुद्बुद आदि हैं उनमें परस्पर विभाग है, वे एक दूसरे से मिले हुए भी रहते हैं, अलग अलग भी हो जाते हैं, वैसे ही व्यवहार भी उनके साथ होते हैं। वैसा ही यहां भी होगा। अतः ब्रह्म को प्रकृति मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, यह सिद्ध हुआ।

यह निरूपित हुआ ब्रह्म कारण वाद।

कार्य कारण के विभाग के साथ व्यवहारवाद व्याख्यात हुआ।

और निरूपित हुआ कार्य और कारण का व्यवहार दशा में भेदव्यवहारवाद।

—"आरम्भण शब्द आदि से उससे अनन्यता है"—[२/१/१४]

—"और भाव में उपलब्धि के कारण"—[२/१/१५]

—"तथा अवर के सत्व के कारण"—[२/१/१६]

—"असत् के कथन से नहीं है ऐसा नहीं धर्म के द्वारा वाक्य शेष से"— [२/१/१७]

—"तथा अन्य शब्द से युक्ति के कारण"– [२/१/१८]

—"पुनश्च पट के समान"—[२/१/१९]

—"जैसे प्राण आदि"– [२/१/२०]

आकाश से प्रारम्भ करके बहुत से प्रपञ्च में फैला हुआ जगत् कार्य है और कारण तो परब्रह्म है। इन दोनों कार्य और कारण का अनन्यत्व, अभिन्नत्व समझना चाहिए। इस समझने के हेतु है आरम्भण आदि शब्द। उदाहरणार्थ—

—"हे सौम्य, जैसे एक मिट्टी के पिण्ड (लौंदे) के ज्ञान से समस्त मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा, विकारों का तो व्यवहार के लिए केवल नाम रक्खा और लिया जाता है। सत्य तो मिट्टी के बने पदार्थों में केवल मिट्टी ही है।"—

इत्यादि—श्रुतावारम्भणशब्दादिदृष्टान्तप्रयोगेण दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभावो बोध्यते। अयं भावः। एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत् यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति। न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। एवं ब्रह्मैव सत्यमिति सिद्धया सर्वेषां विकारजातानां ब्रह्मणोऽनन्यत्वं सिद्धं भवति। किञ्च—

—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। तत्सत्यं स आत्मा"—

—"तत्त्वमसि"—

—"इदं सर्वं यदयमात्मा"—

—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—

—"आत्मैवेदं सर्वम्"—

—"नेह नानास्ति किञ्चन"—

इत्यादिभिः श्रौतवचनैः स्पष्टमेषां ब्रह्मतादात्म्यमादिश्यते। तथा च यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशादनन्यत्वं यथा वा मृगतृष्णोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेण त्वनुपाख्यत्वात्। एवमस्य भोक्तृभोग्यादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मानन्यत्वं द्रष्टव्यम्।

इत्यादि श्रुति वाक्यों में आरम्भण शब्द आदि के दृष्टान्त भूत प्रयोगों में दार्ष्टान्तिक में भी ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त कार्यों का अभाव बाधित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि एक मिट्टी के पिण्ड को मिट्टी के आत्मा रूप में समझ लेने पर समस्त मिट्टी घडा, शकोरा, पुरवा, सुराही, कूंडी आदि वस्तुएं मिट्टी की आत्मा से अविशिष्ट ज्ञात हो जातीं हैं, जो विकार रूप वस्तुएं है, घडा, सुराई, शकोरा, कूँडी आदि आदि, ये उनके वाणी का व्यवहार चलाने के लिए नाम मात्र रक्खे गए हैं, वास्तव में तो विकार कोई मिट्टी से अलग पदार्थ नहीं है। जितने भी नाम करण किये जाते हैं वे सभी मिथ्या हैं मिट्टी के पात्रों में केवल मृत्तिका ही उनमें सत्य है। इस दृष्टान्त से ब्रह्म ही सत्य है यह सिद्ध हो जाने पर समस्त विकार समूह की ब्रह्म से अनन्यता है यह सिद्ध होता है। फिर यह भी देखा जा रहा है कि—

—"यही सब प्रपंच की आत्मा है"—

—"यह सत्य है, वह आत्मा है"—

—"वह तुम हो"—

—"यह सब कुछ जो है, वह आत्मा है"—

—"यह सब कुछ ब्रह्म ही है"—

—"यह सारा प्रपंचात्मक विश्व आत्मा ही है"—

—"यहां कुछ भी भिन्न भिन्न अवस्था में (नाना) नहीं है"—

इत्यादि श्रुति वचनों से स्पष्ट रूप से इन सबका ब्रह्म के साथ तादात्म्य आदिष्ट हो रहा है।

निष्कर्ष यह कि जैसे घडे, कुल्लड आदि में समाया हुआ आकाश महाआकाश से अनन्य है, एक रूप है अथवा जैसे मृगतृष्णा आदि का पानी बालू से अभिन्न है, क्योंकि इनका स्वरूप देखने के साथ ही नष्ट हो जाने वाली है और स्वरूपतः ये अनुपाख्य या अनिर्वचनीय है, या शब्द से न कहे जा सकने योग्य हैं, इसी प्रकार इस भोक्ता और भोग्य रूप वाले प्रपञ्च को भी ब्रह्म से अनन्य समझना होता है।

स एष खलु सर्वात्मैकत्वविषयावगम एवास्य ब्रह्मशास्त्रस्य मुख्यतात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः। शक्यते चेयमेकत्वबुद्धिः कर्त्तुम्।

—'तद्धास्य विजज्ञौ'—

इति श्रुत्या तथावगमात्"—

—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य"—

इति श्रुत्या च श्रवणमनननिदिध्यासनानां तथावगमोपायत्वं बोध्यते। तदित्थमद्वैतवादात्मकं स्वमतमत्रैव सूत्रे शङ्करेण प्रकल्प्य बहुधा प्रपञ्चितमित्यवधेयम्।

अब यह निश्चय है कि सब का आत्मा एक ही है इस विषय का ज्ञान ही इस ब्रह्म शास्त्र या वेदान्त शास्त्र का मुख्य तात्पर्य विषयीभूत अर्थ है। और यह एकत्व बुद्धि प्राप्त करना सर्वथा संभव है।

—"उसको वह ज्ञान प्राप्त हुआ" —

इस श्रुति से यह ज्ञात हो रहा है। तथा—

—"अरे, निश्चय ही आत्मा को देखना चाहिए, उसके विषय में सुनना चाहिए, उसका निदिध्यासन उचित है"—

इस श्रुति वाक्य से श्रवण, मनन, निदिध्यासन को उस प्रकार के ज्ञान का उपाय बतलाया गया है। और इस प्रकार अपने अद्वैत नामक मतवाद की श्री शंकराचार्य ने कल्पना कर का उसका अनेक प्रकार से विस्तार किया है यह समझ लेना चाहिए।

—"भावे चोपलब्धेः"—

कारणसत्वे हि कार्यसत्वं पश्यामः। कारणाभावे तु कार्यं नोपलभ्यते। सत्यां हि मृदि घट उपलभ्यते नासत्याम्। सत्सु च तन्तुषु पटो नासत्सु यदि कार्यकारणयोर्भेदोऽभविष्यत् तर्हि कारणाभावेऽपि कार्यमुपलभ्येत। गोरन्योऽयमश्वो गोरभावेऽप्युपलभ्यते नैवं कारणाभावे कार्यमुपलभामहे। तस्मात् कार्यमित्यनन्यत्वं कार्यकारणयोरध्यवस्यामः। अथवा—भावाच्चोपलब्धेरिति वदामः। कारणे कार्योपलब्धेर्भावात् कारणाव्यतिरिक्तं कार्यमित्यवगच्छामः। तद्यथा तन्तुसंस्थाने तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। एवं तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं च ततः परं ब्रह्मैवाद्वितीयमित्येवं सर्वेषां विकाराणां ब्रह्मणि निष्ठा। तस्माद्ब्रह्मैवेदं सर्वमिति सिद्धम्।

—"भाव में उपलब्धि के कारण"—

कारण की सत्ता होने पर ही हम कार्य की सत्ता को देखते हैं। क.रण के अभाव होने पर तो कार्य का कहीं पता नहीं चलता। जब मिट्टी होगी तभी घड़ा दिखाई देगा, यदि मिट्टी न होगी तो घड़ा भी नहीं मिलेगा। जब तन्तु होंगे, तभी वस्त्र की सत्ता दिखाई देगी, तन्तु यदि न हुए तो वस्त्र नहीं मिल सकता। अब यदि कार्य और कारण में भेद है तब तो कारण के न होने पर भी कार्य को होना चाहिए। गौ से अश्व भिन्न है, वह गौ के न रहने पर भी उपलब्ध है, वैसे तो हम कारण के अभाव में कार्य को नहीं पाते। इसलिए कारण ही कार्य है इस प्रकार कार्य और कारण की अनन्यता या अभेद ज्ञात होता है। अथवा हम

—"भाव से उपलब्धि होने के कारण"—

यह कहते हैं। इसका तात्पर्य है कारण में कार्य की उपलब्धि होने के भाव से कारण से कार्य अभिन्न है ऐसा समझते हैं। जैसे तन्तुओं के विस्तार में तन्तुओं को यदि पृथक् कर लिया जाय तो पट नाम की कार्य रूप वस्तु उपलब्ध नहीं होगी, केवल आतान वितान (ताना बाना) से युक्त तन्तु ही उपलब्ध होंगे, उसी प्रकार तन्तुओं में कारण के रूप में अंशु उपलब्ध होंगे और अंशुओं में उसके अवयव उपलब्ध होंगे। इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से मिलेंगे लाल, सफेद, काले तीन रंग, उसके बाद मिलेगा वायुमात्र, फिर मिलेगा आकाश मात्र, उसके आगे उसमें अनुस्यूत मिलेगा परम अद्वितीय ब्रह्म, इस प्रकार समस्त

विकारों की निष्ठा या स्थिति ब्रह्म में हो सिद्ध हो रही है। इसलिए सिद्ध यह हुआ कि यह जो भी कुछ दृश्यमान है वह सब ब्रह्म ही है।

ननु पूर्वं कारणमासीत्, अवरे च कार्यमुत्पद्यते कार्यकाले, च कार्यमुपलभ्यते कारणं च। किन्तु कार्योत्पत्तेः प्राक्कारणमेवासीत् न कार्यम्। अत एव यथा कारणासत्वे कार्यासत्वं पश्यामः तथा कार्यासत्वे कारणासत्वं न पश्याम इति वैषम्यम्। यदि कार्यकारणयोरनन्यत्वं स्यात् तदेदं वैषम्यं नानुभूयेत इति चेन्न। कार्योत्पत्तेः प्रागपि सत्वाच्चावरस्यास्य कार्यस्य कारणानन्यत्वावगमात्, तथा हि श्रूयते।

—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति"—

—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदिति"—

—तत्रेदं शब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणात्मनावस्थानं श्रावयन् कार्यकारणयोर्जगदीश्वरयोरनन्यत्वं बोधयति। अथवा–कारणसत्तयैव सत्वाच्चावरस्य कार्यस्य कारणानन्यत्वमध्यवस्यामः। न ह्युष्णीषपटतन्तुतूलमृत्तिकानामन्यान्या सत्ताऽध्यवसीयते परीक्षकैर्लौकिकैर्वा। एकया मृत्तिकासत्तयैवावरेषां तूलादीनां सत्वोपगमात्। यस्य सत्तया ये सत्तावन्तस्तेषां तदनन्यत्वं संप्रतिपत्तिसिद्धमित्यनन्यत्वं कार्यकारणयोः सिद्धम्।

प्रश्न होता है कि पहिले कारण रहता है, बाद में कार्य उत्पन्न होता है, कार्य के काल में कार्य और कारण दोनों उपलब्ध रहते हैं। परन्तु कार्य की उत्पत्ति के पहिले केवल कारण ही था कार्य नहीं। इसीलिए जैसे कारण के अभाव में हम कार्य का अभाव देखते हैं उस प्रकार कार्य के अभाव में कारण का अभाव नहीं देखते यह विषमता रहती है। यदि कार्य और कारण अभिन्न रहेंगे तब इस विषमता का अनुभव नहीं होगा, इस शंका का उत्तर निषेध में ही जाता है। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य है और बाद में उत्पन्न होने वाला कार्य अपने पूर्व की स्थिति कारण से अनन्य हो कर रहता है। इस सिद्धान्त में श्रुति प्रमाण है कि—

—"हे सौम्य, यह कार्य प्रपंच पूर्व में (उत्पत्ति के पूर्व) सत् ही था"—

—"निश्चय ही प्रारंभ में एक मात्र यह आत्मा ही था"—

इस प्रकार शब्द से गृहीत कार्य प्रपंच का अपनी कारणावस्था में स्थिति या अस्तित्व सुनाते हुए कार्य और कारण रूप जगत् और ईश्वर की अनन्यता बतलाई जा रही है। अथवा कारण की सत्ता के द्वारा ही स्थितिमान् होने से अनन्तर उत्पन्न होने वाले कार्य को हम कारण से अभिन्न या अनन्य समझते हैं। न तो विशेषज्ञ परीक्षक और नहीं सामान्य लोग पगड़ी, कपड़ा, धागे, रूई, मिट्टी आदि को अलग अलग सत्ता मानते हैं

क्योंकि एक मृत्तिका की सत्ता से ही आगे की रुई आदि की सत्ता का ग्रहण होता जाता है।

जो कपड़ा हमने धारण कर रखा है, वह एक सत्ता हुई, उसके कारण उसके धागे अभी भी उसमें हैं, उनकी अलग सत्ता हुई, धागों का कारण रुई अभी भी कपड़े में है, यह तीसरी सत्ता हुई, रुई का कारण मिट्टी है, यह चौथी सत्ता हुई, परन्तु जो कपड़ा हम पहिने हैं, उसमें इन चार चार या इससे अधिक सत्ताओं को कोई नहीं गिनता, कारण की सत्ता कार्य में अभिन्न होकर गिनी जाती है, इसलिए एक ही सत्ता से सभी की सत्ता गृहीत होती है।

जिसकी सत्ता से जो सत्तावान् हैं उनकी उनसे अनन्यता रहती है यह युक्ति सिद्ध या अनुभव सिद्ध है, और इस प्रकार कार्य तथा कारण अनन्य हैं, अभिन्न हैं, यह सिद्ध हुआ।

अथवा यदि कार्योत्पत्तेः प्रागपि कारणावस्थया कार्यस्य सत्वं न स्यात्तदा प्रागुत्पत्तेरविशिष्टे सर्वत्र सर्वस्यासत्वे सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिः प्रसज्येत दधिघटरुचकादीनां प्रतिनियतान्येव क्षीरमृत्तिका-सुवर्णादीनि कारणानि नोपपद्येरन्। अथाविशिष्टेऽपि प्रागसत्वे क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायामिति चेदुच्यते, तदाऽतिशयवत्वात् प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च लभ्यते। तेन कार्यकाले यथा कार्यस्य कारणानन्यतया सत्वं तथा कार्योत्पत्तेः प्रागपि सत्वाच्चावरस्य कारणेनानन्यत्वमुपपद्यते। ननु असद्व्यपदेशान्न प्रगुत्पत्तेः कार्यस्य सत्वं शक्यमास्थातुम्। श्रूयते हि—

—असदेवेदमग्र आसीदिति।

—"असद्वा इदमग्र आसीदिति च कार्योत्पत्तेः प्रागसत्वेन कार्यव्यपदेश इति चेन्न। धर्मान्तरेण व्यपदेशात्।

—व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं भवति। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। तद्वैधर्म्यात्तु तस्योत्पत्तेः प्रागसद्व्यपदेशो न तु तस्यात्यन्तासत्वाभिप्रायेण।

—"वाक्यशेषात्"—

—"तथैवागमात्। यदि तस्यात्यन्तिकमसत्वमभिप्रेतभविष्यत् तदा असदेवेदमग्र आसीदित्यत्र वाक्यशेषे"—

—"आसीदिति"—शब्दं नावक्ष्यत्। असतोऽर्थस्यासीच्छब्देनाभिनेतुमयोग्यत्वात्। "तत्सदासीदिति"। च वाक्यशेषे नावक्ष्यत्, असतः सच्छब्देन समाकर्षायोग्यत्वात्।

—"तदात्मानं स्वयमकुरुत"।

—इति च वाक्यशेषे नावक्ष्यत् । असतः स्वयमात्मकरणायोग्यत्वात् ।

यदि कार्य रूप पदार्थ की उत्पत्ति के पहिले भी कारण की अवस्था के द्वारा कार्य की स्थिति न मानी जाय तब तो उत्पत्ति के पहिले सब कार्यों का सभी कारणों में असत्त्व समान रहने के कारण सभी से सभी की उत्पत्ति होने लगेगी। और इस प्रकार, दही, घडा, आभूषण आदि के जो प्रत्येक के नियत कारण है, दूध, मिट्टी, सोना आदि उन्हें भी इनका कारण मानने में कोई युक्ति नहीं रह जायगी। अब पहिले कारण में कार्य की सत्ता न रहने पर भी दूध का दही के निर्माण में ही कोई अतिशय है, वैसा अतिशय दही के लिए मिट्टी में नहीं है, यदि यह कहा जाय तब प्रागवस्था के अतिशय युक्त होने के कारण असत्कार्यवाद तो खतरे में पड़ जायगा और सत्कार्यवाद की सिद्धि हो जायगी। अतः कार्य काल में जैसे कार्य कारण से अभिन्न होकर सत्तावान् है, वैसे ही कार्य अवस्था से पहिले भी वह कारण में विद्यमान है अतः कार्य से अभेद युक्तियुक्त हो जाता है। प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि असत् के कथन के कारण कार्य की उत्पत्ति से पूर्व (कार्य कारण रूप में सत् है इस प्रकार) सत् नहीं माना जा सकता। श्रुति कहती है—

—"यह सब कुछ प्रारभ में असत् ही था"

—"अथवा यह संसार प्रारंभ में असत् था"—

इन वाक्यों में उत्पत्ति से पहिले कार्य को असत् बतलाया गया है तो यह प्रश्न निराधार है। क्योंकि यहां अन्य धर्म से कथन है। स्पष्ट नाम और रूप वाले धर्म से अस्पष्ट नाम और रूप वाला भिन्न धर्म होता है। नाम और रूप से स्पष्ट वस्तु संसार में सत् शब्द से कही जाती है, यह प्रसिद्ध है। उत्पत्ति से पूर्व वस्तु स्पष्ट नाम रूप वाली न होने से असत् शब्द से कही जाती है न कि वहां असत् शब्द का अर्थ वस्तु का अत्यन्ताभाव होना है। क्योंकि अवशिष्ट वाक्य से ऐसा ही ज्ञात हो रहा है। यदि कार्य की कारण अवस्था में अत्यन्त असत्ता अभीष्ट होती तो

—"असदेवेदमग्र आसीत्"—

(यह प्रारंभ में असत् ही था) इस वाक्य के अन्तिम भाग में (शेष भाग में) "आसीत्" (था) शब्द न कहा गया होता। जो था ही नहीं उसके लिए "आसीत्" (था) यह कहना तर्क सिद्ध नहीं है। और—

—"वह सत् था"—

(तत्सदासीत्) यह भी शेष वाक्य में न कहा गया होता। क्योंकि 'असत्' का खिंचाव सत् शब्द से करना अयुक्त है। वाक्य शेष में—

—"उसने अपने को स्वय किया"—

यह भी न कहा गया होता। क्योंकि असत् स्वयं को कैसे बना सकता है।

—"युक्तेश्च"—

- प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्वमनन्यत्वं च कारणादवगच्छामः। यथोक्तं सांख्यवृद्धैः—

—"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।

—शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्"—

—इति। बह्व्यश्चात्र युक्तयः सत्कार्यवादे प्रदर्शिताः शंकरेण। तेन वैषम्या-नुपपत्तेरनन्यत्वमेव कार्यकारणयोरध्यवस्यामः।

—शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते।

—असदेवेदमग्र आसीदित्येवमसद्व्यपदेशी शब्दो यथा श्रूयते तथैव खलु शब्दान्तर-मपि श्रूयते येन सद्व्यपदेशं कर्तुं प्रभवामः—

—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय"।

—मिति। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात् पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात् तदा तदन्यत्कारणात्स्यात्। तत्र येनाश्रुतं श्रुतं भवतीतीयं प्रतिज्ञा नोपपद्येत। सत्वा-नन्यत्वावगत्यैव तस्याः समर्थनीयत्वात्। तस्मात् सत्वमनन्यत्वं च कार्यस्य कारणेनेष्टम्।

युक्ति से भी हम समझते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य की सत्ता है और उस अवस्था में भी वह कारण से अभिन्न है। जैसा कि सांख्य दर्शन के आचार्यों ने कहा है कि—

—"असत से उत्पत्ति नहीं होने के कारण, (कार्य के लिए) उपादान कारण के ग्रहण करने के कारण, सबसे सब उत्पन्न न होने के कारण, शक्ति वाले से ही शक्य पदार्थ के द्वारा ही शक्य कार्य के उत्पादन के कारण तथा कारण के रूप में नियमित होने के कारण कार्य वस्तु (अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में) सत् है।"—

यहां सत्कार्य वाद के विवरण में श्री शंकराचार्य ने बहुत सी युक्तियों का प्रस्तुती-करण किया है। अतः वैषम्य से बचने के लिए कार्य और कारण का अभेद ही मानना आवश्यक हो जाता है, ऐसा हम समझते हैं।

यह बात अन्य शब्दों से भी ज्ञात होती है।

—"यह पहिले प्रारम्भ में असत् ही था"—

जैसे इस मन्त्र में असत् का नाम सुना जा रहा है वैसे ही दूसरा शब्द भी सुना जा रहा है जिसका सत् नाम हम देख रहे हैं—

—'हे सौम्य, यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही प्रारम्भ में था"—

यदि उत्पत्ति के पहिले काय असत् हो तथा उत्पन्न होने के अनन्तर अपने कारण से समन्वित हो तब वह अपने पूर्व कारण से होगा तथा वह कारण से भी भिन्न ही रहेगा। तब वहां—

—"जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है" —

यह प्रतिज्ञा नहीं ठहरेगी। क्योंकि इसका समर्थन तो उसको सत् से अभिन्न मान कर ही किया जाता है। अतः कार्य का (अपनी उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति में) कारण में सत् होना और उससे अभिन्न रहना सिद्ध हुआ।

—"पटवच्च"—

यथा वा संवेष्टितः पटो व्यक्तं न गृह्यते किमयं पटो वाऽन्यद् द्रव्यं वेति। प्रसारणेन त्वभिव्यक्तौ पूर्वस्य संवेष्टितावस्थस्य पटत्वं गृह्यते। यथा वा संवेष्टनसमये पट इत्येवं गृह्यमाणोऽपि न स विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते। प्रसारणसमये पुनस्तथा गृह्यते। तथा च न संवेष्टितरूपादयं भिन्नः पट इति प्रतिपद्यते। एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादि-कार्यमस्पष्टं सत्तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापाराभिव्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। तदित्थं पटवत् सर्वत्रानन्यत्वं कार्यकारणयोरध्यवसीयते।

—यथा च प्राणादि -

—प्राणायामादिनिरुद्धं कारणमात्ररूपेणावस्थितं यदा भवति तदा तत्र नाकुञ्च-नप्रसारणादिकं कार्यान्तरं दृश्यते। अथ निरोधाभावे पुनः प्रवर्तमाने तस्मिन् प्राणादौ तदाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यं निवर्त्यते। न चैषां प्राणप्रभेदादीनां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वमुपपद्यते समीरणस्वभावाविशेषात्। एवं सर्वत्र कार्यस्य कारणादनन्यत्वमव-गन्तव्यम्। तेनास्य जगतोऽपि कार्यस्य कारणात् परब्रह्मणोऽनन्यत्वं सिद्धम।

—इति सत्कार्यवादः। कार्यकारणभेदवादश्च। कार्यकारणयोः पारमार्थिका-भेदवादः।

इसी सन्दर्भ में पट का भी दृष्टान्त है। जैसे तह किया हुआ कपड़ा झट से समझ में नहीं आता कि यह कपड़ा है या और कुछ, जब उसे खोलकर फैलाया जाता है तब उस विस्तार को देखने पर ज्ञात होता है कि जो तह में लिपटी हुई अवस्था में यह था वह कपड़ा था; यह भी होता है कि कपड़ा तह की हुई स्थिति में केवल कपड़ा है इतना

समझ में आने पर भी वह कितना लम्बा चौड़ा है यह तह की हुई अवस्था में समझ में नहीं आता परन्तु जब उसे खोल कर फैलाया जाता है तब उसकी लम्बाई चौड़ाई का विस्तार समझ में आता है । इतनी प्रक्रिया होने पर यह नहीं समझा जाता है कि तह की हुई अवस्था वाला कपड़ा इस फैली हुई अवस्था वाले कपड़े से अलग भिन्न था । जरा और आगे बढ़िये । अपनी धागे की स्थिति में जो कपड़ा है (अपनी कारण अवस्था में कार्य की जो स्थिति है) वह अस्पष्ट है — (कदाचित् इसी अस्पष्ट अवस्था का नाम असत् है ... अनुवादक) धागों में स्थित कपड़ा, ताने बाने, जुलाहे (मशीनों) आदि कारकों के प्रयत्न से अभिव्यक्त होकर स्पष्टतया गृहीत हो रहा है और इस प्रकार कपड़े की ही तरँह सर्वत्र कार्य और करण के अभेद का ग्रहण हो जाता है ।

और जैसे प्राण आदि की स्थिति होता है । सबका कारण परमब्रह्म जब प्राणायाम आदि से निरुद्ध होता है तब वहां आकुञ्चन या संकुचन और प्रसारण या फैलाव जैसे दूसरे कार्य दिखाई नहीं देते । और जब प्राणों का अवरोध हट जाता है और प्राण आदि पुनः अपना काय करने लग जाते हैं तब उनका आकुञ्चन और प्रसारण आदि भी सम्पन्न होने लगता है । ये जो प्राण के प्रभेद हैं वे अपने भेद वाले प्राण से पृथक् नहीं होते क्योंकि जो समीरण का स्वभाव है वह प्राण और प्रभेदों में समान रूप से विद्यमान है । इसी प्रकार सर्वत्र कार्य का कारण से अभिन्नता का निश्चय करना होता है । यह जगत् भी कार्यरूप है अतः इसकी भी अपने कारण स्वरूप परब्रह्म के साथ अभिन्नता सिद्ध हो रही है ।

यह हुआ सत्कायवाद, तथा कार्य कारण भेद वाद और पारमार्थिक दृष्टि स कार्य और कारण का अभेदवाद ।

—"इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः"—[२।१।२१]

—"अधिकं तु भेदनिर्देशात्"—[२।१।२२]

—"अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः"—[२।१।२३]

—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि" ति तैत्तिरोयश्रुतेः,—

—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—

—इति छान्दोग्यश्रुतेश्च सर्वस्वतन्त्रस्य जगत्सृष्टुर्ब्रह्मण एवेतरेण शारीरेण व्यपदेशात्, तथा

—"स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो"

—इत्यस्य शारीरस्येतरेण परमात्मना ब्रह्मणा व्यपदेशादस्य शारीरस्य हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते । इतरेतरव्यपदेशेनोभयोरैक्ये स्थिते यदस्य ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं

तच्छारीरस्यैव व्यवहर्तव्य प्राप्नोति। तत्रायं स्वतन्त्रः कर्ता सन्नात्मनः सौमनस्यकरं हितमेवार्थं कुर्यान्नाहितं जन्ममृत्युजरारोगाद्यनर्थजालम्। न हि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारत्मनः कृत्वानुप्रविशति, न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्। अथवा कृतमपि दुःखकरं तदिच्छया जह्यात् सुखकरं चोपाददीत। अथवा मयेदं सर्वं जगद्विविधं विचित्र विरचितमिति स्मरेत्। सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा मयेदं कृतमिति स्मरति। अथवा यथा मायावी स्वय प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति तथाऽयं शारीर इमां सृष्टिमुपसंहरेत्। न त्वेव किञ्चिदिह शारीरे पश्यामः। सुखार्थं प्रयतमानोऽप्ययमहर्निश भूयसा दुःखमेवानुभवति। अत्यन्तमलिने देहे चिराय स्थातुमिच्छति। मयेदं सर्वं जगदित्थं कृतमित्यपि न स्मरति। न दुःखकरान् भावानिच्छया जहाति। स्वकीयमपि तावच्छरीरमनायासेनापसंहर्तु न शक्नोति।

—"अन्य का कथन करने पर हित के न करने आदि का दोष आ जाता है"—

—'भेद के कथन के कारण अधिक है"—

—"प्रस्तर आदि की तरँह उसमें अयुक्ति पूर्णता है"—

—"उसकी सृष्टि करके उसी में अनुप्रविष्ट हो गया है"—

इस तैत्तिरीय श्रुति वाक्य से

—"इस जीव के द्वारा अनुप्रवेश करके मैं नाम और रूप का पृथक् करण करूंगा"—

इस छान्दोग्य श्रुति वाक्य से सर्व स्वतन्त्र जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्म का ही कथन अन्य शरीर स्थित आत्मा के रूप में किया गया है। पुनश्च—

—'हे श्वेतकेतो, वह आत्मा तुम ही हो'—

इस वाक्य से शरीर स्थित का उत्तर परमात्म रूप ब्रह्म से कथन करने पर शरीर स्थित आत्मा में हित के न करने आदि के दोष उपस्थित हो जायेंगे। एक दूसरे का एक दूसरे के रूप में कथन करने से इस ब्रह्म का जो सृष्टि निर्मातृत्व है उसे शरीर स्थित आत्मा का ही कहना प्राप्त होगा। वहां यह स्वतन्त्र रूप से कर्ता होता हुआ अपने मन को तुष्टि देने वाले हित कार्य ही करेगा, न कि जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग आदि अपने अहित से भरे हुए अनर्थों के जाल को बनाकर उसमें फँसेगा। कोई भी व्यक्ति, जो पराधीन नहीं है, अपने प्रयत्न से जेल नहीं जाता और नहीं स्वयं अत्यन्त निर्मल स्वरूप वाला होकर स्वयं ही अत्यन्त मलिन शरीर में घुसेगा। अथवा किये हुए दुःखकर कार्य को अपनी इच्छा से छोड़ेगा और सुखकर वस्तु का सेवन करेगा। अथवा मैंने इस विविधता से भरे समस्त विचित्र संसार का निर्माण किया है, ऐसा स्मरण करेगा। यह स्पष्ट है कि

सारे लोग कार्य करने के बाद यह मैंने किया है, इस प्रकार स्मरण किया करते हैं। अथवा जैसे मायावी पुरुष अपनी ही फैलाई हुई माया का अपनी इच्छा से अनायास ही उपसंहार कर लेता है वैसे ही यह शरोर स्थित आत्मा भी जब इच्छा हो तभी इस सृष्टि का उपसंहार कर सकता है। परन्तु हम कुछ भी इस के साथ नहीं देखते। यह तो निरन्तर सुख के लिए प्रयत्नशील होता हुआ भी रात दिन दुःख का ही अनुभव कर रहा है। यह अत्यन्त मलिन देह में चिरकाल तक निवास करने का अभिलाषी बना रहता है। मैंने ही इस जगत् को ऐसा बनाया है इसका भी इसे स्मरण नहीं आता। दुःख उत्पन्न करने वाले भावों को यह भी अपनी इच्छा से छोड़ता नहीं है। अपने शरीर को बिना आयास के यह समाप्त नहीं कर सकता।

—तदेतत् सर्वमितरेतरव्यपदेशे नोपपद्यते इति चेदत्रोच्यते—

—"अधिकं तु भेदनिर्देशात्"—

—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"—

—"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"—

– "सता सौम्य, तदा संपन्नो भवति"—

— "शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः"

—इत्येवमादिभिः शारीरात्मपरमात्मनोर्भेदनिर्देशादधिकं तु शारीराददः सर्वस्वतन्त्रं जगत्स्रष्टृ परब्रह्म प्रतीयते। अयं तावच्छारीरोऽल्पज्ञोऽल्पशक्ति. शरीरादिसम्बद्धश्च। परमात्मा तु सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति। कर्मवशत्वात्तु नैवं शारीरः। तस्मादुपपद्यन्ते तत्र हिताकरणदयो धर्माः।

यह सब कुछ यदि होगा इतरेतर व्यपदेश तो सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस सन्देह के उपस्थित होने पर इसका उत्तर दिया जाता है कि—

अधिक तो भेद के निर्देश के कारण है"—

—"अरे, आत्मा द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है"—

—"वह अन्वेष्टव्य है, वह जानने के लिए अभिलषणीय है"—

—"हे सौम्य, तब सत् से सम्पन्न होता है"—

—"शरीर आत्मा प्राज्ञ आत्मा के द्वारा अन्वारूढ़ है"—

इत्यादि श्रुति वक्यों से शरीरातिरिक्त आत्मा और परमात्मा के भेद निर्देश से अधिक तो शरीर से वह सर्वतन्त्र जगत् का स्रष्टा परब्रह्म प्रतीत हो रहा है। यह शारीर

आत्मा तो अल्पज्ञ है, अल्प शक्ति वाला है, और शरीर आदि से सम्बद्ध है। परमात्मा तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य शुद्ध, बुद्ध, और मुक्त स्वभाव वाला है। उसके ज्ञान का कहीं भी प्रतिबन्ध रुकावट) नहीं होता न ही उसकी शक्ति का कहीं प्रतिबन्ध होता है। शारीर आत्मा कर्म बन्धन के कारण ऐसा नहीं है। इसलिए उसमें हित के अकरण आदि धर्म प्राप्त हो जाते हैं।

नन्वेवं सति तत्त्वमस्य।दिवाक्यैः कृतोऽभेदनिर्देशो विरुद्धचेत भेदाभेदयोरेकत्रा-संभवात् इति चेन्न। तस्य पारमार्थिकाभेदपरत्वात्। व्यावहारिकं तु भेदं ब्रूमः। यथा महाकाशघटाकाशयोः पारमार्थिकाभेदेऽपि तत्तद्धर्मसंग्रहासंग्रहाभ्यामुभयोर्भेदः स्पष्टं दृश्यते महाप्रसरत्वाल्पप्रसरत्वाभ्यां च। एवमनयोर्भेदाभेदौ न विरुध्येते। उपाधिमतोरुभयो-रुपाधिभेदेन भिन्नत्वात् तदुपाधिविनिर्मुक्तौ च तयोरुभयोरेकार्थ्यावसायात्। यथा स्रुघ्न-स्थाद् बाल्यावस्थाद्देवदत्तात् पाटलिपुत्रस्थः स्थाविर्यावस्थो देवदत्तो भिद्यते च न भिद्यते च। भेदस्यौपाधिकत्वात् तद्भेदनिबन्धनाः सर्वे हिताकरणादयो भावाः संभवंति। स यत्रोपाधिर्निवर्तते निवृत्तं तत्र जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वमित्यैक्यमर्थादापन्नं भवति।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार तो "तत्वमसि" आदि वाक्यों के द्वारा किया हुआ अभेद निर्देश विरुद्ध पड जायगा क्योंकि भेद और अभेद तो एक साथ रह नहीं सकते तो ऐसा नहीं है। क्योंकि पारमार्थिक (वस्तुतः) दृष्टि से उस वाक्य के द्वारा दोनों का अभेद निर्देश हुआ है। हम तो यहां व्यावहारिक भेद बतला रहे हैं। जैसे घटाकाश और महाकाश का परमार्थिक या वास्तविक अभेद रहने पर भी उन उन धर्मों के संग्रह और असंग्रह के कारण दोनों का भेद स्पष्ट दिखाई देता है, महा प्रसार और अल्प प्रसार भी घटाकाश और महाकाश के भेद का कारण है। इस प्रकार पारमार्थिक और व्याव-हारिक दृष्टि से देखने पर इन दोनों का भेद तथा अभेद परस्पर विरुद्ध नहीं होता। उपाधि सहित इन दोनों में उपाधि भेद के कारण भेद होता है, उस उपाधि से विनिर्मुक्त होने पर एक ही अर्थ में दोनों का समावेश हो जाता है। जैसे स्रुघ्न नाम के स्थान में स्थित बाल्यावस्था वाले देवदत्त से पाटलिपुत्र में स्थित वृद्धावस्था वाला देवदत्त भिन्न है भी नहीं भी है। भेद के औपाधिक होने से उस भेद के कारण होने वाले सभी हित अकरण आदि भाव संभव होते हैं। वह उपाधि जब जहां हट जाती है तब वहा जीव का ससारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व भी निवृत्त होकर दोनों का ऐक्य या अभेद अर्थतः सिद्ध हो जाता है।

—"अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः"—

यथा हि लोके पृथिवीत्वाविशिष्टानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्या-दयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणकक्षाकाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणाः

इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते, यथा वैकपृथिवीव्यपाश्रयाण मपि बीजानां बहुविधो पत्रपुष्पफलगन्धरसादि वैचित्र्यमुपलभ्यते, यथा वैकस्याप्यन्नरसस्य लोहितमांसमेदोऽस्थिमज्जादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति एवमेकस्यापि ब्रह्मणो विज्ञानात्मप्रज्ञानात्मपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यते इत्यतो हिताकरणादिदोषाणामनुपपत्तिर्द्रष्टव्या। तस्मात् सिद्धं जीवात्मपरमात्मनोर्व्यावहारिकमन्यत्वं पारमार्थिकमनन्यत्वं चेति।

इति जीवेश्वरयोर्व्यावहारिकभेदवादः पारमार्थिकाभेदवादश्च।

—"अश्मा आदि की तरह होने से उसकी अनुपपत्ति है।"—

संसार में जसे देखने में आता है कि अश्मा या पत्थर पृथिवी का ही अंश है तो भी उसी पत्थर के कुछ बहुत कीमती मणि, वज्र वैदूर्य आदि भेद होते हैं, उससे भिन्न दूसरे मध्यम कोटि के सूर्यकान्तमणि आदि भेद होते हैं तथा उससे भिन्न निम्न कोटि के पत्थर होते हैं जो कुत्ते कौवे आदि को भगाने उडाने के लिए फेंकने आदि के उपयोग में लिये जाते हैं, इस प्रकार पत्थर या पार्थिव अंश के समान होने पर भी अनेक प्रकार की विचित्रताएं इनमें देखने में आती हैं। अथवा जैसे एक ही पृथिवी के आधार पर स्थित रहने वाले बीजों में बहुत प्रकार के पत्र, पुष्प, फल, गन्ध रस आदि की विचित्रताएं उपलब्ध होती हैं। अथवा जसे एक ही अन्न के रस के रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि तथा केश लोम आदि विचित्र कार्य होते हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म के भी विज्ञानात्मा प्रज्ञात्मा आदि के रूप में पार्थक्य और उनके कार्यों में विचित्रता की युक्ति पूर्वक सिद्धि हो जाती है अतः हित के अकरण आदि दोषों की अयुक्तता देखी जा सकती है। इससे जीवात्मा और परमात्मा का व्यावहारिक भेद और पारमार्थिक अभेद सिद्ध होता है।

इस प्रकार यह जीव और ईश्वर का व्यावहारिक भेदवाद और पारमार्थिक अभेदवाद व्याख्यात हुआ।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि। [२।१।२४]
देवादिवदपि लोके। [०।१।०५]

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तत्रेतर इतरं पश्यति।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।"

इत्यादिश्रुत्या सर्वोपसंहारदर्शनात् ततोऽवशिष्टादेकस्मादद्वितीयादस्माद् ब्रह्मणः पुनः सृष्टिर्नोपपद्यते। द्वितीयाभावे परसंयोगव्यतिरेकेणार्थोत्पत्तेः कुत्राप्यदृष्टत्वाद्–इति चेन्न। क्षीरवद्धि संभाव्यते केवलादपि सृष्टिः। यथा हीदं दुग्धं जलं वा द्रव्यस्वभावमहिम्ना

स्वयमेव दधिभावेन हिमभावेन वा परिणमते न तदर्थं बाह्यं साधनमपेक्षते एवमिहापि भविष्यति ।

ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणामायौष्ण्यादिकं बाह्यं साधनमपेक्षते न तु केवलात् सृष्टिः। अन्यथा दध्यादिभावस्य सार्वकालिकत्वप्रसङ्गात् इति चेत् सत्यम्, दधिभावार्थमौष्ण्यादिभावग्रहणायापि क्षीरे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तेर्वक्तव्यत्वात् । अन्यथा वाय्वाकाशादीनामप्यौष्ण्यादिसहकारमात्रेण दध्यादिसिद्धिप्रसङ्गात् । तस्मात्सहकारि-ग्रहणानुकूलां सृष्ट्यनुकूलां गा वस्तुशक्तिमेवापेक्ष्य सर्वत्र सृष्टिर्वक्तव्या । विद्यते च सा सर्वविधापि शक्तिर्ब्रह्मणि यया सर्वापेक्षापूर्तिपूर्विका सर्वा सृष्टिर्यथायथमुपपद्यते । तथा च श्रूयते—

—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"—

—इति । तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रपरिणामः ।

—"देवादिवदिह लोके"—

—यथा लोके देवाः पितर ऋषयश्च महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तो बाह्यं साधनमनपेक्ष्यैव चैश्वर्ययोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादौ, यथा वा तन्तुनाभः स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी चानपेक्ष्य प्रस्थानसाधनं सरसः सरोऽन्तरं प्रतिष्ठते, एवं चेतनं ब्रह्मानपेक्ष्य साधनं स्वत एव जगत् सृजति ।

—"उप संहार देखने से नहीं है ऐसा नहीं, क्षीर के समान होने से"—[२।१।२४]

—"संसार में देव आदि के समान भी (देखा जाता है)"—[२।१।२५]

—"जहां द्वैत के समान होता है वहां एक दूसरे को देखता है"—

—"जहां तो इसके लिए सब आत्मा ही हो गया वहां कौन किसे देखे"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा सबका उपसंहार देखने से उससे अवशिष्ट एक अद्वितीय ब्रह्म से पुनः सृष्टि युक्तिसंगत नहीं होती द्वितीय के अभाव में पर के साथ संयोग का अभाव होने के कारण अर्थ की उत्पत्ति कहीं भी देखने में नहीं आती, यह सन्देह नहीं होना चाहिए । केवल एक से भी क्षीर दुग्ध की तरह सृष्टि का होना संभावित है । जैसे दुग्ध या जल द्रव्य के स्वभाव की महिमा से स्वयं ही दही के रूप में या शीतल रूप में परिणत हो जाता है, उसके लिए किसी बाह्य साधन की जरूरत नहीं होती उसी प्रकार यहां भी अकेले परब्रह्म से सृष्टि का निर्माण होगा । पुनः प्रश्न होता है कि दुग्ध आदि

भी दही आदि के रूप में परिणत होने के लिए उष्णता आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं न कि केवल मात्र दुग्ध से दही की (बिना उष्णता आदि के) सृष्टि हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो सर्वदा से दुग्ध का दधि के रूप में परिणाम होने लगे। यह प्रश्न सत्य है। दधि रूप में परिणत होने के लिए उष्णता को ग्रहण करने में दूध की प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता बतलानी होगी। ऐसा न होने पर वायु आकाश आदि में भी उष्णता के संयोग से दधि बनने की बात सामने आने लगेगी। इसलिए कहना होगा कि सहकारि ग्रहण के अनुकूल या सृष्टि के अनुकूल वस्तुशक्ति की अपेक्षा से ही सर्वत्र सृष्टि होती है। और वे सारी शक्तियां ब्रह्म में विद्यमान हैं जिससे समस्त अपेक्षाओं की पूर्ति पूर्वक समस्त सृष्टि अविकल रूप में सिद्ध होती है। वद मन्त्र कहता है—

—"न उसका कोई कार्य है, न कोई साधन है, न कोई उसके समान है, न कोई उससे अधिक है, उसकी पराशक्ति और स्वभाव सिद्ध ज्ञान, बल और क्रिया विविध प्रकार की सुनी जाती है"—

इसलिए एक मात्र ब्रह्म का भी विचित्र शक्ति के योग से विचित्र परिणाम होना युक्ति सिद्ध होता है।

—"देव आदि के समान भी लोक में होता है"—

जैसे मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराणादि मे महाप्रभाव वाले देवता, पितर, ऋषि आदि चेतन होते हुए भी बाह्य साधन की सहायता के बिना ही ऐश्वर्य के योग से ध्यान शक्ति मात्र से स्वयं ही अनेक प्रकार के बहुत से संस्थान वाले शरीर प्रासाद रथ आदि का निर्माण करते हुए दिखाई देते हैं, और जैसे मकड़ी स्वयं ही तन्तुओं का निर्माण करती है, जैसे बलाका पक्षी बिना शुक्र के ही गर्भ धारण करती है, कमलिनी यात्रा के किसी साधन के बिना ही एक तालाब से दूसरे तालाब में चली जाती है वैसे ही चेतन ब्रह्म बिना किसी बाह्यसाधन की अपेक्षा के स्वयं ही संसार की सृष्टि करता है।

ननु देवादयो हि सशरीरा इष्यन्ते। तेषां शरीरमचेतनमेव शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादनेनोपादानं न तु चेतन आत्मा। तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामागत्य तन्तुर्भवति। बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद् गर्भं धत्ते। पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सती अचेतनेनैव शरीरेण सरोऽन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षम्। न तु स्वयमेवाचेतना सरोऽन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते। तस्मान्नैते ब्रह्मणश्चेतनस्य दृष्टान्ताः–इति चेत्, सत्यम्। कार्यारम्भे बाह्यसाधनानपेक्षितामात्रं ह्यनेन दृष्टान्तेन साध्यते। अपि लोके यथा तत्तत्कर्ता सामर्थ्यविशेषप्रभावात् स्वस्वकार्यारम्भे कश्चित्कथंचित्साधनान्यपेक्षते कश्चित्कथंचित्। तथा हि–कश्चिद्बाह्यं चाभ्यन्तरं च कश्चिदाभ्यन्तरमेव न बाह्यम्, कश्चिद्बाह्यं नाभ्यन्तरं न बाह्यमिति वैषम्योपलब्धेन कुलालादिदृष्टान्तसाम्येन ब्रह्मणि बाह्यसाधना-

पेक्षित्वमाक्षेप्तु युज्यते इत्येतावन्मात्रमनेन प्रतिपादयामः । तस्मादुपपन्नोऽयमेकस्यैवाद्वितीयस्य साधनान्तरानपेक्षस्य विचित्रः परिणाम इति सिद्धम् ।

प्रश्न होता है कि देवता आदि भी सशरीर होते हैं, उनका शरीर अचेतन ही है जैसे अन्य शरीरों में विभूति का उत्पादन होने पर वे उपादान कारण बनते हैं वैसे ही ये भी बनते हैं, चेतन आत्मा उपादान नहीं बनता। मकडी भी छोटे छोटे जन्तुओं का भक्षण करके अपने कठोर मुख के रस से तन्तुओं का निर्माण करती है, बलाका पक्षी भी बादलों की आवाज को सुनकर गर्भ धारण करती है। कमलिनी भी चेतन के द्वारा प्रेरित होकर ही अचेतन शरीर से ही दूसरे तालाब में सर्पण करती है जैसे लता वृक्ष पर छा जाती है, ऐसा नहीं हैं कि वह स्वयं अचेतन अवस्था में बिना किसी की प्रेरणा से दूसरे तालाब में जाती है। इसलिए ये सब चेतन ब्रह्म के दृष्टान्त नहीं हो सकते। यह प्रश्न सत्य है। इन दृष्टान्तों से तो इतना ही सिद्ध किया जा रहा है कि कार्य के आरम्भ में बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। संसार में भी विभिन्न कार्यों के कर्त्तागण सामर्थ्य विशेष के प्रभाव से अपने अपने कार्य के आरम्भ में कोई किसी साधन की आवश्यकता समझते हैं, कोई किसी अन्य की। कुछ स्पष्टता से समझें कि कोई बाहरी और भीतरी दानों साधनों का प्रयोग करते है, कोई भीतरी साधन का ही प्रयोग करते हैं, बाहरी साधनों का नहीं, कोई कर्त्ता न बाहरी साधन की अपेक्षा रखता है न भीतरी साधन की। इस प्रकार वैषम्य दिखाई देता है कर्त्ताओं में साधनों की अपेक्षा के विषय का लेकर। इस प्रकार घट के निर्माता कुलाल आदि के दृष्टांत को सामने लाकर ब्रह्म के द्वारा जगत् के नि- ाण में बाह्य साधन की जरूरत का आक्षप करना युक्ति संगत नहीं होता, बस इतना ही उक्त देव आदि के दृष्टान्त से बतलाना हमारा उद्देश्य है। अतः अद्वितीय एक ही ब्रह्म का किसी साधन को आवश्यकता के बिना जगत् का निर्माण रूपी विचित्र परिणाम युक्ति संगत सिद्ध हुआ।

—कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दव्याकोपो वा। [२।१।२६]

—श्रुतेस्तु शब्दमलत्वात्। [२।१।१७]

—आत्मनि चैवं, विचित्राश्च हि। [२।१।२८]

—स्वपक्षदोषाच्च। [२:१।१६]

ननु—"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।

—दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"—

"इदं महद्भू तमनन्तमपारं, विज्ञानघन एव य एष नेति नेत्यात्मा। अस्थूलमनणु"

—इत्यादिना शब्देन निरवयवतया प्रतीतं ब्रह्मैव बाह्यसाधनानपेक्षं स्वयं परिणममाणं जगतः कारणमिष्यते। तत्र देशभेदेन परिणामाय साधनानभ्युपगमाद्देशभेदानभ्यु-

पगमाच्च तस्य निरपेक्षपरिणामाभ्युपगमे द्वयमिदं प्राप्नोति-परिणामे कृत्स्नप्रसक्तिर्वा स्यान्निरवयवत्वशब्दव्याकोपो वा। तत्रैकदेशपरिणामासंभवात् कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत। अयत्नदृष्टैतत्कार्यापेक्षयातिरिक्तस्य द्रष्टव्यस्य स्वरूपेण स्थितस्याविकृतस्य कस्यचिदर्थस्येदानीमपरिदृष्टत्वात्। यदि तु केनचिद्देशेन परिणमते केनचिद्वा निर्विकारं स्वरूपेणावतिष्ठते-इत्यभ्युपगम्यते तदा तस्य सावयवत्वापत्तौ निरवयवत्वबोधका अजादयः शब्दा व्याकुप्येरन्, इति चेन्न।

—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्—

—श्रुतेरेव हि ब्रह्मणो निरवयवत्वमध्यवस्यामः, श्रुतेरेव ब्रह्मणः परिणामम्। श्रुतेरेव च विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानमिति। तत्र नास्ति तर्कोपष्टम्भेन प्रत्यवस्थानावसरः। अस्यार्थस्याचिन्त्यतया शब्दमूलत्वात्। यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणं न त्वचिन्त्येऽस्मिन्नर्थे लौकिकानामस्माकं तर्कावसरः संभवति। तथा चाहुः पौराणिकाः—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥"

—इति।

—"सम्पूर्ण का उपयोग होगा अथवा निरवयव शब्द असमञ्जस होगा।"—(२।१।२६)

"—श्रुति से ही ज्ञान होता है, इस अर्थ के शब्द मूलक होने के कारण।"—(३।१।२७)

—"आत्मा में भी यही देखते हैं, सृष्टियां विचित्र होती हैं"—(२।१।२८)

—"और अपने पक्ष में दोष के कारण भी (यही सिद्ध है)"—(२।१।२६)

—"निष्कल (कलारहित) निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरञ्जन, दिव्य, अमूर्त अनन्त पुरुष ही बाहर और भीतर है"—

—"यह महान् भूत तत्त्व अनन्त अपार है, यह वह विज्ञान आत्मा है, जो पहिचानी हुई वस्तुओं में नहीं आता (नेतिनेति) जो न स्थूल है, न अणु है"—

इत्यादि शब्दों से निरवयव रूप से ज्ञात ब्रह्म ही बाह्य साधन की अपेक्षा न करता हुआ स्वयं परिणत होता हुआ जगत् के कारण के रूप में अभीष्ट है। वहां देश के भेद से परिणाम के लिए साधन के अस्वीकार के कारण तथा देश भेद के अस्वीकार के कारण उसके बिना किसी की अपेक्षा के परिणाम के स्वीकार करने पर ये दो बातें प्राप्त होती हैं कि परिणाम में समस्त ब्रह्म का उपयोग हो अथवा (एक अंश की परिणति मानने पर)

निरवयव शब्द का विरोध हो । वहां एक अंश का परिणाम असभव होने के कारण ब्रह्म के पूर्णतया जगत् के रूप में परिणत हो जाने पर मूल के समाप्त होने का प्रसग उपस्थित हो जायेगा—(पूणतया ब्रह्म जब जगत् के रूप में परिणत हो गया तो जगत् हो रहा, शुद्ध ब्रह्म बचा ही नहीं) । बिना प्रयत्न के दिखाई देने वाले इस जगत् रूपी कार्य को अपेक्षा से अतिरिक्त द्रष्टव्य के रूप में स्थित अविकृत कोई अर्थ अब बचा ही नहीं और यदि यह माना जाय कि किसो एक देश या अश का तो जगत् के रूप में परिणाम हो जाता है तथा किसो अंश से ब्रह्म निर्विकार रूप से अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है तब वह सावयव हो जायेगा और तब ब्रह्म को निरवयव बतलाने वाले श्रुति में प्रयुक्त 'अज' आदि शब्द कुपित हो उठेंगे । यह जो शंका , यह भी नहीं होनी चाहिए । क्योंकि ये सब बातें श्रुति से ही ज्ञात होतीं हैं और ये सारे अर्थ भी शब्द मूलक हैं । श्रुति से ही हमें ब्रह्म के निरवयत्व का निश्चय होता है और श्रुति से ही हम ब्रह्म का परिणाम भी समझते हैं तथा श्रुति ही हमें यह भो समझा रही है कि ब्रह्म विकार के बिना भी अवस्थित है । इसमें तर्क की मजबूती के साथ विचार का अवसर नहीं आता क्योंकि यह अर्थ आचिन्त्य होने से शब्द मूलक है । जो भी हमें शब्द ने बतलाया वही हमारे लिए प्रमाण है । इस आचिन्त्य अर्थ को समझने के लिए हम जैसे लौकिकों के तर्क का अवसर नहीं है । इस बात को पौराणिकों ने इस प्रकार कहा है कि—

—"जो आचिन्त्यभाव हैं उनके साथ तर्क का योग नहीं करना चाहिए । जो प्रकृति से आगे है वही अचिन्त्य है, यही अचिन्त्य का लक्षण है"—

—तस्माच्छब्दमूलत्वाच्छ्रुतेरेवास्य ब्रह्मणो निरवयवतामकृत्स्नपरिणामं चाध्यवस्यामः । तथा हि श्रूयते विकृतब्रह्मव्यतिरेकेणाप्यविकृतस्य ब्रह्मणोऽवस्थानम् ।

—"सेयं देवतैक्षत—हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—इति—

"एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः"—

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"—इति च ।

—एवं हृदयायतनत्ववचनात् सत्सम्पत्तिवचनाच्च तथावगम्यते । अन्यथा विकृतेन ब्रह्मणा नित्यं संपन्नत्वात्—

"सता सौम्य तदा संपन्नो भवतीति"—

—सुषुप्तिकाले सत्सम्पत्तिवचनमनुपपन्नं स्यात् । तस्मादस्ति विकृतं च ब्रह्माविकृतं च ।

इसलिए शब्द मूलक होने के कारण श्रुति वाक्यों से ही इस ब्रह्म को हम निरवयव भी समझते हैं और यह भी समझते हैं कि वह सम्पूर्णतया जगत् के रूप में परिणत नहीं होता । सुनी जाती है श्रुति में विकृत ब्रह्म के अतिरिक्त अविकृत ब्रह्म की अवस्थिति—

—"इस देवता ने देखा—अब मैं इन तीन देवताओं में इस जीव के द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूप से व्याकरण करूं"—

—"इतनी विशाल इसकी महिमा है। उससे भी बड़ा पुरुष है। सारे भूत उसके एक पाद हैं उसके तीन पाद अमृत रूप हैं जो स्वर्ग लोक में है"—

इसी प्रकार हृदय में अवस्थिति के कथन से तथा सत्सम्पत्ति के कथन से भी यही ज्ञात होता है। अन्यथा विकृत ब्रह्म में नित्य ही सम्पन्न होने से—

"सौम्य, सत से तब सम्पन्न होता है"—

यह सुषुप्ति काल में सत्सम्पत्ति का कथन समझ में नहीं आ सकता। इसलिए ब्रह्म विकृत भी है और अविकृत भी।

ननु शब्देनापि न विरुद्धोऽर्थः शक्यते प्रत्याययितुम्—

निरवयवं च ब्रह्म परिणमते च, न च कृत्स्नमिति विरुद्धोऽयमर्थो भवति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव तत् परिणमेत कृत्स्नं वा परिणमेत। अथवा यदि केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिदवतिष्ठेत तर्हि रूपभेदकल्पनात् सावयमेव प्रसज्येत इति चेन्न। नामरूपादिपरिणामभेदस्याविद्याकल्पितत्वात्। यथा तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यते किन्तु न सोऽनेक एव भवति। एवमिहापि स—

—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"—

—इति श्रुतेर्नामरूपलक्षणेन रूपभेदेनानेकधोपलभ्यमानोऽपि पारमार्थिकेन रूपेण सर्वव्यवहारातीतोऽपरिणत एवावतिष्ठते। नामरूपभेदस्य वाचारम्भणमात्रत्वात्। एतदपि मायाविजृम्भणमेव भवति येनायं केनचिद्रूपेण विकृतो दृश्यते केनचित्पुनरविकृतरूपो हृदयादिस्थानः प्रत्याय्यते। तस्मादुपपन्नं निरवयवस्य ब्रह्मणः परिणामित्वमकात्स्न्येनेति।

प्रश्न होता है कि शब्द प्रमाण के द्वारा भी विरुद्ध अर्थ का बोधन नहीं कराया जा सकता। ब्रह्म निरवयव भी है, उसका परिणाम भी जगत् के रूप में होता है और वह भी पूणतया नहीं ये बातें विरोध रखती हैं। यदि ब्रह्म निरवयव है तो उसका परिणाम नहीं होगा, यदि परिणाम होगा तो सम्पूण का ही होगा। अथवा यदि वह किसी रूप से जगत् में परिणत होगा और किसी रूप से यथावत् अवस्थित रहेगा तब रूप भेद की कल्पना होने पर वह सावयव ही माना जायेगा, तो इस सन्देह का उत्तर भी नकारात्मक ही है। क्योंकि नाम रूप आदि परिणाम का भेद अविद्या के द्वारा कल्पित माना जाता है। जैसे जिस व्यक्ति की आंख अंधेरे के रोग से ग्रस्त होती है वह चन्द्रमा को अनेक के समान देखता है, परन्तु इससे चन्द्रमा अनेक नहीं हो जाता। इसी प्रकार यहां भी—

"इन्द्र मायाओं से अनेक रूपों में प्रकट होता है"

इस श्रुति वचन से नाम और रूप के भेद वाले रूप भेद से अनेक प्रकार से उपलब्ध होता हुआ भी ब्रह्म पारमार्थिक या वास्तविक रूप से समस्त व्यवहारों से पृथक् अपरिणत ही संस्थित रहता है। क्योंकि नाम और रूप का भेद केवल वाणी या व्यवहार के आरम्भ करने के लिए ही होता है। यह भी माया का ही फैलाव होता है जिससे यह ब्रह्म किसी रूप से तो विकार युक्त दिखाई देता है तथा किसी रूप से विकार रहित हृदय आदि स्थान में प्रतिष्ठित ज्ञात कराया जाता है। अतः इस प्रकार निरवयव ब्रह्म का असमग्र रूप से संसार के रूप में परिणत होना सिद्ध हुआ।

अथवा किमेतेन मायावादोपष्टम्भनोत्तरप्रकारेण। प्रत्यक्षं तु नामोपलभामहे—

—आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि सृष्टयो भवन्तीति।

—एकोऽयमात्मा स्वप्नद्रष्टा। तत्र स्वरूपानुपर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्दृश्यते। श्रूयते च—

—"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते"—

—इति। लोकेऽपि च—मायाव्यादिषु स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि-सृष्टयो दृश्यन्ते। तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः संभाव्यते इति नानुपपत्तिः।

अथवा इस मायावाद का सहारा लेकर उत्तर देने से क्या लाभ। हम तो इसको प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि अपने भीतर तथा बाहर की सृष्टि विचित्र ही होती है। यह एक ही आत्मा है जो स्वप्न देखता है। वहां अपने स्वरूप को बिना विकृत किये ही अनेकों आकार वाली सृष्टि दिखाई देती है। सुना भी गया है वेद में कि—

—"न वहां रथ हैं, न रथ के योग होते हैं, न मार्ग होते हैं, तब वह आत्मा रथों का, रथ के योगों का तथा मार्गों का निर्माण करता है"—

संसार में भी मायावी आदि में अपने स्वरूप को विकृत किए बिना ही विचित्र प्रकार की हाथी घोड़े आदि की सृष्टि देखी जाती है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म में अपने स्वरूप को यथास्थित रखते हुए ही अनेक आकार वाली सृष्टि की संभावना बन जाती है, अतः कोई अयुक्तता नहीं रहती।

किञ्चेयं ब्रह्मकारणपक्षे प्रदर्शिताऽनुपपत्तिर्न ब्रह्मकारणपक्षं प्रधानादिकारणपक्ष-तोऽपकर्षयति।

—स्वपक्षदोषाच्च—

तत्र तेन तेनापीयमनुपपत्तिः परिहर्तव्या। यथा ब्रह्मकारणवादिना तथैव प्रधानकारणवादिना च अणुकारणवादिना च। प्रधानादेरपि निरवयवतया कृत्स्नप्रसक्ते-निरवयवत्वाभ्युगमकोपस्य वा तुल्यत्वात्। ननु सत्त्वरजस्तमांसीति त्रयो गुणाः प्रधान-मिष्यते तच्च तैरेवावयवैः सावयवं स्यान्नानवयवमिति चेन्न तेषां साम्यावस्थायाः प्रधानत्वोपगमादेकैकस्य निरवयवस्यैवेतरद्वयानुगृहीतस्योपादानत्वमभ्युपगम्यते तत्र परानु-ग्रहणाय व्यापारलाभात्मकविकाराभ्युपपत्तौ पूर्वोक्तातुपपत्तेस्तुल्यत्वात्।

—तथाणवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद् यदि कात्स्न्येंन संयुज्येत ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः। अथैकदेशे संयुज्येत तथापि निरवयवत्वा-भ्युपगमव्याकोपः। तस्मात् तेषां वादिनां स्वपक्षेऽप्येष दोषः समानः। समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन् पक्षे उपक्षेप्तुं युज्यते। तत्रापि च परिहृतो ब्रह्मपक्षे दोषोऽवशिष्यते च प्रधानपक्षेऽणपक्षे च। तस्माद् ब्रह्मपक्षो निर्दोषः इति सिद्धम्।

यह बात भी ध्यान में लेने लायक है कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने के पक्ष में जो दोष ऊपर दिखाये गये हैं (और जिनका समाधान किया जा चुका है) उनके आधार पर ब्रह्म कारण वाद को निरस्त करके यदि प्रधान या मूल प्रकृति को जगत् का कारण बतलाया जाता है तो वह प्रधान कारण वाद पक्ष ब्रह्म कारण वाद पक्ष को गिरा नहीं सकता। क्योंकि प्रधान कारणवाद पक्ष में भी दोष विद्यमान हैं। उन्हे भी अपने पक्ष में आने वाले इन दोषों का उत्तर ढूंढना होगा। ये दोष जैसे ब्रह्मकारणवाद में आते हैं, वैसे ही वे प्रधान या मूल प्रकृति को भी निरवयव माना गया है, वह भी यदि समग्र रूप से जगत् के रूप में परिणत होती है तो अपने ही माने हुए प्रधान या प्रकृति के निरवयत्व सिद्धान्त के कुपित हो जाने का प्रसंग सामने आता है, जो कि ब्रह्म कारणवाद में दिखायें गए दोष के समान है। यदि वहां यह कहा जाय कि सत्व रज और तम ये तीन गुण मिलाकर प्रधान या प्रकृति कहे जाते हैं और वह प्रधान या प्रकृति अपने उन तीन गुणों के कारण सावयव है, वह निरवयव नहीं, तो ऐसा नहीं है क्योंकि तीनों गुणों की साम्या-वस्था का नाम वहां प्रधान रखा गया है। उन तोन गुणों में एक एक गुण जो निरवयव है वह जब अन्य दो गुणों के द्वारा संयुक्त होता है तभी जगत् का उपादान कारण बनता है, उसके अन्य का संयोग प्राप्त करने के लिए अपने व्यापारोत्पत्ति रूप विकार को स्वीकार करने पर पूर्वोक्त आपत्ति वहां भी समान रूप से विद्यमान रहेगी।

इसी प्रकार परमाणु को जगत् का कारण मानने वाले वाद में यह प्रश्न आयेगा कि वहां अणुओं के संयोग से जो सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है तो एक परमाणु जब दूसरे परमाणु से संयुक्त होता है तो उसके अवयव शून्य होने के कारण यदि वह समग्र रूप से अन्य परमाणु से संयुक्त होता है तो विस्तार के अभाव में कितने ही परमाणु आपस में संयुक्त हो जाने पर भी अणु मात्र ही बने रहेंगे (जैसे केवल शून्य संख्या गिनती में कितनी ही लिख दिये जाने पर भी बिना किसी संख्या के योग में शून्य ही रहेगी) अब

यदि यह माना जाय कि एक परमाणु दूसरे परमाणु से पूर्णतया संयुक्त न होकर एक अंश से ही संयुक्त होता है तो परमाणु को निरवयव मानने का सिद्धान्त कटने लगेगा। इसलिए ब्रह्म कारणवाद में सावयत्व का दोष लगाने वालों के अपने मत में भी ये दोष समान रूप से उपस्थित होते हैं। जब दोष दोनों ओर समान है तब उस दोष को कोई पक्ष दूसरे पक्ष पर नहीं दिखा सकता। वहां भी ब्रह्म कारणवाद के पक्ष में अन्य दोष का (अविद्या के आधार पर) परिहार कर दिया गया किन्तु प्रधानकारणवाद और अणु कारणवाद पर तो वह दोष अभी भी विद्यमान है। इसलिए ब्रह्म पक्ष निर्दोष है यह सिद्ध हुआ।

—सर्वोपेता च दर्शनात्। [२।१।३०]

—विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्। [२।१।३१]

—ननु—नेति नेत्यात्मेत्यादिना प्रतितिसर्वविशेषं निष्फलं निष्क्रियं शान्तं शिवमद्वैतं निरञ्जनं ब्रह्म निर्दिष्टम् तथा च तस्य निर्द्धमिकतया तस्मात् सृष्टयो नोपपद्यन्ते। सर्वं हि द्रव्यं स्वनिष्ठशक्त्यनुरूपं किञ्चित्कर्तुं प्रभवति। यत्र स्वस्मिन् सुविशुद्धरूपे शक्तिशक्तिमद्भावोऽपि द्वैतापत्त्या नोपपद्यते तत्र कथमस्मात् किं कृत्वा कथमिव सा प्रथमापि क्रिया प्रादुः स्यात्। तस्मादुपपन्ना ब्रह्मणः सृष्टिः—इति चेत् तत्रोच्यते।

—"सर्वोपेता च तद्दर्शनात्"—

यावत्यो वा यत्र वा याः काश्च वा तत्तदर्थं शक्तयोऽनुभूयन्ते ताभिः सर्वाभिरेवेय मूलप्रकृतिरुपेतानामेष्यते। यदीयं ब्रह्मनाम्नी सर्वप्रकृतिः सर्वशक्त्युपेता नाभविष्यत् तर्हि कुत्रापि काचिदपि शक्तिर्नैवोदपत्स्यत, असतः सद्भावासंभवात्। सदेव हि कारणात्मना स्थितं कार्यं पश्चात् प्रादुर्भवतीति सिद्धान्तः प्रागुपदर्शितः सत्कार्यवादे। तस्मादियं ब्रह्मप्रकृतिः सर्वोपेता च द्रष्टव्या। न चास्याः सर्वोपेतत्वं तर्कसिद्धमपि श्रुतिविरुद्धं भवतीत्याशङ्क्यम्।

—"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यः सर्वज्ञः सर्वविद् एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"—

"—इत्येवमादिषु तद्दर्शनात्"—

—"श्रुतियों में देखे जाने से प्रकृति समस्त शक्तियों से सम्पन्न है"—(२।१।३०)

—"साधन के अभाव में ऐसा नहीं है, यह नहीं कहना चाहिए, शब्द से यह बतलाया गया है"—(२।१।३१)

प्रश्न होता है कि

—"यह नहीं यह आत्मा नहीं"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से सभी विशेषताओं का निषेध करने हुए कलाओं से रहित, क्रिया शून्य, शान्त, कल्याण रूप अद्वितीय, अञ्जन रहित, ब्रह्म का निर्देश हुआ है। और तब उस ब्रह्म के निर्धर्मक होने के कारण उससे सृष्टियां उत्पन्न होना युक्ति संगत नहीं ठहरता। सभी पदार्थ अपने में निहित शक्ति के अनुरूप ही कुछ करने की शक्ति रखते हैं। जब इस सुविशुद्ध रूप ब्रह्म में शक्ति और शक्तिमान् का भाव द्वैत हो जाने की आपत्ति से युक्ति संगत नहीं माना जाता तब वहां अकस्मात् ही किस उद्देश्य से कैसे वह प्रथम क्रिया भी प्रादुर्भूत हो सकेगी। अतः ब्रह्म से सृष्टि का होना युक्ति संगत नहीं ठहरता। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि

—"वह ब्रह्म नाम की मूल प्रकृति समस्त शक्तियों से युक्त है, ऐसा ही श्रुति कह रही है"—

जितनी जहां जो कोई भी शक्तियां विभिन्न अर्थों में अनुभव में आती हैं। उन सभी शक्तियों से यह मूल प्रकृति सम्पन्न है ऐसा मानना अभीष्ट है। यदि यह ब्रह्म नाम की सब की प्रकृति मूल कारण, सभी शक्तियों से युक्त नहीं होती तब तो कहीं भी कोई भी शक्ति उत्पन्न ही नहीं हो पाती। क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति तो होती ही नहीं। सत्कार्यवाद के निरूपण प्रसंग में पहिले ही यह सिद्धान्त बतलाया जा चुका है कि कारण के रूप में विद्यमान् (सत्) कार्य ही बाद में प्रकट हो जाया करता है। इसलिए प्रकृति रूप इस ब्रह्म को शर्वशक्तिमान् के रूप में ही देखना चाहिए। ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि ब्रह्म की यह सर्व शक्तियुक्तता तर्क से सिद्ध होने पर भी श्रुति के विरुद्ध है

"—सर्व कर्म करने वाला, सर्व कामना युक्त, सब गन्धों से भरा, सर्व रसमय, इस सब कुछ से ओत प्रोत अवाक्य में अनादर वाला, सत्यकाम वाला, सत्य संकल्प वाला, जो सर्वज्ञ है, सर्व वेत्ता है, हे गार्गि, इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा धारित होकर ठहरे हुए हैं"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों में यह विषय देखा जाता है।

ननु—"अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमज्ञा"—

—"इत्येवमादिना सर्वकरणराहित्यं ब्रह्मणि श्रूयते। तस्मादस्य विकरणत्वान्न सर्वोपेतत्वं न वा सृष्टच्युपादानत्वं संभवतीति चेत् तदुक्तं—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति। श्रुत्यैवास्याः सर्वविशेषशून्यत्वं बोध्यते श्रुत्यैव च सर्वशक्तिमत्त्वमिति। तत्र शब्दमूलत्वादस्यातिगभीरस्यार्थस्य न तर्केण प्रत्यवस्थानं संभवति। अयमत्राभिसन्धिः। येन रूपेण कार्ये शक्तयो दृश्यन्ते ताश्च यथोद्बोधकमन्यदपेक्ष्य प्रवर्तन्ते, विरुद्धाश्च शक्तयः

सामानाधिकरण्येनावच्छिन्ते नैवं कार्यकरणशक्तिविशेषास्तत्र प्रकृतौ प्रवर्तन्ते । यथा हि सदपि तिले तैलं न तैलवत् तिले गृह्यते तद्वदिहापि सर्वविधा विरुद्धाः शक्तयो नित्यमनुवर्तमाना अपि कार्यावस्थावैलक्षण्यादप्रतीता एव भवन्ति । उपलब्धायाः कार्यावस्थत्वात् कारणात्मना स्थितायाः शक्तेरनुपलब्धत्वाच्चोभयथापि संभवत्येव तत्र व्य हारः । तथा च श्रूयते—

—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"—इत्यादि ।

—"तेनोभयमप्यविरुद्धम् । सर्वशक्त्युपेतत्वाच्चोपपद्यते ब्रह्मणः सृष्टिरिति सिद्धम् ।

पुनः प्रश्न होता है कि—

"वह नेत्र रहित है, वह कानों से रहित है, वह मन से रहित है"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से ब्रह्म में सभी इन्द्रियों या साधनों के अभाव की सूचना मिलती है, अतः ब्रह्म के इन्द्रिय रहित होने से न तो उसकी सर्वशक्तियुक्तता सिद्ध होती है और न वह सृष्टि का उपादान कारण ही सिद्ध हो सकता है । इस प्रश्न के उत्तर में सूत्र है कि--

--"श्रुति से यह सिद्ध है, ये अर्थ शब्द मूलक हैं"—

इस ब्रह्म रूप मूल प्रकृति को श्रुति ही सर्व विशेष शून्य बतला रही है और श्रुति के द्वारा ही इसकी सर्वशक्तिशालिता का भी पता चल रहा है । यह अर्थ अत्यन्त गभीर होने के कारण केवल शब्द के द्वारा ही बोध्य बना हुआ है, इसमें तर्क से कोई काम नहीं चलाया जा सकता । यहां यह रहस्य है कि कार्य में जिस रूप से शक्तियां दिखाई देती हैं और वे जैसे किसी अन्य उद्बोधक की आवश्यकता को पूर्ण करके प्रवृत्त होती हैं, तथा परस्पर विरुद्ध शक्तियां भी एक ही स्थान पर अवस्थित रहती हैं वैसे कार्य साधन और विशेष शक्तियां प्रकृति रूप ब्रह्म में नहीं हैं । जैसे तिलों में तेल के रहने पर भी तिलों से वैसे तेल का काम नहीं लिया जाता जैसे तेल से लिया जाता है वैसे ही ब्रह्म में भी सभी प्रकार की विरुद्ध शक्तियों के सर्वदा विद्यमान रहने पर भी कार्य अवस्था की विलक्षणता को देखते हुए प्रतीत नहीं होती । जब वे शक्तियां उपलब्ध होती हैं तब तो हो जाती है कार्य अवस्था और जब वे कारण अवस्था में रहती है तब उपलब्ध नहीं होती, अतः अवस्था भेद को संकेतित करते हुए श्रुति में दोनों प्रकार का व्यवहार चला आ रहा है । श्रुति कहती है--

—"वह बिना हाथ पैर वाला वेगशाली पकडने वाला है, बिना आंख के देखने वाला, बिना कान के सुनने वाला है"—

अतः दोनों बातें परस्पर विरोध नहीं रखतीं। सर्व शक्तिशाली होने के कारण ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होना सिद्ध हो जाता है।

—"न प्रयोजनवत्वात्। [२।१।३२]

—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। [२।१।३३]

नोपपद्यते ब्रह्मणः सृष्टिः प्रयोजनवत्वात् प्रवृत्तीनाम्। अणवो गुणा वा प्रधानसमवेताः पुरुषार्थे प्रवर्तन्ते। पुरुषस्तु चेतनः कस्यार्थाय प्रवर्तेत, परिपूर्णरूपस्य च सर्वस्वतन्त्रस्य नानवाप्तमवाप्तव्य वा किञ्चिदस्ति। तस्मान्न स्वार्थाऽपि संभवत्यस्य प्रवृत्तिः। श्रुतिश्च—

—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—

—इत्येवमात्मार्थं सर्वसमारम्भं दर्शयति। ततो यद्यात्मार्था तस्य प्रवृत्तिरिष्यते तर्हि न सर्वाप्तः पूर्णकाम इति प्राप्नोति। अथ यदि सर्वाप्तः पूर्णकामः स परमात्मा तर्हि न तस्यात्मार्थापि जगद्विरचनप्रवृत्तिरुपपद्यते। सत्यम्—

—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यं द्रष्टव्यम्"—

—यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा प्रयोजनविशेषाभावादनभिसंधायेव प्रयोजनं केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति यथा वोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय प्रयोजनं स्वाभावादेव प्रवर्तन्ते एवमीश्वरस्यापि स्वाभावादेव केवल लीलारूपा प्रवृत्तिरेषा द्रष्टव्या। न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। न च किञ्चिदन्यत्प्रयोजनमीश्वरस्य न्यायतः श्रुतितो वा संभवति, आप्तकामश्रुतेः। नाप्यप्रवृत्तिः। सृष्टिश्रुतेः। नाप्युन्मत्तप्रवृत्तिः, सर्वज्ञश्रुतेः। तस्मात् स्वभाव एव सृष्टिप्रवृत्तौ कारणमुत्प्रेक्ष्यते इति बोध्यम्।

—"ब्रह्म से सृष्टि होने का कोई प्रयोजन नहीं है"—(२।१।३२)

—"संसार के दृश्यों के समान ब्रह्म से सृष्टि भी केवल लीला के लिए है"—(२।१।३२]

समस्त प्रवृत्तियों या व्यवहारों के प्रयोजन सहित होने के कारण ब्रह्म से सृष्टि का उत्पन्न होना नहीं बनता। अणु या गुण प्रधान से युक्त होकर पुरुष के लिए प्रवृत्त होते हैं। पुरुष तो चेतन है वह किसके लिए प्रवृत्त होगा। वह तो परिपूर्ण रूप वाला है, वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, उसके लिए ऐसी कोई अभीष्ट वस्तु नहीं है जो उसे प्राप्त न हो। इसलिए अपने लिए भी उसकी किसी प्रकार की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। श्रुति कहती है—

—"सुनो, सबके उद्देश्य से सब प्रिय नहीं होते, अपने लिए सब प्रिय होते हैं"—

इस प्रकार श्रुति ने अपने लिए सबका समारम्भ बतलाया है। अब यदि ब्रह्म की सृष्टि रूपी प्रवृत्ति उसके अपने लिए है। यह माना जाय तब वह पूर्ण काम वाला है, उसे सब कुछ प्राप्त है, यह बात नहीं बनती (क्योंकि सृष्टि करने की आवश्यकता यह बतलाती है कि इसकी उसे आवश्यकता है, इससे पूर्व इसका उसमें अभाव था) और यदि उसे सब कुछ प्राप्त है और उसकी सभी कामनाएं परिपूर्ण हैं तब उसके अपने लिए भी जगत् की रचना में उसकी प्रवृत्ति तर्क सम्मत नहीं ठहरती। यह बात सत्य है।

—"वह तो लोक के समान केवल लीला मात्र है"—

जैसे लोक में किसी पूर्ण अभिलाषा वाले राजा या राजा के मन्त्री की किसी विशेष प्रयोजन के अभाव में किसी उद्देश्य की पूर्ति की अभिलाषा के बिना ही केवल लीला रूपी प्रवृत्तियां क्रीडा बिहार आदि में होती हैं, अथवा जैसे उच्छ्वास प्रश्वास आदि किसी प्रयोजन के अभिसन्धान के बिना ही स्वभाव से ही चलते हैं, उसी प्रकार यह जगत् का निर्माण, पालन और संहार रूपी प्रवृत्ति भी ईश्वर में स्वभाव से ही केवल लीला रूप ही समझनी चाहिए। स्वभाव पर तो कोई प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता। ईश्वर का जगत् की रचना में कोई अन्य प्रयोजन तो तर्क संमत और श्रुति संमत है नहीं, क्योंकि श्रुति उसे आप्त काम कह रही है। उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं जगत् के निर्माण में यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुति उसी से संसार की सृष्टि बतला रही है। ईश्वर की उन्मत्त अवस्था में सृष्टि होती है यह बात भी नहीं बनती क्योंकि श्रुति उसे सर्वज्ञ कह रही है। अतः सृष्टि की प्रवृत्ति का कारण केवल स्वभाव ही समझा जा सकता है।

—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्, तथा हि दर्शयति। ३४।

—"न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। ३५।

—"उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च। ३६।

—"सर्वधर्मोपपत्तेश्च। ३७।

ननु जगतः कारणत्वे स्वातन्त्र्येणाभ्युपगम्यमाने तस्येश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्। तथा हि स हि देवादीनत्यन्तसुखभाजः करोति पश्वादीनत्यन्तदुःखभाजः, मनुष्यादींस्तु मध्यमवृत्तिभाज इति विषमां सृष्टिं कुर्वतस्तस्य रागद्वेषदोषः प्राप्नोति। तथा सति स्वच्छतास्वभावस्तस्य शास्त्रोक्तो विरुध्यते। एवं खलजनैरपि गर्हितं निर्घृणत्वं दुःखयोगविधानात् सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्राप्नोति इति चेत् तत्रोच्यते। वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। सापेक्षत्वात्। सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा हीयं विषमा सृष्टिः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति व्रीहियवादिवैषम्ये तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सार्थ्यानि कारणानि भवन्ति।

एवमीश्वरो देवमनुष्यादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। इत्थं च सापेक्षत्वान्नेश्वरो वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। तथा दर्शयति श्रुतिः—

—"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते"—इति।

—"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन"—

—इति च।

ब्रह्म में विषमता और निर्घृणता नहीं है, सापेक्ष होने के कारण, यह श्रुति दिखलाती है।—(१।२।३४)

वहां कर्म का विभाग नहीं है ऐसा नहीं, अनादि होने से (२।१।३५)

यह तर्क सिद्ध भी है और प्रत्यक्ष भी उपलब्ध है (२।१।३६)

सभी धर्मों की युक्ति सिद्धता भी उसका हेतु है (२।१।३७)

प्रश्न होता है कि जगत् के कारण को स्वतन्त्र मानने पर उस ईश्वर में विषमता तथा निर्दयता (निघृणता) माननी होगी। क्योंकि वह देव आदि का निर्माण करता है जो अनन्त सुख से सम्पन्न हैं, वही पशु आदि अत्यन्त दु:ख के भाजनों को बनाता है और मनुष्य आदि मध्यम कोटि का निर्माण भी वही करता है। इस प्रकार की सृष्टि रचना करने वाले ब्रह्म में राग द्वेष आदि दोष आते हैं। ऐसा होने पर ब्रह्म का शास्त्रों में जो स्वच्छ स्वभाव बतलाया गया है, उसका विरोध होता है। दुष्टजनों के द्वारा भी निन्दनीय दु:ख के संयोग के विधान से, तथा सारी प्रजा के संहार से निर्घृणता ब्रह्म में प्राप्त होती है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि विषमता और निर्घृणता ईश्वर में नहीं आती। क्योंकि वह सापेक्ष है। सृष्टि की यह जो विषमता है उसका कारण उत्पन्न किये जाने वाले प्राणियों के धर्म तथा अधर्म की अपेक्षा है। ईश्वर को तो वर्षा के समान समझना चाहिए। जैसे वर्षा धान, जौ आदि की उत्पत्ति में सामान्य कारण होती है, धान जौ आदि में जो उत्कृष्टता और निकृष्टता की विषमता आती है उनके कारण तो उनके बीजों की विशेषता के सामर्थ्य होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर देवता मनुष्य आदि की सृष्टि का साधारण कारण होता है, देवता मनुष्य आदि में जो वैषम्य है उनके कारण तो उन उन जीवों के अपने अपने असाधारण कर्म होते हैं। इस प्रकार सापेक्ष होने के कारण ईश्वर पर विषमता और निर्घृणता का दोष नहीं आता। श्रुति ने भी इस बात को बतलाया है कि—

—वही उनसे अच्छे कर्म करवाता है जिन्हें इन लोकों से ऊंचा उठाना चाहता है, वही उनसे खराब कर्म करवाता है जिनको नीचे ले जाना चाहता है"—

—"पुण्यशाली को पुण्य कर्म से युक्त करता है तथा पापी को पाप कर्म में लगाता है"—

ननु न कर्म तदानीमस्ति यदपेक्षा विषमा सृष्टिः स्यात्। सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुत्या प्राक्सृष्टेरविभागात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षा कर्मसिद्धिः। कर्मापेक्षश्चायं शरीरादिविभाग इत्यन्योन्याश्रयः प्रसज्यते। तेन विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्षत्वमीश्वरप्रवृत्तेः संभवति, प्राक् तु विभागादिदं वैचित्र्यं नोपपद्यते इति चेन्न। अनादित्वात् संसारस्य। अनादौ हि संसारे बीजांकुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्ववैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते। न च संसारस्यानादित्वं नास्तीति भ्रमितव्यम्। संसारस्याभ्युपगम्यमानायां कर्मनिरपेक्षमेवाकस्मादुत्पत्तौ सत्यां मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः स्यात्। न च कर्मान्तरेण शरीरं संभवति न च शरीरमन्तरेण कर्म संभवतीत्यन्योन्याश्रयस्य दर्शितत्वात्। सर्वसंसारानुद्भूतिप्रसङ्गश्च स्यात्। न च कर्मनिरपेक्षमेव स्वातन्त्र्येणेश्वरस्तथोत्पादयिष्यतीति वक्तुं युक्तम्, वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्य दर्शितत्वात्। उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतौ च स्मृतौ च।

—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः"—

—इति मन्त्रवर्णात्।

—"न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा" इत्यादि स्मरणाच्च।

—"सर्वधर्मोपपत्तेश्च'—

—"ब्रह्मण. कारणत्वे सर्वा अनुपपत्तयः पराहता भवन्ति। विरुद्धाश्चाविरुद्धाश्च सर्वे धर्मास्तत्रोपपद्यन्ते तत्र कोऽयमवकाशः स्यादनुपपत्तेः येन धर्मेण सता यत्र योऽर्थो यथोपपद्येत तत्र तस्यैव धर्मस्याभ्युपगमात् सर्वार्थसिद्धिः।

इति ब्रह्मवादे सांख्योक्तापत्तिनिरासाधिकरणं दशविमर्शं समाप्तम्।

इति द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः।

फिर प्रश्न होता है कि प्रथम सृष्टि के काल में कर्म तो उस समय है नहीं जिनकी अपेक्षा से सृष्टि में विषमता आये। श्रुति ने कहा है—

—"हे सौम्य यह प्रारम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था"—

इससे सृष्टि के पूर्व तो कोई विभाग था नहीं। कर्मों की सिद्धि तो सृष्टि के उपरान्त शरीरों के विभाग के अनन्तर होती है। और यह शरीर आदि का विभाग के की अपेक्षा रखता है तो यह अन्योन्याश्रय नाम का दोष इस सिद्धान्त में आ गया। अतः सृष्टि के उपरान्त अपेक्षा का होना सम्भव है, शरीरों के विभाग के पहिले तो इस प्रकार की विचित्रता का होना युक्ति संगत नहीं ठहरता, यह प्रश्न भी नहीं उठता। क्योंकि संसार अनादि है।

अनादि संसार में बीज और अंकुर के समान कार्य कारण भाव से कर्मों की तथा सब प्रकार की विषमताओं की प्रवृत्ति विरोध नहीं रखती। संसार की अनादिता नहीं है ऐसा भ्रम भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह युक्ति सिद्ध भी है और इसकी उपलब्धि भी होती है। यदि हम संसार को अनादि न मानकर इसकी नवीन उत्पत्ति मानें तब तो जो मुक्त हो चुके हैं उन्हें पुनः जन्म ग्रहण करते हुए मानना होगा। कर्म के बिना शरीर मिलता नहीं और शरीर के बिना कर्म होते नहीं यह अन्योन्याश्रय पहले ही दिखाया जा चुका है। इस प्रकार तो सारे संसार की उत्पत्ति के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। यह भी नहीं माना जा सकता कि ईश्वर बिना कर्म की परवाह किये अपनी स्वतन्त्रता से ही जगत् का निर्माण कर देता है क्योंकि उस स्थिति में विषमता तथा निर्घृणता नामक दोष दिखाए जा चुके हैं। संसार की अनादिता श्रुति और स्मृति दोनों में उपलब्ध होती है।

—"विधाता ने पहिले की तरह सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, आन्तरिक्ष और स्वर्गलोक को कल्पित किया" —

इस मन्त्र में उक्त बात बतलाई गई है।

—"इसका वैसा रूप यहां उपलब्ध नहीं होता, इसका आदि, अन्त या प्रतिष्ठा उपलब्ध नहीं होती"—

इत्यादि स्मृति वाक्यों में भी संसार की अनादिता को दिखाया गया है।

—"समस्त धर्मों की युक्तियुक्तता के कारण"—

ब्रह्म को कारण मानने पर सभी अयुक्तताएं दूर हो जाती हैं। विरुद्ध और अविरुद्ध समस्त धर्म वहां तर्क सिद्ध हो जाते हैं। वहां अयुक्तता को कौनसा अवकाश मिल सकता है, जिस धर्म के अस्तित्व में जो अर्थ जैसे उपस्थित होता है वहां पर उसी धर्म को स्वीकार कर लेने पर समस्त अर्थों की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार दस विमर्शों से युक्त सांख्य में कहे गए आक्षेपों को निरस्त करने वाला अधिकरण पूर्ण हुआ।

पूर्ण हुआ द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद।

—□—

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

अथ प्राधानिकसिद्धान्तपरीक्षा

—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्। [२।२।१]

—प्रवृत्तेश्च। [२।२।२]

—पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि। [२।२।३]

—व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्। [२।२।४]

—अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्। [२।२।५]

—अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्। [२।२।५]

—पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि। [२।२।७]

—अङ्गित्वानुपपत्तेश्च। [२।२।८]

—अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्। [२।२।९]

—विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्। [२।२।१०]

"भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य।
कारणमस्त्यव्यक्तमिति"—

सांख्यमतं प्रत्याख्यायते। सांख्याः प्राधानिकाः प्रधानकारणवादिनः। प्रधानमक्षरमव्यक्तम्। गुणानां सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था हि प्रकृतिर्नाम तत् प्रधानमिति कृत्वाऽयं प्रधानकारणवादो गुणकारणवादः प्रकृतिवादश्चाख्यायते।

–द्वितीय अध्याय–द्वितीय पाद–

—प्राधानिक सिद्धान्त की परीक्षा—

रचना की अनुपपत्ति के कारण (प्रधान कारण नहीं है)
अनुमान भी नहीं बनता २।२।१।

प्रवृत्ति के कारण भी अनुपत्ति है २।२।२।
यदि कहो दुग्ध और जल की तरँह, तो वहां भी (चेतनाधिष्ठित ही हैं) २।२।३।
अन्य की अनवस्थिति के कारण, अपेक्षा के अभाव से प्रधानकारण नहीं है। २।२।४।
अन्यत्र अभाव के कारण तृण आदि की तरँह प्रकृति से उत्पत्ति नहीं होती है। २।२।५।
प्रधान की प्रवृत्ति मानने पर भी प्रयोजन का अभाव है। २।२।६।
मणि आदि पत्थरों की तरँह मानने पर भी दोष नहीं हटता। २।२।७।
किसी के सङ्गी न होने की युक्ति संगतता के अभाव से। २।२।८।
अन्यथा अनुमान करने पर ज्ञाता की शक्ति का वियोग होना दोष है। २।२।९।
विप्रतिषेध के कारण असमञ्जसता है।२।२।१०।

—"भेद के परिमित होने से, समन्वय के कारण, शक्ति के अनुसार प्रवृत्ति की वजह से, कारण तथा कार्य के विभाग हाने से, विश्वरूपता के अविभक्त होने से संसार का कारण अव्यक्त है"—

इस सांख्य मत का प्रत्याख्यान किया जाता है। सांख्य मतानुयायी उन्हें कहें, प्राधानिक नाम उन्हें दें, प्रधानकारणवादो उन्हें कहा जाय, बात एक ही है। प्रधान तत्व की दूसरी संज्ञाएं हैं अक्षर, अव्यक्त। सत्व, रज तम नामक गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, वही इस मत में प्रधान स्थान रखने के कारण प्रधान शब्द से कही जाती है, इसीलिए इस मत का नाम प्रधान कारणवाद या गुणकारणवाद या प्रकृतिकारणवाद व्यवहार में लाया जाता है।

—तत्रेत्थं प्रतिजानते प्राधानिकाः—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मतयान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः। तथा सर्व एवैते बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति। तथाविधं च सामान्यं त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनपुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावभेदेनैव विचित्रेण विकारात्मना परिणमते इति। तत्रेदं ब्रूमः। इदमनुमानसिद्धं प्रधानं न जगत्कारणं संभवति। रचनानुपपत्तेः। अचेतनस्य हि तस्य प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थानां विकाराणां रचने सामर्थ्यं नोपपद्यते। प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानमिदं प्रकाशादिकं जगद्रूपं लोकोक्तरचमत्कारिप्रज्ञावता संभावितमेनालौकिकेन शिल्पिना क्रियमाणमिवानुभूयते। न च तस्य रचना काष्ठलोष्ठादिवदचेतनेन क्रियमाणोपपद्यते। लोष्ठपाषाणादिष्वचेतनेषु लोके प्रज्ञापूर्वकारिताया अदृष्टत्वात्। मृदादिष्वपि कुलालादिचेतनाधिष्ठितेष्वेव विशिष्टाकारा रचना दृश्यते तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनाधिष्ठितस्यैव कारणता संभाव्यते नान्यथा। किञ्च न मृदादिवत् कार्येषु सुखदुःखमोहानामन्वयो दृश्यते सुखादीनामान्तरत्वेन प्रतीतेः।

शब्दादीनामेव तु तद्रूपत्वेन प्रतीतेः। सुखादीनां शब्दादिप्रतीतिनिमित्तत्वप्रतीतेश्च। तस्मादन्वयानुपपत्तेश्च न त्रिगुणं प्रधानं जगत्कारणं संभवति।

प्राधानिकों का सिद्धान्त इस प्रकार है। जैसे घडा, शकोरा आदि भेद मृत्तिका को आत्मा मान कर अनुमित होते हैं, वे मिट्टी को कारण मान कर ही सामान्य रूप से संसार में देखे जाते हैं, वैसे ही ये सारे ही बाहर और भीतर के (आध्यात्मिक) भेद सुख, दुःख, मोह को कारण के रूप में अनुमित कर सुख दुःख मोहात्मक रूप से सामान्यतया समझे जा सकते हैं। और वह जो सामान्य कारण है वह त्रिगुणरूप है, वही प्रधान कहा जाता है वह मिट्टी की तरँह अचेतन है, वह चेतन पुरुष की अभीष्ट सिद्धि के लिए विचित्र विकारों वाले स्वभाव के भेद से परिणत होता है। इस पर हमें यह कहना है कि अनुमान प्रमाण के आधार पर सिद्ध होने वाला यह प्रधान नामक तत्व जगत् का कारण नहीं माना जा सकता। इसका हेतु है रचना की अनुपपत्ति। जो प्रधान तत्व अचेतन है वह स्वतन्त्र रूप से पुरुष के विशिष्ट अर्थों की पूर्ति के लिए आवश्यक विकारों की रचना में समर्थ हो यह बात बनती नहीं। जगत् की जो रचना है उसमें प्रत्येक का अवयव विन्यास नियत है, वह अनेक कर्मों के फल के अनुभव का स्थान है, इसमें प्रकाश आदि है, यह जगत् रूपी रचना लोकोत्तर चमत्कारशाली प्रज्ञावाले समस्त सामर्थ्यों से युक्त अलौकिक शिल्पी के द्वारा विरचित प्रतीत हो रही है। इस संसार की रचना लकड़ी, पत्थर आदि की तरँह किसी अचेतन ने कर दी है यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि लकड़ी पत्थर आदि अचेतन पदार्थों के द्वारा बुद्धिपूर्वक किसी कृति का सम्पादन नहीं देखने में आता। मिट्टी आदि में भी कुम्भकार आदि चेतन के द्वारा संचालित होने पर ही विशिष्ट आकार वाली रचनाएं देखने में आती हैं। उसी प्रधान की जगत् के निर्माण में कारणता भी चेतन के द्वारा संचालित होने पर ही संभव है अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह है कि मिट्टी आदि की तरँह कार्य पदार्थों में सुख दुःख मोह आदि का अन्वय नहीं दिखाई देता क्योंकि सुख आदि भीतर प्रतीत होते हैं। शब्द आदि तो उस रूप से प्रतीत होते हैं। और सुख आदि शब्द आदि की प्रतीति के कारण के रूप में प्रतीत होते हैं। इसलिए अन्वय के अभाव में तीन गुणों वाला प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता।

—प्रवृत्तेश्चानुपपत्तिं पश्यामः। सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था हि प्रधानमिष्यते नान्तरेण वैषम्यं तेषां गुणानामङ्गाङ्गिभावः संभाव्यते। अङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिरेव च गुणानां विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता नाम। न चाप्रवर्तमानस्य कारणत्वं संभवति। तस्मादियं सर्वरचनार्था गुणानां साम्यावस्थानात् प्रच्युतिरूपा प्रवृत्तिस्तावत् किंमूला वक्तव्या। न चाकस्मिकी सा। सार्वकालिकत्वापत्तेः। सृष्टिप्रलयव्यवस्थानुपपत्तेश्च। लोके तावदचेतनप्रवृत्तयः सर्वा एव चेतनप्रवृत्तिपूर्वा भवन्ति। न मृदादयः स्वयमचेतनाश्चे-

तनानधिष्ठिताः सन्तो विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते। दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिस्तार्किकैरभ्युपेयते। तस्मात् प्रवृत्यनुपपत्तेश्च नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणं संभवति—

प्रवृत्ति के कारण भी अनुपत्ति दिखाई देती है। सत्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रधान के रूप में अभीष्ट है। बिना विषमता के उन गुणों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव संभव नहीं है। गुणों की अङ्गाङ्गि रूप से प्राप्ति ही गुणों की विशिष्ट कार्य के लिए प्रवृत्ति होगी। यदि प्रवृत्ति ही नहीं होगी तो उसकी कारणता कैसे बनेगी? तब इस समस्त संसार की रचना के लिए गुणों की अपनी साम्यावस्था को छोड़ कर विषम अवस्था में जाने का क्या कारण बतलाया जायेगा। वह अकस्मात् (बिना किसी निश्चित कारण के) तो हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर तो उसे सर्वदा मानना होगा। (फिर साम्यावस्था की कभी स्थिति नहीं आयेगी) और तब सृष्टि और प्रलय की कोई व्यवस्था न बन सकेगी। ससार में अचेतन पदार्थों की सारी क्रियाएं चेतन क्रिया पूर्वक ही होतीं हैं। मिट्टी आदि बिना किसी चेतन के स्वयं विशिष्ट पदार्थों का निर्माण करते नहीं दिखाई देते। तार्किक दृष्टि से ही अदृष्टि की सिद्धि किया करते हैं। अतः प्रवर्तना के अभाव के कारण अचेतन प्रधीन जगत् का कारण नहीं हो सकता।

—ननु यथा पयोऽचेतनं स्वभावेनैव वत्सवृद्धये प्रवर्तते यथा वा जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दते एवमिदमचेतनं प्रधानं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तते। अत्रोच्यते—

—"पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि"—

—प्रधानवदेव प्रवृत्यनुपपत्तिं ब्रूमः। अस्ति हि तत्रापि प्रधानवत् प्रवृत्तिः। नोपपद्यते वाचेतने प्रवृत्तिः। तस्मात् तत्रापि चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरिति संपादयामः। न ब्रूमोऽचेतने प्रवृत्तिर्नास्तीति। अचेतनत्वात्तु तत्राध्यवसायपूर्वोचिता किंचित्कार्यार्था प्रवृत्तिर्नोपपद्यते तस्मात् सर्वत्रैव चेतनप्रवृत्तिपूर्वा साचेतनप्रवृत्तिरिति वदामः। अत एव प्रधाने वा पयोऽम्ब्वादिषु वा प्रवृत्तिजनकत्वं ब्रह्मण एव चेतनस्य वाच्यं नाचेतनस्य।

पूर्व पक्ष किया जाता है कि जैसे गौ के शरीर या माता के शरीर में स्थित दूध अचेतन होने पर बालक और बछड़े की पुष्टि के लिए प्रवृत्त होता है अथवा जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही लोक के उपकार के लिए बहता है वैसे ही यह अचेतन प्रधान पुरुष की अभीष्ट सिद्धि के लिए स्वभावतः प्रवृत्त होता है। हमें कहना यह है दूध और जल में भी प्रधान की तरँह ही स्वयं में क्रिया का अभाव ही दिखाई देता है। वहां भी जो प्रवृत्ति है वह प्रधान की तरँह चेतन से अधिष्ठित होकर ही है।

अचेतन में तो प्रवृत्ति बनती ही नहीं। दुग्ध और जल में भी जो प्रवृत्ति है वह भी चेतन से अधिष्ठित होकर ही है। हम यह नहीं कहते कि अचेतन में प्रवृत्ति या क्रिया

होती ही नहीं। हमारा कहना तो यह है कि अचेतन होने के कारण उनमें किसी निश्चय के साथ किसी कार्य के लिए उचित प्रवृत्ति नहीं सिद्ध होती, इसलिए सर्वत्र चेतन की प्रवृत्ति पूर्वक अचेतन से प्रवृत्ति होती है। इसलिए चाहे प्रधान में अथवा दूध जल आदि में प्रवृत्ति का जनक चेतन ब्रह्म को ही कहना चाहिए अचेतन को नहीं।

यत्तु प्रवृत्तिरहितस्य ब्रह्मणः प्रवर्तकत्वं न संभवतीति प्राधानिकाः सन्दिहते तदसारम्। अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृतिरहितस्यापि तस्य प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। अयस्कान्तो हि मणिः स्वयं प्रवृतिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति। रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सन्निधिमात्रेण सर्वं प्रवर्तयेदिति नानुपपत्तिः। श्रूयते च पयोऽम्ब्वादीनामपि प्रवृत्तौ ब्रह्मणो हेतुत्वम्।

—"योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमयति। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते"—

—इत्यादिषु। एवं च प्रधानमपि सर्वज्ञसर्वशक्तिमत्पुरुषप्रवर्तितमेव प्रवर्तते इति द्रष्टव्यम्। अन्यथा—

—"व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्"—

—प्रधानस्यास्य परिणामः कश्चिदपि न स्यात्। न हि प्रधानव्यतिरेकेणान्यस्य कस्यचित् प्रवर्तकस्य निवर्तकस्य वाऽवस्थितिरभ्युपेयते पुरुषस्योदासीनत्वेनाभ्युपेतत्वात् तथा चेतरानपेक्षत्वादिदं प्रधानं कदाचिन्महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्नेति वैषम्यं चोपपद्यते। स ततः परिणामः सर्वदैव वा स्यात् कदाचिदपि वा न स्यात्। तस्मान्नोपपद्यते प्रधानकारणवादः।

प्रधानकारणवादी जो यह सन्देह उपस्थित करते हैं कि ब्रह्म तो प्रवृत्तियों से रहित माना जाता है उसका प्रवर्तक होना तो संभव ही नहीं है तो यह कथन निःसार है। अयस्कान्तमणि की तरँह अथवा रूप आदि के समान उसके प्रवृत्ति रहित होने पर भी वह प्रवर्तक होता है यह समझ में आ सकता है। अयस्कान्त मणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी लोहे को अपनी ओर खिंच आने की प्रवृत्ति देता है। रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्ति से रहित होते हुए भी नेत्र आदि के प्रवर्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी ईश्वर अपनी सन्निधि मात्र से सभी को प्रवृत्त करता है इसमें कोई असुविधा की स्थिति नहीं है। दुग्ध जल आदि की प्रवृत्ति में ब्रह्म की कारणता को श्रुति भी कह रही है कि—

—"जो जल में रहता हुआ जलके भीतर अनुप्रविष्ट है, जो जल के भीतर रह कर उसे नियमित करता है, हे गार्गि, इस अक्षर के प्रशासन में पूर्व की तथा अन्य नदियां बह रही हैं"—

इसी प्रकार देखना चाहिए कि प्रधान भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान पुरुष के द्वारा प्रवर्तित होकर ही प्रवृत्त होता है, अन्यथा व्यतिरेक की अनवस्थिति के कारण अनपेक्षा हो जायगी और इस प्रधीन का कोई भी परिणाम नहीं होगा। प्रधान के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रवर्तक या निवर्तक के रूप में स्थिति तो मानी नहीं जाती क्योंकि जो पुरुष माना गया है वह तो उदासीन है। इस प्रकार अन्य किसी की अपेक्षा न रहने पर यह प्रधान कभी तो महत्तत्व के आकार में परिणत होगा और कभी नहीं होगा, इस प्रकार विषमता बनी रहेगी। इस प्रकार तो या तो यह परिणाम सर्वदा होगा या कभी नहीं होगा। अतः प्रधान कारणवाद युक्ति सिद्ध नहीं ठहरता।

ननु तृणपल्लवोदकादिकं निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वाभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमते तद्वदिदं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यते इति चेत् तत्रोच्यते—

—"अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्"—

—प्रधानस्य स्वाभाविकः परिणामः शक्यं वक्तुम्। यदि नाम निर्निमित्तमेषां तृणादीनां स्वाभाविकः क्षीरादिपरिणामः स्यादवश्यं तर्हि धेनुशरीरसंबन्धादन्यत्र वृषभादिष्वपि तद्भुक्ततृणादीनां क्षीरीभावो जायेत। अन्यत्राभावाच्च तृणादीनां क्षीरीभावस्य नास्ति निर्निमित्तत्वमिति विज्ञायते। तस्मान्न तृणादिवत् प्रधानस्य निर्निमित्तं स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगन्तुं शक्यते। अथापि वा यद्यप्ययं प्रधानस्य स्वाभाविक एव परिणमोऽभ्युपगम्यते अभ्युपगम्यतां नाम—

—"अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्"—

पुरुषार्थं साधयितुं प्रधानप्रवृतिरिति सांख्यप्रतिज्ञा हीयते। सहकारिनिमित्तापक्षाया इवार्थापेक्षाया अप्यभावप्रसङ्गात्। किञ्च किमर्था प्रधानप्रवृतिरिष्यते। न तावद्भोगार्था। अनाधयातिशयस्य पुरुषस्य भोगासंभवादनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। नापवर्गार्था। प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वाच्छब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गाच्च। नोभयार्था। भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न चौत्सुक्यनिवृत्यर्था प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यासंभवात्। न पुरुषौत्सुक्यनिवृत्यर्था, तस्य निर्मलत्वात्। अथ दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयात् प्रवृत्तिश्चेत्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत् सर्गशक्त्यनुछेदात् संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः तस्मात् पुरुषार्था प्रधानप्रवृतिरिति नावकल्पते।

पूर्वपक्ष उठाया जाता है कि घास, पोखरे का पानी आदि किसी दूसरे की जरूरत के बिना ही स्वभाव से ही दूध आदि के आकार में परिणत होते रहते हैं वैसे ही यह प्रधान भी महत् आदि के आकार में परिणत होता रहेगा तो उस पर कहना यह है कि अन्यत्र अभाव के कारण तृण आदि की तरँह प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जा सकता। यदि बिना किसी निमित्त के तृण आदि का दुग्ध आदि के रूप में परिणाम

स्वाभाविक हो तो अवश्य ही गाय आदि के शरीर के सम्बन्ध के अतिरिक्त बैल आदि के शरीरों में भी उनके खाये हुए तृण आदि का दुग्ध रूप में परिणत होना देखा जा सके। जब धेनु आदि के शरीर के अतिरिक्त कहीं भी तृण आदि के दुग्ध रूप में परिणत होने के अभाव के कारण यह समझना आसान है कि तृण आदि का दुग्ध आदि के रूप में परिणाम बिना किसी निमित्त के नहीं है। इसलिए घास आदि की तरँह बिना किसी निमित्त के प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जा सकता। इतने पर भी यदि इस प्रधान का स्वाभाविक परिणाम ही महत् आदि के रूप में आप मानते हैं तो मानते रहिये, ऐसा मानने पर भी कोई प्रयोजन तो सिद्ध होने वाला है नहीं। पुरुष के अर्थ की सिद्धि के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है यह सांख्य की जो प्रतिज्ञा है वह गिर जायेगी। जैसे निमित्त सहकारी की अपेक्षा का अभाव हो गया वैसे ही आवश्यकता की अपेक्षा का भी अभाव हो जायगा। पूछना है कि यह प्रधान की प्रवृत्ति किस उद्देश्य से होगी। भोग के लिए तो यह प्रवृत्ति होगी। नहीं जिस पुरुष में किसी अतिशय का आधान ही नहीं होगा उसके भोग की कोई सभावना ही नहीं, और फिर यदि पुरुष का भी भोग मान लिया गया तो मोक्ष के अभाव की स्थिति आ जायगी। यह प्रवृत्ति मोक्ष के लिए भी नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रवृत्ति के पहिले भी मोक्ष तो सिद्ध ही है, पुनश्च मोक्ष के लिए प्रवृत्ति मानने पर शब्द आदि की उपलब्धि का प्रसंग समाप्त हो जायगा। दोनों के लिए इस प्रवृत्ति को मानना भी नहीं बन सकता क्योंकि भोक्तव्य जो प्रधान की मात्राए हैं, वे अनन्त हैं, उनके भोग में प्रवृत्त होने पर मोक्ष का कभी अवसर ही नहीं आयेगा। यह प्रवृत्ति उत्सुकता की निवृत्ति के लिए होती है यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रधान तो अचेतन है उसमें उत्सुकता आ ही नहीं सकती। कदाचित् पुरुष की उत्सुकता की निवृत्ति इसका उद्देश्य माना जाय तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष तो निर्मल है उसमें उत्सुकता का प्रश्न ही नहीं है। अब यदि कहो कि देखने की शक्ति और सजन की शक्ति व्यर्थ न हो जाय इस भय से प्रधान में प्रवृत्ति होती है तो आपत्ति यह है कि जैसे पुरुष की देखने की शक्ति कभी समाप्त नहीं हो सकती वैसे ही प्रधान की सर्जन शक्ति भी कभी समाप्त नहीं होगी और इस प्रकार संसार का उच्छेद कभी नहीं होगा और मोक्ष का प्रसंग कभी नहीं आयेगा। इसलिए पुरुष के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है यह बात नहीं बनती।

ननु यथा दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिहीनः पङ्गुः प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृग्विहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति, यथा वायस्कान्तोश्मा स्वयमप्रवर्तसानोऽप्ययः प्रवर्तयति, एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति को दोषः। अत्रोच्यते।

—पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि—

—दोषः प्रसज्यते। सांख्यसमये पुरुषस्योदासीनतया प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। इदानीं प्रवर्तकत्वाभ्युपगमे त्वभ्युपेतार्थहानप्रसङ्गात्। यथा वा पङ्गुरन्धं पुरुषं वागादिना प्रवर्तयति नैवं पुरुषः प्रवर्तयेत्। निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च। नाप्ययस्कान्तवत्

सन्निधिमात्रेण प्रवर्तयेत्। पुरुषसंन्निधेर्नित्यतया प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात्। तस्मात् प्रधानस्य प्रवृत्तिरर्थाभावान्नोपपद्यते।

पुनः पूर्व पक्ष है कि जैसे देखने की शक्ति रखने वाले क्रिया हीन पङ्गु व्यक्ति क्रिया सम्पन्न दृष्टिहीन अन्धे के कन्धे पर चढ़कर उसे चलाता है, अथवा जैसे अयस्कान्त मणि की ऊष्मा स्वयं प्रवृत्त न होती हुई भी लोहे को प्रवृत्त करती है, उसी प्रकार पुरुष प्रधान को प्रवृत्त करता है, ऐसा मानने में क्या दोष है। यहां यह कहना है कि अयस्कान्त के समान पुरुष को मानने पर भी दोष से छुटकारा नहीं मिल पाता क्योंकि सांख्य मत में पुरुष को उदासीन माना जाने के कारण उसमें प्रवर्तन की प्रक्रिया ही असिद्ध है। यदि यहां पुरुष को प्रवर्तक मान लिया जाता है तो अपने ही स्वीकृत नियम को छोड़ने का दोष सांख्य मत पर अवश्य आयेगा। जैसे पंगु व्यक्ति अन्धे व्यक्ति को वाणी के प्रयोग आदि से प्रवृत्त करता है वैसे तो पुरुष प्रधान को प्रवृत्त करेगा नहीं। क्योंकि पुरुष तो निर्गुण और निष्क्रिय है। और न अयस्कान्त मणि की तरह अपनी समीप स्थिति मात्र से प्रवृत्त कर सकेगा क्योंकि पुरुष की तो प्रधान के समीप नित्य ही स्थिति रहेगी तब प्रवृत्ति भी सर्वदा बनी ही रहेगी; इसलिए प्रयोजन या उद्देश्य के अभाव में प्रधान की प्रवृत्ति होना युक्ति से ठीक नहीं बैठता।

—"अङ्गित्वानुपपत्तेश्च"—

—साम्येन सतां गुणानां स्वरूपमात्रेणावस्थानं प्रधानावस्थाऽभ्युपगम्यते। तत्र परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावो नोपपद्यते। अन्यस्तु ततः क्षोभयिता नास्ति। तथा च गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न संभवति।

—ननु न ह्यनपेक्षस्वभावास्ते त्रयः गुणा अभ्युपगम्यन्ते कार्यानुरोधेनैव हि गुणानां स्वभावस्यानुमेयत्वात्। यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावः कल्प्येत। तस्मात् साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्यता गुणानामनुमास्यते—इति चेत् तत्रोच्यते—

—"अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्"—

—प्रधानस्य रचनानुपपत्त्यादयः प्रागुक्ता दोषा न निवर्तन्ते। कार्योत्पादानुरोधेन प्रधाने ज्ञशक्तिरपि कल्प्यते सांख्यैः। यदि तु रचनानुपपत्त्यादिदोषपरिहाराय कार्योत्पादोपपादाय च प्रधाने ज्ञशक्तिमप्यनुमास्यन्ति तर्हि समागतश्चेतनकारणवादो निरस्तश्च प्रधानकारणवाद इत्यास्ताम्।

—"विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्"—

प्राधानिकदर्शनं पश्यामः। क्वचिदिह सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश। क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमाहुः, क्वचिदहङ्कारात्। क्वचित् त्रीण्यन्तःकरणानि क्वचिदेकम्।

पञ्चविंशतिस्तत्वानि षड्विंशतिः सप्तविंशतिर्वा क्वचित् क्वचिदभ्युपगम्यन्ते । एवमन्येऽपि दृश्यन्ते विप्रतिपत्तिवादाः । तस्मादत्र सामञ्जस्यमर्थानां नोपलभामहे । श्रुत्या चेश्वरकारणवादिन्या स्मृत्या च भूयसा विप्रतिषेधो दृश्यते । तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति निरस्तः प्रधानकारणवादः ।

—"अथ च अङ्गी रूप से असिद्ध होने के कारण"—

साम्य रूप से अवस्थित गुणों की अपने स्वरूप में स्थिति को प्रधान की अवस्था कहा जाता है । उनमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव या गौण और प्रधानता की स्थिति सिद्ध नहीं होती । उनके अतिरिक्त उनको चलाने या क्षुब्ध करने वाला अन्य तो कोई है नहीं । तब गुणों की विषमता के कारण महान् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति होना संभव नहीं रह जाता ।

यदि यह कहा जाय कि ये तीनों गुण बिना अपने स्वभाव के तो माने नहीं गए हैं, और गुणों का स्वभाव क्या है यह उनके कार्यों के द्वारा ही अनुमान से जाना जाता है । जैसे जैसे कार्यों की उत्पत्ति दिखाई देती है वैसे ही वैसा उनका स्वभाव कल्पित किया जाता या समझा जा सकता है । अतः साम्यावस्था में स्थित गुणों में भी विषम अवस्था में जाने की योग्यता का अनुमान कर लिया जायगा तो इस पर कहना यह है कि—

—"अन्यथा अनुमान करने पर ज्ञाता की शक्ति के वियोग के कारण"—

प्रधान की रचना शक्ति की अयुक्तता आदि पहिले बतलाए गए दोष मिटेंगे नहीं । जैसे कार्यों की उत्पत्ति के कारण गुणों के स्वभाव का अनुमान किया गया वैसे ही प्रधान में ज्ञाता की शक्ति की कल्पना कर लेना सांख्य दर्शन में नहीं माना गया है । जगत् की रचना कैसे होगी ? इसमें आने वाले दोषों को हटाने के लिए और कार्यों की उत्पत्ति की सिद्धि के लिए प्रधान में ज्ञाता की शक्ति को भी अनुमान से सिद्ध कर लिया जाता है तब आ ही गया चेतन कारणवाद और नमस्कार कर लिया गया प्रधान कारणवाद या जड़ कारणवाद को इसलिए जाने दीजिए इस बात को ।

—"विप्रतिषेध के कारण भी असमञ्जस देखते हैं"—

प्राधानिक दर्शन में । यहां कहीं तो सात इन्द्रियों का वर्णन मिलता है, कहीं ग्यारह इन्द्रियां वर्णित हैं । कहीं महान् से तन्मात्राओं की सृष्टि बतलाई जा रही है तो कहीं उनकी सृष्टि अहंकार से समझाई जा रही है । कहीं अन्तःकरण तीन वर्णित हैं तो कहीं एक ही कहा गया है । कहीं पच्चीस तत्त्व हैं, कहीं छब्बीस हैं, कहीं सत्ताईस हैं । इसी प्रकार अन्य भी कई विप्रति पत्ति की बातें हैं, इसलिए सांख्य में प्रतिपादित अर्थों में युक्तिसिद्धता नहीं दिखाई देती । श्रुति से तथा ईश्वर को कारण बतलाने वाली स्मृतियों

से विरोध तो अधिकांश में है ही। इसलिए सांख्यों का यह दर्शन असमञ्जस है और इस प्रकार प्रधान कारणवाद निरस्त हो जाता है।

अपि च तप्यतापकभावोपपादनमित्थं कुर्वते सांख्याः। तप्तिर्दुःखम्। तापकं रजः तप्यं सत्वम्-तप्यतापकशक्तेः संयोगनिमित्तमात्मादर्शनाख्यं तमः। सत्वे परितप्ते सत्वप्रतिबिम्बितोऽयं चेतनः पुरुषोऽपि तप्यत इव।

—(अत्र शङ्करभाष्ये तप्यतापकविचारो भूयसा प्रक्रान्तः।)—

सेयमस्य पुरुषस्य तप्तिः जलक्षोभनिबन्धनं जलचन्द्रस्य प्रकम्पनमिवौपाधिकी प्रतिभातीति। अत्रेदमौपनिषदैः प्रतिवक्तव्यम्। अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात् सत्वानुरोधिनश्चेतनस्य पुरुषस्यानिर्मोक्षः प्रसज्येत। गुणानामुद्भवाभिभवयोरनियतत्वाभ्युपगमेऽप्यस्य तापकसंयोगनिमित्तोपरमलक्षणस्य तापकवियोगस्यानियतत्वप्रसक्त्या तदनिर्मोक्षप्रसङ्गस्तदवस्थ एव। तस्मादविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिकः उपनिषत्सिद्धान्ते आत्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्मिन्नस्मिन्नात्मनि विषयविषयिभावानपपत्तेः। विकारभेदानामेषां वाचारम्भणमात्रताश्रवणाच्च। गुणनित्यत्ववादिनां तु सांख्यानां दुःखसंयोगस्य नित्यत्वापतिरिति मोक्षशास्त्राणां विप्रतिषेधादप्यसमञ्जसं सांख्यशास्त्रम्।

इति प्राधानिक (सांख्य) मतनिरसनं प्रथममधिकरणम्।

पुनश्च सांख्यमत में ताप्य तापक भाव की सिद्धि इस प्रकार की जाती है। तप्ति या ताप का अर्थ है दुःख, तापक है रजो गुण, तपने वाला है सत्त्व गुण। ताप्य और तापक शक्ति के सयोग का निभित्त बनने वाला, आत्मा को देखने से रोकने वाला है तमो गुण। जब सत्त्व गुण तप्त होता है तो सत्त्व गुण में प्रतिबिंबित होने वाला यह चेतन पुरुष भी ऐसा प्रतीत होता है कि तप रहा है, कष्ट पा रहा है।

[यहां शांकर भाष्य में तप्य तापक का विचार विस्तार से किया गया है]

इस पुरुष का यह ताप या दुःखी होना वैसा ही औपाधिक या मिथ्या है जैसे जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा जल की हलचल या क्षोभ से चंचल या विक्षुब्ध दिखाई देता है। यहां उपनिषद सिद्धान्त के अनुयायीगण यही उत्तर देते हैं कि पुरुष के अदर्शन में निमित्त बनने वाला जो तमोगुण है उसको जब नित्य मान लिया गया तो सत्त्व का अनुरोध रखने वाले चेतन पुरुष के मोक्ष का तो प्रसंग ही समाप्त हो गया। गुणों का उद्भव और अभिभव अनियत है ऐसा मानने पर भी तापक के संयोग के कारण का विराम स्वरूप तापक का वियोग अनियत रह गया और इसके कारण मोक्ष के अभाव की स्थिति वैसी ही बनी रही। इसलिए यह तप्य और तापक का भाव अविद्या के द्वारा उत्पन्न किया गया है, यह वास्तविक या पारमार्थिक नहीं है। उपनिषद सिद्धान्त में

तो आत्मा को एक ही माना जाता है, और इस एक आत्मा में विषय और विषयी भाव ठहरता ही नहीं। जितने भी ये विकारों के भेद हैं इन्हें तो वाणी के व्यवहार मात्र का विषय श्रुति ने बतलाया है। जो गुणों को नित्य मानने वाले सांख्य दर्शन के अनुयायी लोग हैं उनके मत में तो दुःख के संयोग की नित्यता की आपत्ति होने से मोक्ष शास्त्र ही निषिद्ध कोटि में चले जायेंगे। अतः सांख्य शास्त्र असमञ्जसताओं से मुक्त नहीं माना जा सकता। यह प्राधानिक (सांख्य) मत के खण्डन का प्रथम अधिकरण पूर्ण हुआ।

अथ वैशेषिकसिद्धान्तः परीक्ष्यते।

—"महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्। [२।२।११]

—उभयथापि न कर्मातस्तदभावः। [२।२।१२]

—समवायाभ्युपगमच्च साम्यादनवस्थितेः। [२।२।१३]

—नित्ममेव च भावात्। [२।२।१४]

—रूपादिमात्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्। [२।२।१५]

—उभयथा च दोषात्। [२।२।१६]

—अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा। [२।२।१७]

अब वैशेषिक सिद्धान्त की परीक्षा की जाती है—
महत् अथवा दीर्घ के समा ह्रस्व परिमण्ड़लों से—२।२।११।
दोनों प्रकार से कर्म नहीं बनता अतः उसका अभाव है—२।२।१२।
और समवाय के स्वीकार के कारण तथा साम्य से अनवस्थिति के कारण —२।२।१३।
नित्य ही रहने के कारण—२।२।१४।
रूपादि मान होने से विपर्यय है, दर्शन के कारण—२।२।१५।
दोनों ही प्रकार से दोष के कारण—२।२।१६।
अपरिग्रह से अत्यन्त धनपेक्षा है—२।२।१७।

—अथ वैशेषिकवादः प्रत्याख्यायते। स च विशेषकारणवादोऽणकारणवादश्चाख्यायते—

—तत्रेत्थं प्रतिजानते वैशेषिकाः। कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात् तद्विपर्ययादर्शनाच्च। तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणः कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्। न तथा दृश्यते। तस्मान्न चेतनं जगतः कारणमिति। तत्रोच्यते चेतनादपि कारणादचेतनं कारणविलक्षणं कार्यमुत्पत्स्यते—

—"महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्"—

यथा हि वैशेषिकनये परमाणोः परिमण्डलात् सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि न परिमण्डलम् । यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु ह्रस्वं वा । एवमिहापि चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यते इति न ब्रह्मकारणवादेऽनुपपत्तिः । कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भन्ते इति नियमे सत्यपि यथा न द्वयणुकादिषु पारिमण्डल्यपरिमाणानुवृत्तिः एवमिहापि न चेतनोत्पन्नकार्येषु चैतन्यानुवृत्तिः । ननु तत्र विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रमणान्न पारिमाण्डल्यं स्वसजातीयं परिमाणान्तरमारभते । इह तु चेतनाविरोधि गुणान्तरं कार्ये नोपतिष्ठते इति बाधकाभावात् कारणगुणस्य चेतनस्यारम्भकत्वं केनवार्यतेति चेत् । सत्यम् । सर्वे ह्येते नियमाः फलबलादेवोपकल्प्यन्ते । कार्यकारणभावाश्च प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाश्च । तत्र यथा पारिमाण्डल्यभिन्नानां गुणानामारम्भकत्वं फलबलात्कल्प्यते एवं चैतन्यभिन्नानामपि फलबलादेव कल्पयिष्यते । तथा च परिमाणवच्चैतन्यस्याप्यनारम्भकत्वासिद्धौ नानुपपत्तिः । इति शारीरकनये वैशेषिकोत्थापिताक्षेपो निराकृतः ।

—अथेदानीं वैशेषिकनयो निराक्रियते । तत्र अणवो विशेषा इत्यनन्योऽर्थः । तान् विशेषानधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं वैशेषिकम् । तेषु विशेषेषु जगतो निष्ठां मन्यमाना वैशेषिकाः । ते तावदित्थं पश्यन्ति । सर्वं चेदं गिरिसमुद्रादिकं जगत् सावयवं दृश्यते । सावयवत्वादाद्यन्तवत् । यदाद्यन्तवत् तत्कार्यम् । न च कार्यमकारणं भवति । तच्च कारणं पटादिषु तन्त्वादीन्यारम्भकद्रव्याण्येवोपलभ्यते । तत्सामान्यात् सर्वमिदं सावयवं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते । तदित्थमयमवयवावयविविभागोऽवयव्यारम्भकोऽवयवानां पारम्परिकक्रमेणानुवर्तमानो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः । स तस्यां परम्परायां सर्वेषां कारणम् । तत्र चतुर्विधानि हि सावयवानि भूम्यप्तेजःपवनाख्यानि दृश्यन्ते । तस्माच्चतुर्विधा एव ते परमाणवो जगतःकारणत्वेनाभ्युपगम्यन्ते । तेषां चाविभाज्यत्वाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्त एव स विभागो भवति । स प्रलयकालः । ततः सर्गकाले वायवीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते । तत् कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति । ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुर्भवति । एवमग्निः, एवमापः, एवं पृथिवी । एवं शरीरं सेन्द्रियम् । तदित्थमणुभ्यः सर्वमिदं जगत् संभवति । अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्वयणुकादिगतानि रूपादीनि जायन्ते – इति हि काणादं मतं भवति ।

अब वैशेषिक मत का प्रत्याख्यान किया जाता है। इसे विशेषकारणवाद या अणुकारणवाद कहा जाता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में वैशेषिक दर्शन के विद्वान् यह मानते हैं कि कारण द्रव्य में नित्य सम्बन्ध से रहने वाले गुण कार्य द्रव्य में अपने समान जातीय दूसरे गुणों

का ग्रारम्भ करते हैं। सफेद धागों से सफेद वस्त्र की उत्पत्ति दिखाई देती है, उसके विपरीत बात दिखाई नहीं देती। ग्रतः चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर कार्य रूप जगत् में भी चेतन का समवाय होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। ग्रतः जगत् का कारण चेतन नहीं है। वहां कहना यह है कि चेतन कारण से भी ग्रचेतन कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति होगी।

—"महान् ग्रथवा दीर्घ की तरह परिमण्डलों से"—

जैसे वैशेषिक सिद्धान्त में परमाणु के परिमण्डल से सत्ता वान् ग्रणु ह्रस्व ग्रौर द्व्यणुक हो जाता है, महान् ग्रौर दीर्घ त्र्यणुक ग्रादि बन जाते हैं, परिमण्डल ही नहीं रह जाता। ग्रथवा ग्रणु ग्रौर ह्रस्व द्वयणुक सत्ता से महान् ग्रौर दीर्घ त्र्यणुक बन जाता है, वह ग्रणु ग्रौर ह्रस्व ही नहीं रह जाता वैसे ही यहां भी चेतन ब्रह्म से ग्रचेतन जगत् का निर्माण हो सकेगा। इस प्रकार ब्रह्म कारणवाद में कोई बाधा नहीं है। कारण के गुण कार्य के गुणों का ग्रारम्भ करते हैं इस नियम के रहते हुए भी जैसे द्व्यगुण ग्रादि में पारिमाण्डिल्य के परिमाण की ग्रनुवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार यहां भी चेतन के द्वारा उत्पादित कार्यों में चैतन्य की ग्रनुवृत्ति नहीं होगी। यदि कहा जाय कि वहा विरोधी दूसरे परिमाण के ग्राक्रमण के कारण पारिमाण्डिल्य ग्रपने समान जातीय ग्रन्य परिमाण को ग्रारम्भ नहीं करता। यहां तो कार्य में कोई चेतना का विरोधी दूसरा गुण नहीं है, ग्रतः बाधक के ग्रभाव में कारण के गुण चेतन का ग्रारम्भकत्व किसके द्वारा रोका जायगा। यह ग्राशंका सत्य है। ये सभी नियम फल के बल से हो कल्पित किये जाते हैं। चाहे वह कार्यकारण भाव हो चाहे प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव हो। वहां जैसे पारिमाण्डल्य से भिन्न (महत्व दीर्घत्व) गुणों की फल के बल से कल्पना की जाती है वैसे ही (ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति में) चैतन्य से भिन्न गुणों की भी फल के बल से ही कल्पना हो जायगी। ग्रौर इस प्रकार जैसे परमिाणु से दीर्घ ग्रौर महत्व को ग्रारम्भकता में कोई ग्रापत्ति नहीं ग्राती वैसे ही चैतन्य से भी जड़ पदार्थों की ग्रारम्भकता में कोई ग्रापत्ति नहीं होगी। इस प्रकार शारीरक सिद्धान्त में वैशेषिकों के द्वारा उत्थापित ग्राक्षेप का निराकरण किया गया।

ग्रब वैशेषिक मत का निराकरण किया जाता है। यहां ग्रणु कहें या विशेष कहें बात एक ही है। उन विशेषों को ग्राधार बना कर विरचित शास्त्र का नाम वैशेषिक है। उन्हीं विशेषों में जगत् की निष्ठा को (उत्पत्ति को) मानने वाले शास्त्र को वैशेषिक कहते हैं। वैशेषिक दर्शन वाले इस प्रकार ग्रपना दर्शन प्रस्तुत करते हैं कि यह सारा पर्वत समुद्र ग्रादि से भरा हुग्रा संसार सावयव दिखाई देता है। सावयव होने के कारण इसका ग्रादि ग्रौर ग्रन्त होता है। जो ग्रादि वाला तथा ग्रन्त वाला है उसको कार्य कहा जाता है। कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता। ग्रौर वह कारण मिलता है पट ग्रादि की प्रारम्भ करने वाले तन्तुग्रों के समान ग्रारम्भक द्रव्यों में। इसी सामान्य नियम के

अनुसार यह सारा संसार सावयव है और अपने में अनुगत संयोगों के सहकारी उन उन विशेष द्रव्यों से आरम्भ किया गया है, यह समझा जाता है। ता इस प्रकार यह अवयव अवयवी का विभाग अवयवी का आरम्भ करने वाला है, यह अवयवों की परम्परा के क्रम से अनुगत होता है और जहां जाकर यह समाप्त होता है अर्थात् जिसका फिर अवयव के रूप में विभाग होना सम्भव नहीं रह जाता वह सबसे आरम्भ की कोटि का अवयव परमाणु कहलाता है। वही उस परम्परा में सब का कारण है। इन में चार प्रकार के सावयव द्रव्य भूमि, जल, तेज और वायु दिखाई देते या अनुभूत होते हैं। इसलिए चार प्रकार के ही उनके परमाणु जगत् के कारण के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। वे परमाणु विभक्त नहीं होते अतः जब पृथिवी आदि का विनाश होता है तब उनका विभाग परमाणु तक ही होता है। वही प्रलयकाल है। उसके अनन्तर सृष्टिकाल में वायवीय अणुओं में अदृष्ट के कारण कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म अपने आश्रित अणु को दूसरे अणु से संयुक्त करता है। तब द्वयणुक आदि के क्रम से वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल तथा पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार इन्द्रियों वाले शरीर की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अणुओं से यह सारा जगत् संभूत होता है। अणुओं में आश्रित रूप आदि से द्व्यणुक के रूप आदि बनते हैं। यह कणाद का सिद्धान्त है।

वहां हम यह कहते हैं—दोनों प्रकार से कर्म नहीं बनता इसलिए उसका अभाव है। विभाग की अवस्था में स्थित अणुओं के संयोग के लिए दोनों में या एक में कर्म की आवश्यकता है। अन्यथा अलग-अलग रहने वाले अणुओं के एक स्थिति के अभाव में उनका संयोग ही नहीं होगा। इसलिए या तो दोनों परमाणुओं के या एक परमाणु के कम से ही उनका सयोग होना मानना होगा परन्तु वहां कर्म की उत्पत्ति का काई कारण उपस्थित न होने से दोनों ही प्रकार से कर्म की संभावना नहीं है। कहा यह गया है कि वह कर्म अदृष्ट की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। यह बात नहीं बनती। परमाणु के अदृष्ट की अथवा जिस किसी प्राणी के अदृष्ट को, अथवा सभी प्राणियों के अदृष्ट की वहां कल्पना करना युक्ति संगत नहीं है। तथा उन उन परमाणुओं में उन उन अदृष्टों के विशेषों की कल्पना करने पर परमाणुओं की अन्तिम अवस्था में विशेषता के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा। 'अन्यत्र अन्तिम विशेषों से' यह सूत्र बनाते हुए तो कणाद ने अन्तिम विशेषणों की व्यावृत्ति के कारण मात्र की आवश्यकता बतलाई है। अनेक प्रकार के कर्मों से उत्पादित अनेक प्रकार के भागों के उपायभूत अनेक प्रकार के अवसान के साथी परमाणु में तो विशेष की वैसी अनेक वासना की अनुवृत्तिके हेतु होने पर सिद्धान्त का विरोध होगा। इसलिए वहां अदृष्ट का सयोग न हो सकेगा और तब द्व्यणुक आदि की उत्पति नहीं हो सकेगी। और तब सृष्टि का भी अभाव हो जायगा। इसीलिए वैशेषिक मत के तत्त्व विश्लेषण का भी अभाव है, यह समझना चाहिए।

तत्रेदं ब्रूमः—

—"उभयथापि न कर्मातस्तदभावः"—

—विभागावस्थानामणूनां संयोगार्थं तेषु उभयोरेकस्मिन् वा कर्मापेक्ष्यते अन्यथा पृथक्स्थितयोः संनिधानाभावात् संयोगासंभवात्। तस्मादुभयकर्मणाऽन्यतरकर्मणा वा संयोगो वाच्यः। किन्तु तत्र कर्मोत्पत्तिनिमित्ताभावादुभयथापि न कर्म संभाव्यते। यत्त्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते इत्युक्तं तदसत्। परमाण्वदृष्टस्य यत्किञ्चित् प्राण्यदृष्टस्य सर्वप्राण्यदृष्टस्य वा तत्र कल्पनाया अयौक्तिकत्वात्। तत्तत्परमाणौ तत्तददृष्टविशेष-कल्पनायां परमाणूनामन्त्यविशेषत्वाभावप्रसङ्गाच्च। "अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य" इति सूत्रयता तु कणादेनान्त्यविशेषाणां व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वमात्रं विवक्ष्यते। नानाविधकर्मज-नितनानाविधभोगौपयिकनानावासनासचिवे तु परमाणौ विशेषस्य तादृशानेकवासनानु-वृत्तिहेतुत्वप्राप्तौ सिद्धान्तविरोधः स्यात्। तस्मात्तत्रादृष्टसंयोगाभावः। अत एव कर्माभावः। अतः कर्मजन्यसंयोगाभावः। अतो द्व्यणुकाद्युत्पत्त्यभावः। अतः सृष्ट्यभावः। अत एव च वैशेषिकनयस्य तात्त्विकत्वाभाव इति बोध्यम्।

(इस अंश का अनुवाद पिछले पेज में है)

—ननु फलबलान्निर्निमित्तमेव कर्मोपगंस्यते, निमित्तमेव वा किंचित्तत्रोपगंस्यते इति चेन्न। उभयथापि न कर्म संभाव्यते। आकस्मिकस्य कर्मणोऽशास्त्रार्थत्वात्। आकस्मिकत्वोपगमे परमाणुकारणताया एव सर्वनाशाच्च। सर्गोत्तरकालं निमित्तोत्पत्तावपि सर्वादिसृष्टिकाले निमित्तानामनुत्पत्त्या तदुपगमासंभवाच्च।

ननु फलबलात् प्रयत्नाभिघातादिकं दृष्टमदृष्टं वा किञ्चिन्निमित्तं तत्रोपगंस्यते इति चेन्न। उभयथापि न कर्म संभाव्यते। न तावद् दृष्टं संभवति। तदानीं शरीराभावात्, शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। अत एव नाभिघा-तादिकं संभवति। प्रयत्नादेः सर्वस्य सृष्ट्युत्तरकालिकत्वात्। सृष्ट्यादिकाले तदसंभवात् अदृष्टमपि नास्ति। अदृष्टस्य कर्मजन्यतया तत्र कर्माभावाददृष्टानुपपत्तेः।

यदि यह कहा जाय कि फल के बल से बिना किसी निमित्त या कारण के ही वहां कर्म होगा, अथवा वहां किसी निमित्त की कल्पना करली जायगी तो यह भी नहीं सम्भव है। दोनों ही प्रकार से वहां कर्म की सम्भावना नहीं है। निमित्त के बिना आकस्मिक कर्म का होना शास्त्र के द्वारा बोधित नहीं हो सकता। आकस्मिक मान लेने पर परमाणु की कारणता का ही पूर्ण रूप से नाश हो जायगा। सर्ग के अनन्तर निमित्त के उत्पन्न हो जाने पर भी सबसे पहिली सृष्टि के समय निमित्तों की उत्पत्ति के अभाव में वैसा मानना असंगत ही बना रहेगा। फिर प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि जब सृष्टि रूपी फल दिखाई दे रहा है तो उसके बल से परमाणुओं में ऐसा कोई प्रयत्न या आघात जैसा कुछ दृष्ट या अदृष्ट कल्पित किया जायगा जो परमाणुओं के संयोग का निमित्त बन सके तो

यह भी नहीं हो सकता। दोनों ही प्रकारों से कर्म की सम्भावना नहीं है। दृष्ट तो वहां कुछ संभव नहीं है। क्योंकि उस समय शरीरों की उत्पत्ति नहीं है। शरीर में स्थित मन से आत्मा के संयोग होने पर आत्मा का गुण रूपी प्रयत्न होता है। इसीलिए आघात आदि की उस समय कोई संभावना नहीं है, जो भी प्रयत्न आदि हैं वे सब तो सृष्टि के प्रारम्भ होने के उपरान्त की बातें हैं, सृष्टि के प्रारम्भ काल में उनकी कोई संभावना नहीं है। अदृष्ट भी कुछ नहीं बनता। क्योंकि अदृष्ट तो कर्म से ही उत्पन्न होता है। उस समय कर्म हैं ही नहीं अत: दृष्ट नहीं है तो दृष्ट के आधार पर उत्पन्न होने वाला अदृष्ट कहां से आयेगा।

ननु संसारस्यानादितया पूर्वकल्पप्राण्यदृष्टमिदानीं प्राणिभोगानुकूलमणुषु कर्म जनयिष्यतीति चेन्न। तद्ध्यदृष्टमणुसमवायि वा स्यादात्मसमवायि वा। उभयथापि न कर्म संभाव्यते। अदृष्टस्याचेतनत्वात्। नाचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते प्रवर्तयति वेति सांख्यपरीक्षायां व्यवस्थापितत्वात्।

ननु आत्मना प्रवर्तितं प्रवर्तेतेति चेन्न। चैतन्यगुणयोगाद्ध्यात्मनश्चेतनत्वं मन्यसे। तस्य गुणोत्पत्तेः प्राक् स्वरूपेण सतोऽचेतनत्वमेव प्राप्नोति। चैतन्योत्पत्तिनिमित्तयोगोत्तर-कालं चेतनत्वेऽप्यादिकाले तस्याचेतनत्वं प्राप्नोति। तत्राचेतनस्यात्मनः प्रवर्तकत्वं चेतनस्य वा।

—"उभयथापि न कर्म"—

संभाव्यते। आत्मनोऽनुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामणुवदचेतनत्वात् प्रवर्तक-त्वासंभवात्। चेतनत्वाभ्युपगमेऽपि न निस्तारः। आत्मसमवायित्वाभ्युपगमेन तस्यादृष्ट-स्याणुषु कर्मोत्पत्तौ निमित्तत्वासंभवाद्—अदृष्टेनाणूनामसंबन्धात्। अथादृष्टवता पुरुषेणास्त्येव संबन्धोऽणूनामिति चेत्तर्हि संबन्धसातत्यात् प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो नियामकान्त-राभावात्। तस्मादात्मनः प्रवर्तकत्वमुभयथापि नोपपद्यते।

—"अतः कर्माभावः"—

—कर्माभावात् सृष्ट्यभावः, इत्यतो विशेषाणां कारणत्वाभावः।

यदि कहें कि संसार की अनादिता के कारण पूर्वकल्प के प्राणियों का अदृष्ट इस काल में प्राणियों के भोग के अनुकूल अणुओं में कर्म को उत्पन्न कर देगा तो यह भी नहीं बनता। प्रश्न होगा कि वह अदृष्ट समवाय सम्बन्ध से अणु में रहेगा या आत्मा में। दोनों ही स्थितियों में उस समय कर्म की सम्भावना नहीं है। क्योंकि अदृष्ट तो अचेतन है। कोई अचेतन चेतन के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त नहीं होता या प्रवर्तित करता है। इस बात को हम सांख्य मत की परीक्षा करते समय कह आये हैं।

यदि कहें कि आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर अदृष्ट प्रवृत्त होता है तो यह भी ठीक नहीं घटता। क्योंकि आप चैतन्य गुण के योग होने पर आत्मा को चेतन मानते हैं, गुणों की उत्पत्ति से पहिले जब आत्मा अपने स्वरूप में संस्थित है तो वह उस समय अचेतन हो सिद्ध हो रहा है। चैतन्य की उत्पत्ति का योग जब उत्तर काल में होगा तब आत्मा की चेतना भी बनेगी परन्तु आदि काल में तो वह अचेतन ही रहेगा। उसकी प्रेरकता मानने पर प्रश्न होगा कि अचेतन आत्मा कर्म का प्रवर्तक है या चेतन आत्मा। दोनों ही स्थितियों में कर्म की संभावना नहीं दिखाई देती। उस अवस्था में जबकि आत्मा में चैतन्य आया ही नहीं है तो वह परमाणु की तरह ही अचेतन है, अतः वह कर्म का प्रेरक नहीं हो सकेगा। उसे उस समय चेतन मानने पर भी कोई हल निकलता नहीं दिखाई देता। क्योंकि जो अदृष्ट है वह आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है और कर्मों की उत्पत्ति होगी परमाणुओं में, उनमें उसकी प्रेरकता नहीं बन सकती। क्योंकि उस अदृष्ट से अणुओं का कोई सम्बन्ध नहीं फलित होता। अब यदि कहें कि अदृष्टवान् जो पुरुष है उसका तो अणुओं के साथ सम्बन्ध है ही, तो यह सम्बन्ध तो निरन्तर रहेगा क्योंकि उनको रोकने वाला तो कोई तत्त्व है नहीं। इसलिए सृष्टि के आदि में दोनों ही स्थितियों में आत्मा का प्रेरकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। तब कर्म का ही अभाव हो जायगा और कर्म के अभाव में सृष्टि का भी अभाव रहेगा। अतः जो विशेष नाम का तत्त्व है वह सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता।

—अपर आह। संयोगानुकूलं कर्माणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा—

—"उभयथापि न कर्म संभाव्यतेऽतस्तदभावः"—

—तथा हि सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च। प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमाच्च। अथैकदेशेन चेत् सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेन्न। कल्पितानामवस्तुत्वात्। तस्मान्नो—

—"भयथापि संयोगोऽतस्तदभावः"—

—संयोगाभावाद्द्वयणुकाद्यभावः इत्यतो विशेषाणां कारणत्वाभावः"—

दूसरी बात यह भी है कि एक अणुका दूसरे अणु से कर्म के कारण जो संयोग आप कह रहे हैं, वह सर्वात्मना होगा या एक अंश में संयोग होगा। दोनों ही स्थितियों में कर्म की सम्भावना न होने के कारण उसका अभाव ही रहेगा। यदि सर्वात्मना संयोग होगा तब तो उपचय या वृद्धि नहीं होगी और संयोग होने पर भी वह अणु मात्र ही बना रह जायगा और संयोग होने पर भी असंयोग के समान दिखाई देगा इससे दृष्ट का विपर्यय भी रहेगा। दिखाई तो यह देता है कि किसी प्रदेश वाले द्रव्य का दूसरे प्रदेश वाले द्रव्य से संयोग होता है, संयोग संपूर्णतया देखा नहीं जाता (वह अव्याप्यवृत्ति होता

है) अब यदि परमाणु के एक अंश से दूसरे परमाणु के एक अंश का संयोग माना जाय तो परमाणु के भी आपने अंश मान लिये। तब परमाणु निरवयव कहां रहा। यदि कहें कि परमाणु तो निरवयव ही है परन्तु संयोग की सिद्धि के लिए उसके प्रदेशों की कल्पना कर ली जायगी तो यह भी असंगत है, जो कल्पित है वह कोई वस्तु तो है नहीं। अतः दोनों ही प्रकार से परमाणु संयोग नहीं हो सकता, उसका अभाव ही रहेगा, संयोग के अभाव में द्व्यणुक आदि का अभाव होगा, अतः विशेष नाम के तत्त्व को सृष्टि का कारण मानना असंगत है।

अपर आह। अणूनां हि द्विविधं कर्म परीक्ष्यते। आदिसृष्टिकाले संयोगोत्पत्त्यर्थं महाप्रलये च विभागोत्पत्त्यर्थमपि नाणूनां कर्म संभवति। नियतस्य कस्यचिददृष्टस्य निमित्तस्याभावात्। अदृष्टस्य तु भोगप्रसिद्धयर्थत्वसंभवेपि प्रलयप्रसिद्धयर्थत्वासंभवात्—

—"तस्मादुभयथापि न कर्मातस्तदभावः"—

—कर्माभावाच्च सर्गप्रलयव्यवस्थाभावः। तदभावाच्च विशेषाणां कारणत्वाभाव इति सिद्धम्—

दूसरा पक्ष है कि परीक्षा से अणुओं के दो प्रकार के कर्म आते हैं, एक तो आदि सृष्टि काल में परमाणुओं में संयोग कराने के लिए और दूसरा महाप्रलय काल में विभाग की उत्पत्ति के लिए। वहां जैसे संयोग की उत्पत्ति के लिए परमाणुओं में कर्म मानने में युक्तियुक्तता का अभाव ऊपर दर्शाया गया है, वैसे ही प्रलय काल में विभाग की उत्पत्ति के लिए भी अणुओं में कर्म की संभावना नहीं है। क्योंकि सुनिश्चित किसी दृष्ट निमित्त का यहां अभाव है, अदृष्ट निमित्त तो भोग की सिद्धि के रूप में सम्भव है तो भी प्रलय की सिद्धि के लिए अदृष्ट निमित्त की भी संभावना नहीं रहती। इसलिए दोनों ही प्रकार से परमाणुओं में कर्म संभावित नहीं होने से उसका अभाव ही मानना होगा। जब परमाणुओं में कर्म की ही सिद्धि का अभाव रहा, तो सृष्टि और प्रलय की व्यवस्था का भी अभाव हो गया। और इस अभाव के कारण विशेष नामक तत्त्व में सृष्टि की कारणता नहीं जा सकी।

—"समवायाभ्युपगमाच्च"—

—तदभावः। साम्यानवस्थितेः—

प्रागसत् कार्यं कारणादत्यन्तभिन्नं कारणे समवायेनोत्पद्य तिष्ठतीति कणादोऽभ्युपगच्छति। तस्य समवायेन कारणे कार्यावस्थानस्यानुपपत्तेस्तदभाव इति ब्रूमः। सा चानुपपत्तिः समवायस्य कार्येण साम्यादुच्यते। समवायस्यापि तथैव कार्याधिकरणे सत्वात् तत्र यदि कार्यावस्थानाय समवायोऽपेक्ष्यते तर्हि तत्समवायावस्थानायापि समवायान्तरमपेक्ष्येत। तथा च तदर्थमन्यःसमवायस्तदर्थमन्यः समवाय इत्येवमनवस्थादोषः। अनवस्थि-

तश्चार्थो न सिद्धयतीति सर्वसमवायासिद्ध्या कारणे कार्यावस्थानासिद्धिः। अत एव च कारणातिरिक्तस्य कार्यस्याभाव इति पश्यामः।

ननु प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बन्धस्वरूपो न संबन्धान्तरसापेक्ष इति नानवस्थाप्रसक्तिरिति चेन्न। फलबलादेव यथा समवायस्य नित्यसम्बन्धत्वमुपगम्य सम्बन्धान्तरानपेक्षत्वं साध्यते प्रत्ययग्राह्यत्वं च, तथैव साम्यादस्य कार्यस्यैव नित्यसम्बद्धत्वमुपगम्य समवायानपेक्षत्वं प्रत्ययग्राह्यत्वं वा कल्पनीयत्वेन प्राप्नोति। यथा हि कारणाद्भिन्नं कार्यं तथा कारणाद्भिन्नः समवायः। स यदि समवायस्तत्र सम्बन्धानपेक्षं स्थातुमीष्टे न कुतस्तर्हि कार्यं तत्र सम्बन्धानपेक्षं स्थातुमीशीत। यथा वा समवायः प्रत्ययग्राह्य इष्यते तथा तत् कार्यमेव प्रत्ययग्राह्यं कुतो नेष्यते। तस्मादिह यथा समवायान्तराणामनवस्थितिस्तथा साम्यात् प्रथमसमवायस्याप्यनवस्थितिः प्राप्नोति। तथैव च साम्यात् कार्यस्यापि कारणेऽनवस्थितिरिति प्राप्नोति। तथा च वैशेषिककार्याभाव इति सिद्धम्। सिद्धं च कार्यस्य प्रत्ययग्राह्यत्वमत एव कारणादभिन्नत्वं च। यत्तु कार्यमिति कृत्वा पृथगिव विज्ञायते तदध्यासमात्रम् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, परमाणव एव सत्यमिति दिक्।

समवाय की स्वीकृति के कारण भी परमाणुगत विशेष से सृष्टि के सिद्धांत का अभाव प्रतिफलित हो रहा है क्योंकि समवाय के कारण परमाणुओं की साम्यावस्था में स्थिति नहीं बन सकती। कार्य पहिले असत् है और वह कारण से अतिशय भेद रखता है, वही अपने कारण में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है यह कणाद महर्षि का मन्तव्य है। हमारा कहना यहां यही है कि कारण में कार्य को समवाय सम्बन्ध सेस्थिति सिद्ध ही नहीं होती, अतः इस मत के अनुसार उसका अभाव ही रहता है। इस प्रकार की सस्थिति के अभाव का कारण समवाय का कार्य से समानता का होना है। समवाय भी उसी स्थान पर मौजूद है जहां अपनी उत्पत्ति से पूर्व कार्य विद्यमान है। वहां यदि कार्य की मौजूदगी के लिए समवाय की आवश्यकता है तो वहीं समवाय के रहने के लिए किसी दूसरे समवाय की आवश्यकता से कैसे इन्कार किया जा सकेगा और उसकी स्थिति के लिए फिर तीसरा समवाय आने लगेगा, इस सिलसिले को अनवस्था दोष कहा जाता है। अनवस्थित या या अनवस्था दोष से ग्रस्त कोई अर्थ सिद्ध नहीं हुआ करता, इसलिए समवाय ही असिद्ध हो जायगा और इस तरह कारण में कार्य की असिद्धि रहेगी। इसलिए हम देखते हैं कि कारण के अतिरिक्त कार्य कुछ है ही नहीं।

यदि कहा जाय कि अनुभव से सिद्ध होने वाला समवाय नित्य सम्बन्ध स्वरूप है, वह अपनी स्थिति के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की जरूरत नहीं रखता। अतः अनवस्था का कोई प्रश्न नहीं आता तो यह कहना भी तर्क संगत नहीं है। फल के बल से जैसे समवाय को नित्य सम्बन्ध समझकर उसकी स्थिति के लिए किसी दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता का निषेध सिद्ध किया जा रहा है और उसे अनुभव गोचर माना जा रहा है, वैसे ही समान स्थिति होने के कारण इस कार्य को ही कारण से नित्य सम्बद्ध मानकर समवाय की अपेक्षा से रहित मानते हुए अनुभव गोचर समझने में कौन सी रुकावट है। जैसे

कारण से भिन्न अवस्था वाला कार्य है, वैसे ही कारण से भिन्न स्वरूप वाला समवाय है। वह समवाय यदि अपने कारण में अन्य किसी सम्बन्ध की आवश्यकता के बिना ही रह सकता है, तब क्यों नहीं अपने कारण में कार्य भी बिना किसी अन्य सम्बन्ध के रहने में समर्थ हो सकता है। और जैसे समवाय को आप अनुभवगोचर मान रहे हैं वैसे कारण में अवस्थित कार्य भी अनुभवगोचर क्यों नहीं होगा। इसलिए इस मत में समवाय की स्थिति के लिए जैसे दूसरे समवायों की स्थिति की आवश्यकता को अस्वीकार किया जाता है, वैसे ही कारण में प्रथम समवाय की स्थिति को भी अस्वीकार करने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती। और फिर उसी समानता के कारण कार्य की भी कारण में स्थिति नहीं रह जाती। इस प्रकार वैशेषिक के द्वारा अभिमत कार्य का ही अभाव हो जाता है। और चूंकि कार्य की अनुभवगोचरता सिद्ध है, अतः कारण से कार्य की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। जो यह कार्य कह कर कारण से पृथक्ता का सा बोध हो रहा है, वह तो भ्रम मात्र या आरोप मात्र है।

—अपर आह—

—"उभयथापि न कर्मातस्तदभावः समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेरिति"

यथा तावद् दृष्टादृष्टनिमित्ताभावात् कर्म न संभवति तथा समवायाभ्युपगमादपि तत्राणुषु कर्म न संभवति। तथा हि अण्वोस्तावत् समवायेन कर्म भवति संयोगानुकूलम्। अथाण्वोः समवायेन संयोगो भवति कार्यानुकूलः। अथाण्वोः समवायेनैव तत्कार्यं भवति द्व्यणुकादिकम्। तदित्थमेषां द्रव्यगुणकर्मणां कारणेऽवस्थानार्थं समवायोऽभ्युपगम्यते। सोऽपि कारणेऽवस्थित एवाभ्युपगम्यते संबन्धस्य संबन्धिन्यवस्थानावश्यंभावात्। तथा च समवायकर्मसंयोगकार्याणि साम्येन कारणेऽवतिष्ठन्त इति लभ्यते। तत्र पृच्छामः। सोऽयं समवायः किमर्थोऽभ्युपगम्यते इति। समवायानभ्युपगमे कर्मादीनि नावतिष्ठेरन्, अतस्तदवस्थानार्थं सोऽभ्युपगम्यते इति चेत् तर्हि समवायस्यावस्थानार्थमपि तत्र समवायान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। तेन विना तस्य प्रथमसमवायस्याप्यनवस्थितेः साम्यात्। अवस्थानकारणतया समवायस्याभ्युपगमात्तदभावात् प्रथमसमवायानवस्थितिः। समवायाभावाच्च कर्म न संभवति। कर्माभावाच्च संयोगाभावोऽतः कार्याभाव इति नोपपद्यते कारणेऽपूर्वं कार्यम्।

—अथवा—"नित्यमेव च भावात्"—

समवायस्य कर्मणापि तत्र नित्यमेव भवितव्यम्। अणुकर्मणोः समवायः सम्बन्ध इष्यते। स च नित्यः संबन्धः। कार्योत्पत्तेः कादाचित्कत्वे संयोगकादाचित्कत्वं हेतुः। संयोगकादाचित्कत्वे तु कर्मकादाचित्कत्वस्य हेतुत्वं वाच्यम्। किन्तु कर्मकादाचित्कत्वे को हेतुः? दृष्टादृष्टादिनिमित्तमात्रस्य पूर्वं प्रत्याख्यातत्वात्। अतश्च परमाणूनां स्वभाव एव कर्मेत्यभ्युपगम्यते। नित्याश्च ते परमाणवः नित्यानां च स्वभावोऽपि नित्य एव

स्यादिति नित्यं परमाणुस्थं कर्म । नित्यश्च तयोः समवाय- संबन्ध इत्यवश्यं नित्यमेवैतेषु परमाणुषु संयोगानुकूलं कर्म भवेत् । ततो नित्यः संयोगः, नित्यं च तत्कार्यं स्यादिति सत्कार्यवाद एवान्ततः प्राप्नोति, नासतः कार्यस्य पश्चादुत्पादः कणादाभिमत इति बोध्यम् ।

एक दूसरा प्रकार यह है कि दोनों ही प्रकार से चूंकि कर्म की सिद्धि होती नहीं, अतः उसका अभाव हो जाता है, और यदि समवाय सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं तो साम्या-वस्था परमाणुओं की बनती नहीं । इसे स्पष्ट किया जाता है कि जैसे दृष्ट अदृष्ट निमित्त के बिना कर्म संभव नहीं होता वैसे ही समवाय सम्बन्ध को मान लेने पर भी वहां अणुओं के कर्म की संभावना नहीं बनती । दो अणुओं का समवाय के आधार पर जो कर्म होगा वह दोनों के संयोग के अनुकूल होगा । उन दोनों अणुओं का समवाय के साथ जो संयोग होगा, वह कार्य के अनुकूल कहा जायगा । अब अणुओं के समवाय से द्व्यणुकादि कार्य होंगे । इस प्रकार इन द्रव्य गुण कर्मों की अपने कारण में संस्थिति के लिए समवाय को स्वीकार किया जाता है । वह समवाय भी कारण में ही अवस्थित समझा जा सकता है, क्योंकि कोई भी सम्बन्ध अनिवार्यतया अपने से सम्बद्ध में ही रहता है । अतः निष्कर्ष यह निकला कि समवाय, संयोग तथा कार्य ये तीनों समान भाव से कारण में विद्यमान हैं । अब पूछना हमें यह है कि इस समवाय को क्यों स्वीकार किया जा रहा है । उत्तर यदि यह हो कि यदि समवाय न माना जाये तो कर्म आदि ठहर नहीं पायेंगे तो स्वयं समवाय के ठहरने के लिए भी अन्य समवाय की आवश्यकता होगी । क्योंकि उसके बिना उस प्रथम समवाय की स्थिति भी नहीं रह सकेगी । स्थिति के कारण के रूप में आपने समवाय को माना और आगे समवाय माना नहीं तो प्रथम समवाय भी कैसे ठहर पायेगा ? और जब समवाय का ही अभाव हो जायगा तो कर्म उत्पन्न नहीं हो सकेगा । जब कर्म नहीं होगा तो अणुओं का संयोग भी नहीं होगा, और तब कार्य भी नहीं होगा, अतः कारण में पहिले से अविद्य-मान कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा ।

अथवा कारण में समवाय के नित्य रहने पर कर्म भी वहां नित्य हो रहेगा । अणु और कर्म का समवाय सम्बन्ध आप मानते हैं और वह सम्बन्ध नित्य होता है । कार्य की उत्पत्ति जब सर्वदा न होकर कदाचित् होती है तब उसका कारण परमाणु के संयोग का कदाचित् होना मानना होगा किन्तु कर्म के कदाचित् होने का हेतु क्या होगा ? दृष्ट अदृष्ट को निमित्त मानने का तो पहले ही निषेध किया जा चुका है । इसीलिए परमाणुओं का स्वभाव ही कर्म है यह माना गया है । और परमाणु नित्य हैं, उनका स्वभाव भी नित्य ही होगा । अतः परमाणु में स्वभाव रूप से संस्थित कर्म भी नित्य हैं । उनका समवाय भी नित्य है, अतः इन परमाणुओं में संयोग के अनुकूल कर्म भी नित्य ही रहेगा । तब नित्य हुआ संयोग और नित्य हुआ उनका कार्य इस प्रकार अन्ततः सत्कार्यवाद ही आ गया । कणाद का अभीष्ट पहिले कार्य असत् है वह बाद में उत्पन्न होता है यह नहीं सिद्ध हुआ ।

अपि चैते वैशेषिकाः जगत्कारणत्वेनाभिमतमर्थं परमाणुत्वेन नित्यत्वेनाप्रदेशत्वेन

चाभिमन्यन्ते । तद् युक्तिसिद्धं नास्तीति प्रतिजानीमहे । तथा हि—परमाणुकारणता-वादिनस्तावत् सावयवानां द्रव्याणामवयवशो यत: परो विभागो न संभवति तमन्त्यमवयवं निरवयवं परमाणुशब्देनाचक्षते । तस्य च परमाणोरप्रदेशत्वं नित्यत्वं चाहु: । तत्र ब्रूम: ।

—"रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनादिति"—

चतुर्विधा हि ते परमाणव इष्यन्ते । वायव्यास्तैजसा आप्या: पार्थिवाश्च । तेषां वायव्येषु तावदस्ति स्पर्शमात्रं गुण:, किन्तु तैजसादीनां रूपादिमत्वमपि दृश्यते । तस्मादप्रदेशत्वस्य विपर्ययः प्राप्नोति । स्पर्शरूपयो रसादीनां चैकस्मिन्नेव परमाणौ भिन्नप्रदेशत्वदर्शनात् । न खलु यदवच्छेदेन स्पर्शो गुणस्तत्प्रदेशावच्छेदेनैव रूपादयोऽप्यव-स्थिता: संभाव्यन्ते । विरुद्धगुणानां भिन्नप्रदेशत्वदर्शनात् । यदि च ब्रूयाद् अणुद्रव्यमेव प्रदेशो गुणानामेकेषां बहूनां च स एक एवेति नाणो: प्रदेशवत्वं भविष्यतीति, तन्न । उभयथा च दोषात् । यस्तावदेकस्य गुणस्य स्पर्शस्य प्रदेश: स एव रूपादीनामपि चेदभ्यु-पगम्येत तदोपचितगुणतारतम्यादुपपद्यमानवायुतेजोज:पृथ्वीनामुत्तरोत्तस्थूलत्वमनुभूयमानं नोपपद्येतेत्येष दोष: प्रसज्यते । तस्माद् गुणाधिक्यात् प्रदेशाधिक्यं वक्तव्यम् । तथा च सत्यप्रदेशत्वं परमाणूनां नोपपद्यते इत्यपरो दोष: । तस्मादुभयथा च दोषाद्वैशेषिकाभिम-तमप्रदेशत्वम्परमाणूनां निरस्तम्

पुनश्च ये वैशेषिक मतानुयायी विद्वान् जगत् के कारण के रूप में अभीष्ट अर्थ को परमाणु के रूप में, नित्य के रूप में तथा प्रदेश को न घेरने वाले के रूप में मानते हैं । उनका ऐसा मानना युक्तिसिद्ध नहीं है यह हमारी मान्यता है । जैसे कि परमाणु कारणतावादी गण सावयव द्रव्यों का अवयवों सहित विभाजन मानते हुए उस अन्तिम अवयव की अवस्था तक जाते हैं जहां के आगे विभाग होना संभव नहीं रह जाता । उस अन्तिम अवयव को वैशिषिक दर्शन के विचारक परमाणु संज्ञा देते हैं, और उस परमाणु को अप्रदेशस्थ (जगह न रोकने वाला) तथा नित्य कहते हैं । यहां हमारा कथन है कि—'रूप आदि होने के कारण दिखाई देने से इस मत से विपरीतता आती है" । क्योंकि वैशेषिकाभिमत ये परमाणु चार प्रकार के माने जाने अभीष्ट हैं, वायवीय, तैजस, जलीय तथा पार्थिव । इनमें वायवीय परमाणुओं में तो केवल स्पर्श मात्र गुण हो है किन्तु तेज आदि के परमाणुओं में तो रूप आदि गुण भी दिखाई देते हैं । इसलिए प्रदेश का न घेरने का उनका परमाणुओं के विषय में जो मत है, वह टिक नहीं पाता । स्पर्श तथा रूप का तथा रस आदि का एक ही परमाणु में अवस्थान होने से उनका प्रदेश भी भिन्न होगा, ऐसा भी नहीं है कि जिस पर स्पर्श गुण है उसी पर रूप आदि की अवस्थिति भी है ऐसी संभावना की जायगी, क्योंकि भिन्न गुण भिन्न प्रदेश में ही स्थिर रहते हैं । यदि कहा जाय कि अणु द्रव्य ही का है, एक या अनेक गुणों का वह एक ही आधार है, इसलिए अणु अणु का प्रदेशवाला मानना आवश्यक है, तो यह नहीं हो सकता । दोनों ही प्रकार से दोष उपस्थित रहता है । क्योंकि जो प्रदेश एक गुण स्पर्श का है वही प्रदेश यदि रूप आदि का भी मान-लिया जाता है तब एकत्रित होने वाले गुणों के न्यूनाधिक भाव के कारण उपस्थित होने

वाला वायु, तेज, जल, पृथ्वी का उत्तरोत्तर स्थूलत्व जो अनुभव में आता है, उसकी युक्ति संगतता नहीं बन सकेगी । यह दोष उपस्थित होगा । इसलिए गुणों को अधिकता के साथ उसके आश्रित प्रदेश की भी अधिकता कहनी होगी । और ऐसा होने पर परमाणु बिना प्रदेश वाला होता है यह बात नहीं सिद्ध हो सकेगी । इस प्रकार दोनों ही पक्षों के दोष-ग्रस्त होने के कारण वैशेषिक मत में स्वीकृत परमाणु का प्रदेशव्यापी न होना नहीं सिद्ध होगा ।

—अपि च ब्रूमः—

—"रूपादिमत्वाच्चाप्रदेशत्वविपर्ययः"—

वक्तव्यो रूपादिभिरेवाप्रदेशदर्शनात् । तथा हि—गन्धरसरूपस्पर्शैश्चतुर्गुणा पृथ्वी । निर्गन्धैस्तैस्त्रिगुणा आपः रूपस्पर्शाभ्यां द्विगुणं तेजः । स्पर्शैकगुणो वायुरितीत्थं स्वरूपसन्तो गुणा एव ते एकैके प्रदेशाः स्युः । द्रव्यं चाणुप्रदेशः एको भिन्नः । तथा च रूपादिगुणवत्त्वादणूनां द्रव्यत्वेन गुणत्वेन च प्रदेशदर्शनादप्रदेशत्वविपर्ययः प्राप्नोति । यदि च ब्रूयाद् गुणा न प्रदेशाः । प्रदेशोह्यधिकरणम् । अधिकरणे च द्रव्यशब्दः । न च गुणे गुणान्तरं कर्म वा प्रतितिष्ठति । तस्मादिह यावद् द्रव्यभागः स एवैकः प्रदेशो गुणानां न त्वत्रान्ये प्रदेशाः सन्तीति । तत् प्रतिवक्तव्यम् ।

—"उभयथा च दोषात्"—

उपचितापचितगुणत्वाद्धचेवैतानि भूतानि स्थूलसूक्ष्मतारतम्योपेतानि दृश्यन्ते । तच्च तारतम्यं प्रदेशतारतम्यसापेक्षमेवोपपद्यते । यदि गुणोपचयनिबन्धनः प्रदेशोपचयो न स्यात् तर्हि वाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थौल्यं नोपपद्यत इत्येको दोषः । अथ चेत् प्रदेशोपचयोऽभ्युपगम्यते तर्हि मूर्त्युपचयादमीषामपरमाणुत्वप्रसङ्ग इत्यन्यो दोषः । उभयथा च दोषादनुपपन्नोऽयं वैशेषिकसिद्धान्तः ।

पुनश्च हमारा कथन है

—रूप आदि की युक्तता के कारण ही परमाणु का प्रदेश नहीं होता, इस सिद्धांत की विपरीतता माननी होगी क्योंकि रूप आदि के द्वारा ही अप्रदेश दिखलाई दे रहा है । स्पष्टता से समझें कि गन्ध, रस, रूप और स्पर्श इन चार गुणों वाली तो पृथ्वी है । गन्ध को हटा देने पर बचे हुए तीन गुणों वाला जल है । रूप और स्पर्श इन दो गुणों वाला तेज है, केवल स्पर्श नाम के एक गुण वाला वायु है । इस प्रकार अपने स्वरूप की सत्ता वाले ये एक एक प्रदेश में स्थित होंगे । और द्रव्य है अणु प्रदेश वाला, वह एक है और भिन्न है । अब रूप आदि गुणवान् होने से अणुओं की द्रव्यता के कारण और गुणवत्ता के कारण प्रदेश दिखाई देने पर अणु को अप्रदेश कहने के विपरीत स्थिति दिखाई देती है । यदि कहा जाय कि गुण प्रदेश नहीं है, तो प्रदेश तो आधार का नाम है । आधार या

अधिकरण को ही द्रव्य कहा गया है। यह तो है नहीं कि एक गुण पर दूसरा गुण या एक कर्म पर दूसरा कर्म संस्थित हो। इसलिए यहां जितना द्रव्य का भाग है, वही एक मात्र गुणों का प्रदेश है, वहां कोई अन्य प्रदेश तो है ही नहीं, इसका उत्तर देना होगा। दोनों ही प्रकार से दोष उपस्थित है। गुणों की वृद्धि और ह्रास के कारण ही ये भूत पदार्थ स्थल या सूक्ष्म अनुभूत होते हैं। ये वृद्धि और ह्रास प्रदेश के बड़े और छोटे होने की अपेक्षा रखते हैं, यदि गुणों की वृद्धि होने पर आधार भूत प्रदेश की वृद्धि न हो, तब वायु आदि में उत्तरोत्तर स्थूलता या अधिकता नहीं आ सकेगी, यह एक दोष है। अब यदि आधार भूत प्रदेश की वृद्धि मान ली जाती है तो मूर्त रूप के बढ़ने से इनका परमाणुत्व खतरे में पड़ जाता है यह दूसरा दोष है। दोनों ही प्रकार से दोष आने के कारण यह वैशेषिक सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता।

किंच न केवलमप्रदेशत्वविषय एवायं विपर्ययाक्षेपः अपि तु रूपादिमत्वान्नित्यत्वविपर्ययश्च प्राप्नोति। रूपादिमतामनित्यत्वदर्शनादिति ब्रूमः। परमाणवं नित्यो रूपत्वाद्रसवत्वाद् गन्धवत्वात् स्पर्शवत्वाच्च मूर्तत्वाद् द्रव्यत्वाच्च घटवत् इति रूपादिमत्वानित्यताया एवोपपत्तेः। अपि च रूपादिषट्केन युगपद्योगात् परमाणोरस्य षडंशत्वमुपपद्यते। तथा च सावयवत्वं प्राप्नोति। परमाणुद्वययोगाद् द्व्यणुकोत्पत्तिरित्यव्याप्यवृत्तिसंयोगाश्रयत्वाच्च सावयवत्वं प्राप्नोति। सावयवत्वाच्चानित्यत्वम्। किञ्च परमाणोर्मध्ये यद्याकाशमस्ति तदा सच्छिद्रत्वेनैव सावयवत्वम्। अथ नास्ति तदाऽऽकाशस्यासर्वगतत्वप्रसङ्गः। यत्तु—

—"सदकारणवन्नित्यम्"—(वै० ४।१।१)

—इति अणूनां नित्यत्वे हेतुरकारणत्वमाख्यातं तदसत्। अकारणताया अनिर्णीतत्वात्। यद्यपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—

—"अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभाव इति—(वै० ४।१।४)

तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति। परमकारणस्य ब्रह्मणो नित्यस्य सतः प्रतिषेधभावेनाप्यनित्यशब्दव्यवहारोपपत्तेः। न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य सिद्धिर्युज्यते। प्रमाणान्तरसिद्धयोरेव शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्। यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—

—"अविद्या—(वै० ४।१।५)

—इति। तत्र प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्या चेन्नित्यत्वे हेतुस्तर्हि द्व्यणुकादीनामपि नित्यत्वं स्यात्।

अथ समवायिकारणस्यासमवायिकारणस्य वा विनाश एव कारणमनित्यत्वे सिद्धः ततोऽन्यहेतोरसंभवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति चेत् तन्न।

नावश्यमाभ्यां द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां वस्तुविनाशः। दुग्धदध्यादौ घृतकाठिन्यविलयनादौ मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाशदर्शनात्।

अथ यदि परमाणोरनित्यविषया सर्वाप्यनुमितिरविद्या भ्रमरूपा आभास-प्रभवत्वात् व्याप्यत्वासिद्धिस्वरूपासिद्ध्याादिदोषयुक्तत्वाद्धेतूनामनैकान्तिकत्वात् इति व्याख्यायते, तदपि नास्ति। नित्यतासाधकयुक्तीनामेव भ्रमसिद्धत्वादविद्यारूपत्वात्—

—"उभयथा च दोषात्"—

—अविद्यास्वीकारस्यावश्यकत्वे सिद्धे तयैव सर्वजगदुत्पत्तिसिद्धौ परमाणुकारण-तावादो वैशेषिकाणां नावकल्पते। अथ चेदविद्या नाभ्युपगम्यते तर्हि पूर्वोक्तानुमित्या परमाणूनामनित्यतावादो वैशेषिकाणां नावकल्पते। तदित्थमुभयथा च दोषादनुपपन्नो नित्यपरमाणुकारणतावादः।

सिद्धान्त के तथ्यों के विपरीत होने का वैशेषिक मत पर यह आक्षेप केवल अणु के अप्रदेशत्व की विपरीतता के कारण ही नहीं है, अपितु अणु का रूप आदि से युक्त मानने पर परमाणु को नित्य मानने वाला सिद्धान्त भी उलट जाता है। क्योंकि जो रूपादिमान हैं वे अनित्य ही देखे जाते हैं। रूपवान् होने के कारण, रसवत्ता के कारण, गन्धवत्ता के कारण स्पर्शवत्ता के कारण, मूर्त होने के कारण घट आदि की ही तरह परमाणु भी नित्य नहीं है, इस तरह का अनुमान सिद्ध हो जाने से परमाणु में रूपादि गुणों के कारण अनित्यता ही सिद्ध होती है। पुनश्च रूप आदि 6 गुणों का योग हो जाने से परमाणु 6 अंशों वाला बन जाता है और इस प्रकार परमाणु अवयववान् सिद्ध हो जाता है, और सावयव होने के कारण परमाणु अनित्य भी सिद्ध हो जाता है। एक बात यह भी है कि यदि परमाणु के मध्य में आकाश भी है तब तो छिद्र सहित होने से ही परमाणु सावयव हो गया और यदि आकाश नहीं है परमाणु के मध्य तो, आकाश सर्वगत है यह वैशेषिक सिद्धान्त समाप्त हुआ। और जो

—"सत् होने से कारण न होने से नित्य है"—(वै. ४।१।१)

इसके आधार पर अणुओं को नित्यता का कारण उसके किसी अन्य से न उत्पन्न होना बता या जाता है, वह सत्य नहीं है। परमाणु का कोई कारण नहीं है, यह अनिर्णीत विषय है। परमाणु की नित्यता को सिद्ध करने के लिए जो दूसरा कारण बतलाया गया है कि—

— "अनित्य कह कर विशेष रूप से प्रतिषेध का अभाव है"— (वै. सू. ४।१।४)

यह भी परमाणु का अवश्य नित्यत्व सिद्ध कर ही देगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परमकरण ब्रह्म की नित्य सत्ता की अपेक्षा अन्य का प्रतिषेध मानने पर अनित्य शब्द का व्यवहार निष्पन्न हो जाता है। (जब अनित्य शब्द व्यवहार में है तो

अवश्य ही कुछ नित्य भी होगा, तभी उसका अभाव अनित्य शब्द के प्रयोग का विषय बनता है, यदि कोई पदार्थ नित्य न हो, तो अनित्य शब्द का प्रयोग ही न हो, अतः वह नित्यता परमाणु में ही बनती है, इस वैशेषिक मत का उक्त उत्तर दिया गया) और फिर शब्द और अर्थ के व्यवहार मात्र से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो जाती। शब्द और अर्थ का व्यवहार में अवतरण या प्रयोग अन्य प्रमाणों से सिद्ध होने पर ही किया जाता है।

(किसी शब्द या अर्थ का केवल व्यवहार में प्रयोग कर देना मात्र काफी नहीं है किसी बात को सिद्ध करने के लिए, 'इस खरगोश के सींग नहीं है' इस व्यवहार मात्र के कारण अन्य खरगोश के सींग हैं यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, जब तक प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से वह बात पहिले ज्ञात न हो)

नित्य होने का जो तीसरा कारण बतलाया गया है—

—"अविद्या या परमाणु का प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा में न आना"—

(वै० सू० ४।१।५)

वहां कहना यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से न जान सकने की स्थिति में अविद्या यदि नित्यता का कारण है तब तो द्वयणुक आदि भी नित्य हो जांयगे। अब यदि कहा जायगा कि अनित्य वह है जिसके समवायिकारण और असमवायिकारण का विनाश होता है, उससे भिन्न किसी हेतु के असंभव होने के कारण वही अविद्या या अज्ञान परमाणु को नित्य सिद्ध कर देता है तो यह भी ठीक नहीं। विनाश केवल इन्हीं दो कारणों से नहीं होता, दूध दही आदि में, घी की कठोरता के लोप आदि में, मूर्ति की अवस्था के विलयन से भी विनाश दिखाई देता है।

अब यदि यह कहें कि परमाणु को अनित्य सिद्ध करने वाली सारी अनुमान की प्रक्रिया भ्रम रूप है, क्योंकि वह आभास से उत्पन्न है, और क्योंकि उसमें व्याप्यत्वासिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि नाम के दोष हैं, तो यह बात भी नहीं है। वस्तु स्थिति तो इसके विपरीत यह है कि परमाणु को नित्य सिद्ध करने वाली युक्तियां ही भ्रम से उत्पन्न होने के कारण अविद्या रूप हैं।

—"और दोनों ही प्रकार से दोष होने के कारण"—

जब अविद्या को स्वीकार करने की आवश्यकता सिद्ध हो गई तब सारे जगत् की उत्पत्ति उसी से सिद्ध हो गई। उस स्थिति में वैशेषिकों का परमाणु कारणतावाद कल्पित नहीं हो पाता। अब यदि अविद्या को स्वीकार नहीं करना है तब पूर्वोक्त रीति से परमाणुओं की अनित्यता के सिद्ध हो जाने पर वैशेषिकों को अभिमत परमाणुनित्यतावाद नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार दोनों प्रकार से दोष आने के कारण नित्य परमाणुकारणतावाद अनुपयुक्त ही रह जाता है।

—"अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षाऽस्य वैशेषिकसिद्धान्तस्य। नायं परमाणुकरणतावादः केनचिदप्यंशेन क्वचिदप्युपनिषदि कैश्चिदपि वेदविद्भिः परिगृहीतः। तस्माद्वेदसिद्धान्तसिद्धत्वाभावादनपेक्ष्योऽयं सिद्धान्तः'।

अपि च ब्रूमः। द्रव्यं गुणकर्मणी सामान्यविशेषौ समवाय इत्येते षट् पदार्थाः पृथक्त्वेन गृहीता वैशेषिकस्तन्त्रार्थः। तत्रैतेषामेकैकस्वरूपसिद्धौ परस्य—

—"परिग्रहात् परस्परमत्यन्तमनपेक्षा"—

वक्तव्या। अस्ति च गुणकर्मणोः सामान्यविशेषयोश्च स्वरूपे परस्यापरिग्रहादत्यन्तमनपेक्षा। किन्तु द्रव्यस्वरूपे गुणकर्मादीनामनपेक्षा नास्ति। क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणस्य गुणकर्मादिसापेक्षत्वात्। न खलु तयोर्द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदः प्रतीयते। तस्माद् गुणकूटो द्रव्यमिति द्रव्यात्मकता गुणस्योपपद्यते। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता। न तु गुणादिभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिद् द्रव्यनामार्थः।

—ननु कर्मणोः सामान्यविशेषाभ्यां यः समवायः स पदार्थ इति व्याख्यास्यते। तथा च गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादुपपद्यते। यदि द्रव्यं नाम पृथक् कश्चिदर्थो न स्यात् तर्हि कुत्रैतेषां गुणादीनामयुतसिद्धत्वं स्यात्। इति चेत् तत्र ब्रूमः—

—"अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा"—

द्रव्यस्य भवति। सर्वस्मिन्नेव पदार्थे गुणकर्मादय एव केवलं परिगृह्यन्ते न तु तदाधारतया कश्चिदन्यो द्रव्यं नामार्थः परिगृह्यते। तस्माद् गुणकर्मादिभ्यः पृथक्त्वेन तद् द्रव्यमत्यन्तं नापेक्ष्यते। समवायसचिवानां गुणकर्मादीनामेव द्रव्यत्वेन व्यवहारोपपत्तेः। अपि चेदमयुतसिद्धत्वं कोऽर्थः? अपृथग्देशत्वं वा, अपृथक्कालत्वं वा, अपृथक्स्वभावत्वं वा, सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावद् वैशेषिकसिद्धान्तविरोधापत्तेः। तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते न तु पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः।

—"द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तर—(वै० १।१।१०)

मित्युक्तेः। तन्तवः पटमारभन्ते तन्तुगुणास्तु पटगुणान् इति हि तेषां सिद्धान्तः। स च द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वे बाध्येत। अथ नापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वम्, सव्यदक्षिणयोर्विषाणयोरयुतसिद्धत्वापत्तेः। एवमपृथक्स्वभावत्वमपि नायुतसिद्धत्वम्। तथा सति तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वाद् द्रव्यगणयोरात्मभेदानापत्तेः। युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमेषामभ्युपगमो निःसारः। कार्यात् प्राक् सिद्धस्य कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। प्रागसिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धो नोपपद्यते। सम्बन्धस्य द्वयायत्तत्वात्। तस्मादनुपपन्नो वैशेषिकसिद्धान्तः इति दिक्।

इति वैशेषिकमतनिरसनम् ।

स्वीकार न किये जाने के कारण भी इस वैशेषिक सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। यह परमाणु कारणतावाद किसी भी अंश से कहीं भी उपनिषद आदि में किन्हीं भी वेद वेत्ताओं के द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। इसलिए वेद के सिद्धान्त से सिद्ध होने के अभाव में यह सिद्धान्त माननीय रूप से अपेक्षित नहीं है।

पुनश्च कहना है कि वैशेषिकतन्त्र या शास्त्र का सर्वस्व है कि द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य, विशेष तथा समवाय ये 6 पदार्थ पृथक् पृथक् गृहीत होते हैं। इनमें एक एक के स्वरूप की सिद्धि करते समय दूसरे का ग्रहण न किया जाने के कारण इनकी आपस में एक दूसरे को कोई आवश्यकता नहीं है, यह कहना होगा। गुण और कर्म की और सामान्य तथा विशेष की स्वरूप स्थिति में दूसरे के ग्रहण न होने के कारण कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु द्रव्य के स्वरूप में गुण कर्म आदि की आवश्यकता का अभाव नहीं है। द्रव्य का लक्षण है कि जो क्रिया और गुणवाला हो तथा समवायिकारण वाला हो, वह द्रव्य है, यह द्रव्य का लक्षण गुण और कर्म आदि की आवश्यकता रखता है। द्रव्य और गुण का अग्नि और धूम की तरँह भेद नहीं प्रतीत होता। इसलिए गुणों का समूह ही द्रव्य है, यों गुण की द्रव्यात्मकता सिद्ध होतो है। इससे कर्म, सामान्य, विशेष और समवायों की द्रव्यात्मकता व्याख्यात हुई, गुणों के अतिरिक्त द्रव्य नाम का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

कहा जाता है कि कर्मों का सामान्य और विशेषों के कारण जो समवाय होता है वह पदार्थ होता है, यह कहा जायगा। इस प्रकार गुण आदि का द्रव्य के आधीन होना इसलिए सिद्ध हो जायगा कि द्रव्य और गुण अयुत सिद्ध हैं। (जब दो में से एक किसी दूसरे के आधार पर ही रहता हो तो वे दोनों अयुत सिद्ध कहलाते हैं।) यदि द्रव्य नाम का अलग कोई पदार्थ न हो तो इन गुणों को अयुतसिद्धता किसके आधार पर रहेगी। इस प्रश्न पर हमें यह कहना है कि

—"अपरिग्रह के कारण द्रव्य की अत्यन्त अनपेक्षा हो जाती है।"

सभी पदार्थों में केवल गुण कर्म आदि ही गृहीत होते हैं। उनके आधार के रूप में उनसे भिन्न कोई द्रव्य नाम का अर्थ अनुभव में आता ही नहीं। इसलिए गुण कर्म आदि से पृथक् वह द्रव्य कभी भी अपेक्षित होता ही नहीं। समवाय के सहयोगी जो गुण कर्म आदि हैं, उन्हीं को द्रव्य कहकर व्यवहार चलाया जाता है, अब यह अयुतसिद्धत्व क्या होता है? क्या यह पृथक् काल में न होना है, या पृथक् स्वभाव का न होना अयुत सिद्ध है, यह किसो भी रूप में गले नहीं उतरता। यदि दो का पृथक् देश में न होना अयुतसिद्ध कहलाता है तब तो वैशेषिक सिद्धान्त से विरोध आपत्ति के रूप में सामने आ जाता है, तन्तु से आरम्भ किया हुआ पट तन्तु के देश में उपलब्ध होगा न कि पट के देश में। पट के गुण शुक्ल आदि पट के देश में उपलब्ध होंगे न कि तन्तु के देश में। कहा गया है—

—"द्रव्य दूसरे द्रव्यों का आरम्भ करते हैं तथा गुण दूसरे गुणों का आरम्भ करते हैं"—(वै० सू० १।१।१०)

तन्तु पट का प्रारम्भ करते हैं तन्तु के गुण पट के गुणों का आरम्भ करते हैं यह उनका सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त तब बाधित हो जायगा जब द्रव्य और गुण पृथक् देश में नहीं रहेंगे (या अयुतसिद्ध होंगे) अब यदि पृथक् काल में न होने का नाम अयुतसिद्ध है, तब दाहिने और बायें सींग को भी अयुतसिद्ध कहना होगा। इसी प्रकार जिन दो का पृथक् स्वभाव नहीं है वे भी अयुतसिद्ध नहीं कहला सकेंगे। उस स्थिति में तादात्म्यभाव से ही प्रतीत होने के कारण द्रव्य और गुण का स्वयं का भेद भी सिद्ध नहीं हो पायगा। युतसिद्धों का सम्बन्ध तो होता है संयोग, और अयुत सिद्धों का सम्बन्ध होता है समवाय, यह इन दोनों का भेद स्वीकार करना भी सारहीन है। क्योंकि कार्य से पहिले सिद्ध कारण का भी तब अयुतसिद्धत्व नहीं बन पायेगा। जो पहिले से असिद्ध है, जिसने अपना स्वरूप लाभ नहीं किया है ऐसे कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि सम्बन्ध दो के आधार पर होता है। (वस्तुतः कार्य तो अभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, अतः दो हैं ही नहीं, तब सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा)। इसलिए वैशेषिक सिद्धान्त युक्ति सिद्ध नहीं ठहरता इस दिशा में विचार किया गया।

सौगतमतम् वैनाशिकमतम्

वैभाषिक-सौत्रान्तिक-मतनिरासः

—"समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः—(२।२।१८)

—इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्—(२।२।१९)

—उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्—(२।२।२०)

—असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा—(२।२।२१)

अथ वैनाशिकानां बुद्धिक्षणविनाशवादो निरस्यते

—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्—(२।२।२२)

—उभयथा च दोषात्—(२।२।२३)

—आकाशे चाविशेषात्—(२।२।२४)

—अनुस्मृतेश्च—(२।२।२५)

—नासतोऽदृष्टत्वात्—(२।२।२६)

—उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः—(२।२।२७)

वैज्ञानिकमतनिरासः

—नाभाव उपलब्धेः—(२।२।२८)

—वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्—(२।२।२९)

—न भावोऽनुपलब्धेः—(२।२।३०)

—क्षणिकत्वाच्च—(२।२।३१)

—सर्वथाऽनुपपत्तेश्च—(२।२।३२)

निरस्तो वैशेषिकसिद्धान्तः। सोऽर्द्धवैनाशिकः प्रतिपद्यते। अथ वैनाशिकसिद्धान्तो निराक्रियते।

वैनाशिकः सौगतो बौद्धस्तथागत इत्येकार्थाः। स एष वैनाशिकश्चतुर्धा—सर्व-शून्यत्ववादी माध्यमिकः प्रथमः। विज्ञानमात्रास्तित्ववादी योगाचारापरनामधेयो वैज्ञानिको द्वितीयः। बाह्यपरोक्षसर्वास्तित्ववादी सौत्रान्तिकस्तृतीयः। सर्वास्तित्वबाह्य-प्रत्यक्षत्ववादी वैभाषिकश्चतुर्थः।

सौत्रान्तिक मत का खण्डन

उभय हेतुक समुदाय में भी उसकी अप्राप्ति है। २।१।१८।

एक दूसरे के प्रत्यय होने के कारण भी नहीं, कारण उत्पत्ति मात्र का निमित होना। २।१।१९।

तथा आगे की उत्पत्ति होने पर पूर्व का निरोध होता है। २।१।२०।

ऐसा न मानने पर सिद्धान्त हानि है अथवा दोनों साथ-साथ हैं। २।१।२१।

अब वैज्ञानिकों बुद्धिक्षण विनाशवाद का खण्डन किया जाता है।

विच्छेद न होने के कारण प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या की। प्राप्ति नहीं है। २।२।२२।

दोष दोनों प्रकारों में आता है। २।२।२३।

और आकाश में कोई भेदक विशेषता नहीं आती। २।२।२४।

अनुस्मृति भी कारण है। २।२।२५।

असत् की कारणता अदृष्ट होने के कारण नहीं है। २।२।२६।

और इस प्रकार उदासीन को भी सिद्धि होगी। २।२।२७।

वैज्ञानिक मत का खण्डन

उपलब्धि के कारण अभाव नहीं है। २।२।२८।

स्वप्न आदि उदाहरण नहीं हो सकते वैधर्म्य के कारण। २।२।२९।

अनुपलब्धि के कारण भाव नहीं है। २।२।३०।

पुनश्च युक्ति का अभाव हेतु है। २।२।३१।

सर्वथा युक्ति का अभाव हेतु है। २।२।३२।

वैशेषिक सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है। उस मत को अर्धवैनाशिक कहा जाता है। अब वैनाशिक सिद्धान्त का निराकरण किया जाता है। वैनाशिक कहें, बौद्ध कहें या तथागत कहें, बात एक ही है। वह यह वैनाशिक मत चार प्रकार का है सर्व शून्यतावादी माध्यमिक केवल विज्ञान मात्र का अस्तित्व मानने वाला, योगाचार इस दूसरे नाम वाला वैज्ञानिक दूसरा भेद है। बाह्य और परोक्ष सभी का अस्तित्व मानने वाला सौत्रान्तिक तीसरा मत है। सर्वास्तित्ववादी, बाह्य को प्रत्यक्ष मानने वाला वैभाषिक चौथा मत है।

तत्र सर्वास्तित्ववादिनस्तावद् वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाश्चैवं मन्यन्ते। द्विविधं तत्त्वं बाह्यमाभ्यंतरं च। बाह्यं भूतभौतिकाभ्यां द्वेधा, आन्तरं चित्तचैत्ताभ्यां द्वेधा। पृथ्वीजलतेजोवायुभेदाच्चतुर्विधाः खरस्नेहोष्णप्रेरणस्वभावभिन्नाः परमाणवो भूतानि तेषां संघाततः सिद्धानि शरीरेन्द्रियविषयभेदात् त्रिविधानि भौतिकानि। तत्र धात्वादीनि शरीराणि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि रूपादयो विषयाः। अर्थाभ्यन्तरा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञा-संस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः। सविषयेन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। विषयाणां बाह्यत्वेऽपि देहस्थेन्द्रियान्तःप्रतिपन्ना आन्तराः स्युः। अहमहमित्यालयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। वेदनीयसुखदुःखमोहप्रत्ययो वेदनास्कन्धः। गौरश्व इत्येवं नामवैशिष्ट्यात् सविकल्पकः प्रत्ययः संज्ञास्कन्धः। रागद्वेषमोहधर्माधर्माः संस्कारस्कन्धः। तत्र विज्ञानस्कन्धश्चित्तम्। स आत्मेति लोके व्यपदिश्यते। अन्ये चत्वारः स्कन्धाश्चैत्ताः। चित्तचैत्तसंघात आध्यात्मिकः। भूतभौतिकसंघात आधिभौतिक.। एष एवोभयः सकललोकयात्रानिर्वाहकः। यद्यपि संघातरूपत्वात् सर्वेऽवयविन एव दृश्यन्ते किन्त्वनवयवातिरिक्तत्वेनावयविनोऽनुपलब्धेरवयवा एवावशिष्यन्ते। ते चावयवाः प्रतिक्षणभिन्नत्वात् क्षणिकाः स्वलक्षणा दुःखरूपाश्च—इत्येतावानस्ति खलु सर्वास्तित्ववादिनां वैभाषिकाणां सौत्रान्तिकानां च वैनाशिकानां मतनिष्कर्षः। स तावत् प्रतिवक्तव्यः।

इनमें सर्वास्तित्ववादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत का सार इस प्रकार है। तत्त्व बाह्य तथा आभ्यन्तर भेदों से दो प्रकार के हैं। बाह्य तत्त्वों के भूत और भौतिक ये दो भेद हैं और आन्तरिक तत्त्वों के चित्त और चैत्त नामक दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु के भेद से चार प्रकार वाले, रूखे, चिकने, गरम और प्रेरण स्वभावों से भिन्नता रखने वाले परमाणुओं को भूत शब्द से कहा जाता है। उनके संघात या समूह से बनने

वाले शरीर, इन्द्रिय, विषय भेद से तीन प्रकार के भौतिक तत्त्व कहे जाते हैं। उनमें धातु आदि शरीर हैं, चक्षु आदि इन्द्रिय हैं, रूप आदि विषय हैं। आभ्यन्तर या भीतर के पांच स्कन्ध हैं उनके नाम हैं—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार। विषयों के सहित इन्द्रियों का नाम रूप स्कन्ध है। विषयों के बाहर रहने पर भी देह में स्थित इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत विषय आन्तर हो जाते हैं। "मैं" "मैं" इस आकार का आलय विज्ञान का प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है। अनुभव में आने वाले सुख दुःख मोह का ज्ञान वेदना स्कन्ध है। राग, द्वेष, मोह, धर्म अधर्म संस्कारस्कन्ध है। इनमें विज्ञानस्कन्ध चित्त है। उसी को लोक में आत्मा कहा जाता है। अन्य चार स्कन्ध चैत्त हैं। चित्त और चैत्त का संघात या समुदाय आध्यात्मिक है। भूत और भौतिकों का संघात आधि-भौतिक है। यह दोनों संपूर्ण लोक यात्रा का निर्वाह करने वाले हैं। यद्यपि संघात्मक स्वरूप होने के कारण सभी अवयवी ही दिखाई देते हैं किन्तु अवयवों के अतिरिक्त अवयवी की उपलब्धि न होने के कारण अवयव ही अवशिष्ट रह जाते हैं। और ये अवयव प्रतिक्षण भिन्न होने के कारण क्षणिक, स्वलक्षण तथा दुःख रूप हैं। यही है सर्वास्तित्ववादी वैभाषिक, सौत्रान्तिक विनाशवादियों के मत का निष्कर्ष। अब हमें इनका प्रत्युत्तर देना है।

तथा हि—योऽयमणुकृतो भूतभौतिकसंघातो यो वा स्कन्धकृतः पञ्चस्कन्धीरूपः संघातः तस्मिन्नुभयप्रकारकेऽपि—

—"समुदाये तदप्राप्तिः"—

तस्य समुदायभावस्यानुपपत्तिः। संहननकर्तुर्हेतोरभावात्। अवयवानामचेतनतया स्वयं समुदायभावाय चेष्टा नोपपद्यते। चित्तं यद्यप्यस्ति चेतनं तथापि तत्रान्योन्याश्रयो दोषः। तथा हि—चित्ताभिज्वलनस्य समुदायसिद्धयधीनतया समुदायसिद्धेः प्राक् तत्स्वरूपासिद्धया समुदायभावाय तच्चेष्टा नोपपद्यते। अन्यस्तु कश्चिच्चेतनो नाभ्युपगम्यते निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे तु प्रवृत्त्युपरामो न स्यात। यत्त्वालयविज्ञानसन्तानो नामाशयः संघाताय चेष्टां करोतीत्याहुः—तदप्यसत्। अनुपपत्तेः। तथा हि—अयमाशयस्तावत् सन्तानः प्रवाहः। तस्य संतानिरूपत्वं वा वक्तव्यमतिरिक्तत्वं वा। आद्ये स्वानन्यत्वात् स्वसंघाताय स्वस्य चेष्टानुपपत्तिः। अन्यत्वे तस्य स्थिरत्वं वा क्षणिकत्वं वा। आशयस्य स्थिरत्वाभ्युपगमे तावत् क्षणिकत्वसिद्धान्तापलापापत्तिः। क्षणिकत्वे तु क्षणिकस्य जन्मातिरिक्तव्यापारालाभात् परमाण्वादिसंहननाय प्रवृत्तिकालानुपपत्तिः। तस्मात् सर्वथा समुदायभावानुपपत्तिः। तदनुपपत्त्या च तदाश्रयलोकयात्रानुपपत्तिः।

यह जो अणुओं के द्वारा निष्पादित भूत भौतिक संघात है और जो यह स्कन्धों के द्वारा बनाया हुआ पञ्चस्कन्धी रूप संघात है यह दोनों ही प्रकार का संघात सिद्ध नहीं होता। उसका समुदायभाव बनता हो नहीं। क्योंकि संघात या समूह रूप प्राप्तिका हेतु जो समूह का निर्माता है उसका ही अभाव है। अवयवों की अचेतना के कारण स्वयं समुदाय बनने की चेष्टा होती नहीं। चित्त यद्यपि चेतन है तथापि वहां अन्योन्याश्रय दोष

आ जाता है। क्योंकि चित्त का अभिज्वलन समुदाय की शक्ति के आधीन है, अतः समुदाय की शक्ति के पहिले चित्त का स्वरूप असिद्ध रहता है। समुदाय भाव के लिए उसकी चेष्टा नहीं बनती। अन्य कोई चेतन स्वीकार किया नहीं जाता। बिना किसी की अपेक्षा प्रवृत्ति मान लेने पर तो प्रवृत्ति का विराम ही न हो सकेगा। जो यह कहते हैं कि आलय विज्ञान सन्तान नाम का आशय संघात के लिए चेष्टा करता है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं है। स्पष्ट यह है कि यह आशय ही सन्तान प्रवाह है। उसको सन्तानिरूप कहना होगा या उससे अतिरिक्त कहा जायगा। पहिले उत्तर में वह स्वयं से अनन्य रहेगा। अतः अपने समूह के लिए उसकी चेष्टा अयुक्त रहेगी। यदि उससे भिन्न होगा तो वह क्षणिक होगा या स्थिर होगा? आशय को स्थिर मानने पर क्षणिकत्व के सिद्धान्त का अपलाप होगा। यदि वह क्षणिक होगा तो क्षणिक को अपने जन्म के अतिरिक्त व्यापार का लाभ होता नहीं, वह परमाणु आदि के एकत्रीकरण की प्रवृत्ति का काल ही नहीं पा सकेगा। इसलिए समुदाय का सर्वथा अभाव ही बना रहने के कारण अयुक्तता रहेगी। और उसके अभाव में उसके आधार से होने वाली लोक यात्रा की असिद्धि रहेगी।

अत्राहुर्वैनाशिकाः—नेयं लोकयात्रानुपपत्तिः समुदायसिद्ध्यनुपपत्तिर्वा शक्यमाक्षेप्तुम्। इतरेतरप्रत्ययत्वात् तदुपपत्तेः। तथा हि कलापस्तावदविद्यादीनामितरनिमित्तः सिद्धः। स यथा १ अविद्या २ संस्कारः ३ विज्ञानम् ४ नाम ५ रूपम् ६ षडायतनम् ७ स्पर्शः ८ वेदना ९ तृष्णा १० उपादानम् ११ भवः १२ जातिः १३ जरा १४ मरणम् १५ शोकः १६ परिदेवना १७ दुःखम् १८ दुर्मनस्ता ज्ञप्त्येवमादिः। क्षणिकेषु स्थिरत्वबुद्धिरविद्या। रागद्वेषमोहाः संस्काराः, गर्भस्थस्याद्यं चैतन्यं विज्ञानम्। आलयविज्ञानात् पृथिव्यादिचतुष्कं नामाश्रयत्वन्नाम। सितासिते शुक्रशोणिते रूपम्। विज्ञानं पृथिव्यादिचतुष्टयं रूपं चेति षडायतनानि यस्येन्द्रियजातस्य तत् षडायतनम्। नामरूपेन्द्रियाणां मिथः संयोग स्पर्शः। सुखदुःखमोहा वेदना। वेदनया विषयेषु तृष्णा। तया प्रवृत्तिरुपादानम् जन्महेतुर्धर्मादिर्भवः। पञ्चस्कन्धसमुदाय एव देहजन्म, सा जातिः। स्कन्धानां परिपाको जरा। नाशो मरणम्। पुत्रादिस्नेहादन्तर्दाहः शोकः। शोकमूलः प्रलापः परिदेवना। अनिष्टानुभवो दुःखम्। मानसी व्यथा दुर्मनस्ता। अन्येऽप्येवं विधाः कतिपये भावाश्चैत्ताः संभाव्यन्ते। अन्योन्यं चैते निमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवत् संततमावर्तमाना अर्थादेववैतं समुदायमुपपादयन्ति। अथापि च द्विविधः कार्योत्पत्तिक्रमो भवति। क्षणात् क्षणोत्पत्तिरित्येकः। क्षणसमुदायात् क्षणसमुदायोत्पत्तिरित्यपरः। बाल्यात्तारुण्यं ततो वार्द्धक्यमित्यवस्थापरिवर्तनं प्रथमः। तूलात् तन्तुस्ततः पट इत्येवं भावाद् भावो द्वितीयः। तस्मान्नानुपपत्तिरिति चेन्नेति ब्रूमः। अविद्यादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरोत्पत्तौ निमित्तत्वसंभवेऽपि संघातस्य संघातोत्पत्तौ निमित्तत्वं न संभवति। क्षणोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् संघातोत्पादकत्वाभावात्। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इति चेत् तदपि न। संघातानभ्युपगमेऽप्यविद्यादीनामितरेतरनिमित्तकोत्पत्तौ संभवन्त्यां तेषां संघाताक्षेपकत्वानुपपत्तेः। तस्मादुभयप्रकारस्यापि संघातस्यानुपपत्तिस्तदवस्था। तथा

च संघातासिद्ध्या संघातहेतुकः फलसंघातोत्पादस्तावन्न संभवतीति क्षणसंघाताधीनः कार्यकारणभावस्तावत् सौगतानां प्रत्याख्यातो भवति ।

—अथातः क्षणहेतुकः फलक्षणोत्पादः प्रत्याख्यायते ।

—तथा हि इतरेतरप्रत्ययत्वेन यदिदमुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमाख्यातं तदपि नोपपद्यते । उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् उत्तरस्मिन् क्षणे उत्पद्यमाने पूर्वक्षणो निरुध्यते इति हि सौगता अभ्युपगच्छन्ति । तच्च नोपपद्यते । पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलवादस्यासंभाव्यमानत्वात् । निरुद्धो निरुध्यमानो वा पूर्वः क्षणो नोत्तरक्षणस्योत्पादाय व्यापारं शक्नुयाल्लब्धुम् अभावग्रस्तत्वात् । अथ ब्रूयाद्—भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणमुत्पादयेदिति, तन्न । भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसंबन्धप्रसङ्गात् । अयं भाव एवास्य व्यापार इति चेत् तदपि न । हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभवात् । अथ फलस्य हेतुस्वभावोपरागाभ्युपगमे तु हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वमापद्येतेति क्षणिकत्वसिद्धान्तविरोधः स्यात् । अथ स्वभावोपरागमन्तरेणैव हेतुफलभावश्चेत् तर्हि सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः स्यात् । अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात् तर्हि प्रतिज्ञोपरोधः स्यात् । चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते इति हि तैः प्रतिज्ञायते । सा हीयते । निर्हेतुकायां चोत्पत्तौ सर्वमेवाप्रतिबन्धात् सर्वत्रोत्पद्येत । अथान्यथाभ्युपगमे तु यौगपद्यमापद्येत् । अयं भावः । यदि हेतुरयं पूर्वक्षणस्तदुत्तरक्षणोत्पत्तिं यावदवतिष्ठते इति मन्येत तत् तर्हि यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात् । तच्च नेष्यते । तस्मा दिदं सौगतानां कार्यकारणभावक्षणिकत्वं नोपपद्यते इति सिद्धम् । इति कार्यकारणयोः क्षणिकत्वप्रत्याख्यानम् ।

यहां वैनाशिक मतानुयायी कहते हैं कि लोक यात्रा की इस प्रकार असिद्धि दिखाकर या समुदाय सिद्धि की आपत्ति दिखाकर आक्षेप नहीं किया जा सकता । एक दूसरे के प्रत्यक्ष होने से उसकी सिद्धि हो जाएगी । क्योंकि अविद्या आदि का समूह इतरेतर निमित्त सिद्ध होता है । वह इस प्रकार है—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख, दुर्मनस्ता आदि । क्षणिकों में स्थिरत्व की बुद्धि अविद्या है । राग, द्वेष, मोह संस्कार हैं । गर्भस्थित का पहिला चैतन्य विज्ञान है । आलय विज्ञान से पृथिवी आदि चारों नाम का आश्रय हैं । श्वेत और अश्वेत शुक्र और शोणित ही रूप हैं । विज्ञान पृथिवी आदि चारों तथा रूप इन 6 आयतनों वाला इन्द्रिय समूह षडायतन है । नाम, रूप इन्द्रियों का परस्पर संयोग स्पर्श है । सुख, दुःख, मोह वेदना है । वेदना से विषयों में तृष्णा है । उससे होने वाली प्रवृत्ति उपादान है । जन्म का हेतु धर्म आदि भव है । पांच स्कन्धों का समुदाय ही देह का जन्म है, वह जाति है । स्कन्धों का परिपाक जरा है । नाशमरण है । पुत्र आदि के स्नेह से अन्तर्दाह शोक है । शोक का मूल जो प्रलाप है वह परिदेवना है । अनिष्ट का

अनुभव दुःख है। मानसी व्यथा दुर्मनस्ता है। अन्य भी इस प्रकार के कुछ भाव चैत्त रूप में सम्भावित हो सकते हैं। ये सब एक दूसरे से निमित्त नैमित्तिक भाव से घटी यन्त्र के समान निरन्तर आवर्तमान होते हुए अर्थतः ही इस समुदाय को समझ में उतारते हैं। यहां भी कार्य की उत्पत्ति का क्रम दो प्रकार का है। एक क्षण से दूसरे क्षण की उत्पत्ति यह एक क्रम है। क्षणों के समुदाय से क्षण समुदाय की उत्पत्ति यह दूसरा क्रम है। बाल्य से तारुण्य तब वार्धक्य इस प्रकार अवस्था का परिवर्तन यह प्रथम क्रम है। रुई से तन्तु, तन्तु से पट इस प्रकार भाव से भाव को उत्पत्ति यह द्वितीय क्रम है। इस प्रकार कोई अयुक्तता नहीं रह जाती। ऐसा कहने पर इस पर हमारा कहना है कि अविद्या आदि का पूर्व पूर्व का आगे के प्रति निमित्त होना सम्भव होने पर भी संघात का आगे के संघात की उत्पत्ति में निमित्त होना संभव नहीं है। क्षण को उत्पत्ति मात्र निमित्त हो सकती है, संघात की उत्पादकता का अभाव ही रहता है। कहा जा सकता है कि अविद्या आदि के द्वारा अर्थतः संघात का आक्षेप हो जायगा तो यह भी नहीं बनता। संघात के न स्वीकारने पर भी अविद्या आदि की इतरेतर निमित्तक उत्पत्ति के संभव होने पर उनके संघात का आक्षेप होना अनुपपन्न है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के संघात को असिद्धि होने से संघात से उत्पन्न होने वाला फल संघात भी संभव नहीं रहा, अतः क्षण संघात के अधीन जो कार्यकारण भाव सौगतमतानुयाइयों का है उसका निराकरण हो गया।

अब क्षण के हेतु से जो फल के क्षण की उत्पत्ति है उसका निराकरण किया जाता है।

प्रारम्भ से चलें कि एक दूसरे के प्रत्यय के रूप में जो यह सभी उत्पत्तियों का निमित्तत्व बतलाया गया वह भी नहीं जमता। आगे की उत्पत्ति में पहिले के निरोध होने से जब उत्तर क्षण उत्पन्न होगा तब पूर्व क्षण का निरोध हो जायगा, यह सौगत सिद्धान्त के अनुयाइयों का मत है। और यह बात युक्ति से नहीं बनती। पूर्व और उत्तर के क्षणों का हेतु और फल वादी होना असंभव है। निरुद्ध या निरुध्यमान जो पूर्वक्षण है वह उत्तर क्षण की उत्पत्ति के लिए व्यापार को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा, क्योंकि वह तब तक अपने अभाव से ग्रस्त हो जायगा। अब कहें कि अस्तित्ववान् निष्पन्न अवस्था में पहुंचा हुआ पूर्वक्षण उत्तरक्षण को उत्पन्न कर देगा तो ऐसा नहीं हो सकता। स्थितिमान् होने के बाद पुनः व्यापार की कल्पना में दूसरे क्षण के सम्बन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अब कहें कि स्थिति सत्ता या भाव ही उसका व्यापार है तो वह भी नहीं सिद्ध होता। हेतु के स्वभाव से अलग हटकर फल की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। अब फल हेतु के स्वभाव में उपरत हो जायगा। ऐसा मानने पर तो हेतु के स्वभाव को फल के काल तक स्थित रहने वाला मानना होगा और इस प्रकार क्षणिकत्व का सिद्धान्त समाप्त हो जायगा। अब स्वभाव के उपराग के बिना ही हेतु फल भाव होगा, यदि ऐसा मानें तब सर्वत्र उसकी प्राप्ति का अतिप्रसङ्ग उपस्थित होगा। अब यदि हेतु के बिना ही फल

की उत्पत्ति मानलें तो अपनी की हुई प्रतिज्ञा कटने लगेगी। चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त करके चित्त और चैत्त की उत्पत्ति होती है ऐसी उनकी प्रतिज्ञा है। वह समाप्त होगी। बिना हेतु के यदि उत्पत्ति मानली गई, तब सब कुछ बिना किसी प्रतिबन्ध के सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगा। यदि इसको अन्यथा मानें तो साथ-साथ होना आपत्तिजनक होगा। इसका आशय यह है कि यदि यह हेतु जो पूर्वक्षण है वह उत्तर क्षण की उत्पत्ति तक बना रहता है ऐसा माना जाय तब हेतु और फल का एक साथ होना कहना होगा। वह तो अभीष्ट है नहीं। इसलिए सौगत मतानुयाइयों का यह कार्य कारण भाव का क्षणिकत्व युक्ति पूर्ण नहीं सिद्ध होता यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार कार्य और कारण के क्षणिकत्व का प्रत्याख्यान हुआ।

योगाचारवैनाशिकमतम्

अथ क्षणिकविज्ञानिकमतपरीक्षा

अथ योगाचारापरनामकवैज्ञानिकसौगताभिमतं विनाशवादं परीक्षामहे। तत्र तावद्वैनाशिका इत्थमाहुः—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशञ्चेति विनाशत्रयं मन्यामहे। बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकञ्चेति। तत्र बुद्धिपूर्वको भावानां विनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः। तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः। आवरणाभावमात्रमाकाशम्। त्रयमपीदमवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते। निःस्वरूपं निरुपाख्यम्। तत्र सन्तं भावमसन्तं करोमीति भावाद् विपर्ययेण बुद्धिक्रिया प्रतिसंख्या। तया भावानां बुद्धया पूर्वं प्रतीयमानानां पश्चात् प्रतीतिरुच्छिद्यते। सोऽयं बुद्धिविनाशो भावविनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः। अबुद्धिपूर्वकस्तु स्तंभादीनां स्वरसभंगुराणामप्रत्ययोऽप्रतिसंख्यानिरोधः इत्येवं केचिद् व्याचक्षते। वस्तुतस्तु बौद्धानां मते सर्वमिदमर्थजातं बौद्धं बुद्धिबोद्ध्यं बुद्धिमात्रसारमनादिवासनासंस्कारकृतनानाभेदभिन्नमस्तित्वेन भाव्यते। न तु बुद्धिं व्यतिरिच्येदमस्ति किञ्चित्। अस्तीति बुद्धिर्भवतीति न प्रतिपत्तव्यम्। अपि तु बुद्धयते इत्येवैषां भावानामस्तित्वे प्रामाणाभावात्। बुद्धिश्चेयं क्षणं क्षणं विपरिणममाना सन्तानवती भवतीति तत्कृतरूपा इमे सर्वे भावाः सन्तानिनः। सन्तानोऽयं क्षणिकानां भावानां हेतुफलभावेन प्रवाहः। तत्र सन्तानेऽमी क्षणरूपा भावाः पूर्वं न सन्ति—तद् बुद्धिर्नास्ति। अथ सन्ति बुद्धयन्ते। क्षणान्तरे पुनर्न सन्तीति तद् बुद्धिर्निरुध्यते, इत्येवं क्रमे पूर्वमप्रतिसंख्यानिरोधो नामाभावः। स उत्तरक्षणभावप्रागभावः। अथ भावबुद्धेः पश्चात् पुनर्विनाशः। द्वावेतौ विनाशौ भावदशायामेवैतत्पुरस्तात् पश्चाच्चोपपद्येते। यस्तु घटपटादीनामर्थजातानामेकदेशे क्वचित् सतामन्यत्रात्यन्ताभावः स आकाशो नाम तृतीयो विनाशः। एतद् विनाशत्रयातिरेकेण सर्वा एता बुद्धयो बुद्धयन्ते। तेऽमी भावा बुद्धिबोध्याः संस्कारोत्पाद्याः क्षणिकाश्चेति सिद्धान्तः।

योगाचार वैनाशिक का मत

क्षणिक वैज्ञानिक मत की परीक्षा

अब हम परीक्षा करते हैं योगाचार नामक दूसरी संज्ञा वाले वैज्ञानिक सौगत को अभिमत त्रिनाशवाद की। वहां वैनाशिकों का कथन इस प्रकार है। प्रति संख्या तथा अप्रतिसंख्या का निरोध और आकाश ये तीन प्रकार के विनाश हम मानते हैं। बुद्धि के द्वारा जानने योग्य इन तीन से अधिक जो कुछ है वह संस्कार युक्त और क्षणिक है। वहां बुद्धिपूर्वक भावों का विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है। उसके विपरीत अप्रतिसंख्या-निरोध है। आवरण का अभाव मात्र आकाश है। ये तीनों ही अवस्तु का अभाव मात्र है, निरुपाख्य माना जाता है। जिसका स्वरूप न हो वह निरुपाख्य है। वहां पर विद्यमान भाव का अविद्यमान करता हूं इस भाव से विपरीत बुद्धि क्रिया ही प्रतिसंख्या है। उसके द्वारा पूर्व प्रतीयमान भावों की बाद में प्रतीति को उच्छिन्न किया जाता है। यह बुद्धि का विनाश भावों का विनाश या प्रतिसंख्या का निरोध है। अबुद्धि पूर्वक स्तन्त्र आदि स्वर के समान अंगुरों का अप्रत्यय अप्रतिसंख्यानिरोध है ऐसी कुछ लोग व्याख्या करते हैं। वास्तव में तो बौद्ध मत में ये सभी अर्थसमूह बौद्ध या बुद्धि के द्वारा उत्पादित बुद्धि के द्वारा बाध्य, बुद्धिमात्र में सार रूप से संस्थित अनादिवासनाओं के संस्कार से बनाए हुए नाना भेदों से भिन्न अस्तित्व के रूप में भावित हैं। बुद्धि छोड़कर यह सब कुछ भी नहीं है। अस्ति बुद्धि ही भवति बुद्धि है यह नहीं समझना चाहिए। अपितु जाने जाते हैं यही इन भावों का अस्तित्व है। बुद्धि के अतिरिक्त भावों के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है। और यह बुद्धि क्षण क्षण में परिणत होने कारण सन्तानयुक्त या प्रवाह युक्त होती है, इसलिए उसके द्वारा उत्पादित ये सारे भाव सन्तान रूप या प्रवाह रूप हैं। यह सन्तान क्षणिक भावों का हेतु और फल के रूप में प्रवाह है। उस सन्तान में क्षणरूपी भाव पहिले नहीं है, उनकी बुद्धि नहीं है। अब जब वे हैं तो जाने जाते हैं। एक क्षण के बाद जब वे नहीं हैं तो उनकी बुद्धि का निरोध हो जाता है। इस प्रकार के क्रम में पहिले अप्रतिसख्या निरोध नाम का अभाव होता है। वह उत्तर क्षण के भाव का प्रागभाव है। अब भाव बुद्धि के बाद पुनः विनाश है। वह बुद्धि पूर्वक होने से प्रतिसंख्या निरोध है। वह पूर्व क्षण का भाव ध्वंसाभाव है। दोनों ही प्रकार के ये विनाश भाव दशा में ही इसके पहिले और बाद में सम्पन्न होते हैं। जो घट पट आदि अर्थ समूह का कहीं एक देश में रहते हुए अन्यत्र प्रदेश में अत्यन्त अभाव है वह आकाश नामक तीसरा विनाश है। इन तीन प्रकार के विनाशों के विपरीत ये सभी प्रकार की बुद्धियां ज्ञान में आती हैं। ये सारे भाव बुद्धि के द्वारा बोध्य संस्कारों के द्वारा उत्पाद्य और क्षणिक हैं यह सिद्धान्त है।

अत्रेदं प्रत्युच्यते-प्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् इति। विनाशत्रयादन्यद् बुद्धिबोध्यमित्युक्तम्। तत्र तावत् प्रतिसख्याऽप्रतिसंख्याविनाशौ न संभवतः। सन्तानानां भावानाञ्चाविच्छेदात् तेषु तयोरप्राप्तेः। तौ हि सन्तानेषु वा विवक्षितौ स्यातां भावेषु वा। तत्र सन्तानेषु तावत् संतानिनामविच्छिन्नहेतुफलभावेन प्रवर्तमानानां सन्तानविच्छेदो नोपपद्यते। अथ भावानामप्येषां सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञादर्शनादन्वय्यविच्छेद एवोपपद्यते। अनेनैव च दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेन यत्रापि क्वचिदवस्थायामियं प्रत्यभिज्ञा स्पष्टं न

दृश्यते तत्रापि सोऽविच्छेदोऽनुमीयते। तथा चैष भावानामपि निरन्वयो निरुपाख्योऽयं विनाशो न सम्भवतीति ब्रूमः।

यहां यह प्रतिवाद है कि—प्रतिसंख्या अप्रतिसंख्या से निरोध की अविच्छेद के कारण अप्राप्ति है। कहा गया है कि तीनों विनाशों के अतिरिक्त जो कुछ है वही बुद्धि के द्वारा बोध्य है। अब उनमें प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या का विनाश संभव नहीं है। सन्तानों और भावों का विच्छेद न होने के कारण वहां उनकी प्राप्ति नहीं होती। प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या या तो सन्तानों में कही जायगी या भावों में बतलाई जायगी। वहां सन्तानों में जो सन्तानी हैं उनको अविच्छिन्न हेतु और फल भाव से प्रवृत्त होने पर सन्तान का विच्छेद युक्तिसिद्ध नहीं ठहरता और इन भावों को भी सभी अवस्थाओं में प्रत्यभिज्ञा बनी रहने के कारण अस्तित्व के अविच्छेद के द्वारा किसी अवस्था में प्रत्यभिज्ञा स्पष्ट दिखाई नहीं देती वहां भी बिना अस्तित्व वाला, बिना नाम वाला विनाश सम्भव नहीं रह जाता।

अथवा इस दोनों प्रकार के विच्छेद को मान लेने पर भी दोनों ही प्रकार से हम दोष देख पाते हैं। क्योंकि विनाश के अनन्तर स्वयं उत्पत्ति की संभावना नहीं है तथा उत्पत्ति के अनन्तर स्वयं विनाश होना असंभावित है—

—'असत् का भाव नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता"—

यह कहा गया है। उत्पत्ति और विनाश के दो क्षणों के बीच में किसी अन्य क्षण के न होने से पूर्व क्षण के विनाश और अपूर्व क्षण की उत्पति के लिए किसी प्रयत्न का लाभ न होने के कारण उत्पत्ति या विनाश दोनों में से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। और फिर ये होता है या स्वयं ही हो जाता है। दोनों ही प्रकार से दोष आने के कारण दोनों ही बातें नहीं बनतीं। प्रथम पक्ष मानने पर विनाश बिना किसी हेतु के होता है इस स्वयं स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध होता है। दूसरा पक्ष मानने पर दुःख क्षणिकता आदि भावनात्मक मार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।

अब यह जो आकाश नाम का तीसरा विनाश माना जाता है उसको भी निरुपाख्य मानना ठीक नहीं बैठता। पहले कहे गये दोनों विनाशों को ही तरँह इस विनाश में भी अयुक्तता वैसी ही बनी हुई है। पुनश्च हमें कहना है कि गन्ध आदि गुणों को पृथिवी आदि वस्तुओं के आश्रय पर हम देखते हैं, उससे भिन्नता न होने के कारण और आकाश के श्रोत्र के द्वारा ग्रहण करने योग्य गुण का आश्रय होने के कारण उसकी भी वस्तु के रूप में उपलब्धि होते हुए उसे अवस्तु रूप निरुपाख्य कहना असिद्ध है। 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु" इस आगम के प्रमाण से आकाश को जन्यत्व और जनकत्व के रूप में परीक्षा हो जाने पर उसकी वस्तु के रूप में उपलब्धि होने से वह अवस्तु है यह मानना असिद्ध है। सौगतों के द्वारा प्रतिपादित आकाश और वेद में कथित आकाश में कोई भेद तो बतलाया नहीं गया है।

अपि चास्तु वा सोऽयमुभयविधोऽपि विच्छेदस्तावताप्युभयथा दोषं पश्यामः । विनाशानन्तरं स्वयमुत्पत्तेरसम्भवात् । उत्पत्तेरनन्तरञ्च स्वयं विनाशासम्भवात्—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"

इत्याहुः । अपि च—उत्पत्तिविनाशक्षणयोरन्तरतः क्षणान्तराभावेन पूर्वक्षणनाशायापूर्वक्षणोत्पादाय च प्रयत्नालाभादुत्पत्तिर्वा विनाशो वैतदुभयं न सम्भवति । अपि चामी अविद्यादिनिरोधं मन्यन्ते । स खलु यमनियमादिपरिकरौपयिकात् सम्यग्ज्ञानाद्वा जायते, स्वयमेव वा । उभयथापि दोषादुभयानुपपत्तिः । आद्ये निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमसिद्धान्तविरोधात् । द्वितीये च दुःखक्षणिकादिभावानात्मकमार्गोपदेशानर्थक्यात् ।

अथ योऽयमाकाशो नाम तृतीयो विनाश इष्यते तत्रापि चायं निरुपाख्यत्वाभ्युपगमो नोपपद्यते । पूर्वोपात्तयोर्विनाशयोरिवैतस्मिन्नपि विनाशेऽनुपपत्तिहेतोरविशेषात् । अपि च ब्रूमः । गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात् तदविशेषादाकाशे च श्रोत्रग्राह्यगुणाश्रयत्वेन वस्तुत्वप्रतिपत्तौ सम्भवन्त्यामवस्तुत्वलक्षणनिरुपाख्यत्वासिद्धिः । आत्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुः इत्यागमप्रामाण्याच्चाकाशस्य जन्यत्वजनकत्वाभ्यां परीक्षितस्य वस्तुत्वप्रतिपत्तेरवस्तुत्वासिद्धिः । सौगतोपात्ते वेदोपात्ते चाकाशे विशेषानुपपत्तेः ।

(इस अंश का अनुवाद पृष्ठ 352 में है)

अनुस्मृतेश्चायं बुद्धिलक्षणविनाशो नोपपद्यते । अनुभवाहितसंस्कारादनुस्मरणमनुस्मृतिः । सा चानुभवस्मरणयोरेककर्तृकत्वे संभवति । पुरुषान्तरोपलब्धविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात् । तेनानुभवितुरात्मनः स्मरणोत्तरकालपर्यन्तं स्थायित्वप्रतिपत्तौ क्षणभङ्गवादः प्रत्याख्यातो भवति ।

अथाभावाद् भावोत्पत्तिरिति वैनाशिकसमयं प्रतिब्रूमः । नानुपमृद्य प्रादुर्भावाद् इत्याचक्षाणा वैनाशिका विनष्टाद् बीजादङ्कुरोत्पत्तेः विनष्टात् क्षीराद् दध्युत्पत्तेर्दर्शनात् कारणविनाशात् कार्योत्पत्तिर्भवतीति मन्यन्ते । तन्नावकल्पते इत्याह—

"नासतोऽदृष्टत्वादिति"

असतः कारणत्वं नोपपद्यते । अदृष्टत्वात् । न हि कुत्राप्यसतः कार्योत्पादकत्वं पश्यामः । स्वयमसतः कारणस्य कार्योत्पत्त्यै प्रयत्नालाभात् । न चाप्यसतोऽर्थस्य कार्योत्पादाय परिग्रहणं संभवति । असतोऽर्थस्य अदृष्टत्वात् तत्र प्रयत्नलाभासंभवात् । तस्मादभावाद् भावोत्पत्तिर्नास्ति । अपि च—यद्यभावादपि हन्त भावोत्पत्तिः स्यात्तर्हि उदासीनानामनीहमानानामपि सर्वविधानि कार्याण्यनवरतमुपपद्येरन् । तथैव च धर्मविशेषसहकारित्वमनपेक्षमाणानां सर्वेषामेव सर्वत्र निर्विशेषं कारणत्वापत्तौ सर्वेषां कार्याणां सर्वत्र सिद्धिः स्यात् । न तथा भवति तस्मादनुपपन्नोऽयं बाह्यार्थवादिवैनाशिकसिद्धान्तः ।

अनुस्मृति के कारण भी यह बुद्धि वाला विनाश समझ में नहीं उतरता । अनुस्मृति कहते है अनुभव के द्वारा लाए गए संस्कारों के कारण बाद में होने वाले स्मरण को । वह तभी हो सकती है जब अनुभव कर्ता और स्मरण कर्ता एक ही हों । ऐसा नहीं होता कि किसी दूसरे पुरुष ने तो अनुभव किया हो और किसी दूसरे पुरुष को स्मरण होता हो । इससे अनुभव करने वाले आत्मा के स्मरण के बाद तक बने रहने के कारण क्षण भङ्गवाद समाप्त हो जाता है ।

अब अभाव से भाव की उत्पत्ति बतलाने वाले वैनाशिक के मत की आलोचना की जाती है । उपमर्दन के बिना प्रादुर्भाव नहीं होता यह कहने वाले वैनाशिक विनष्ट बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति के देखने से तथा विनष्ट दुग्ध से दधि की उत्पत्ति देखने के कारण विनाश से कार्य की उत्पत्ति का होना मानते हैं । वह बात नहीं सिद्ध होती इसको सूत्रकार कहते हैं ।

—"असत् से उत्पत्ति होती है, ऐसा न देखा जाने के कारण"—

असत् कारण नहीं बनता क्योंकि ऐसा कहीं देखा नहीं गया । कहीं भी हम असत् को कार्य का उत्पादक नहीं देखते । क्योंकि जो कारण स्वयं असत् है उसका कार्य की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं हो सकेगा । किसी असत् पदार्थ का कार्य की उत्पत्ति के लिए ग्रहण भी नहीं किया जाता । क्योंकि असत् अर्थ तो दिखाई नहीं देता । उसके प्रयत्न का लाभ ही संभव नहीं रह जाता । इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, अभाव से भी यदि भाव की उत्पत्ति होगी तो अफसोस की बात तो यह भी होगी कि जो उदासीन भाव को प्राप्त हो चुके है और जिनमें कोई इच्छा नहीं रह गई है उनमें भी सब प्रकार के कार्य निरन्तर उत्पन्न होते रहेंगे । उसी प्रकार विशेष धर्म की सहकारिता की उपेक्षा न करने वाले सभी के बिना किसी विशेषता के कारण बन जायंगे और तब सभी कार्य सभी से सर्वत्र सिद्ध होने लगेंगे । ऐसा चूंकि होता नहीं इसलिए यह बाह्यार्थवादी वैनाशिक का सिद्धान्त नहीं टिकता ।

योगाचारमतपरीक्षा

अथ विज्ञानैकस्कन्धवादिनः प्राहुः-सत्यसति वा बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात् अन्तस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति सिद्धान्तः । तथाहि—

घटपटादिविषयभेदप्रत्ययस्य ज्ञानगतविशेषव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्ज्ञानेनैव तेषां विषयाकाराणामवरुद्धत्वादपार्थगर्थ्यं निष्कृष्यते । विषयविज्ञानयोः स्वप्नादिवत् सहोपलम्भनियमाच्चाभेदं प्रतिपद्यामहे । तस्माच्चैवं बहिरर्थाभावो निष्कृष्यते । स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्ययानां बाह्यमर्थं विनैव ग्राह्यग्राहकाकारतयोपपन्नतया तदविशेषाज्जागरितस्तम्भादिप्रत्ययानामप्यन्तरेणैव बाह्यमर्थं निष्पत्तिर्निष्कृष्यते । बौद्धबाह्याभिमानाभ्यां

प्रत्ययवैचित्र्यन्तु वासनावैचित्र्यादवसेयम् । अनादौ संसारे बीजांकुरवद् विज्ञानानां वासनानां चान्योऽन्यतो निमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्योपपत्तेरप्रतिषिद्धत्वात् ।

स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य सर्ववादिसंमततया तद्रीत्यैवेहापि अनुमन्तुं शक्यत्वात् । तस्माद्विज्ञानातिरिक्तोऽयं बाह्योऽर्थो नास्तीति सिद्धम् ।

योगाचार मत की परीक्षा

विज्ञान मात्र को स्कन्ध कहने वाले यहां कहते हैं कि बाह्य अर्थ के होने या न होने पर भी बुद्धि में प्रवेश के बिना उन्हें प्रमाण मानकर कोई व्यवहार नहीं चलाया जा सकता अतः यह सारा व्यवहार भीतर ही होता है, विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य अर्थ कुछ भी नहीं होता है यही सिद्धान्त है । इसको इस प्रकार समझे कि घट पट आदि विषयों के भेद का अनुभव ज्ञानगत विशेषता के बिना नहीं हो सकता और ज्ञान के द्वारा ही उनकी विषयाकारता का अवरोध होता है अतः वे पृथक् अर्थ ही नहीं है यह निष्कर्ष सिद्ध होता है । विषय और विज्ञान स्वप्न आदि की तरह साथ-साथ उपलब्ध होते हैं यह नियम है । अतः दोनों को हम अभिन्न समझते हैं । और इस प्रकार बाहर अर्थ की सत्ता का ही अभाव है यह निष्कर्ष सामने आता है । स्वप्न, मृगमरीचिका, गन्धर्व नगर आदि का अनुभव बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्य ग्राहक के आकार में परिणत होता है यह देखने से उससे किसी भेदक विशेषता के अभाव में जागृत अवस्था में भी स्तम्भ आदि के अनुभवों की बाहरी पदार्थों के बिना ही निष्पत्ति निष्कर्ष के रूप में प्राप्त होती है । बुद्धिगत तथा बाह्य अभिमानों के द्वारा अनुभव की विचित्रता तो वासना की विचित्रता के कारण होती है यह समझना होगा । अनादि संसार में कोई रुकावट नहीं आती । विज्ञान और वासनाएं बीज और अंकुर की तरँह एक दूसरा को निमित्त बनाकर वैचित्र्य की सृष्टि करते रहते हैं ।

स्वप्न आदि में तो यह सभी मानते हैं कि बाह्य अर्थों के बिना ही वासना के निमित्त से ज्ञान में विचित्रता आती है । उसी रीति से यहां भी अनुमान किया जा सकता है । इसलिए विज्ञान के अतिरिक्त यह बाह्य अर्थ कुछ होता हो नहीं यह सिद्ध होता है ।

अत्रेदं प्रतिब्रूमः । नाभावो बाह्यार्थानामध्यवसातुं युक्तम् । स्तम्भः कुडचं घटः पट इत्येवमद्धा बाह्यत्वेनार्थानामुपलब्धेः । उपलब्धस्यापलापानर्हत्वात् । ननु नाभाव उपलब्धेरिहाख्यायते, उपलब्धिव्यतिरिक्तस्तु बाह्योऽर्थः प्रत्याख्यायते इति चेत्तत्तुच्छम् । विषयव्यतिरिक्तोपलब्धेरनुपलब्धेः । विषयाश्चैते बाह्यत्वेनोपलभ्यन्ते । अत एव सर्वलोकसाधारणीं बाह्यत्वेनोपलब्धिं प्रत्याचक्षाणा अप्येते वैनाशिका 'अन्तर्ज्ञेयरूपं बहिर्वदवभासते' इत्येवं सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्चैतं बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारेणाभिनयन्ति । तेनेयं बाह्यत्वोपलब्धिः सर्वप्रत्ययसिद्धोपपद्यते तथा चेदं बाह्यत्वं यद्यपलप्यते नूनं तर्हि सोपलब्धिरेवेदं प्रकारान्तरेण व्यतिव्यस्यते । यथोपलभ्यते

न तथाभ्युपगम्यते । अभ्युपगमश्चायमुपलब्धिनिरपेक्षो न प्रमाणं भवितुमर्हति । उपलब्धिसारत्वात् सर्वेषां व्यवहाराणाम् । तस्मादिदं यद्यथोपलभ्यते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यमित्युपलब्धेरस्ति बाह्योऽर्थ इति ब्रूमः ।

यहां हमें प्रत्युत्तर में यह कहना है कि बाह्य अर्थों के अभाव को मन में नहीं बिठाया जा सकता । खम्भा घड़ा, वस्त्र इस प्रकार बाह्य अर्थों की निरन्तर उपलब्धि हो रही है उसका अपलाप करना संभव नहीं । यदि कहा जाय कि उपलब्धि का अभाव नहीं कहा जा रहा है । उपलब्धि के अतिरिक्त बाह्य अर्थ कुछ नहीं है यह बतलाया जा रहा है तो यह बात भी तुच्छ है क्योंकि विषय के अतिरिक्त कोई उपलब्धि कभी होती ही नहीं । और ये विषय बाहर ही दिखाई देते हैं । इसलिए सब लोगों को साधारण रूप से ज्ञात होने वाली पदार्थों की बाहरी उपलब्धि का निषेध करने पर भी ये वैनाशिक मतानुयायी—"भीतर ज्ञेय पदार्थ बाहर की तरँह भासित होते हैं"—इस प्रकार सभी लोगों में प्रसिद्ध पदार्थों की बाहरी स्थिति को देखते हुए और उसका निषेध करने की इच्छा रखते हुए बाहरी अर्थों को बहिर्वत कहते हुए वत् शब्द से अभिनय करते दिखाई दे रहे हैं । इस प्रकार सर्वानुभव सिद्ध पदार्थों की बाह्य उपलब्धि का निषेध किया जा रहा है और इस प्रकार यदि पदार्थों के बाह्यत्व का अपलाप किया जाता है तो प्रकारान्तर से पदार्थों की उपलब्धि या ज्ञान का ही निषेध किया जा रहा है । क्योंकि जैसा उपलब्ध हो रहा है वैसा स्वीकार नहीं किया जा रहा है । और यह स्वीकार उपब्धि से निरपेक्ष होकर प्रमाण नहीं हो सकता । क्योंकि सारे व्यवहारों का सार उपलब्धि ही तो है । इसलिए जो जैसा दिखाई देता है उसे वैसा स्वीकार किया जाना चाहिए और इस प्रकार बाहर उपलब्धि के कारण पदार्थों की बाह्य सत्ता है, यह हमारा कहना है ।

यत्तूक्तं वैनाशिकैः स्वप्नादिप्रत्ययवद् बाह्यार्थनिरपेक्षा एवैते सर्वे प्रत्यया इति । तत्रेदं प्रतिब्रूमः "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" प्रत्येतव्यमिति । बाधाबाधौ हि वैधर्म्यम् । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रबुद्धस्य न तु जागरितोपलब्धं क्वचिद् बाध्यते । अपि चान्यद् वैधर्म्यं भवति । स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम् उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । स्मृत्युपलब्ध्योश्चान्तरं भूयसानुभूयते लोके । स्मृतेरनुभवपूर्वकत्वमुपलब्धेस्त्वपूर्वत्वमित्यादि ।

अथापि यदुक्तं विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादिति तदपि प्रतिवक्तव्यम् । ज्ञानवैचित्र्योपपादकानां विचित्रवासनानां न भावोऽनुपलब्धेः । स्मृतिहेतुवासनोपलब्धिवदासां ज्ञानवैचित्र्योपपादकानां वासनानामुपलब्धिर्नास्ति । अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासनाः सम्भवन्ति । अनुपलभ्यमानेषु त्वर्थेषु किंनिमित्ता हीमा विचित्रा वासना भवेयुः । संसारानादित्वेऽप्यप्रमाणस्यानादिवासनाविशेषाभ्युपगमस्यानास्थेयत्वात् । अपि चैता वासनाः संस्कारविशेषाः स्युः संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते । न चेह वासनाश्रयो भावः प्रतिपद्यते । प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । नन्वेतदालयविज्ञानं वासनाश्रयः स्यादिति चेन्न । क्षणिकत्वाच्चैतस्यानुपलब्धेः । देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधीनस्मृतिप्रतिसन्धानादिव्यवहारोहि पूर्वापरकालोपपन्नं कान्वयिनि कूटस्थे पूर्वापरसर्वार्थदर्शिन्येवोपपद्यते ।

वैनाशिकों ने जो यह कहा है कि स्वप्न आदि के ज्ञान के समान बाह्य अर्थों की आवश्यकता के बिना ही हो जाते हैं सारे ज्ञान। वहां हमारा यह प्रतिवाद है कि—

—"वैधर्म्य होने के कारण स्वप्न आदि का दृष्टान्त यहां समुचित नहीं है"

यह समझना चाहिए। बाध और अबाध को वैधर्म्य कहा जाता है। स्वप्न की उपलब्ध वस्तु का कभी बाध नहीं होता। पुनश्च दूसरा वैधर्म्य भी है। स्वप्न का दर्शन स्मृति रूप है, जागृत अवस्था का दर्शन तो उपलब्धि है। संसार में स्मृति और उपलब्धि का अन्तर तो खूब दिखाई देता ही है। स्मृति तो होती है अनुभवपूर्वक परन्तु उपलब्धि में पहिले किसी की आवश्यकता नहीं होती।

फिर भी यह जो कहा गया कि बिना अर्थ के भी ज्ञानमें विचित्रता आती है उसका कारण वासना की विचित्रता है, उसका भी प्रतिवाद करना है। ज्ञान के वैचित्र्य को बनाने वाली विचित्र वासनाओं की कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि वे उपलब्ध नहीं होती। स्मृति की हेतु जो वासनाएं हैं उनकी उपलब्धि के समान इस ज्ञान की विचित्रता को उत्पन्न करने वाली वासनाओं की कोई उपलब्धि नहीं होती। अर्थ की उपलब्धि का निमित्त बनने वाली प्रत्येक अर्थ के साथ नाना रूपों वाली वासनाओं का होना संभव है। जो अर्थ उपलब्ध ही नहीं है वहां किस निमित्त से ये विचित्र वासनाएं होंगी। संसार की अनादिता में भी प्रमाण न बनने वाले अनादि वासना विशेषों को स्वीकार करना आस्था नहीं दिलाता। पुनश्व ये वासनाएं होंगी संस्कार विशेष रूप और संस्कार आश्रय के बिना रहेंगे नहीं। यहां वासना का आश्रय बनने वाला कोई पदार्थ तो माना नहीं गया है। क्योंकि ऐसे किसी पदार्थ की प्रमाण से उपलब्धि नहीं होती। यदि कहें कि यह जो आलय विज्ञान है, वही वासना का आश्रय हो जायेगा तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आलय विज्ञान के क्षणिक होने के कारण उसकी उपलब्धि ही न हो सकेगी। देश काल की निमित्त के रूप में अपेक्षा रखने वाली वासना के अधीन जो स्मृति और प्रति सन्धान आदि का व्यवहार है वह पूर्व और अपर काल में संस्थित एक रूप रहने वाले सर्वार्थदर्शी कूटस्थ में ही सिद्ध हो सकता है।

आलयविज्ञानस्थिररूपत्वाभ्युपगमे तु क्षणिकत्वसिद्धान्तभङ्गः। अपि चायं विज्ञानैकस्कन्धवादो यथा बाह्यार्थोपलब्ध्यादिहेतुभ्य इदानीं प्रत्याख्यातस्तथैवायं क्षणिकत्वाच्च प्रत्याख्यातो वेदितव्यः। तस्यापि क्षणिकवादितया क्षणिकत्वपक्षे प्रदर्शितानां दोषाणामेतत्सम्बन्धेनाप्युपनेयत्वात्।

अथायं सर्वशून्यत्ववादस्तु पूर्वोक्तैः सर्वैरेव दोषैः परिहृतो भवति। अपि च सर्वथाऽनुपपत्तेश्चायं परिहर्तव्यः। सर्वशून्यतायाः सर्वथानुपपत्तेः।

इति वैनाशिकमतनिरसनाधिकरणं तृतीयं वृत्तम्।

यदि आलय विज्ञान को स्थिर माना जाता है तब तो क्षणिकत्व के सिद्धान्त का ही भङ्ग हो जायेगा। पुनश्च यह एक मात्र विज्ञान स्कन्धवाद जैसे पदार्थों की बाह्य उपलब्धि आदि हेतुओं के आधार पर प्रत्याख्यात किया गया वैसे ही यह क्षणिकता के कारण भी प्रत्याख्यात समझना चाहिए। क्योंकि उसके भी क्षणिक वादी होने के कारण क्षणिकत्व के पक्ष में दिखाए गए दोषों की विद्यमानता यहां भी वैसी ही है।

यह जो सर्व शून्यत्ववाद है यह तो पूर्वोक्त सभी दोषों के कारण निरस्त हो जाता है। यह तो किसी भी तरँह सिद्ध न होने के कारण परित्याज्य है। सबकी शून्यता तो सर्वथा असिद्ध है।

इस प्रकार वैनाशिक मत के खण्डन का तीसरा अधिकरण पूर्ण हुआ।

अथ स्याद्वादिकसिद्धान्तपरीक्षा

तत्र विरुद्धानेकधर्मसमन्वयो जीवात्मपरिमाणं च विमृश्यते।

नैकस्मिन्नसंभवात् २।२।३३

एवं चात्माकात्स्र्न्यम् २।२।३४

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः २।२।३५

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः २।२।३६

जैनः, आर्हतः, विवसनः, लुञ्चितकेशः, स्याद्वादिक इत्येकार्थाः। दिगम्बर-श्वेताम्बरभेदाद् द्विविधा स्याद्वादिका इत्थमाहुः—

—"जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः सप्त पदार्थाः।"—

जीवाजीवौ भोक्तृभोग्यौ। विषयाभिमुख्येनेन्द्रियाणां प्रवृत्तिरास्रवः। तदास्रव-संवरणहेतुर्यमनियमादिः संवरः। निर्जरयति नाशयति कल्मषं संतप्तशिलारोहणादि-निर्ज्जरः कर्मबन्धः। अथैतत्कर्मपाशनाशे सति सत्यलोकाकाशप्रतिष्ठायै सततोद्ध्र्वगमनं मोक्षः। तत्रैतयोर्जीवाजीवयोः पञ्चास्तिकाया भवन्ति।

जीवास्तिकायः। पुद्गलास्तिकायः। धर्मास्तिकायः। अधर्मास्तिकायः। आकाशास्तिकायश्चेति।

इदमस्तीत्येवं प्रतिपन्नः कतिपयधर्मनिचयोऽस्तिकायः पदार्थः। शरीरपरिमाणोऽय जीवो भाव्यः। पूर्यन्ते गलन्तीति पुग्दलाः परमाणुसंघाः। सम्यक्प्रवृत्तिहेतुर्धर्मः। ऊर्ध्व-गतिस्वभावस्य जीवस्य ऊर्ध्वगतिप्रतिबन्धपूर्वकदेहस्थितिहेतुरधर्मः। आवरणाभाव

आकाशः । तत्र जीवास्तिकायस्त्रिविधः । नित्यसिद्धोऽर्हन् मुख्यः । अथ सम्प्रतिमुक्ता इति विविधा मुक्तजीवाः, अथ बद्धाः संसारिजीवा इति । अथ पुद्गलास्तिकायः षोढा, पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि स्थावरं जङ्गमञ्चेति । आकाशास्तिकायो द्विविधः । लोकाकाशः सांसारिकः । अलोकाकाशो मुक्ताश्रयः इति । अथ जन्मकर्माष्टविधम्—तत्त्वज्ञानान्न मुक्तिरिति ज्ञानावरणीयम् आर्हतदर्शनान्न मुक्तिरिति दर्शनावरणीयं तीर्थङ्करप्रदर्शितेषु मोक्षमार्गेष्वनास्था मोहनीयम् मोक्षमार्गप्रवृत्तिविघ्नकरणमान्तर्यञ्चेति चत्वारि घातीनि श्रेयोहन्तृत्वात् । अथ स्ववेद्याभिमानो वेदनीयम्, स्वनामाभिमानो नामिकम् । स्ववंशाभिमानो गौत्रिकम् । शरीरस्थित्यर्थकर्म आयुष्कमिति चत्वार्यघातीनि । एषां भावानामेकत्वमनेकत्वं वा नित्यत्वमनित्यत्वं वेत्येवं सर्वविधभावनायां सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति ।

स्याद्वाद सिद्धान्त की परीक्षा

यहां विरुद्ध अनेक धर्मों का समन्वय तथा जीवात्मा के परिमाण का विमर्श किया जाता है।

असम्भव के कारण एक में नहीं है। २।२।३३।

और इस प्रकार आत्मा की पूर्णता नहीं है। २।२।३४।

विकार आदि के कारण पर्याय से भी अविरोध है। २।२।३५।

और अन्त्य की अवस्थिति से दोनों के नित्य होने के कारश विशेष का अभाव है। २।२।३६।

जैन, आर्हत, विवसन, लुञ्चितकेश, स्याद्वादिक इन शब्दों का एक ही अर्थ है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर भेद वाले स्याद्वाद के अनुयायी यह कहते हैं कि—

—"जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध मोक्ष ये सात पदार्थ हैं"—

जीव अजीव भोक्ता और भोग्य हैं। इन्द्रियों की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति को आस्रव कहते हैं। उस आस्रव के संवरण के कारणभूत यम नियम आदि का नाम संवर है। निर्जर कहते हैं उसे, जो तपी हुई शिला पर आरोहणादि करके कल्मष का नाश करदे, वह कर्म बन्ध है। इस कर्म के पाश के नष्ट हो जाने पर सत्य लोक आकाश में प्रतिष्ठित होने के लिए निरन्तर ऊपर की ओर उठने को मोक्ष कहते हैं। वहां इन जीव और अजीव के पांच अस्तिकाय होते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। 'यह है' इस प्रकार समझकर कुछ धर्मों का संग्रह ही अस्तिकाय रूपी पदार्थ है। इस जीव को शरीर परिमाण वाला समझना चाहिए। पूरित या गलित होने वाले परमाणुओं की पुद्गल संज्ञा है। सम्यक् प्रवृत्ति के हेतु को धर्म कहा गया है। ऊर्ध्व गति के स्वभाव वाले जीव की ऊर्ध्व गति के प्रतिबन्ध पूर्वक देह में स्थित करने का हेतु अधर्म कहलाता है। आवरण के अभाव का नाम आकाश है। उनमें जीवा-

स्तिकाय तीन प्रकार का है, नित्य सिद्ध अर्हन् मुख्य हैं। जो मुक्त हो चुके हैं वे विविध मुक्त जीव हैं, जो बँधे हुए हैं, वे संसारी जीव हैं। पुद्गलास्तिकाय ६ प्रकार का है। पृथिवी आदि चार भूत, स्थावर तथा जगम। आकाशास्तिकाय दो प्रकार का है, लोकाकाश तथा अलोकाकाश। लोकाकाश सांसारिक है तथा अलोकाकाश मुक्तों का आश्रय है। जन्म के कर्म आठ प्रकार के हैं। तत्त्व ज्ञान से मुक्ति नहीं होती इस प्रकार ज्ञान का आवरण करने वाला है। आर्हत के दर्शन से मुक्ति नहीं होती इस प्रकार दर्शन का आवरण करने वाला, तीर्थंकरों के द्वारा दिखाये गये मोक्ष मार्गों में अनास्था मोहनीय है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति में विघ्न करने वाला आन्तर्य कहलाता है। ये चार घाती या श्रेयोमार्ग का हनन करने वाले हैं। दूसरी ओर अपने जानने योग्य का अभिमान वेदनीय है, अपने नाम का अभिमान नामिक है, अपने वंश का अभिमान गोत्रिक है, शरीर की स्थिति के लिए कर्म आयुष्क हैं, ये चार अघाती हैं। इन भावों में एकत्व है या अनेकत्व, इनमें नित्यत्व है या अनित्यत्व इस प्रकार सब भावनाओं में सप्तभङ्गीनय का अवतरण किया गया है—

१. स्यादस्ति।

२. स्यान्नास्ति।

३. स्यादस्ति नास्ति।

४. स्यादवक्तव्यः।

५. स्यादस्त्यवक्तव्यः।

६. स्यान्नास्त्यवक्तव्यः।

७. स्यादस्ति नास्त्ययक्तव्यः।

इति। इत्थं वा नेत्थं वा किमपि निश्चितं वक्तुं न शक्यते। अनैकान्तिकमनिर्वच-नीयं सर्वमिदमित्थं चानित्थं च संभवतीति स्याद्वादसिद्धान्तः।

तत्रेदं प्रत्याख्यायते। स्यादिदमेकं स्यादुभयथा स्यादिदं नित्यं स्यादनित्यं स्यादु-भयथा इत्येवमयं विरुद्धधर्मद्वयसमावेशः प्रतिज्ञादते। स नोपपद्यते एकस्मिन्नसंभवात्। न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति। तथाचेदमतथा-चेदमित्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। सोऽयमेको दोषः प्रथमो विमर्शः।

एवमेवात्मनोऽकार्त्स्न्यं चापरो दोषो विमृश्यते। शरीरपरिच्छिन्नं हि ते जीवं मन्यन्ते। शरीराणाञ्चानवस्थितपरिणामत्वान्मनुष्यजीवः कदाचिद्धस्तिजन्म प्राप्नुवन्नकृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। अथ पुत्तिकाजन्म प्राप्नुवन् न कृत्स्नपुत्तिकाशरीरे संमीयेत। एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थावरेष्वसामञ्जस्यं स्यात्।

नन्वयमनन्तावयवो जीवः। तस्यैतेऽवयवाः क्षुद्रशरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुः।

यथा दीपावयवानां घटे संकोचो गेहे विकास इति। पर्यायेण च बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ तु तेऽपगच्छन्ति इति चेत्तत्रोच्यते—

न च पर्यायादपि जीवावयवोपगमापगमाभ्यां जीवस्य देहपरिमाणत्वे तावदविरोधः शक्यः कल्पयितुम्। विकासादिभ्यो दोषेभ्यस्तथाक्लृप्तेरसंभवात्। अवयवोपगमाभ्यां प्रतिक्षणमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य चास्य जीवस्य विकारः संभाव्यते। विकारित्वाच्चानित्यत्वप्रसङ्गः। अनित्यत्वे च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाधितः स्यात्। कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत् संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं मोक्ष इति हि मन्यन्ते। सोऽनित्यस्यात्मनो न स्यात्। अपि चागच्छद्भिरपगच्छद्भिरवयवैरयमागमापायिधर्मवान् जीवः शरीरवदनात्मा स्यात्। कश्चिदवस्थितोऽवयव आत्मेति चेत्तत्रागच्छन्तोऽवयवाः कुतः प्रादुर्भवन्ति। अपगच्छन्तो वा कुत्र नीयन्ते। भूतेभ्यः प्रादुर्भूय भूतेष्वेव लीयन्ते इति तु नोपपद्यते। जीवस्याभौतिकत्वात्। तथा चैवमादिदोषप्रसङ्गात् पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमौ नाभ्युपगन्तुं युज्येते।

१. स्यात् है।

२. स्यात् नहीं है।

३. स्यात् है, नहीं है।

४. स्यात् अवक्तव्य है।

५. स्यात् है, अवक्तव्य है।

६. स्यात् नहीं है, अवक्तव्य है।

७. स्यात् है, नहीं है, अवक्तव्य है।

इस प्रकार का है या इस प्रकार का नहीं है, ऐसा कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह सब कुछ अनैकान्तिक अनिर्वचनीय 'ऐसा' और 'ऐसा नहीं' संभव है, यह स्याद्वाद का सिद्धान्त है।

अब उसका प्रतिवाद किया जाता है। स्यात् यह एक है, स्यात् अनेक हैं स्यात दोनों है, स्यात् यह नित्य है, स्यात् अनित्य है स्यात् दोनों है, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का एक ही में समावेश होने की प्रतिज्ञा की गई है। वह एक में ही असम्भव होने के कारण युक्तियुक्त नहीं ठहरती। एक ही धर्मी में एक साथ सत् और असत् इन विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता। 'यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है," इस प्रकार अनिश्चित रूप वाला ज्ञान सन्देहपूर्ण ज्ञान के समान ही होता है अतः वह अप्रमाण रहता है। यह एक दोष है। यह प्रथम विमर्श हुआ।

इस प्रकार आत्मा की असम्पूर्णता दूसरा दोष है जिसका विमर्श किया जाता है। ये शरीर के आकार का जीव होता है ऐसा मानते हैं। अब इन शरीरों का परिमाण

व्यवस्थित होने के कारण कभी मनुष्य शरीर में स्थित जीव मृत्यु या शरीर त्याग के अनन्तर यदि हाथी के शरीर में जायगा तो पूरे हाथी के शरीर में फैल नहीं सकेगा। और उसके अनन्तर यदि चींटी का शरीर उसे प्राप्त हुआ तो उस छोटे से शरीर में वह समा नहीं सकेगा। एक ही जन्म में भी कुमार, यौवन और वृद्धावस्था के शरीरों में सामञ्जस्य नहीं बैठ सकेगा।

कहा जाता है कि जीव अनन्त अवयवों वाला है। उसके ये अवयव छोटे शरीरों में संकुचित बड़े शरीर मे जाने पर जीव के अवयव विकसित होते हैं तथा छोटा शरीर मिलने पर वे संकुचित हो जाते हैं। इस मन्तव्य पर कहना यह है कि—

क्रम से जोव के अवयवों के उपगम (विकास) तथा अपगम (संकोच) मानने पर भी जीव के देह के परिमाण के सिद्धान्त पर दिखाया गया दोष मिट नहीं जाता। विकास आदि के द्वारा दोष से छुट्टी दिलाना सम्भव नहीं है। अवयवों के संकोच और विकास के कारण प्रतिक्षण भरते जाने तथा क्षीण होते जाने वाले जीव का विकार युक्त होना सम्भव हो जाता है। जब जीव विकार युक्त हो गया तो वह अनित्य भी हो गया। जब वह अनित्य हो गया तो बन्ध और मोक्ष का स्वीकार बाधित हो गया। आठ कर्मों से परिवेष्टित जीव के अलाबु की तरँह संसार समुद्र में निमग्न होने पर बन्धन के कट जाने पर ऊंचा उठने का नाम मोक्ष माना गया है। जब आत्मा को अनित्य माना जायेगा तब वह बात नहीं हो सकेगी। अथ च आने वाले और निकलने वाले अवयवों के द्वारा यह आगम और अपायि धर्म वाला हो जाएगा और तब यह जोव शरीर के हो समान अनात्मा हो जायगा। कुछ निश्चित अवयव वाला हो आत्मा है यदि ऐसा कहें, तब यह बतलाना होगा कि ये आने वाले अवयव कहां से पैदा होते हैं और निकलने वाले अवयव कहां ले जाये जाते हैं। भूतों से हो उत्पन्न होकर ये भूतों में ही वापस लीन होते हैं—यह तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि जीव को अभौतिक माना गया है। इसी प्रकार के दोषों के उपस्थित होने के कारण क्रम से भी अवयवों का आना और जाना नहीं बन पाता।

अपि च द्विविधोऽयं जीवात्माऽभ्युपेयते। संसारी च मुक्तश्चेति। तत्रान्त्ये मुक्तात्मनि अन्यपर्यायपरिवर्तनाभावेन परिमाणस्यैकरूपावस्थानात् तस्यैव जीवपरिमाणस्य विभुत्वस्य वास्तविकत्वमवगम्यते। उभयोश्च संसारावस्थमुक्तावस्थयोर्जीवयोर्नित्यत्वाध्यवसायादेकत्रान्त्ये मुक्तात्मनि परिमाणावस्थितेरुभयत्रात्मपरिमाणस्याविशेषो लभ्यते। संसारावस्थायां क्षुद्रमहन्नानाविधशरीरपरिग्रहादौपाधिकपरिमाणनानात्वोपपत्तावपि अन्त्यावस्थायां मुक्तौ विभुत्वपरिमाणस्थिरतायां दृष्टायां तदविशेषात् संसारावस्थायामपि तद्विभुत्वमेवं जीवपरिमाणं सिद्धं भवति। तथा च शरीरपरिमाणत्वाभिमानो जैनानामनास्थेयः।

इति स्याद्वादिकमतनिरसनं नामाधिकरणं चतुर्थं वृत्तम्।

पुनश्च यह जीवात्मा दो प्रकार का माना जाता है, एक संसारी तथा दूसरा मुक्त। इनमें अन्तिम मुक्त आत्मा में अन्य पर्याय में परिवर्तन के अभाव के कारण परि-

माण के एक ही रूप में अवस्थित होने से उसी जीव परिमाण का विभु होना वास्तव में ज्ञात होता है। और दोनों संसार अवस्था तथा मुक्त अवस्थाओं में जीव को नित्य माना गया है। एक स्थान पर अन्तिम मुक्त आत्मा में परिमाण की अवस्थिति के कारण दोनों स्थानों पर आत्मा के परिमाण में कोई विशेषता नहीं रहती। संसार की अवस्था में छोटे बड़े अनेक प्रकार के शरीर ग्रहण करने के कारण औपाधिक परिमाण के अनेक होने पर भी अन्तिम मुक्त अवस्था में विभुत्व (व्यापक) परिमाण की स्थिरता होते देखने से उससे अविशेष होने के कारण संसार अवस्था में भी जीव को परिमाण वाला मानना अश्रद्धेय है।

इस प्रकार स्याद्वाद मत के खण्डन का यह चतुर्थ अधिकरण पूर्ण हुआ।

अथ माहेश्वरसिद्धान्तपरीक्षा।

अत्र तावत् केचिदाहुः। प्रधानपुरुषेश्वरा जगत्कारणत्वेन प्रतिपत्तव्याः। प्रधानं प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषो जीवो भोक्ता, ईश्वरः प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता निमित्तकारणम्। अथ शैवाः पाशुपताः कारुकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्चेति चतुर्विधा माहेश्वराः। पशुपतिः पशुः पाशो मोक्षोपायश्चेति चत्वारोर्था विवेक्तव्याः। पशुपतिरीश्वरः। पशवो जीवाः। पाशो बन्धः। कार्यं कारणं योगो विधिः दुःखान्त इति पञ्च पदार्थाः पशुपाशविमोक्षोपायाः। तत्र कार्यं महदादिकम्। उपादानकारणं प्रधानम्। निमित्तकारणमीश्वरः योगः समाधिः। विधिस्त्रिषवणस्नानादिः। दुःखान्तो मोक्षः। इत्येवं प्रकृतिनिरपेक्षस्य केवलस्याधिष्ठातुरीश्वरस्यायं कारणतावादोऽभ्युपगम्यते। सोऽयमप्रकृतीश्वरकारणतावादस्तर्ककल्पनामात्रसारो भवति। अतश्चैष सिद्धान्तः प्रतिवक्तव्यः।

माहेश्वर सिद्धान्त की परीक्षा

यहां कुछ विचारकों का कथन है कि प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर को जगत् के कारण के रूप में मानना चाहिए प्रधानकर्त्तारूपिणी प्रकृति है, पुरुष जीव रूप भोक्ता है, ईश्वर प्रधान और पुरुष का अधिष्ठता है जो संसार का निमित्त कारण है। माहेश्वर सिद्धान्त के अनुयायी चार भेदों में विभक्त हैं, शैव, पाशुपत, कारुकसिद्धान्ती तथा कापालिक। उनके सिद्धान्त में चार अर्थों का विवेचन होता है, वे हैं पशुपति, पशु, पाश तथा मोक्ष के उपाय। पशुपति ही ईश्वर है। जीव ही पशु हैं। बन्ध ही पाश है, कार्य, कारण, योग, विधि और दुख का अन्त ये पांच पदार्थ पशु आर पाश के मोक्ष के उपाय हैं। वहां महत् आदि कार्य हैं। उपादान कारण प्रधान है। निमित्त कारण ईश्वर है। समाधि ही योग है। त्रिषवण स्नान आदि विधि हैं। दुख का अन्त ही मोक्ष है। इस प्रकार प्रकृति से निरपेक्ष केवल अधिष्ठाता ईश्वर का यह कारणतावाद स्वीकार किया जाता है। यह बिना प्रकृति का ईश्वर कारणतावाद तक और कल्पना मात्र को सार बनता हुआ कथित हुआ है। इसलिए इस सिद्धान्त का प्रतिवाद करना है।

पत्युरसामञ्जस्यात् २।२।३७।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च २।२।३८।

अधिष्ठानानुपत्तेश्च २।२।३६।

कारणवच्चेन्न, भोगादिभ्यः २।२।४०।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा २।२।४१।

पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषाधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते। असामञ्जस्यात्, प्राणिनो हीमान् हीनमध्यमोत्तमभावेन विदधतस्तावदीश्वरस्य अस्मदादिवत् रागद्वेषादि-दोषकालुष्यं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेन्न। असामञ्जस्यात्। शुभाशुभ-कर्मप्रवृत्तौ हि जीवस्य स्वातन्त्र्येऽधिष्ठातृत्वमीश्वरस्यापलप्यते। ईश्वरपारतन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु रागद्वेषादिदोषप्रसक्तितादवस्थ्यम्। अपि च जीवशुभाशुभकर्मप्रवर्तनायामीश्वरः स्वार्थेन प्रवर्तते चेदनीश्वरत्वप्रसङ्गः। एकान्ततः स्वार्थमन्तर्भाव्य तूदासीनत्वादीश्वरस्य पारार्थ्येन प्रवर्तनायां सामञ्जस्यं नोपपद्यते। अथ सम्बन्धानुपपत्तेश्चायमीश्वरः प्रधानपुरुषयोरीशिता न सम्भवति। तथाहि प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च तावत् संयोग-सम्बन्धानुपपत्तिः। आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात्तु समवायलक्षणसम्बन्धानुपपत्तिः। कार्य-कारणभावस्याद्ययावदनिर्धारितत्वात् तत्सम्बन्धानुपपत्तिः। अधिष्ठानानुपत्तेश्चायं सिद्धान्तः प्रतिवक्तव्यः। न खल्वप्रत्यक्षे रूपादिहीनेऽस्मिन् प्रधानेऽधिष्ठातृत्वमीश्वरस्योप-पद्यते। ननु यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं पुरुषोऽधितिष्ठति एवमयमीश्वरः प्रधानमधिष्ठास्यतीति चेन्न। भोगादिभ्यो हि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते। न चात्र भोगादयो दृश्यन्ते। भोगोपगमे चेश्वरस्य भोक्तृत्वं स्यादिति जीवसाम्यं प्रसज्येत।

अपि चैते प्रधानपुरुषेश्वरा अनन्ता अभ्युपगम्यन्ते। ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वं चेष्यते। तत्रैतेन सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्यते न वा। परिच्छिद्यते चेत्—अन्तवत्त्वमेषामापद्यते। परिच्छिन्नस्यान्तवत्त्वरूपत्वात्। अथ नावच्छिद्यते चेत् तर्हीश्वरस्येयमसर्वज्ञता प्राप्नोति। तदित्थमन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वाऽवश्यमीश्वरस्यापद्यते। तदुभयमनिष्टमित्यसङ्गतोऽयं सिद्धान्तः।

इति माहेश्वरमतनिरसनं नामाधिकरणं पञ्चमं वृत्तम्।

पति की कारणता नहीं बनती असमञ्जसता के कारण २।२।३७।

तथा सम्बन्ध अयुक्ति के कारण (उक्त दोष है) २।२।३८।

अधिष्ठान की भी अनुपपत्ति है २।२।३६।

भोग आदि के कारण कारणवान् नहीं हैं २।२।४०।

अन्तयुक्तता तथा असर्वज्ञता दोष आता है २।२।४१।

पति ईश्वर का प्रधान पुरुष का अधिष्ठाता होकर जगत् का कारण होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि इसमें असमञ्जसता आती है। इन प्राणियों को हीन मध्यम और उत्तम भावों में निर्मित करते हुए हम जैसे लोगों के समान ईश्वर में राग द्वेष आदि दोषों की कलुषता प्रसक्त होती है। प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा होने के कारण उसमें दोष नहीं आता ऐसा नहीं है। क्योंकि इसमें असमञ्जसता आती है। जीव की शुभ और अशुभ कर्मों की प्रवृत्ति मान लेने पर ईश्वर की स्वतन्त्रता के नियामक होने का अपलाप होता है। यदि ईश्वर की परतन्त्रता में जगत् की प्रवृत्ति मानी जाती है तो रागद्वेष आदि दोषों की प्रवृत्ति की स्थिति बनी ही रहती है। और फिर जीव के शुभ और अशुभ कर्मों में प्रेरित करने में ईश्वर अपने स्वार्थ से यदि प्रवृत्त करता है तो उसका ईश्वरत्व कहां रहा। पूर्णतया स्वार्थ को दबाकर परार्थ भाव से स्वयं उदासीन रहकर ईश्वर की प्रवृत्ति होती है ऐसा मानने पर समञ्जसता नहीं रह पाती। सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं होने से ईश्वर प्रधान तथा पुरुष का नियामक नहीं हो सकता। क्योंकि प्रधान पुरुष तथा ईश्वर इन तीनों के सर्वगत होने के कारण तथा निरवयव होने के कारण इनका आपस में संयोग सम्बन्ध तो बन नहीं सकता। यदि आश्रयआश्रयि सम्बन्ध कहा जाय तो समवाय रूप सम्बन्ध बिगड़ता है। कार्यकारण सम्बन्ध इसलिए नहीं बन सकता कि उसका आज तक निर्णय ही नहीं हो सका कि कौन कार्य है और कौन कारण है। अधिष्ठान की अनुपपत्ति के कारण भी इस सिद्धान्त का प्रतिवाद किया जाना आवश्यक है। यहां जो प्रधान है वह अप्रत्यक्ष है, वह रूप आदि से विहीन है, उसमें ईश्वर का अधिष्ठाता होना नहीं बनता। कहा जाता है कि इन्द्रिय समूह भी, नेत्र आदि भी, अप्रत्यक्ष हैं, तथा रूप आदि से हीन हैं, उनका अधिष्ठाता और संचालक जैसे पुरुष है उसी प्रकार यह ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता होगा तो यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि भोग आदि के द्वारा इन्द्रिय समूह के अधिष्ठितत्त्व की अनुमिति होती है। यहां तो कोई भोग आदि हैं नहीं। भोग होने पर ईश्वर का भोक्तृत्व भी होने लगेगा और तब जीव के साथ उसकी समानता भी होने लगेगी।

यह भी विचारणीय हो उठता है कि ये जीव पुरुष और ईश्वर अनन्त माने जाते हैं। और ईश्वर की सर्वज्ञता भी अभीष्ट है। अब प्रश्न यह होता है कि इस सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा प्रधान पुरुष तथा अपनी इयत्ता या सीमा का बन्धन किया जाता है या नहीं। यदि किया जाता है तब तो इनके अन्तवान् होने का प्रसङ्ग आ जाता है। क्योंकि जो भी सीमाबद्ध होते हैं वे अवश्य ही अन्तवान् भी होते हैं। और यदि सीमा बन्धन नहीं किया जाता तब ईश्वर की यहां सर्वज्ञता नहीं रह जाती। तो इस प्रकार या तो अन्तवान् होना या असर्वज्ञ होना ईश्वर के लिए आपत्तिजनक हो उठता है। ये दोनों ही बातें अनिष्ट हैं, इसलिए यह सिद्धान्त संगत नहीं रहता।

यह माहेश्वर मत का निराकरण रूपी पांचवां अधिकरण पूर्ण हुआ।

अथ भागवतसिद्धान्तपरीक्षा

अथ प्रकृतिरधिष्ठाता चेत्युभयारब्धैकरूप ईश्वरः । स हि प्रकृतिसापेक्ष एवेदं सर्वं सृजति । वेदसिद्धमर्थं प्रतिपद्यमाना अपि केचिद् भागवताः कंचिदन्यं वेदानभ्युपगतमंशं प्रकल्प्याभ्युपगच्छन्ति । तथा हि – भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम् । स चतुर्धात्मानं विभजते—वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेण अनिरुद्धव्यूहरूपेण च । तत्र परमात्मा वासुदेवः । जीवात्मा संकर्षणः । मनः प्रद्युम्नः । अहङ्कारोऽनिरुद्धः इति । तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिः इतरे संकर्षणादयः कार्यम् ।

तमित्थंभूतं भगवन्तमिष्ट्वा भगवन्तं प्रतिपद्यते इति । तत्रैषां सन्ति केचिदंशाः प्रत्याख्येया इति ब्रूमः ।

उत्पत्त्यसंभवात् २।२।४२ ।

न च कर्तुः करणम् २।२।४३ ।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः २।२।४४ ।

विप्रतिषेधाच्च २।२।४५ ।

तथा हि-यत्तावदुच्यते—वासुदेवात् संकर्षण उत्पद्यते, ततः प्रद्युम्नः, ततोऽनिरुद्ध इति । स एषोंऽशो नोपपद्यते । उत्पत्त्यसंभवात् । न परमात्मनो जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति । जीवस्यानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । भगवत्प्राप्तिलक्षणमोक्षासंभवाच्च । नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः (२।३।१७) इत्यत्र जीवोत्पत्तिं भूयोऽपि प्रत्याख्यास्याम. ।

अपि चेह कर्तुर्जीवात् संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनः करणमुत्पद्यते इत्याह । तदपि नोपपद्यते लोकशास्त्रविरुद्धत्वात् । न च लोके कर्तुः पुरुषात् करणं परश्वादिकमुत्पन्नं दृश्यते । न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे । अथ वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चत्वारोऽप्येते वैज्ञानिका भावा एकस्यैव च परमार्थतत्त्वस्य क्रमिका व्यूहविशेषा इत्येवं विज्ञानादिभावे वा न च तदप्रतिषेधः संभवति । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वाविशेषात् । परस्परतो विप्रतिषेधाच्च । भगवन्तो वासुदेवा एवैते चत्वारो व्यूहा इत्येको वादः । वासुदेवात् संकर्षणस्ततः प्रद्युम्नस्ततोऽनिरुद्ध इत्येवं क्रमिको जन्यजनकभाव इत्यन्यो वादः । एवमिह विप्रतिषेधो दृश्यते । चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्येवं वेदाच्च विप्रतिषेधो दृश्यते । तस्मादवैदिकमिदं दर्शनं भवति । इति ।

इति भागवतमतनिरसनं नामाधिकरणं षष्ठं वृत्तम् ।
इति द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

भागवत सिद्धान्त की परीक्षा

प्रकृति और उसका अधिष्ठाता इन दोनों का सम्मिलित एक रूप ईश्वर है । वह

प्रकृति को साथ लेकर ही सारे संसार की रचना करता है। वेद सिद्ध इस अर्थ को मानते हुए भी कुछ भागवत मतानुयायी लोग कुछ अन्य वेद में न कहे गए अर्थ को मानते हुए अपनी कल्पना से काम लेते हैं। उनका मन्तव्य है कि भगवान् ही एक वासुदेव हैं जो निरञ्जन ज्ञान स्वरूप है वही परमार्थ तत्व हैं। वह अपने को चार रूपों में विभक्त करते हैं— वासुदेव व्यूह, संकर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह और अनिरुद्ध व्यूह रूप में। यहां परमात्मा वासुदेव हैं। जीवात्मा संकर्षण है, मन प्रद्युम्न है, अहंकार अनिरुद्ध है। इन सबकी वासुदेव पराप्रकृति है। अन्य संकर्षण आदि कार्य हैं।

इस स्वरूप वाले भगवान् का पूजन करके भगवान् को प्राप्त किया जाता है। इनके कुछ अंश निषेध करने योग्य हैं उन्हें कहते हैं।

उत्पत्ति के असम्भव के कारण २।२।४२।
कर्त्ता का करण नहीं है २।२।४३।
और विज्ञान आदि के भाव से उसका प्रतिषेध नहीं २।२।४४।
पुनश्च प्रतिषेध के कारण २।२।४५।

यह जो कहा गया कि वासुदेव से संकर्षण होता है उससे अनिरुद्ध होता है, यह अंश ठीक नहीं है। इस प्रकार उत्पत्ति संभव नहीं है। परमात्मा से जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इससे जीव में अनित्यता आदि दोषों का प्रसंग आ जाता है। और तब भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष का प्रसंग भी दूर चला जाता है। "नात्मा श्रुते नित्यत्वाच्च ताभ्यः" [२।३।१७] इस आगे आने वाले सूत्र में जीव की उत्पत्ति का पुनः निराकरण किया जायगा।

फिर यह कहा गया है कि कर्ता जीव संकर्षण से प्रद्युम्न नाम का करण रूप मन उत्पन्न होता है। वह भी लोक और शास्त्र से विरुद्ध होने के कारण ठीक नहीं है। लोक में कर्ता पुरुष से करण फरसा आदि उत्पन्न नहीं होते। ऐसा कोई श्रुति वाक्य भी नहीं मिलता। अब वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध ये चारों वैज्ञानिक भाव एक ही परमार्थ तत्त्व के क्रमिक विशेष व्यूह हैं, इस प्रकार विज्ञानादि के रूप में उनका निषेध नहीं हो सकता ऐसा नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से लेकर तिनके तक सारा जगत् भगवान् का बिना विशेषता के व्यूह ही है। आपस में एक दूसरे में विप्रतिषेध भी है। भगवान् वासुदेव ही ये चारों व्यूह हैं, यह एक वाद है। वासुदेव से संकर्षण है, उससे प्रद्युम्न है उससे अनिरुद्ध, इस प्रकार ये एक दूसरे के जन्य और जनक हैं यह दूसरा वाद है। इस प्रकार यहां विरोध दिखाई देता है चारों वेदों में परम श्रेय को प्राप्त न करके शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया इस प्रकार वेद से भी यहां विरोध दिखाई दे रहा है। इस प्रकार यह दर्शन अवैदिक सिद्ध होता है।

इस प्रकार भागवत मत का निराकरण रूप यह षष्ठ अधिकरण पूर्ण हुआ।

यहां द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद पूर्ण हुआ।

—□—

अथ शारीरकविज्ञाने द्वितीयाध्याये तृतीयपादः

उपनिषत्सु पञ्चभूतानामन्तःकरणानां प्राणानां चेश्वरादुत्पत्तिक्रमे विरोधाभासा भासन्ते, तन्निरसनायेदानीमुपक्रम्यते । तत्रादौ पञ्चभूतानामुत्पत्तिर्विमृश्यते ।

आकाशः

न वियदश्रुतेः २।३।१

अस्ति तु २।३।२

गौण्यसम्भवात् २।३।३

शब्दाच्च २।३।४

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् २।३।५

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः २।३।६

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् २।३।७

वियत् तावदिदमीश्वरादुत्पन्नमस्तीति प्रतिजानीमः । किन्त्वत्र केचित् तावदाहुः । न वियदुत्पद्यते । उपनिषत्सु—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत"

इत्यादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु वियदुत्पत्तेरश्रुतेः, यत्तु—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"

इत्येवमादिना तैत्तिरीयके क्वचिदस्योत्पत्तिश्रुतिरस्ति सा, गौणी भाव्या । आकाशोत्पत्तेरसंभवात् । समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं भवति । द्रव्यस्य चैकजातीयमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति । न चाकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन् समवायिकारणे सत्यसमवायिकारणे च तत् संयोगे आकाश उत्पद्येत । तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणमप्यत्र नोपपद्यते । उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनामुत्पत्तेः प्राक् च पश्चाच्च विशेषो दृश्यते । यथा हि तेजोजननात्पूर्वं नासीत्

प्रकाशः पश्चात्तु समवर्तत इति विशेषो भवति । नैवमाकाशोत्पत्तेः पूर्वं पश्चाद्वा कश्चिद-तिरेको दृश्यते । किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमशुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम् । तस्मादुत्पत्तिमत्पृथिव्यादिवैधर्म्यादस्य विभुत्वादिलक्षणस्याकाशस्योत्पत्त्यभावो निर्धार्यते । एवं स्थिते यत्र क्वचिदुत्पत्तिः श्रूयते सा गौणी भवितुमर्हति । दृश्यन्ते चैवं गौणाः प्रयोगा लोके च वेदे च । लोके तावत्-घटाकाशः करकाकाशो गुहाकाशः इति भेदव्यपदेशो भवति । आकाशं कुरु, आकाशो जात इत्युत्पत्तिव्यवहारो भवति । वेदेपि-आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्-इति श्रूयते । तस्मादीदृशी वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी प्रतिपत्तव्या । शब्दाच्चाकाशस्या-नुत्पत्तिर्विज्ञायते ।

"वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्"
इत्यमृतत्वमाकाशस्य दर्शयति । अमृतस्य च नोत्पत्तिरुपपद्यते ।
"आकाशात्मा आकाशशरीरं ब्रह्म"—
"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"—

इत्याकाशेन सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां ब्रह्मोपमिमानस्तावाकाशस्यापि धर्मौ सूचयति । तथा चैतस्माच्छ्रुतिवाक्याद् ब्रह्मवदाकाशमनुत्पन्नं गम्यते । अतश्च क्वचिदियं वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी कल्प्यते । तेनानुत्पत्तिरेवाकाशस्यावधीयते ।

अत्रेदमाक्षिप्यते—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधिवनस्पतयः"

इति हि सा तैत्तिरीयकाणां श्रुतिरस्ति । तत्रैकस्य संभूतपदस्य परेषु वायुतेजः प्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वमाकाशे तु प्रथमे गौणत्वमिति द्वैभाव्यं नोपपद्यते इति चेत् तत्र प्रतिब्रूमः । स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद् गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत् । दृश्यते हि—

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्म"

इत्यस्मिन्नधिकारे तावदेकस्यैव ब्रह्मविज्ञानसाधने हि तपसि ब्रह्मशब्दोऽयं भक्त्या प्रयुज्यते ब्रह्मणि तु विज्ञेये तदञ्जसा । तथेहापि संभूतशब्दोऽयमाकाशे भक्त्या तदितर-भूतेषु त्वञ्जसा प्रयुक्तः स्यात् । तस्मादनुत्पत्तिरेवाकाशस्यावसीयते । गौणी चेयमाकाशो-त्पत्तिश्रुतिर्व्यवतिष्ठते इति भाव्यम् ।

शारीरिक विज्ञान–द्वितीय अध्याय–तृतीया पाद

उपनिषदों में पञ्चभूतों की अन्तः करणों की तथा प्राणों की उत्पत्ति के क्रम में विरोधाभास दिखाई देते हैं, उनका निराकरण करने के लिए अब उपक्रम किया जाता है । उनमें पहिले पांच महाभूतों की उत्पत्ति का विचार किया जाता है ।

आकाश

वियत् की अश्रुति के कारण नहीं	२।३।१।
है तो	२।३।२।
असम्भव से गौणी है	२।३।३।
शब्द प्रमाण के कारण	२।३।४।
ब्रह्म शब्द की तरह एक का होगा	२।३।५।
शब्दों से अव्यतिरेक के कारण प्रतिज्ञा हानि है	२।३।६।
लोक की तरह विकार पर्यन्त विभाग है ।	२।३।७।

यह आकाश ईश्वर से उत्पन्न होता है यह हमारी अवधारणा है। किन्तु यहां कुछ लोगों का कथन है कि आकाश उत्पन्न नहीं होता। उपनिषदों में—

—"हे सौम्य, आदि में यह सत् एक अद्वितीय ही था, उसने ईक्षण किया, उसने तेज को उत्पन्न किया"—

इत्यादि वाक्यों में उत्पत्ति के प्रकरण में आकाश की उत्पत्ति को नहीं सुना जाता जो—

—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है"—

—"निश्चय ही उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ"—

इत्यादि रूप से तैत्तिरीय के मन्त्रों में आकाश की उत्पत्ति सुनि गई है, वह उत्पत्ति का गौण प्रयोग है। क्योंकि आकाश की उत्पत्ति का होना असंभव है। कारण यह है कि जितनी भी उत्पत्ति होती है वह समवायि, असमवायि और निमित्त कारणों से होती है। द्रव्य की उत्पत्ति में एक जातीय और अनेक द्रव्य समवायि कारण होते हैं। आकाश का एक जाति वाला अनेक द्रव्य उत्पादक नहीं है जिसके समवायि और असमवायि कारण होने पर उसके संयोग से आकाश उत्पन्न हो। इन दोनों कारणों के अभाव में उन्हीं को ग्रहण करके प्रवृत्त होने वाला निमित्त कारण भी आकाश के लिए नहीं है। जिनकी उत्पत्ति होती है ऐसे तेज आदि द्रव्यों की उत्पत्ति के पहिले और उत्पत्ति के पश्चात् विशेषता दिखलाई देती है। जैसा कि तेज की उत्पत्ति के पहिले प्रकाश नहीं था, तेज की उत्पत्ति के अनन्तर प्रकाश हुआ। यह विशेषता उपलब्ध होती है। इस प्रकार की कोई विशेषता आकाश की उत्पत्ति के पहिले और बाद में नहीं दिखाई देती। आकाश की उत्पत्ति के पहिले अवकाश रहित, शुषिर रहित, बिना छिद्र का क्या था यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसलिए उत्पत्ति वाले पृथिवी आदि से विधर्मता के कारण इस व्यापकता आदि स्वरूप वाले आकाश की उत्पत्ति का अभाव ही निर्धारित किया जाता है। इस स्थिति में जहां कहीं आकाश की उत्पत्ति मन्त्रों में सुनी जाती है वह उत्पत्ति का गौण प्रयोग ही माना जाना चाहिए। इस प्रकार के

गौण प्रयोग लोक और वेद में देखे जाते हैं। लोक में घर का आकाश, घड़े का आकाश, शकोरे का आकाश आदि प्रयोगों में आकाश में भेद का प्रयोग किया जाता है। आकाश को उत्पन्न करो, आकाश पैदा हो गया, इस प्रकार प्रयोगों में उत्पत्ति का व्यवहार भी होता है। वेद में भी—

—"आरण्यों का आकाशों में आलभन करें"—

यह सुना जाता है। इसलिए इस प्रकार की आकाश की उत्पत्ति की श्रुति को गौणी मानना चाहिए। शब्द से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती यह ज्ञात होता है।

—"वायु और अन्तरिक्ष ये अमृत हैं"—

इस प्रकार श्रुति आकाश को अमृत बतला रही है। अमृत की उत्पत्ति नहीं होती।

—"ब्रह्म आकाश आत्मा वाला तथा आकाश शरीर वाला है"—

—"वह ब्रह्म आकाश के समान सर्वगत और नित्य है"—

इसमें आकाश के साथ सर्वगतत्व और नित्यत्व के आधार पर श्रुति जब ब्रह्म की उपमा कर रही है तो अर्थतः उन सर्वगतत्व और नित्यत्व इन धर्मों को आकाश में भी दिखा रही है। अथवा इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म के ही समान आकाश भी उत्पन्न नहीं होता यह बोधित होता है। और इसीलिए उस आकाश को उत्पन्न कहने वाली श्रुति में उत्पत्ति का गौण प्रयोग समझा जा सकता है। इस विचार से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती यही निष्कर्ष सामने आता है।

यहां यह आक्षेप होता है कि—

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि वनस्पतियां उत्पन्न हुई"

यह तैत्तिरीय श्रुति है। इसमें उत्पत्ति हुई (संभूतः) यह शब्द आगे के वायु तेज आदि अनुवर्तमान द्रव्यों में प्रधान है और आकाश में उसका प्रयोग गौण है, इस प्रकार एक ही मन्त्र में दो प्रकार के अर्थों में (गौण और प्रधान) एक ही शब्द का प्रयोग नहीं समझा जा सकता, यदि यह आपत्ति उठाई जाती है, तो उसका उत्तर इस प्रकार है। एक ही "संभूतः" (उत्पन्न हुआ) इस शब्द का एक ही मन्त्र में गौण और मुख्य प्रयोग हो सकता है, जैसे ब्रह्म शब्द का गौण और मुख्य प्रयोग हुआ है। देखा गया है कि—

—"तप से ब्रह्म की जिज्ञासा करो"—

—"तप ब्रह्म है"—

इस अधिकार में एक ब्रह्म शब्द का ही अन्न आदि के लिए गौण प्रयोग तथा आनन्द के लिए मुख्य प्रयोग देखने में आया है। ब्रह्म को जानने के साधन बतलाते हुए तप के लिए ब्रह्म शब्द का गौण प्रयोग है किन्तु ब्रह्म के ज्ञान के लिए उसका प्रधान प्रयोग है, इसी प्रकार यह 'संभूत' शब्द आकाश के लिए गौण तथा अन्य महाभूतों के लिए प्रधान रूप से प्रयुक्त है। इसलिए आकाश की उत्पत्ति नहीं होती यह निश्चित होता है और आकाश को उत्पन्न कहने वाली यह श्रुति गौण प्रयोग वाली है यह समझना होगा।

इत्थमस्मिन्नेकदेशिसिद्धान्ते प्रसक्ते तत्प्रतिवादाय सिद्धान्तमतं प्रदर्श्यते।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति।

"येनाश्रुतं श्रुतं भवति। अमतं मतम्। अविज्ञातं विज्ञातमिति। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितमिति"—

इत्येवमादयो हि श्रुतौ ब्रह्मविषयाः प्रतिज्ञाः श्रूयन्ते। तत्र यद्याकाशस्यानुत्पत्तिः प्रतिपन्ना स्यात् अवश्यं तर्हि तस्मादेकस्माद् ब्रह्मणः पुनराकाशस्य व्यतिरेको निष्पद्येत तेन च नभसा द्वितीयेनेदं ब्रह्म सद्वितीयं प्राप्नोति। न चैकस्मिन् ब्रह्मणि विदिते तर्हि सर्वं विदितं स्यात् तथा चैतत् प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। शब्देभ्यः श्रुतिवाक्येभ्यो हि सर्वेषामेषामाकाशादीनामर्थजातानां ब्रह्माव्यतिरेकस्य प्रतिपन्नत्वात्। सति तु ब्रह्मणोऽस्याकाशस्य व्यतिरेके एकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायते इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। तस्मादाकाशस्यात्मोत्पन्नत्वविज्ञानात् प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेन सर्वैकात्म्यं प्रतिपद्य श्रुतिप्रतिज्ञाहानिरुपरोद्धव्या। सूत्रेऽस्मिन्नहानिरिति विच्छेदमिच्छति शंकरस्तन्न युक्तं पश्यामः।

इस प्रकार जब यह सिद्धान्त का एक अंश सामने आया तो उसके प्रतिवाद के लिए अब मूल सिद्धान्त का प्रदर्शन किया जाता है कि—

—"ब्रह्म एक ही तथा अद्वितीय है"—

—"जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत समत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है, अरे, आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने, जानने पर यह सब कुछ विदित हो जाता है"—

इत्यादि श्रुति में ब्रह्म विषयक प्रतिज्ञाएं सुनी जाती हैं। वहां यदि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, यह स्वीकार किया जाता है तब तो उस एक ही ब्रह्म से अवश्य ही आकाश का भेद निष्पन्न होगा। तब आकाश के साथ ब्रह्म की द्वितीयता सामने आयेगी। तब एक ब्रह्म के ज्ञान से समस्त का ज्ञान होना भी न सिद्ध होने के कारण प्रतिज्ञा हानि होगी। शब्द प्रमाण रूप इन श्रुति वाक्यों से इन सभी आकाश आदि अर्थ समूह का ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से प्रतिपादन हुआ है। जब ब्रह्म का इस आकाश से भेद होगा तब एक

के विज्ञान से सभी का विज्ञान होने की प्रतिज्ञा, ज्ञान से प्रकृति और विकार एक दूसरे से अभिन्न होने के न्याय से सबकी आत्मा को एक ही मान कर प्रतिज्ञा की हानि को बचाना होगा । इस सूत्र में श्री शंकराचार्य 'अहानि' ऐसा विच्छेदमान रहे हैं, उसे हम ठीक नहीं समझते ।

यत्तु "सदेवेदमग्र आसीत् तत्तेजोऽसृजत" इत्येवं छान्दोग्यश्रुतावश्रुतेर्नवियदुत्पद्यते इत्युक्तं तदसत् । "आत्मन आकाशः संभूतः" इत्येवं तैत्तिरीयश्रुतौ वियदुत्पत्तेः श्रूयमाणत्वात् । यत्तूभयोः प्रथमजत्वासंभवादेकस्य गौणत्वं वक्तव्यमित्याहुस्तदप्यसत् । उत्पत्तिश्रुतिषु कार्यकारणसम्बन्धविवक्षायामपि प्रथमोत्पन्नत्वस्याविवक्षितत्वादुभयश्रुत्योरविरोधात् । तैत्तिरीयके तृतीयत्वेन श्रुतस्य तेजसोऽप्यात्मजन्यत्वं न व्याहन्यते । यथा खल्वस्याः पृथिव्याः पर्वतरत्नधातुरसोषधिवनस्पत्यादयः पृथक् पृथक् स्वतन्त्रा नाना सृष्टयो दृश्यन्ते–एवमेव च भिन्नभिन्ना हि ब्रह्मणः सृष्टिधाराः प्रवर्तन्ते । तत्र च प्रत्येकधाराक्रमेऽवश्यं प्रथमजत्वं वानुजत्वं चेष्यते । यथा तेजोऽबन्नसृष्टिधारायां प्रथमं तेजः, तत आपः, ततोऽन्नमिति । एवमाकाशादिसृष्टिधारायां प्रथममाकाशं तृतीयं तेज इति । तत्रापि क्रमे तेजोऽबन्नानां पौर्वापर्यं नापलप्यते तस्मादविरोधः । एवं भूतसृष्टिधारायामाकाशस्य प्रथमजत्वेऽपि नैकान्ततस्तस्याविशेषेण सर्वास्वेव सृष्टिधारासु प्रथमजत्वं विवक्ष्यते । ब्रह्मैव सर्वस्य प्रथमजमिति श्रुत्या ब्रह्मणः सर्वप्राथम्योपदेशादन्यत्र प्रथमजत्वानुपदेशे सर्वप्राथम्यं नामधेयमित्यादिष्टप्रायत्वात् । तथा चाकाशादिसृष्टिधारायां यत् तृतीयं तेजः तत आरभ्यापि शक्यते सृष्टिधारा वक्तुमिति नैतावता श्रुत्योर्विरोध आपद्यते । अतश्च सर्वा सृष्टिश्रुतिः साम्येन प्रमाणं न त्वेवैकापि गौणी शक्यावधारयितुम् ।

—"और जो यह सब कुछ पहिले सत् ही था"—

इस छान्दोग्य उपनिषद के मन्त्रों में आकाश की उत्पत्ति के न सुने जाने के कारण आकाश उत्पन्न नहीं होता यह कहा जाता है वह अनुचित है।

—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ"—

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में आकाश की उत्पत्ति सुनी जा रही है। जो यह कहा गया है कि उत्पत्ति के क्रम में प्रथम उत्पन्न होने की असंभव अवस्था के कारण वहां उत्पत्ति शब्द का प्रयोग गौण अर्थ मे माना जाना चाहिए यह भी ठीक नहीं । उत्पत्तियों में कार्य कारण सम्बन्ध की विवक्षा होने पर भी प्रथम उत्पन्नत्व की अविवक्षा के कारण दोनों श्रुतियों में कोई विरोध नहीं आता । तैत्तिरीय में तृतीय उत्पत्ति के रूप में सुने गए तेज के लिए भी उसके आत्मा से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है। जैसे इस पृथिवी से पर्वत रत्न धातु रस, ओषधि, वनस्पति आदि पृथक् पृथक् स्वतन्त्र अनेक प्रकार की सृष्टियां होती हैं, इसी प्रकार ब्रह्म से भी प्रत्येक सृष्टि की धारा के क्रम में अवश्य प्रथम उत्पन्न होने और आगे उत्पन्न होने की बात सामने आती

है। तेज, अप्, अन्न की सृष्टि धारा में पहिले तेज फिर अप् तब अन्न की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार आकाश की सृष्टि धारा में पहिले आकाश तब तीसरा स्थान तेज का है। वहां भी क्रम में तेज अप् और अन्न के क्रम का अपलाप न किये जाने से विरोध नहीं आता। इसी प्रकार भूत सृष्टि की धारा में आकाश के प्रथम उत्पन्न होने पर भी निश्चित रूप से बिना किसी विशेषता के सर्वत्र उसकी समस्त सृष्टि धाराओं में प्रथम उत्पत्ति निश्चित नहीं है। ब्रह्म ही सबसे पहिले हुआ इस श्रुति से ब्रह्म का ही सबसे प्रथम उत्पन्न होने के रूप में उपदेश हुआ है, तब अन्यत्र उसको प्रथम उत्पन्न न कहने पर भी वह सर्वप्रथम है यह प्राय: सर्वत्र आदिष्ट ही समझना होता है। इस प्रकार आकाश आदि की सृष्टि धारा में जो तीसरा तेज है, वहां से आरम्भ करके भी सृष्टि की धारा को कहा जा सकता है, अत: इससे श्रुतियों में विरोध का प्रश्न नहीं है। इसी प्रकार सारी सृष्टि श्रुतियां समान रूप से प्रमाण हैं, उनमें से किसी को भी गौण नहीं समझा जा सकता।

यत्पुनरुक्तमसंभवाद् गौणी वियदुत्पत्तिश्रुतिरिति। तत्र ब्रूम:। न खल्वाकाशोत्पत्तौ असंभवाशंका कर्त्तव्या। यावद्विकारं तु विभागो लोके लक्ष्यते इति। घटघटिकोदञ्च-नादयो यावन्त एवैते विकारा: क्वचन दृश्यन्ते तेषु सर्वत्र विभागं पश्याम:। विभागश्चा-काशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते। तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुमर्हति। एतेन दिक्कालमन: परमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्। आकाशादिभ्यो विभक्तत्वादात्मनस्तु कार्यत्वं नापद्यते। आत्मन आकाश: संभूत इति श्रुत्याऽकाशादिसर्वोत्पत्तिहेतोरस्यात्मनोऽप्रत्याख्येयस्वभावत्वे-नाकार्यत्वात्। आकाशस्य तूत्पत्तिमत: कार्यत्वावगमात्। यत्तु समानजातीयमनेकारणद्रव्यं व्योम्नो नास्तीति तत् प्रत्युच्यते। न तावत् समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोस्ति। नानाजातीयै: सूत्रगोवालादिभिरपि रज्जुसृष्टेर्दृष्टत्वात्। नाप्यनेकमेवारभते नैकमिति नियमोस्ति, द्रव्यान्तरैरसंहृत्यायमेकैक: परमाणुर्मनश्चाद्यं स्वकर्मारभते इत्येवम् अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात्। तस्मात् ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्। शंकरव्याख्यानु-सारेणेदं सूत्रं व्याख्यातं किन्तु नातितरामिदं व्याख्यानं साधूपपद्यते।

यह कहा गया कि असंभव दोष के कारण आकाश को उत्पन्न कहने में 'उत्पत्ति' शब्द का गौण प्रयोग है। वहां कहना यह है कि आकाश की उत्पत्ति में असंभव दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए। जहां तक विकार की उपलब्धि लोक में होती है, वहां तक विभाग किया जाता है। घट घटिका उदञ्चन आदि जितने भी विकार जहां कहीं दिखाई देते हैं उन सब में हम विकारों को देखते हैं। आकाश से पृथिवी आदि का विभाग दिखाई देता है। इसलिए वह भी विकार ही हो सकता है। इसी प्रकार दिशा, काल, मन, परमाणु आदि भी कार्य हैं यह स्वत: व्याख्यात हो गया। आकाश आदि से विभक्त आत्मा तो कार्य रूप नहीं माना जाता। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इस श्रुति के द्वारा आकाश आदि सभी की उत्पत्ति का कारण इस आत्मा का स्वभाव अप्रत्या ख्येय है अत: वह अकार्य है। आकाश तो उत्पत्तिमान् है, अत: वह कार्य है।

जो यह कहा गया कि समान जातीय अनेक कारण द्रव्य नहीं है आकाश के तो उसका उत्तर दिया जाता है। कार्य का आरम्भ समान जातीय ही करते हैं भिन्न जातीय नहीं करते ऐसा कोई नियम नहीं है। नाना जातीय जो सूत्र गौ के बाल आदि हैं उनसे भी रज्जु रस्सी की उत्पत्ति देखने में आती है। यह नियम भी नहीं है कि आरम्भ करने वाले अनेक ही होने चाहिए, एकके द्वारा उत्पत्ति का आरम्भ किया ही नहीं जा सकता। दूसरे द्रव्यों से संयोग के बिना यह एक-एक परमाणु और मन अपने आदि कार्य का आरम्भ करते हैं, इस प्रकार परमाणु और मनके आदि कार्य के आरम्भ करने को स्वीकार किया जाता है। इसलिए आकाश ब्रह्मका कार्य है यह सिद्ध हुआ। श्रीशंकराचार्य की व्याख्या के अनुसार इस सूत्र को व्याख्या की गई, परन्तु यह व्याख्या बहुत समीचीन नहीं कही जा सकती।

वयं तु ब्रूमः+यावदयमेकैकोऽर्थो दृश्यते प्रत्येकं तत्र द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्। अमृतं च सत्यं चेति।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितमिति।

सर्वेषु विशेषेष्वविशेषंकिञ्चिदेकं तत्वममृतं नाम।

—"प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम् ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः"—

इति श्रुतेरमृतम् तदव्याकृतं सन्नामरूपाभ्यामित्थं भेदेन व्याक्रियते। घटपटादीनां कूपवापीपल्वलसरः कासारनदीसमुद्रादीनामन्योन्यभेदकयोर्नामरूपयोर्व्यतिरेकेण भावनायामविशेषैकभावत्वोपपत्त्या विकारत्वानुपपत्तावपि सर्वत्र तद्भेदोपपत्तेर्नामरूपाधीनत्वावगमात्। तस्माद् नामरूपे एवैतद्विकारत्वोपपत्तिहेतुः।

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति"

श्रुतिर्नामरूपयोरेवैतद्विकारत्वोपपादकत्वमाह। तत्र च नामैतद्विभक्तं विकारं प्रयोजयति। नामविभागश्च रूपविभागादुपपद्यते।

—"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते"—

इति श्रवणात्। स चायं नामरूपविभागो यावद्विकारमुपलभ्यते। विभागाधीनत्वादेवैषां सर्वेषां विकाराणां सर्वत्रास्य विभागस्य नाप्राप्तत्वात्। स चायं विभागः प्रतिविकारमाकाश एवोपपद्यते लोकवत्। लोकः स्थानमायतनमवकाशः। विभाग एवायतनमेकैकस्यार्थस्य लोकः। यावद्विभागमेव तस्य तस्यार्थस्योपलब्धेः। आकाश एव चायं नामरूपलक्षणो विभागो भाव्यः।

"आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता"।

इति श्रावणात् । तथ चायमाकाशो यदि नोपादीयेत स तर्हि कोऽप्येष विकारः स्यात् । तथा च यावद्विकारं नाप्राप्तो विकारोपपादको विकारात्माऽयमाकाशो विकार एवोपपद्यते । स च नान्यः स्याद् ब्रह्मणः प्रजातः स्यात् । तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम् ।

हम तो यहां यह कहते हैं कि जहां तक यह एक-एक अर्थ दिखाई देता है उनमें प्रत्येक को दो प्रकार का समझना चाहिए । एक अमृत है दूसरा सत्य है ।

"भूतों में जो अविभक्त है और विभक्त की तरह स्थित है ।"

सभी विशेषों में अविशेषरूप से कोई एक तत्त्व अमृत स्वरूप है ।

"अथवा प्राण अमृत है, नाम और रूप सत्य हैं, इनसे प्राण ढँका है ।"

इस श्रुति वाक्य के आधार पर वह अव्याकृत अमृत है, वही नाम और रूप के आधार पर इस प्रकार भेदों से भिन्न दिखाई देता है या भिन्न बनाया जाता है । घट पट आदि, कुआ बावड़ो पोखरा, तालाब, बांध, नदी, समुद्र आदि का एक दूसरे का भेद करने वाले नाम और रूप के अभाव में भावना करने पर बिना किसी विशेषता के एक भावना की युक्ति सिद्धता बन जाती है और तब विकार की युक्ति सिद्धता समाप्त हो जाने पर भी सर्वत्र इसके साथ भेद की युक्ति सिद्धता के कारण नाम और रूप की आधीनता वहां है, ऐसा माना जाता है । इसलिए नाम और रूप ही इन विकारों की उत्पत्ति के कारण हैं ।

"वाणी का आरम्भ मात्र यह विकार का नाम है, वस्तुतः सत्य तो मृत्तिका ही है ।"

यह श्रुति नाम और रूप को ही इन सभी विकारों की उत्पादक बतला रही है । और वहीं विभक्त हुए इन विकारों का प्रयोग कर रही है । नाम का विभाग ही रूप के विभाग का प्रयोजक बनता है और नाम का विभाग रूप के विभाग से बनता है ।

"धीर पुरुष सभी रूपों का चयन करके नाम का निर्माण करके बोलता है" –

—यह सुना गया है और यह नाम और रूप का विभाग सभी विकारों में उपलब्ध होता है ।

ये सारे विकार विभाग के आधीन हैं, अतः यह विभाग भी सर्वत्र ही प्राप्त हो जाता है । और प्रत्येक विकार में यह विभाग लोक की तरह आकाश में ही निष्पन्न होता है । लोक, स्थान, आयतन, अवकाश एक ही बात है । एक एक अर्थका विभाग ही आयतन या लोक है । जहां तक विभाग है वहां तक उस अर्थ की उपलब्धि है । इस आकाश को ही नाम और रूप वाला विभाग समझना चाहिए ।

—"आकाश ही नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है"—

यह सुना गया है। अब यदि आकाश नहीं लिया जाता तो इसे किसी विकार के रूप में कहना होगा और फिर सभी विकारों में अवश्य प्राप्त होने वाला, विकार का उपपादक, विकारात्मा यह आकाश भी विकार ही सिद्ध होता है। वह अन्य कोई नहीं अपितु ब्रह्म से उत्पन्न है। इसलिए आकाश ब्रह्म से समुत्पन्न कार्यरूप है, यह सिद्ध हुआ।

वायुः, तेजः, आपः, पृथिवी

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः २।३।८

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः २।३।९

तेजोऽतस्तथा ह्याह २।३।१०

आपः २।३।११

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः २।३।१२

तदभिध्य नादेव तु तल्लिङ्गात्सः २।३।१३

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च २।३।१४

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् २।३।१५

वायुः

मातरिश्वा वायुः। एष खलु वायुस्तावदनेकविधः श्रूयते। तत्रादौ सर्वतः प्रथमो ब्रह्मवायुः। ऋक्सामयजूंषि ब्रह्म। तत्र यजुर्नामेदं ब्रह्मयजुर्वाय्वाकाशौ। स एष वायुः प्राणो नाम। अथ रोदस्यन्तरिक्षे च तदितरे वायवश्चत्वारः श्रूयन्ते। ऐन्द्राग्नोऽन्यो विश्वकर्माऽन्यः सार्वदैवत्योऽन्यो दिश्योऽन्य इति। अपि च मरुतो रुद्रपुत्राः सप्तसप्तकाः खल्वन्ये वायवः। अथापो वायुः सोम इति भृगवो व्याख्यायन्ते। तत्रायं भृगुवायुश्चतुर्विधः–सविता पवमानो मातरिश्वा वात इति भेदात्। तेष्वेतेषु वायुभेदेषु मरुदन्ता वायवो देवाः। ते तावदत्र नाधिक्रियन्ते। भूताधिकारप्रकरणे देवानामनधिकारात्। मातरि पृथिव्यां श्वयतेऽभिव्याप्नोतीति मातरिश्वा वायुर्भूतविशेषो विवक्षितः। मातरिश्वपदमितरेषां त्रयाणामुपलक्षणम्। भृगुत्वसाधर्म्यात्।

वायु, तेज, जल, पृथिवी

इससे मातरिश्वा की व्याख्या हुई।	२।३।८।
सत् की अनुपपत्ति के कारण असम्भव है।	२।३।९।
उससे तेज है ऐसा कहा।	२।३।१०।
जल की उत्पत्ति बतलाई।	२।३।११।

पृथिवी अधिकार रूप अन्य शब्दों से । २।३।१२।

उसके अभिध्यान से ही तथा उसके चिन्हों से वह है। २।३।१३।

इसी से विपरीत क्रम युक्तियुक्त है। २।३।१४।

ऐसा नहीं अविशेष के कारण ज्ञान और मन के मध्य में क्रम से उस के चिन्ह हैं। २।३।१५।

वायु

मातरिश्वा को वायु कहा जाता है। यह वायु अनेक प्रकार का सुनने में आया है। इनमें सर्व प्रथम ब्रह्म वायु है। ऋक्साम और यजु ब्रह्म कहे जाते हैं। वहां यजु नाम का यह जो ब्रह्म है वह यजु ही वायु और आकाश हैं। वह यह वायु प्राण नाम का है। अब रोदसी में तथा अन्तरिक्ष में उसके अतिरिक्त और चार वायु सुने जाते हैं। ऐन्द्र और आग्नेय अलग है, विश्वकर्मा वायु अन्य है। सब देवताओं वाला वायु अन्य है तथा दिशाओं वाला दूसरा है। इसके अतिरिक्त रुद्र के पुत्र मरुत सात गुणित सात अन्य वायु हैं। आप्. वायु, सोम ये भृगु की व्याख्या होती है। वहां यह भृगु वायु चार प्रकार का है, सविता, पवमान, मार्तरिश्वा, वात ये उसके भेद हैं। वायु के इन भेदों में मरुत् तक के वायु तो देव हैं, वे यहां अधिकृत नहीं हैं। क्योंकि भूतों के अधिकार के प्रकरण में देवों का अधिकार नहीं है। माता अर्थात् पृथ्वी में 'श्वयति' अर्थात् अभिव्याप्त होने वाला मातरिश्वा नाम का वायु भूत विशेष के रूप में विवक्षित है, मातरिश्वा यह पद इनसे भिन्न तीन का उपलक्षण है। क्योंकि उनके साथ भृगुत्व को सधर्मता है।

अत्र कश्चिदेवमाशङ्कते। एष वायुर्नोत्पद्यते।

—"सदेवेदमग्र आसीत् तत्तेजोऽसृजतेति"—

छान्दोग्यश्रुतौ तेजःप्रभृतेरेवोत्पत्त्याम्नानाद् आकाशवद्वायोरप्युत्पन्नत्वेनाश्रुतत्वात्। तत्रेदमुच्यते। आकाशवदेवायं वायुरप्युत्पन्नो द्रष्टव्यः।

—"आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निरि"—

त्येवमादिना तैत्तिरीयकश्रुतौ तदुत्पत्तिश्रवणात्। आकाशद्वारकोत्पन्नस्यापि वायोर्ब्रह्मोत्पन्नत्वं नापहीयते। तेनाथर्वणश्रुतौ मातरिश्वनो वायोर्ब्रह्मोत्पन्नभृगुद्वारकोत्पत्तिर्न विरुध्यते। इत्थं भूतवायूनामुत्पत्तिश्रवणादेषां देवताविधानां वायूनामप्युत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या प्रजात्वेनोभयेषां साधर्म्यात्।

ननु तर्हि यथायं देवतावायुर्वायुत्वसाधर्म्यादुत्पन्नत्वेन प्रतिज्ञायते स तथाऽयमाद्यो यजुर्वायुरपि कस्मान्नोत्पन्न आख्यायते वायुत्वाविशेषात्। नेति ब्रूमः।

—"असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः"।

वाय्वाकाशौ यजुर्ब्रह्म । ब्रह्मतो जायमानमपीदं ब्रह्म स्वयंप्रजात्वेनाभ्युपगन्तुं युज्यते । अपौरुषेयं हीदं ब्रह्म स्वयं नानाभावैर्विवर्तते । सदेवेदमग्र आसीदेकरसं नित्यम् । तस्य च सतोऽयमसंभवो जन्माभ्युपगमः । अनुपपत्तेः । असतो हि पश्चाज्जन्माख्यानं संभवति । त्रिकालाबाध्यस्य तु सर्वप्रभवस्य यजुर्ब्रह्मण कथंकारं जन्माद्युपपन्नं स्यात् । तस्मादस्य सतो ब्रह्मवायोरुत्पत्तिर्नास्ति । किन्तु भूतवायोश्चोत्पत्तिरात्मनः सकाशाद् द्रष्टव्या । अत्र सूत्रे शाङ्करव्याख्यानं नातीवप्रसङ्गसङ्गतं पश्यामः ।

इति व्याख्यातो वायुः ।

यहां कोई इस प्रकार की आशंका करते हैं कि यह वायु उत्पन्न नहीं होता ।

—"हे सौम्य, यह प्रारम्भ में सत् ही था उसने तेज को उत्पन्न किया"—

इस छान्दोग्य श्रुति में तेज आदि की ही उत्पत्ति कही गई है और इस प्रकार आकाश के ही समान वायु की भी उत्पत्ति नहीं सुनी गई है । वहां यह कहा जाता है कि आकाश की तरँह यह वायु भी उत्पन्न हुआ ऐसा समझना चाहिए

—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुआ"

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में उसकी उत्पत्ति सुनी गई है । आकाश के द्वारा उत्पन्न होने वाले वायु के भी ब्रह्म से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है । इसलिए अथर्ववेद में मातरिश्वा वायु का ब्रह्म से उत्पन्न होना विरोध नहीं रखता । इस प्रकार के वायुओं की उत्पत्ति के श्रवण से इन देव रूप वायुओं की भी उत्पत्ति स्वीकार की जानी चाहिए । क्योंकि प्रजा रूप में दोनों समान हैं ।

प्रश्न होता है कि जैसे यह देवता रूप वायु वायुत्व की समान धर्मता के कारण उत्पन्न हुआ माना जा रहा है वैसे ही यह आदि वाला यजु वायु भी क्यों नहीं उत्पन्न बतलाया जाता । क्योंकि वायुत्व तो उसमें भी समान ही है । वहां हमारा उत्तर निषेधात्मक है ।

—"सत की अनुपपत्ति के कारण वह असंभव है"—

वायु और आकाश यजु ब्रह्म हैं । ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला भी यह ब्रह्म स्वयं प्रजा के रूप में स्वीकारने योग्य है । यह अपौरुषेय ब्रह्म स्वयं नाना भावों में प्रकट होता है । यह प्रारम्भ में एक रस, नित्य, सत् ही था । उस सत् के यह जन्म का स्वीकार असम्भव है । उसकी युक्ति संगतता नहीं है । असत् का बाद में जन्म कथित होता है । जो त्रिकालाबाध्य है, जो सबका उत्पादक है ऐसे यजु ब्रह्म की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है । इस प्रकार इस सत् ब्रह्म वायु की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । किन्तु भूतवायु और देव वायु की उत्पत्ति आत्मा से मानना चाहिए । इस सूत्र पर इस प्रकार वायु का व्याख्यान हुआ ।

तेजः

तेजसो योनिं प्रति विप्रतिपत्तिः श्रूयते—छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितम् । तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वम् इति । तत्रेतं निर्णय ब्रूमः । तेजोऽत इति । अत एव हि वायोस्तेजः प्रजायते । तथा ह्याह तैत्तिरीयके । वायोरग्निरिति । अव्यवहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे वायोरग्निरितीयं श्रुतिर्व्याकुप्येत । नन्वेवं वायुमूलत्वेऽभ्युपगते सन्मूलत्वं श्रूयमाणं व्याकुप्येतेति चेन्न । तस्याः श्रुतेः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात् । द्विविधा हि श्रुतिर्भवति—अक्रमसृष्टिवादिनी क्रमवत्सृष्टिवादिनी चेति । तत्रेयमाद्या सर्वथोपपद्यते । यथा ह्येषा भवति—

—"तत्तेजोऽसृजतेति" ।

यद्यपि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते तदाप्यस्य तेजसो ब्रह्मजत्वं न विरुध्यते । "तस्याः शृतं तस्या दधि तस्या आमिक्षेत्या" दिवत् । अथैषा क्रमवादिनी तु श्रुतिः क्रमव्यतिरेकं न क्षमते वायोरग्निरिति । न हि खलु ब्रह्मजन्यस्याग्नेर्ब्रह्मजन्याकाशजन्यवायोः सकाशादुत्पत्तिः श्राव्यमाणोपपन्ना भवति । ननु क्रमोपदेशेनेयं श्रुतिरुपपन्ना स्यात् । ब्रह्मणः प्रथमं तावद् आकाशः संभूतः । तदन्तरं ब्रह्मणो वायुः । वायोरूर्ध्वं ब्रह्मण एवायमग्निः संभूतः इति चेन्नैतदेवं क्रमोपदेशप्रकल्पनं शक्यं वक्तुम् । वायोरग्निर्जात इत्येवं क्लृप्ते कारकार्थयोगे संभवति वायोरूर्ध्वमग्निर्जात इत्येवं कल्प्यस्योपपदार्थयोगस्यानौचित्यात् ।

—"स तपस्तप्त्वेदं सर्वं सृजते'—

त्यविशेषसृष्टिश्रवणं तु सत्यामपि तेजसो वायोरुत्पत्तौ न विरुध्यते इत्युक्तमिति भाव्यम् ।

तेज

तेज के कारण के विषय में अनेक पक्षों की विप्रतिपत्ति सुनी जाती है । छन्दोग्य उपनिषद में तेज का उत्पादक बतलाया गया है कि वह सत् है । तैत्तिरीयक उपनिषद में तो तेज का मूल वायु को कहा गया है । वहां यह निर्णय सुनाया जाता है कि—

—"तेज इससे उत्पन्न है"—

इसीलिए वायु से तेज उत्पन्न होता है, उसी की पुष्टि में तैत्तिरीयक में कहा गया है कि—

—"वायु से अग्नि उत्पन्न हुई"—

यदि ब्रह्म से सीधे तेज की उत्पत्ति मान ली जाय तब "वायु से अग्नि हुआ" इस श्रुति का कोप भाजन बनना होगा । तब यह प्रश्न भी आयेगा कि तेज का मूल यदि वायु को मान लिया जाय तो तेज का मूल सत् को कहने वाली श्रुति का भी तो कोप भाजन

बनना होगा । परन्तु ऐसा होगा नहीं । क्योंकि तेज का मूल सत् को कहने वाली श्रुति का आशय यह समझा जा सकता है कि वह सत् को परम्परा से तेज का मूल कह रही है, साक्षात् नहीं । सृष्टि का निर्देश करने वाले श्रुति वाक्य दो प्रकार के मिल रहे हैं, एक वे हैं जो बिना किसी क्रम की विवक्षा के सृष्टि को समझा रहे हैं (चींटी का कारण ब्रह्म को यदि बतलाया जाय, तो उसे अक्रम निर्देश कहा जायगा) दूसरे वे जो सृष्टि का कथन क्रम पूर्वक कर रहे हैं। पहिले प्रकार के वाक्य तो सर्वत्र संगत हैं ही । जैसे कि कहा गया कि

—"उस (ब्रह्म) ने तेज को उत्पन्न किया"—

जब हम आकाश और वायु की सृष्टि के अनन्तर, वायु के भाव में पहुंचे ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की ऐसा समझते हैं तब भी तेज के ब्रह्म से उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं आता । 'उसकी मलाई, उसका दही, उसकी रबडी" आदि प्रयोगों की तरँह यह प्रयोग भी संगत है । अब यह जो क्रम बतलाने वाली श्रुति है वह क्रम में विक्षप को नहीं सहन करती जैसे—

—"वायु से अग्नि हुआ"—

यहां ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले अग्नि की, ब्रह्म से उत्पन्न आकाश से उत्पन्न वायु से उत्पत्ति होना सुना जाने पर युक्तियुक्त नहीं ठहरता । कहा जा सकता है कि इस श्रुति की सार्थकता क्रम के उपदेश के लिए सिद्ध मान ली जायगी । ब्रह्म से पहिले आकाश उत्पन्न हुआ, उसके अनन्तर ब्रह्म से वायु उत्पन्न हुआ, वायु के अनन्तर ब्रह्म से ही यह अग्नि उत्पन्न हुआ, यदि ऐसा कहा जाय तो इस प्रकार के क्रम के उपदेश की कल्पना नहीं की जा सकती । जब 'वायु में अग्नि हुआ" यह स्पष्ट कहा जा रहा है और कारक के अर्थ का संयोग इस प्रकार ठीक बैठ रहा है तब वायु के उपरान्त ब्रह्म से ही अग्नि हुआ ऐसा अर्थ करने में एक नये शब्द और उसके अर्थ की कल्पना करके उसके साथ योग स्थापित करना उचित नहीं होता ।

—"उसने तपस्या करके इस सब को सृष्टि की"—

ऐसा बिना किसी विशेष तत्त्व के निर्देश के जो कहा गया है उसका तो कोई विरोध वायु से अग्नि की सृष्टि मानने पर भी नहीं होता, यह समझ लेना चाहिए ।

आपः

तेजसो हीमा आपो जायन्ते । तथा ह्याह—

—"अग्नेरापः—" इति ।

—"तदपोऽसृजतेति"—

च। नन्विहापि तु विप्रतिपत्तिः श्रूयते।

—"तेजसो आपो जायन्ते"—

इत्युक्तम्। अथान्यत्राह—

—"स प्रजापतिर्ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्, ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा। तस्यां प्रतिष्ठितः सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृजतेति"—

तनैतस्या वाच आपो जायन्ते। वाग्विकारास्ता आपः इत्यर्थः प्राप्नोति। अथान्यत्राह—

—"प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव। तस्माच्छ्रान्तात् तेपानादापोऽसृज्यन्त"—

इति तेनैतद्ब्रह्मविकारस्ता आप इत्यर्थः प्राप्नोति। अवश्यं चैतदेवं तैत्तिरीयकश्रुत्यास्तात्पर्यं नेयम्। अन्यथा—

—"स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च"—

इति प्रजापतेरेवाविशेषेण श्रूयमाणां सर्वासां सृष्टीनां व्याकोपापत्तेः। इति अथान्यत्राह—

—"आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म।
ब्रह्म प्रजापतिम्। प्रजापतिर्देवानिति"—

तेनैता आपः सर्वप्रभवस्य ब्रह्मणोऽप्युत्पादिन्यो नित्याः सिद्ध्यन्ति न त्वेतास्तेजसो वा वाचो वा ब्राह्मणो वा जायन्ते इत्ययमर्थः प्राप्नोति इति चेत्तत्र ब्रूमः। द्विविधा ह्येता आप इष्यन्ते—

—"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः"—

इति श्रुतेर्देवलोकविशेषास्ता अन्याः। भूतविशेषास्तु ता अन्याः। तत्र इदं तावत् प्रकरणं भूताधिकारेण प्रक्रान्तम्। तेजसो हि ता आपो जायन्ते या भूतानि। अत्रार्थे नैताः श्रुतयो विप्रतिपद्यन्ते। तासामभूतापोविषयत्वात्। अथ या एता आपो वाचो लोकादसृज्यन्त तासामयं सर्गः संसर्गो न त्वपूर्वा सृष्टिर्विवक्ष्यते। अग्निचयनीये सावित्रहोमे स्रुक्स्रुवप्रयोगोपपत्तौ—

—"यो वै स प्रजापतिरासीदेष स स्रुवः। प्राणो वै स्रुवः प्राणः प्रजापतिः, अथ या सा वागासीदेषा सा स्रुक् अथ यास्ता आप आयन् वाचो लोकाद्—एतास्ता यामेतामाहुतिं जुहोति अथ स प्रजापतिस्त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशदेष स यैरेतद्यजुर्भिर्जुहोति"—

इति श्रुतौ ध्रुवातः श्रुवे ततः श्रुचि ततो ह्याहुतिभावे प्राप्तिः। तत्राहुतौ यदाग्नेयीभिरष्टाभिर्यजुर्भिर्जुहोति तदेष प्रजापतिस्त्रय्या विद्यया सहापः प्रविशति। इत्येवं संसर्गपरम्परादृष्टान्तविधया देवलोकात् प्रजापतिप्राणे ततो वाचि ततः आपोभावेऽनुवृत्तिमात्रमपां विधीयते। तत्र यास्ता आप आयन् वाचोलोकादित्यक्षरस्वारस्येनापां सतीनामेव वाचोलोकादागमनं प्राप्नोति न तु वाग्विकारत्वम्। अवस्थामात्रपरिवर्त्तने वाचोऽपूर्वसृष्टेरविवक्षितत्वात्। अथ सत्यं वै प्रजापतिरिति श्रूयते। स यदयं प्रजापतिरनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तदेतदाह–ता आपः सत्यमसृजन्तेति। तेन च सत एवैतस्य प्रजापतेः सत्यस्यापसु प्रवेशो नामायं सर्गपदार्थः। अथ यत् सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिमित्याह, सोऽयं पारम्परिकसृष्टिधारायामर्वाक् सृष्टिप्रदेशः। तथा हि वाग्लोकादपां सृष्टौ तास्वप्सु त्रय्या विद्यया सह संप्रविष्टात् प्रजापतेः पुनर्ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत

—"त्रय्येव विद्या तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत। अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत"—

इति हि वाजसनेयश्रुतौ श्रूयते। अग्निश्च प्रजापतिराख्यातः। तथा चापः प्रजापतौ प्राविशन् प्रजापतिरप्सु प्राविशत् ततोऽन्यः प्रजापतिः प्रादुरभवत् इत्येवमुत्तरोत्तरसृष्टिधारायां जन्यजनकत्वव्यत्यासस्योपपन्नत्वादविरोधो द्रष्टव्यः। तथा च वायोरिवासंभवस्तु सतोनुपपत्तेरिति प्रतिज्ञानाद् भूतातिरिक्तानामपामस्तु तेजसोऽनुपपत्तिः, भूतजातीयानां त्वपामुत्पत्तिस्तेजस एवेति सिद्धान्तः।

जल

तेज से यह जल उत्पन्न होता है। कहा गया है—

—"अग्नि से जल उत्पन्न हुआ"—

— "उसने जल को उत्पन्न किया"—

अब यहां भी तो आपत्ति सुनते में आ ही जाती है कि—"तेज से जल उत्पन्न हुआ यह कहा गया। अन्यत्र कहा गया है कि—

"उस प्रजापति ने पहिले ब्रह्म को उत्पन्न किया, त्रयी विद्या को उत्पन्न किया, इस सबकी प्रतिष्ठा ब्रह्म है। उसमें प्रतिष्ठित होकर उसने जल की सृष्टि की, यह उत्पत्ति ही वाक् के लोक से है, वाक् ने ही इसे उत्पन्न किया"—

इस सन्दर्भ से प्रकट हो रहा है कि वाक् से जल की सृष्टि हुई। यह जल वाक् का विकार है यह निष्कर्ष निकला। अब दूसरे स्थान में श्रुति ने कहा—

"प्रारम्भ में तो केवल एक मात्र प्रजापति ही था, जब वह तपस्या से श्रान्त हुआ तो जल उत्पन्न हुआ"—

इस सन्दर्भ में जल ब्रह्म का विकार है यह अर्थ प्राप्त होता है । और इस तैत्तिरीय श्रुति का यही तात्पर्य समझा भी जा सकता है । अन्यथा—

"उसने तपस्या करके जो भी कुछ दिखाई दे रहा है इस सबकी सृष्टि की"—

यहां बिना किसी का विशेष नाम लिए जो सबकी सृष्टि ब्रह्म से बतलाई गई है, उसके विरोध का प्रसंग आ जाता है । अब अन्यत्र सुना गया है—

"सबसे पहिले यह जल ही विद्यमान था, उस जल ने सत्य को उत्पन्न किया, सत्य ने ब्रह्म को उत्पन्न किया (या सत्य ही ब्रह्म है) ब्रह्म ने प्रजापति का निर्माण किया, प्रजापति ने देवों को बनाया"—

इस सन्दर्भ से यह जल सबके उत्पादक ब्रह्म का भी उत्पादक और नित्य सिद्ध हुआ तब ये तेज, वाक् या ब्रह्म से उत्पन्न नहीं हुआ है यही निष्कर्ष सामने आ रहा है, इस पर हमारा कथन है कि यह जल दो प्रकार का माना जाना अभीष्ट है-

"निश्चय ही एक चौथा देवलोक आप नाम का है"—

इस श्रुति वाक्य के द्वारा बोधित विशेष प्रकार का देव लोक स्वरूप जल पृथक है, और पंच महाभूतों में गिना हुआ जल भिन्न है । वहां यह प्रकरण महाभूतों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में आया है । तेज से वह जल उत्पन्न होता है जो महाभूत स्वरूप है । इस विषय में इन श्रुति वाक्यों में कोई विरोध नहीं है । क्योंकि इन श्रुतियों का विषय महाभूत की गणना में आने वाले जल से भिन्न प्रकार का जल है । अब जो यह जल वाक् लोक से उत्पन्न हुआ, उनकी यह सृष्टि संसर्ग रूप है न कि वह अपूर्व सृष्टि है । सावित्र होम के अग्निचयनीय प्रकरण में स्रुक् और स्रुवा के प्रयोग के प्रकरण में—

—जो प्रजापति था वही स्रुवा था । प्राण ही स्रुवा है, प्राण ही प्रजापति है, वहां जो वाक् थी वह यह स्रुक् थी, अब वहां जो जल था वाक् के लोक से--यह वही है जिसमें इस आहुति का हवन किया जाता है, अब उस प्रजापति ने त्रयी विद्या के साथ जल में प्रवेश किया, यह वही है जिसका यजु से हवन होता है"—

इस श्रुति के द्वारा ध्रुवा से श्रुव, उससे श्रुचि, उससे आहुति के रूप में प्राप्ति बतलायी गई है । उस आहुति में जो आग्नेयी आठ यजुर्वेद के मन्त्रों से हवन होता है, वह यह प्रजापति त्रयो विद्या के साथ जल में प्रवेश करता है । इस प्रकार संसर्ग परम्परा के दृष्टान्त की विधि से देव लोक से प्रजापति प्राण में, तब वाक् में, तब जल के रूप में अनुवृत्ति मात्र का जल के विषय में विधान है । वहां वाक् के लोक से जो जल आया, इन अक्षरों के स्वारस्य से जल के सत अवस्था में रहते हुए ही वाक् के लोक से उसका आगमन प्राप्त होता है, जल वाक् के विकार हैं यह नहीं सिद्ध होता । अवस्था मात्र के परिवर्तन वाक् की अपूर्व सृष्टि को विवक्षा नहीं है । अब "सत्य ही प्रजापति है" यह सुना

गया है। वह जो प्रजापति इस त्रयी विद्या के साथ जल में प्रविष्ट हुआ इस बात को कहा गया इन शब्दों में कि—"उस जल ने सत्य को उत्पन्न किया"। इससे इस सत् प्रजापति से ही सत्य जल में प्रवेश ही सर्ग शब्द का अर्थ है। अब कहा गया सत्य ब्रह्म है, ब्रह्म प्रजापति है। यह पारस्परिक सृष्टि धारा में नीचे की सृष्टि का प्रदेश है। वहां वाक् लोक से जल की सृष्टि होने पर उस जल में त्रयी विद्या के साथ प्रविष्ट हुए प्रजापति से फिर ब्रह्म ही पहिले उत्पन्न हुआ।

—"त्रयी विद्या ने ही उसके मुख को उत्पन्न किया, अब जो गर्भ में था उससे अग्नि की सृष्टि हुई"—

यह वाजसनेय श्रुति में सुना गया है। अग्नि को प्रजापति कहा गया है। तब जल ने प्रजापति में प्रवेश किया। प्रजापति ने जल में प्रवेश किया उससे अन्य प्रजापति प्रादुर्भूत हुआ, इस प्रकार उत्तरोत्तर सृष्टि की धारा में जन्य और जनक का व्यत्यास युक्ति संगत है, अतः विरोध नहीं होता, यह समझना चाहिए। अब वायु के समान असंभव तो सत् की अनुपपत्ति के कारण है इस प्रतिज्ञा के कारण भूत जल से अतिरिक्त जल की तेज से उत्पत्ति भले न हो सके, जो भूत जाति का जल है उसकी तो तेज से ही उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त है।

पृथिवी

"पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः"।

'ता आपोऽन्नमसृजन्तेति"

श्रूयते। तत्रैतदन्नं पृथिवी विवक्ष्यते न तु कृतान्नमोदकादिकमकृतान्नं व्रीहियवादिकं वा अधिकारात् रूपात् शब्दान्तराच्च। तथा हि—तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजत ता अन्नमसृजन्तेति महाभूताधिकारे पठितोऽयमन्नशब्दः क्रमप्राप्तां पृथिवीं गमयति। अथ यत् कृष्णं तदन्नस्येति कृष्णरूपमुपादीयमानं पृथिव्यनुगुणत्वादेनां गमयति। कृष्णा हीयं पृथिवी प्रतिपद्यते। उपदिशन्ति हि पौराणिकाः शर्वरीमेतां पृथिवीच्छायाम्। सा च स्पष्टं कृष्णा भासते। यानि तु मृदां यत्र तत्रेमानि नानारूपाणि दृश्यन्ते तानीमानि सूर्यरश्मिपरिपाकवशाद् वैकारिकाणि नेयानि। अपि चान्नशब्दस्य पृथिवीपरत्वे श्रुत्यन्तरमपि प्रमाणमुपलभामहे। अस्ति हि "अद्भ्यः पृथिवीति" तैत्तिरीयश्रुतिः।

—"तद्यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवदिति"—

च वाजसनेयश्रुतिः। "पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नमिति च।" तथा चान्नशब्दस्य पृथिवीपरत्वेऽधिगते पृथिव्युत्पत्तिश्रुतीनामेकवाक्यत्वमुपपद्यते इति नास्ति विप्रतिपत्तिः।

पृथिवी

—"पृथिवी अधिकार रूप अन्य शब्दों से"—

—"उसने जल को उत्पन्न किया"—

यह सुना गया है। वहां अन्य शब्द से पृथिवी विवक्षित है न कि बनाए हुए अन्न मोदक आदि या नहीं बनाए गए अन्न धान जौ आदि, अधिकार रूप तथा अन्य शब्दों के अन्वय आदि के कारण वहां विवक्षित हैं। इस प्रकार—"उसने तेज को उत्पन्न किया, उसने अन्न को उत्पन्न किया"— इस महाभूतों की उत्पत्ति के अधिकार में पठित यह अन्न शब्द क्रम से प्राप्त होने वाली पृथ्वी का बोधन कर रहा है। यहां "जो कृष्ण है वह अन्न का है", इसमें कृष्ण रूप का ग्रहण पृथिवी के अनुरूप होने के कारण उसका बोधन कर रहा है। इस पृथ्वी को कृष्णा समझा गया। पौराणिकों के द्वारा शर्वरी (रात्रि) को पृथिवी की छाया बतलाया जाता है। और वह स्पष्ट रूप से काली (कृष्णा) भासित भी होती है, जो मृत्तिका के रूप हैं, वे यहां वहां अनेक रूपों में जो दिखाई दिया करते हैं उन्हें सूर्य की रश्मि के परिपाक के कारण वैकारिक समझना चाहिए। अन्य शब्द का प्रयोग पृथिवी के लिए है इस विषय में दूसरे श्रुति वाक्य भी प्रमाण के रूप में उपलब्ध हैं। "जल से पृथिवी उत्पन्न हुई" यह तैत्तिरीय श्रुति है।

—"वह जो जल की पपडी थी वह आहत हुई, वह पृथिवी बन गई"

यह वाजसनेय श्रुति वाक्य है। पृथिवी से ओषधियां उत्पन्न होती हैं। ओषधियों से अन्न बनता है। अब यहां अन्न शब्द पृथिवी परक है ऐसा ज्ञात हो जाने पर पृथिवी की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियां एक दूसरे से क्रमबद्ध हो जाती हैं अतः कोई भेद नहीं रह जाता।

पञ्चभूतानि

इत्थमीश्वरादेवैतानि पञ्चभूतान्युत्पद्यन्ते इति तावन्निरूपितम्। तत्र यदिदमुक्तम् "आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीति। तेनैतेषामाकाशादीनामुत्तरोत्तर-सृष्टौ स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति। ईश्वरस्य तु तेषु स्रष्टृत्वं पारम्पर्येण गौणं कश्चित्प्रतीयात् तदपवादाय पुनरिदानीं ब्रूमः।

"तदभिध्यानादेव तु तल्लिगात् सः" इति।

तस्येश्वरस्यैवाभिध्यानात्तु तेषामुत्पत्तिः प्रतिपत्तव्या। ईश्वर एव हि तेन तेनात्म-नाऽवतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति विद्यात्।

—"सोऽकामयत—बहुस्यां प्रजायेति"—

प्रस्तुत्य "सच्च त्यच्चाभवत् तदात्मानं स्वयमकुरुत"

इत्येवं तस्यैव सर्वात्मभावे लिङ्गदर्नात् । अपि च

"तत्तेज ऐक्षत" ।

—"ता आप ऐक्षन्त"—

इत्यादिषु सृष्टिवाक्येषु यदिदमचेतनेक्षणं स्रष्टरि सर्वत्रेक्षणं श्रूयते तल्लिङ्गमीश्वराभिध्यानस्य पश्यामः ।

—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगद्दिति"—

श्रुत्या सर्वाभिव्याप्तस्यैश्वरस्यैव चिद्रात्मनस्तदीक्षणव्यापारोपपत्तेः ।

—"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"—

इति—श्रुत्येश्वरातिरिक्तेष्वीक्षितृत्वप्रतिषेधात् । तस्मादीश्वरकर्तृक एव सर्वो भूतसर्गं इति सिद्धम् ।

पांचभूत

इस प्रकार ईश्वर से ही ये पांच महाभूत उत्पन्न हुए इसका निरूपण किया गया। वहां यह जो आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी कहे गये, इससे आकाश आदि अपने आगे के तत्व को उत्पन्न करने में स्वतन्त्र हैं यह बात सामने आती है। उनका ईश्वर का निर्माता होना गौण रूप से कहीं प्रतीत हो सकता है, इसका उत्तर देने के लिए अब यह कहा जा सकता है कि—

—"उसके अभिध्यान के कारण उसके चिन्ह से वह (कारण है)"—

उस ईश्वर के अभिध्यान से ही तो इन सब की उत्पत्ति समझी जाती है। ईश्वर ही तो उस उस रूप में रहता हुआ उस उस विकार को उत्पन्न करता है, यह समझना होगा।

—"उसने कामना की बहुतों में प्रकट हो जाऊं"—

यहां से आरम्भ करके

—" 'सत्' और 'त्य' हुआ उसने अपने को स्वयं बनाया"—

इस प्रकार उसी के सर्व रूप में प्रादुर्भूत होने के चिन्ह दिखाई देते हैं। पुनश्च

—"उसने तेज को देखा, उसने जल को देखा"—

इत्यादि सृष्टि बोधक वाक्यों में जो यह अचेतन की ईक्षण क्रिया और स्रष्टा की सर्वत्र ईक्षण की क्रिया सुनी जा रही है उसी को ईश्वर के अभिध्यान का चिन्ह हम देखते हैं।

—'जगती में यह जो कुछ जगत् है यह समस्त ईश के द्वारा वासित है"—
इस श्रुति के द्वारा सब में अभिव्याप्त ईश्वर चिदात्मा की ही इसके ईक्षण के व्यापार में युक्तियुक्तता बनती है।

—"इसके अतिरिक्त अन्य द्रष्टा नहीं है"—

इस श्रुति के द्वारा ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी में भी ईक्षण क्रिया का प्रतिषेध किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि पांचों महाभूतों की सारी सृष्टि ईश्वर ने ही रची है।

प्रतिसंचरः

इत्थं चेह भूतानामयमुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः। अथेदानीमेषामप्ययक्रमश्चिन्त्यते। उत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानामीश्वरायत्ताः श्रूयन्ते

—"यतो जायन्ते येन जीवन्ति यदभिसंविशन्तीति"—

तत्रोत्पत्तौ तावत् क्रमः श्रुत्यन्तरे दर्शितः। प्रलये तु क्रमो न श्रूयते। तथा तत्रानियमः प्राप्नोति। तस्माद् ब्रूमः। विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च—इति। अत उत्पत्तिक्रमाद् वैपरीत्येन तु प्रलयक्रमो द्रष्टव्यः। उपपद्यते चैवं लोके। येन क्रमेण हि सोपानमारोहति ततो विपरीतक्रमेणावरोहतीति। अपि चोपपद्यते अद्भ्यो जातं हिमकरकाद्यब्भावमेवाप्येतीति। आतश्चेयं पृथिवी स्थितिकालव्यतिक्रान्तौ नूनमपोऽपीयात्। आपस्तेजोऽपीयः। एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरमनन्तरमनन्तरतरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातमन्ततः परमकारणमीश्वरमेवाप्येतीत्युपपद्यते। तेनायमीश्वरादिरीश्वरान्तो भूतसर्ग इति सिद्धम्॥ स्मर्यते चैवम्।

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते। इत्यादौ।
इति पञ्चभूतानामुत्पत्तिप्रलययोः श्रुतिसामञ्जस्यं व्याख्यातम्।

इति भूतचिन्ता समाप्ता।

प्रलय

इस प्रकार यहां भूतों के उत्पत्ति क्रम पर विचार हुआ। अब इनके प्रलय के क्रम पर विचार किया जाता है। भूतों की स्थिति और उत्पत्ति को ईश्वर के आधीन सुना गया है—

—"जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवित रहते हैं, जिसमें प्रवेश करते हैं"—

यह श्रुति वाक्य है। उत्पत्ति का क्रम दूसरे श्रुति वाक्यों में दिखाया गया है। प्रलय में तो क्रम सुनाई नहीं देता। और इस प्रकार प्रलय में अनियम की प्राप्ति होती है। इसलिए कहते हैं कि—

—"(उत्पत्ति से) विपरीत (प्रलय का) क्रम इसी से सिद्ध होता है"—

अर्थात् इस उत्पत्ति के क्रम से विपरीत क्रम प्रलय का समझना चाहिए। लोक में भी यह तर्क सम्मत ठहरता है। सीढियों पर जिस क्रम से चढा जाता है, उसके विपरीत क्रम से उतरा जाता है। यह भी सिद्ध है कि जल से उत्पन्न होने वाले बरफ आदि का विलय जल रूप में ही होता है। इसलिए यह पृथिवी अपनी आयु पूर्ण करके जल के रूप में ही विलीन हो यह समझ में आता है। जल का विलय तेज में हो। इस प्रकार सूक्ष्म सूक्ष्मतर अनन्तर और अनन्तरतर होने वाले सारे कार्यपदार्थ अन्ततः परम कारण ईश्वर में ही लीन होंगे, यही युक्तिसिद्ध ठहरता है। इस प्रकार यह महाभूतों की सृष्टि ईश्वर से आरम्भ होकर अन्त में वहीं लीन होती है यह सिद्ध हुआ। स्मृति में भी यही कहा गया है कि—

—"हे देवर्षे, इस जगत् की प्रतिष्ठा रूप यह पृथ्वी, जल में विलीन होती है, जल ज्योति में विलीन होता है, ज्योति का विलय वायु में होता है"—

इस प्रकार पांच महाभूतों का उत्पत्ति और प्रलय के सन्दर्भ में श्रुति में सामञ्जस्य व्याख्यात हुआ। यह भूतों का विचार पूर्ण हुआ।

अन्तःकरणानि

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवीत्येवमात्मनस्तावदानन्तर्येण भूतोत्पत्तिस्तित्तिरिश्रुतौ श्रूयते। तदनुसाराद्वुत्पत्तिक्रमोऽयमाख्यातः। किन्त्वाथर्वणश्रुतौ भूतोत्पत्तेः प्रागात्मनोऽस्मादन्तरतो विज्ञानमनसी क्रमेणोत्पद्येते इति श्रूयते—

"एतश्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥" इति,

अत्रैतत् प्राणपदं विज्ञानलिङ्गं भवति।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

इति स्मृत्यैकवाक्यत्वात्। तथा चान्तरा करणोत्पत्त्या पूर्वोक्तक्रमभङ्गः प्रसज्यते इति चेन्न, अविशेषात्। आत्मनोऽस्मात् प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि। प्रथमं वा

भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं करणानीति—उभयथाप्यत्र विशेषो नास्ति। आथर्वणे हि समाम्नाय-क्रममात्रं करणानां भूतानां चोपदर्शितं नतूत्पत्तिक्रम उच्यते। श्रुत्यन्तरैकवाक्यत्वेन तथैवाभ्युपगन्तव्यत्वात्। आम्नायते ह्यन्यत्र भूतक्रमात् पृथगेव करणक्रमः। यथा—

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् स आत्मानमैक्षत। तद्वाचमसृजत इत्यादि। स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्। तदात्मानमैक्षत। अन्नमयं हि सौम्य मनः। आपोमयः प्राणः। तेजोमयो वागिति च। तथा च नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमभङ्गः। इति कारणोत्पत्तौ श्रुतिसामञ्जस्यं भाव्यम्। इति अन्तःकरणचिन्ता।

अन्तः करण

—"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुआ, अग्नि से जल हुआ, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई"—

यह आत्मा के अनन्तर भूतों की उत्पत्ति तैत्तिरीय श्रुति में सुनी जाती है। उसके अनुसार इस उत्पत्ति के क्रम की व्याख्या की गई है। किन्तु अथर्व में भूतों की उत्पत्ति के पहिले आत्मा से तत्काल बाद विज्ञान और मन क्रम से उत्पन्न हुए यह सुना गया है—

—"इससे प्राण उत्पन्न होता है मन, उत्पन्न होता है, समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। फिर उत्पन्न होते हैं आकाश, वायु तेज, जल और विश्व का धारण करने वाली पृथ्वी"—

यहां प्राण शब्द विज्ञान का चिन्ह है।

—"इन्द्रिय पर हैं, उनसे पर मन है, मन से पर बुद्धि है और बुद्धि से जो पर है वह ईश्वर है।" इस स्मृति से तब एक वाक्यता बनती है। इस प्रकार बीच में इन्द्रियों की उत्पत्ति के कथन से पूर्वोक्त क्रम का भंग हो जाता है। ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिए।

—"अविशेष के कारण"—

इस आत्मा से पहिले इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति होती है और अन्त में भूतों की उत्पत्ति होती है। अथवा पहिले भूतों की उत्पत्ति होकर अन्त में इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है इन दोनों ही क्रमों को स्वीकार करने में कोई विशेष बात नहीं होती। अथर्व वेद में इन्द्रियों और भूतों के कथन में क्रममात्र का उल्लेख हुआ है, वहां उत्पत्ति का क्रम बतलाया जाना अभिष्ट नहीं है। अन्य श्रुति वाक्यों की एक वाक्यता से यही ज्ञात होता है। दूसरे स्थल पर भूतों के क्रम से इन्द्रियों के पृथक् क्रम का ही विवरण हुआ है। जैसे—

—"प्रजापति ही आदि में था, उसने आत्मा को देखा, उसने वाक् को उत्पन्न किया।"

—"उसने मन को उत्पन्न किया, वह मन के रूप में ही था। तब उसने आत्मा को देखा। हे सौम्य, मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है, वाक् तेजोमयी है।"

इस प्रकार भूतों की उत्पत्ति के क्रम का भङ्ग नहीं हुआ। इस प्रकार करण की उत्पत्ति में श्रुति वाक्यों का सामञ्जस्य समझ लेना चाहिए। यह अन्तः करण का विचार हुआ।

अथ जीवचिन्ता

—जन्ममृत्युविमर्शः—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् २।३।१६।
नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः। २।३।१७।

—चैतन्यविमर्शः—

ज्ञोऽत एव। २।३।१८।

—परिमाणविमर्शः—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् २।३।१९।
स्वात्मना चोत्तरयोः २।३।२०।
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् २।३।२१।
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च २।३।२२।
अविरोधश्चन्दनवत् २।३।२३।
अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि २।३।२४।
गुणाद्वा लोकवत् २।३।२५।
व्यतिरेको गन्धवत् २।३।२६।
तथा च दर्शयति २।३।२७।
पृथगुपदेशात् २।३।२८।
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् २।३।२९।

—बुद्धियोगविमर्शः—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् २।३।३०।
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् २।३।३१।
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा। २।३।३२।

—कर्मत्वविमर्शः—

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् २।३।३३।
विहारोपदेशात् २।३।३४।
उपादानात् २।३।३५।
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्द्देशविपर्य्ययः २।३।३६।
उपलब्धिवदनियमः २।३।३७।
शक्तिविपर्ययात् २।३।३८।
समाध्यभावाच्च २।३।३९।
यथा च तक्षोभयथा २।३।४०।

—ईश्वरानुग्रहप्रेक्षित्वविमर्शः—

परात्तु तच्छ्रुतेः २।३।४१।
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४२।

—ईश्वरांशत्वविमर्शः—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके । २।३।४३।
मन्त्रवर्णाच्च । २।३।४४।
अपि च स्मर्यते । २।३।४५।
प्रकाशादिवन्नैवं परः । २।३।४६।
स्मरन्ति च । २।३।४७।
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् । २।३।४८।
असन्ततेश्चाव्यतिकरः । २।३।४९।
आभास एव च । २।३।५०।
अदृष्टानियमात् । २।३।५१।
अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् । २।३।५२।
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् । २।३।५३।

जीव चिन्ता

जन्म और मृत्युः का विमर्श

चर तथा अचर की आश्रयता तो रहेगी, उसकी संज्ञा गौण होगी,
उसके रूप से रूपायित होना ही इसका कारण है । २।३।१६।
नित्य होने के कारण आत्म प्रतिपादक श्रुतिसे से उसका निषेध
नहीं होता । २।३।१७।

[खेद है कि सूत्र २।३।१८ से सूत्र २।३।५३ तक का पूज्यपाद श्री ओझा जी द्वारा विरचित भाष्य पूर्व संस्करण में मुद्रित उपलब्ध नहीं है। इन पर केवल शीर्षकों का निवेश ही ग्रन्थकार ने किया है। या तो वह अंश लुप्त हो गया। या लिखा ही नहीं गया। इसलिए इन सूत्रों का उनके आशय के अनुसार अनुवाद भी नहीं दिया जा रहा है। मूल सूत्र तो ऊपर संस्कृत में आ ही गए हैं—अनुवादक]

चैतन्य विचार

२।३।१८।

परिमाण विचार

२।३।१९।, २।३।२०।, २।३।२१।, २।३।२२।, २।३।२३।, २।३।२४।, २।३।२५।, २।३।२६।, २।३।२७।, २।३।२८।, २।३।२९।,

बुद्धियोग विचार

२।३।३०।, २।३।३१।, २।३।३२।

कर्मत्व विचार

२।३।३३।, २।३।३४।, २।३।३५।, २।३।३६।, २।३।३७।, २।३।३८।, २।३।३९।, २।३।४०।

ईश्वरानुग्रह प्रेक्षित्व विचार

२।३।४१।, २।३।४२।

ईश्वरांशत्व विचार

२।३।४३, २।३।४४, २।३।४५।, २।३।४६।, २।३।४७।, २।३।४८, २।३।४९ २।३।५०।, २।३।५१।, २।३।५२।, २।३।५३।

अथ जीवस्य जन्ममरणविमर्शः।

जातो मृत इत्यादिव्यवहारदर्शनाज्जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ भवत इति लोकसाधारणः प्रतिपद्यते : श्रूयते च—

"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा अद्या ममार सह्यः समानः" १॥

"मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः" इत्यादि ।

अपि चाक्षरादमुष्मात् परमात्मनो भोक्तॄणां जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते—

—"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।

तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" इति । परमात्मना सरूपा हीमे जीवात्मानो भवन्ति । तत्र चैतन्ययोगात् । अथ क्वचित् पुनरस्य मृत्युजन्माभावः श्रूयते—

—"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"— इति,

—"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते" इति च ।

तथा चैतद्विप्रतिपत्तौ निर्णयो वक्तव्यः । न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ भवत इति । शास्त्रफलसम्बन्धान्यथानुपपत्तेः । शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिनिषेधावनर्थकौ स्याताम् ।

यत्तु पुनरस्य जन्ममरणव्यपदेशो लोके दृश्यते । स खलु चराचरव्यपाश्रयोऽयं व्यपदेशो भाक्तः स्यात् । स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते च । तस्मादेतौ जन्ममरणशब्दौ मुख्यतया स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते ।

जीव का जन्म मरण विचार

संसार में सामान्यतया समझा जाता है कि पैदा हुआ, इत्यादि व्यवहार के प्रचलन के कारण जीव की भी उत्पत्ति, और मृत्यु होती है । वेद में भी सुना जाता है कि—

—बहुतों की समनस्कता के लिए, विधु और कर्मठ युवक को वृद्ध ने कहा कि "देव के काव्य को देखो जो अपने महत्व से आज भी नहीं मरा और कल भी समान रहेगा ।"

"—मैं मर कर फिर उत्पन्न हुआ तथा उत्पन्न होकर फिर मर गया ।" पुनश्च उस अक्षर परमात्मा से भोक्ता जीवों की उत्पत्ति और प्रलय कहे गए हैं ।

—"जैसे धक् धक् जलते हुए अग्नि समूह से हजारों अंगारे समान रूप वाले उत्पन्न होते है वैसे ही हे सौम्य, उस अक्षर से विविध भाव पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा वहीं लीन हो जाते हैं"—

ये जीवात्मा परमात्मा के समान ही रूप वाले होते हैं । इसका कारण जीवात्मा में चैतन्य का योग है, कहीं कहीं जीवात्मा में जन्म मृत्यु के अभाव की भी सूचना मिलती है ।

—"यह कभी न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह उत्पन्न होकर फिर कभी नहीं होगा ऐसा हो सकता है, यह अज, नित्य, शाश्वत, पुराण है, यह शरीर के मारे जाने पर भी आहत नहीं होता"—

—जीव से अलग होकर यह मर जाता है, जीव नहीं मरता"—

इस प्रकार के विरोध के उपस्थित होने पर निर्णय बतलाना उचित है। निर्णय यह है कि जीव की उत्पत्ति और मृत्यु नहीं होते। अन्यथा शास्त्र के द्वारा बोधित फल के सम्बन्ध की कडी नहीं बैठती। यदि जीव शरीर के साथ ही नष्ट होने वाला है तो दूसरे शरीर में मिलने वाले इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट से बचाव के लिए जो शास्त्रों में विधि और निषेध बतलाए गए हैं वे निरर्थक हो जांयगे।

यह जो जीवात्मा के जन्म और मरण की बात संसार में कही जाती है, वह चराचर के आधार पर चलने वाली बात यहां गौण है। स्थावर और जगम भूत पदार्थ उत्पन्न होते है और मरते हैं। इसलिए मुख्यतया ये जन्म मरण शब्द स्थावर और जंगम के शरीरों के विषय में प्रयुक्त होने पर भी उनमें स्थित जीवात्मा में भी गौण रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं।

—तद्भावभावित्वात्—

शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ प्रवर्तमानौ भवतः। न हि शरीरसम्बन्धादन्यत्र जीवोऽयं जातो वा मृतो वा केनचिदुपलक्ष्यते। दर्शयति च शरीर-संयोगवियोगनिमित्तावेवंतौ जन्ममरणशब्दौ।

—"स वाऽयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाण" इति।

ननु भाक्तयोरेव जन्ममरणयोर्व्यपदेशात् स्वतोऽस्य जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्युक्तं तन्न युक्तं प्रतीमः, श्रुति वरुद्धत्वात्। तथा हि जन्ममरणधर्मित्वाभावेऽभ्युपगम्यमाने जीवस्य द्वैविध्यं प्राप्नोति। परमात्मवदेवायमन्यः कश्चिदविनश्वरोऽर्थः स्यात्। अथवा अविकृतोऽयं जीवः परमात्मैव नान्य स्यात्ः। उभयथापि नोपपद्यते। तत्त्वान्तरत्वाभ्युपगमे तावदेकस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितमिति प्रतिज्ञाव्याकोपापत्तिः। अथानन्यत्वमपि न संभवति। लक्षणभेदादस्य जीवस्य परमात्मत्वेन प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। अपहतपाप्मत्वादि-धर्मको हि परमात्मा। तद्विपरीतस्तु जीवः। विभागादस्य विकारत्वसिद्धेः। यावान् ह्याकाशादिः प्रविभक्तोऽर्थः स सर्वो विकारः। तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः पूर्वं निर्धारिता। तथा चैतस्य जीवस्यापि प्रतिशरीरं विभक्तत्वोपगमादुत्पत्तिर्भवितुमर्हति इति चेत्, तत्र ब्रूमः। नात्मा जीव उत्पद्यते, जीवोत्पत्तेरश्रुतेः। ननु न केवलमश्रवणं युक्तिसिद्धाया उत्पत्तेः प्रतिषेधहेतुः संभवतीति चेत् सत्यम्। नित्यत्वाच्च ताभ्योऽनुत्पत्तिः प्रतिपद्यते।

नित्यत्वमजत्वं चास्य जीवस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते । अजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनाऽवस्थानं ब्रह्मात्मना च । न चैवं रूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते ।

—"उसके भाव से भावित होने से"—

जब शरीर का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है तभी जन्म तथा मरण शब्दों का व्यवहार होता है । शरीर के सम्बन्ध के अतिरिक्त यह जीव उत्पन्न हुआ या मृत हुआ ऐसा किसी के द्वारा नहीं व्यवहार में लाया जाता । पुरातन प्रयोगों में भी इन जन्म तथा मरण शब्दों को शरीर के संयोग और वियोगों में ही देखा गया है ।

—"यह पुरुष जब शरीर के साथ संयुक्त होता है तब उत्पन्न कहा जाता है, जब शरीर से वियुक्त होता है तो मृत कहा जाता है"—

आपने कहा कि जीव के विषय में जन्म और मरण शब्दों का प्रयोग गौण है, स्वत: जीवात्मा की उत्पत्ति और मरण नहीं होता, इसे हम ठीक नहीं मानते । क्योंकि यह श्रुति से विरुद्ध है । क्योंकि यदि जन्म और मरण धर्मों के जीवात्मा के साथ अभाव को माना जायगा तब जीवात्मा दो प्रकार का मानना होगा । यह परमात्मा के ही समान कोई अन्य अविनश्वर पदार्थ होगा । अथवा विकार रहित अवस्था में यह जीव परमात्मा ही होगा अन्य कोई नहीं । दोनों ही प्रकार से मानने पर संगति नहीं जमती । परमात्मा से अन्य जीवात्मा को मानने पर यह प्रतिज्ञा खण्डित होने लगेगी कि 'एक के विदित होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है" । परमात्मा से जीवात्मा का अनन्य या एकत्व भी सिद्ध नहीं होता । जीवात्मा और परमात्मा के लक्षण में भेद होने के कारण इस जीव को परमात्मा नहीं समझा जा सकता । परमात्मा का धर्म है पाप को नष्ट करने वाला होना । जीव तो उससे विपरीत है । विभाग के कारण इसका विकारत्व सिद्ध हो रहा है ।

आकाश आदि जितने विभाग युक्त अर्थ हैं वे सभी विकार हैं । उन आकाश आदि की उत्पत्ति पहिले कही जा चुकी है । इसी प्रकार इस जीव का भी प्रति शरीर में विभाग होने से इसकी भी उत्पत्ति माननी होगी ऐसा यदि कहा जाता है तो वहां हमारा उत्तर है कि आत्मा रूप जीव की उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि जीव की उत्पत्ति कहीं सुनी नहीं गई है । भाई, केवल सुनी नहीं गई उत्पत्ति इससे क्या, कोई बात यदि युक्ति से सिद्ध हो रही है तो, वैसा नहीं सुना गया इससे उस बात का निषेध तो नहीं हो सकता । इस पर कहना हमें यह है कि आपका कथन सत्य है, श्रुतियों से जीव नित्य है यह ज्ञात हो रहा है । इसलिए उसकी उत्पत्ति नहीं होती यह समझा जाता है । यह जीव नित्य है, यह अजन्मा है यह विषय इन श्रुतियों से अवगत हो रहा है । अज होना, अविकारी होना यह अविकृत ब्रह्म का ही जीवात्मा के साथ अवस्थान या ब्रह्मात्मा के साथ अवस्थान है । इस रूप वाले की उत्पत्ति नहीं हो सकती । वे श्रुतियां इस प्रकार हैं ।

ताश्च श्रुतयो यथा—

--न जीवो म्रियते ।

—स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म ।

—न जायते म्रियते वा विपश्चित् ।

—अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः ।

—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

—अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।

--स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः ।

--तत्त्वमसि ।

—अहं ब्रह्मास्मि ।

—अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ।

इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः श्रुतयो जीवस्योत्पत्तिमपवदन्ति । ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यते जीव इत्युक्तमिति चेत् तत्रोच्यते । नास्य विभागः स्वतोऽस्ति ।

—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा"--

इति श्वेताश्वतरश्रुतेरेकस्यैवास्य जीवस्य बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्, श्रूयते हि--

—"अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा। मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति" इति ।

—"अयमात्मा ब्रह्म । विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः"—

इत्येवमादिना शास्त्रेणाविकृतस्यैकस्यैव ब्रह्मणोऽनेकबुद्ध्यादिमयत्वम् । तथा चैकत्वान्नित्यत्वादविभक्तत्वाच्चास्य जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ न स्त इति सिद्धम् ।

—"जीव नहीं मरता"—

—"यह वह महान् अजन्मा आत्मा अजर अमर अमृत, अभय है ब्रह्म है"—

—"वह विपश्चित् न जन्म लेता है, न मरता है"—

—"यह अज नित्य, शाश्वत तथा पुराण है"

—"उसको उत्पन्न करके उसी में अनुप्रविष्ट हो गया"—

—"इस जीवात्मा के साथ प्रवेश करके नाम और रूप का व्याकरण करूंगा"—

—"वह इसमें नख के अग्र भागों से प्रविष्ट है"—

—'तुम वही हो"—

—"मैं ब्रह्म हूं"—

—"यह सबका अनुभव करने वाला आत्मा ब्रह्म है"—

इत्यादि नित्यत्व कहने वाली श्रुतियां जीव की उत्पत्ति का विरोध करतीं हैं। प्रश्न होता है कि जीव का विभाग होने से वह विकारी सिद्ध हो रहा है और विकारी होने से वह उत्पन्न भी होता है यह कहा गया उसका क्या समाधान होगा तो उस पर कहते हैं कि इसका विभाग स्वयं नहीं है—

—"एक देव समस्त भूतों में छिपा है, जो सर्वव्यापी, सब भूतों का अन्तरात्मा है"—

इस श्वेताश्वतर श्रुति के द्वारा एक ही जीव का बुद्धि आदि उपाधियों से ढंकने के कारण विभाग बोध होता है, वैसे ही जैसे आकाश का घड़े से ढंका होने का बोध होता है। सुना जाता है कि—

—"अरे, यह आत्मा अनुच्छित्ति धर्म वाला, अविनाशी है, इसका मात्राओं से संसर्ग होता है'—

—"यह आत्मा ब्रह्म है, यह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय है"—

इन शास्त्रीय वचनों से ज्ञात हो रहा है कि अविकृत एक ही आत्मा ब्रह्म है जो अनेक बुद्धि आदि से युक्त होता है। इस प्रकार एक होने से, नित्य होने से, अविभक्त होने से इस जीव की न तो उत्पत्ति होता है और न मृत्यु होती है, यह सिद्ध हुआ।

अथ जीवस्य चेतनाचेतनत्वपरीक्षा।

एष खलु जीवः स्वतोऽचेतन एवागन्तुकचैतन्यतया चेतनो भातीति वैशेषिका आहुः। नित्यचैतन्यस्वरूप इति सांख्या आहुः। तदित्थं विप्रतिपत्तौ सिद्धान्त उच्यते

—"ज्ञोऽत एवेति उक्तं हि"

एष खल्वात्मा जीवो नोत्पद्यते परब्रह्मैवेदमविकृतमुपाधिसंपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते इति। तत्रेदं नित्यचैतन्यस्वरूपं परं ब्रह्माम्नायते

—"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति"—

—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति"—

—"अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः"—

— "प्रज्ञानघन एवेति '—

तथा चास्यैव परब्रह्मणः पुनरुपाधिसंसर्गान्मात्राभेदेन जीवत्वमुपपद्यते इत्युक्तम्। अत एव कारणादस्य जीवस्य नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवद् गम्यते। ननु जीवस्य नित्यचैतन्यत्वे सुप्तमूर्छितग्रहाविष्टानामप्यविशेषाच्चैतन्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न वयं किञ्चिदचेतयामहीति जल्पन्ति। अथ स्वस्थाश्चेतयन्ते। तेनायं कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्यो जीव आत्मेति प्राप्नोति। इति चेत् नैतदस्ति।

--"असुप्तः सुप्तानभिचाकशीतीति" प्रतिपत्तव्यम्।

--"अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा"।

इत्येवं सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसंधानादस्य विज्ञानरूपत्वसिद्धिः।

—"अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति नातोऽन्योस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता"–

इति सिद्धान्तात्। ननु नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेन्न। तेषां गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। आह हि—गन्धाय घ्राणमित्यादि। यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्ते इत्युक्तम्। तत्परिहृतं श्रुत्या।

— "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्" - इत्यादिना।

तथा चेतयितव्यविषयाणामप्रत्यासत्त्यैयमचेतयमानतोपपद्यते न तु जीवात्मनश्चैतन्याभावात् यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात् तद्वत्। तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवायं जीवात्मेति सिद्धम्।

जीव की चेतन तथा अचेतनता का विचार

वैशेषिकों का मानना है कि जीवात्मा स्वयं तो अचेतन है, उसमें चैतन्य बाद में बाहर से आने पर वह चेतन प्रतीत होता है। सांख्यानुयायियों का मन्तव्य है कि जीवात्मा या पुरुष नित्य चेतन है। इस प्रकार के विरोध की स्थिति में सिद्धान्त का कथन किया जाता है कि--

—"इसीलिए उसे ज्ञाता माना गया है"—

यह आत्मा जीव उत्पन्न नहीं होता, यह पर अविकृत ब्रह्म ही है जो उपाधि के संपर्क से जीव भाव को प्राप्त करके स्थित है। पर ब्रह्म को नित्यचैतन्यस्वरूप शास्त्रों में बतलाया गया है—

—"ब्रह्म नित्य विज्ञान आनन्द है"—

—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है"—

—"ब्रह्म न भीतर है, न बाहर है, वह सम्पूर्ण है"—

—"वह प्रज्ञानघन है"—

यह बतलाया गया है, इस परब्रह्म को जीवभाव प्राप्त हो जाता है, उपाधि के संसर्ग से मात्राओं के भेद के कारण। इसी कारण अग्नि की उष्णता और प्रकाश के समान उसको नित्य चेतन समझा जाता है। प्रश्न होता है कि जीवात्मा यदि नित्य चेतन है तो सुषुप्ति, मूर्छा तथा ग्रहाविष्ट अवस्था में बिना किसी विशेषता के चेतना होनी चाहिए। उस अवस्था में स्थित पुरुषों से जब कुछ पूछा जाता है तो उनका उत्तर होता है कि हमें उस समय कोई ज्ञान नहीं था। जब वे स्वस्थ रहते हैं तो सब कुछ जानते हैं, समझते हैं। इस प्रकार प्रतिफलित तो यही हो रहा है कि जीव में कदाचित् चेतना है और वह बाहर से आई हुई है। अब यदि ऐसा नहीं है तो—"असुप्त होते हुए सोए हुओं में प्रकाशित है" यह समझना होगा।

"जो जानता है कि यह आघ्राण कर रहा है वह आत्मा है"—

इस प्रकार सभी इन्द्रियों के द्वारों से, जानता है, जानता है, इस प्रकार के विज्ञान के कारण जीवात्मा की विज्ञानरूपता की सिद्धि होती है।

—यहां यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है, इसके अतिरिक्त कोई द्रष्टा, मननकर्त्ता या विज्ञाता नहीं है"—

यह सिद्धान्त है। प्रश्न होता है कि यदि आत्मा का चेतन नित्य स्वरूप है तो घ्राण आदि इन्द्रियां व्यर्थ हैं, किन्तु ऐसा नहीं है, घ्राण आदि इन्द्रियों की सार्थकता गन्ध आदि विषयों के परिच्छेद के लिए है। कहा गया है कि गन्ध के लिए घ्राणन्द्रिय है, इत्यादि। जो यह कहा गया इसका समाधान श्रुति के द्वारा कर दिया गया है कि—

—"जब वह नहीं देखता तब देखते हुए भी नहीं देखता, द्रष्टा को दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, ज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है, उससे दूसरा कोई है नहीं, जिससे कि अपने से विभक्त वह देखे"—

जीवात्मा की यह कदाचित् अचेतनता चेतयितव्य विषयों के समीपस्थ न होने के कारण है। जैसे आकाश के आश्रय में रहने वाला प्रकाश प्रकाशित करने योग्य वस्तु के अभाव में अभिव्यक्त नहीं हो पाता उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। इसलिए यह जीवात्मा नित्य चैतन्य स्वरूप है यह सिद्ध हुआ।

अथ जीवस्याणुत्वमहत्वादिपरिमाणपरीक्षा।

अथैष जीवोऽणुपरिमाणो वा महत्परिमाणो वेति जिज्ञासन्ते। तत्र तावदात्मनो द्वैविध्यं श्रूयते –अणुत्वं च महत्त्वं च।

—"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" इति

—"तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्तस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किञ्चिद्" इति।

इत्थं चात्माणुत्वविभुत्वश्रुतीनां विरोधादप्रामाण्यं प्राप्नोति। परस्परविरुद्धयोरुक्तपरिमाणयोरणुत्वमहत्त्वयोरेकत्र सामञ्जस्यासंभवात्। अतस्तत्परिहारार्थं श्रुतीनां च सामञ्जस्यं कल्पयितुमेके तावदीश्वरपक्षे विभुत्वं व्यवस्थाप्य जीवस्याणुत्वं व्यवस्थापयन्ति। तथा हि तन्मतमादौ प्रदर्श्यते—

नित्यचैतन्योऽयं नित्यो जीवात्मा नोत्पद्यते इत्युक्तम्। तथा चासौ पर एवात्मा कैश्चिदुपाधिभिः संपृक्तः कार्यप्रवेशेन लक्षणभेदं गतो जीवसंज्ञामायाति। तथा च

– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—

त्यादिश्रुत्याऽस्य परस्यात्मनो यद्यप्यानन्त्यमभ्युपपद्यते तथाप्युपाधिसंबन्धवशादतिरिक्तां जीवावस्थाङ्गमितस्य तस्य मात्रासंसर्गो व्यवतिष्ठते। अत एव श्रूयते चास्मिन्नुत्क्रान्तिगत्यागतीनामभिसंबन्धः। तथा हि उत्क्रान्तिस्तावत्—

—"स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति" इति अथ गतिः—

—"ये चैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति"। अथागतिरपि—

—"तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण"—

इति। इत्थमुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणादस्मिन् जीवे परिच्छेदो विज्ञायते। विभोः सर्वत्र सतो गमनस्यासंभाव्यमानत्वात्।

जीव के अणुत्व या महत्त्व परिमाण का विचार

अब यह जिज्ञासा होती है कि जीव अणु परिमाण वाला है या महत् परिमाण

वाला। इस विषय में श्रुति में आत्मा का परिमाण दो प्रकार का बतलाया गया है, अणुत्व और महत्त्व।

—"अणु से अणु और महान् से महान् आत्मा इस जन्तु की गुहा में निहित है"—

"उससे कोई श्रेष्ठ नहीं, उससे कोई अधिक अणु और अधिक बड़ा नहीं"—

इस प्रकार आत्मा की अणुत्व तथा विभुत्व प्रदर्शित करने वाली श्रुतियों में अप्रमाणता प्राप्त होती है। क्योंकि परस्पर विरुद्ध परिमाण जो अणुत्व और महत्व हैं वे एक में समञ्जस होते नहीं दिखाई देते। इसलिए कुछ लोग इस विरोध का परिहार और श्रुतियों का सामञ्जस्य स्थापित करने की कल्पना करते हुए ईश्वर को तो विभु मानते हैं और जीव को अणु मानते हैं। प्रारम्भ में यहां उनका मत दिखाया जाता है।

नित्य चैतन्य वाला यह नित्य जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता यह कहा गया है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा चुका है कि यह परमात्मा ही कुछ उपाधियों से संयुक्त होकर कार्य जगत् में प्रवेश के कारण रूप भेद को प्राप्त करता हुआ जीव की संज्ञा में आता है। पुनश्च

—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा इस पर आत्मा की यद्यपि अनन्तता प्राप्त होती है तथापि उपाधि सम्बन्धवश अतिरिक्त जीव अवस्था को पहुंचने पर उसका मात्रा के साथ संसर्ग विस्थापित होता है। इसलिए वेद में जीवात्मा की उत्क्रान्ति गति और आगति का सम्बन्ध सुना जाता है। उत्क्रान्ति जैसे—

—"जब वह इस शरीर से उत्क्रमण करता है, तब इन सबके साथ ही उत्क्रमण करता है"

गति का भी श्रुति निर्देश है—

—"इस लोक से जो भी जाते हैं, वे यहां से चन्द्रमा में ही जाते हैं"—

आगति भी श्रुति में निर्दिष्ट है—

—"उस लोक से कर्म के लिए इस लोक में आते हैं"—

इस प्रकार उत्क्रमण गति और आगति के श्रवण से इस जीव में परिच्छेद का ज्ञान होता है, क्योंकि जो व्यापक है, वह तो सर्वत्र विद्यमान है, उसके गमन तथा आगमन की तो कोई सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

अत्र कश्चिद् ब्रूयात्, इह खलु यथा वियद्व्यापिभिः सूर्यरश्मिभिर्जलपात्रे संभवतः प्रतिबिम्बस्य जलसम्बन्धनिवृत्तौ परस्यां देवतायां स्वज्योतिषि संपत्तिः संभाव्यते तथा सर्वजगद्व्यापिनोऽप्यस्य परमात्मनः कैश्चिद्विज्ञानरश्मिभिः शरीरविशेषे संभवतो जीवसंज्ञस्य चिदाभासस्य शरीरसम्बन्धनिवृत्तौ परस्यां देवतायां स्वज्यौतिषि संपत्तिः संभाव्यते । तथा चेयमुत्क्रान्तिरित्थं व्यापिनोऽप्यात्मनः संभवतीति चेत्, तत्र ब्रूमः । अस्त्वेवमुत्क्रान्तिरुपाधिनिमित्ता । किन्तु स्वात्मना चोत्तरयोरभिसंबन्धं पश्यामः । विद्याकर्मसंबन्धेनायं जीवात्मा स्वात्मनैव खलु नानालोकेषु यातायातं कुरुते । तत्रायं यदि जीवः परिच्छिन्नो न स्यान्न स तर्हि पुण्यापुण्याभ्यां कर्मभ्यां व्यवच्छिद्येत । न चैतस्य पुण्यापुण्यगतयः पृथक्त्वेनोपपद्येरन् । तस्मादवश्यमेतस्य जीवस्य स्वात्मना परिमाणवत्त्वं लभ्यते । परिमाणं चैतस्य त्रैविध्येन संभवति—अणु वा मध्यमं वा महद्वेति । तत्र तावदणुरेवायं जीव इति ब्रूमः ।

यहां कोई कह सकता है कि जैसे आकाश में व्याप्त सूर्य की रश्मियों का जल के पात्र में गिरने वाला जो प्रतिबिम्ब है वह इस जल के सम्बन्ध के हट जाने पर अपने बिम्ब रूप सूर्य में चला जाता है, वैसे ही यद्यपि यह परमात्मा सर्वजगत् में व्याप्त है तो भी कुछ विज्ञान रश्मियों से विशेष शरीरों में जब यह जीव की संज्ञा प्राप्त कर लेता है और जब यह चिदाभास कहा जाता है, उस अवस्था में इसकी जब शरीर के सम्बन्ध की निवृत्ति होती है तब पर देवता में, अपनी ज्योति में, सम्पन्नता सम्भावित हो जाती है । तब इस प्रकार व्यापक आत्मा में भी इस प्रकार की उत्क्रान्ति संभावित हो जाती है, इस पर हमारा कथन है कि इस प्रकार उपाधि के कारण उत्क्रान्ति होने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु अपनी आत्मा से आगे की दो वस्तुओं का सम्बन्ध हम देखते हैं । विद्या तथा कर्म के सम्बन्ध से यह जीवात्मा स्वयं ही अनेक लोकों में गमन आगमन करता है । वहां यदि यह जीव सीमाबद्ध न हो तो यह पुण्य और अपुण्य कर्मों से पृथक् हो जाय । तब इसकी पृथक् रूप से पुण्य अपुण्य गतियां युक्ति सिद्ध न रह जायें, इसलिए अवश्य इस जीव का अपना परिमाण (सीमा बन्धन) प्राप्त हो जाता है । और इसका यह परिमाण तीन प्रकार का हो सकता है. या तो वह अणु है, या मध्यम है, या महत् है । वहां हम कहते हैं कि यह जीव अणु परिमाण वाला ही है ।

केचित्त्वाहुः, नाणुरेतच्छ्रुतेः । नायं जीवात्मा कश्चिदणुर्वक्तव्यः । अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणात् ।

—"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु"—

—"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"—

—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—

इत्येवं हि महदस्य परिमाणं श्रूयते इति चेन्नैतदेवं युक्तं वक्तुम् । इतराधिकारात् ।

नैता: श्रुतयो जीवाधिकारेणाम्नाता: । किन्तु विरज: पर आकाशादित्येवं परमात्मानमधिकृत्येदं महत् परिमाणमाचक्षते ।

--"योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु"--

इति शरीरमेवाधिकृत्येदं महत्त्वमाम्नायते इति न भ्रमितव्यम् । अणुपरिमाणस्यैवास्य जीवस्य महापरिमाणवता परमात्मना वास्तविकाभेदस्येह विवक्षितत्वात् । अतश्चायमपीतर एवाधिकारो द्रष्टव्य: । स्वशब्दोन्मानाभ्यां चैतस्य जीवस्याणुत्वं विज्ञायते । तथा हि ।

--"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राण: पञ्चधा संविवेश"--

इति प्राणसंबन्धाज्जीव एवायं स्वेनात्मशब्देन तावदिहाणुत्वेनोपदिश्यते ।

--"आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट"--

इति च स्वेनावरशब्देनोपात्तोऽयं जीव: खल्वाराग्रमात्रयोन्मीयते । अपि च--

--"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च--

--भागो जीव: स विज्ञेय:"--

कुछ लोग कहते है कि यह अणु परिमाण वाला नहीं है क्योंकि श्रुति ऐसा नहीं कहती । यह जीवात्मा अणु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका परिमाण अणु के विपरीत सुनने में आ रहा है ।

--"यह जो आत्मा प्राणों में विज्ञानमय है, यह महान् और अजन्मा है,'

--"यह आकाश के समान सर्वगत है और नित्य है"--

--'ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है"--

इस प्रकार इसका परिमाण महान् है यह सुना जा रहा है । ऐसा कहने पर उत्तर में कहना होगा कि यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि यहां (श्रुति सन्दर्भ में) दूसरे का अधिकार है । ये उक्त श्रुति वाक्य जीव के सन्दर्भ में नहीं आये हैं, किन्तु जो विरज है, आकाश से पर है, ऐसा कहते हुए ये सन्दर्भ परमात्मा को अधिकृत करके उसका महत् परिमाण दिखला रहे हैं ।

--"यह जो प्राणों में विज्ञानमय है"--

ऐसा कह कर शरीर के ही सन्दर्भ में इस महत् परिमाण का कथन किया जा रहा है इस भ्रम को स्थान न दीजिए । अणु परिमाण वाले इस जीव का ही महापरिमाण

वाले परमात्मा के साथ वास्तविक अभेद होना यहां विवक्षित है। और इस प्रकार यह भी एक दूसरा ही अधिकार समझना चाहिए। अपने शब्दों के ऊर्ध्व मान से इस जीव के अणुत्व का यहां ज्ञान होता है।

—"इस अणु आत्मा को चित्त से समझना चाहिए, जिसमें कि पांच प्रकार का प्राण समाविष्ट है"—

इस प्रकार प्राणों से सम्बद्ध जीव ही यहां अपने वाचक आत्मा शब्द से अणुत्व से बोधित हुआ है।

—"यह अवर भी आराग्र मात्र देखा गया है"—

यहां अपने अवर शब्द से गृहीत यह जीव आराग्र मात्रा से बोधित है। पुनश्च

—'केश के आगे के सौवें अंश की भी सौ भागों में कल्पना करने पर जो भाग बनता है उसे जीव समझना चाहिए''—

यह कथन जीव शब्द से बोधित आत्मा के अणु परिमाण का नियमन कर रहा है।

इत्युन्मानं जीवशब्देनोपात्तस्यात्मनोऽणिमानं नियमयति।

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्यात्मनः कृत्स्नदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते। दृश्यते तु वर्ष्मण्या-लोमभ्य आनखाग्रेभ्यः सर्वां शरीरयष्टिमभिव्याप्यैतच्चैतन्योपलब्धिरिति चेत् तत्र ब्रूमः।

अविरोधश्चन्दनवद्द्रष्टव्यः

इति। यथा हि गन्धमयश्चन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्थः कृत्स्नदेहव्यापिनमाह्लादं जनयति एवमयमात्माऽप्येकदेशस्थः कृत्स्नदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति। अपि चायं गन्धोऽणुरूप एव यथा चन्दनस्य सर्वाण्येवाङ्गानि पर्याप्यावतिष्ठते, तथायमणुरूपो जीवात्मा शरीरस्य सर्वाण्येवाङ्गानि पर्याप्यावतिष्ठते। तस्मादविरोधः।

ननु चन्दनवदयमात्मा नोपपादयितुं शक्यः—अवस्थितिवैशेष्यात्। आत्मनो ह्यस्य चन्दनवद्देहैकदेशस्थत्वं नोपलभामहे। तस्माच्चन्दनापेक्षयैतस्यात्मनोऽवस्थितौ वैशेष्यं भवतीति नैष चन्दनदृष्टान्त उपपद्यते इति चेन्न। अभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते ह्यात्म-नोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वम्। हृदि हि स श्रूयते।

हृदि ह्येष आत्मेति। "स वा एष आत्मा हृदि" इति। "कतम आत्मेति" "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इत्येवमादि। तथा चैकदेशस्थस्य सतश्चन्दनस्य कृत्स्ने शरीरे गन्धत उपलब्धिवदेकदेशस्थस्य सतोऽस्यात्मनः कृत्स्ने शरीरे विज्ञानत उपल-ब्धिरस्तीति साम्यान्नावस्थितिवैशेष्यं शक्यमाक्षेप्तुम्। ननु चन्दनस्य सावयवद्रव्यत्वात् तदीय-

सूक्ष्मावयवविसर्पणेन संभाव्यते कृत्स्ने शरीरे गन्धोपलब्धिः । इह त्वणोरस्यात्मनो निरवयवद्रव्यतया तदवयवविसर्पणं नोपपद्यते । इत्यवस्थितिवैशेष्यं स्याद् इति चेत् - अस्तु तर्हि गुणाद्वा लोकवत् । अणोरस्य जीवात्मनोऽयं चैतन्यगुणः परितः प्रसर्पन्नालोमभ्य आनखाग्रेभ्यः कृत्स्ने शरीरे विभवतीति वक्ष्यामः । ननु नैतदपि शक्यं विज्ञातुम् । गुणानां गुणिद्रव्यव्यतिरेकेणानवस्थानात् । न हि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्रानुभूयते इति चेत् कश्चिद् ब्रूयात् – तं प्रति ब्रूमः । संभवति व्यतिरेको गन्धवदिति । गन्धद्रव्यव्यतिरेकेणापि दूरस्थघ्राणेन्द्रिये गन्धवृत्तिवदस्याणोर्जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति । यत्तु गुणस्य सतो गन्धस्यापि सहैवाश्रयेण विश्लेष एति कश्चित् प्रतीयात तदसत्;, तथासति गुणवतो मूलद्रव्यस्याचिरेण क्षयप्रसङ्गात् । दृश्यते तु तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोर्गुरुत्वादिसाम्योपलब्ध्याऽनपक्षीणत्वम् । यत्तु केचिद् ब्रुवते । अवश्यमिदं गन्धद्रव्यं वायुस्थं गन्धापसरणेन क्षीयते । विश्लिष्टानां त्ववयवानामत्यल्पतया सन्नपि विश्लेषो नोपलक्ष्यते । सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता नासिकापुटमनुप्रविशन्तो गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति—इति तत्तुच्छम् । परमाणूनामतीन्द्रियत्वेऽपि स्फुटगन्धोपलब्धेः । तस्माद् गुणवद्द्रव्यव्यतिरेकेण यथा विशुद्धगन्धस्यैवेयं परितोऽभिव्याप्तिः—एवमणोरेवास्य जीवस्यायं चैतन्यगुणः कृत्स्ने शरीरेऽभिव्याप्नोतीति संभवतीति । तथा च दर्शयति शास्त्रं हृदयायतनस्याणुपरिमाणस्यात्मनश्चैतन्येन गुणेन सर्वशरीराभिपर्याप्तत्वम् ।

सन्देह उपस्थित होता है कि यदि जीव का अणु परिमाण है तो शरीर के एक अंश में उसके सस्थित रहने पर पूरे शरीर में जो उसकी उपलब्धि हो रही है उसका विरोध होता है । हम अनुभव करते हैं कि शरीर में केश से नाखून तक पूरे शरीर में व्याप्त इस चेतना की उपलब्धि हो रही है । तो इस पर उत्तर में कहना यह है कि इसमें चन्दन के दृष्टान्त से अविरोध समझना होगा । जैसे सुगन्ध से भरे चन्दन का एक बिन्दु शरीर के एक अंश में स्थित होकर भी पूरे शरीर में व्याप्त होने वाले आनन्द का जनक होता है वैसे ही यह आत्मा भी शरीर के एक अंश में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने वाली उपलब्धि को प्राप्त करेगा । और जैसे यह गन्ध अणु रूप में संस्थित होता हुआ ही चन्दन के सर्वाङ्ग में व्याप्त हो कर रहता है वैसे ही यह अणु रूप जीवात्मा भी शरीर के सारे अङ्गों में व्याप्त होकर रहता है । अतः कोई विरोध नहीं आता ।

प्रश्न होता है कि चन्दन की तरँह इस आत्मा को नहीं समझा जा सकता, क्योंकि दोनों की अवस्थिति में भेद है । इस आत्मा की अवस्थिति को हम चन्दन की तरँह शरीर के एक अंश में नहीं पाते । इसलिए चन्दन की अपेक्षा इस आत्मा की अवस्थिति में भेद की उपलब्धि के कारण आत्मा के अणु परिमाण के लिए चन्दन का दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता तो यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा स्वीकार किया गया है । चन्दन की ही तरँह आत्मा की भी शरीर के एक अंश में स्थिति को स्वीकार किया गया है और श्रुति के द्वारा वह स्थान हृदय बतलाया गया है—

—"हृदय में वह आत्मा है"—

—"वह आत्मा हृदय में है"—

—"यह आत्मा कौन है, यह जो प्राणों में विज्ञानमय है, हृदय में अन्तर ज्योति पुरुष है"— इत्यादि।

इस प्रकार एक अंश में स्थित चन्दन बिन्दु के गन्ध की समस्त शरीर में ज्ञान के कारण उपलब्धि होती है। यह साम्य दोनों में है। अतः अवस्थिति के वैषम्य का आक्षेप नहीं किया जा सकता। पुनः प्रश्न किया जाता है कि चन्दन तो अवयव वाला द्रव्य है, उसके सूक्ष्म अवयवों का विसर्पण (फैलाव) होने से समस्त शरीर में उसकी उपलब्धि होना सम्भव है। परन्तु यहां अणु आत्मा तो निरवयव द्रव्य है, अतः उसके अवयवों के विसर्पण की बात नहीं बनती। तब वही अवस्थिति की विषमता चन्दन के दृष्टान्त में बनी रही।

उसका उत्तर है कि (चन्दन के समान सही) लोक में गुण के समान इसे माना जायगा। इस अणु आत्मा का चैतन्य गुण चारों ओर फैलता हुआ नखून से केश तक व्याप्त होता है, फिर कहा जाता है कि यह भी मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि गुणों की स्थिति गुणी द्रव्य को छोड़कर नहीं रहती। वस्त्र का गुण उसकी सफेदी वस्त्र को छोड़कर अन्यत्र अनुभव में नहीं आता तो इस प्रश्न पर कहना यह है कि यह गुणी द्रव्य से गुण का व्यतिरेक गन्ध के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। गन्धवान् द्रव्य को छोड़कर दूर से भी गन्ध जैसे घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गृहीत हो जाता है वैसे ही इस अणु जीवात्मा का भी इसके चैतन्य गुण से व्यतिरेक हो सकेगा। यदि कोई कहे कि गुण हुए होते भी गन्ध का अपने आश्रय भूत द्रव्य से विश्लेषण या पृथक्करण हो गया है तो यह कथन ठीक नहीं। ऐसा मानने पर तो गुणवाले मूल द्रव्य का तत्काल क्षय हो जाना चाहिए। देखा तो यही जाता है कि गन्ध वाले द्रव्य का गन्ध उसको छोड़कर फैल रहा है और उस द्रव्य के वजन में कोई कमी नहीं आ रही है। यहां कुछ लोग जो यह कह रहे हैं कि अवश्य ही यह गन्ध वाला द्रव्य वायुस्थ गन्ध के अपसारण करने से क्षीण होता है, जो अवयव उस द्रव्य के वायु द्वारा बाहर ले जाये गए हैं, वे अत्यन्त अल्प होने के कारण अवयवों के पृथक् होने पर भी वे उपलक्षित नहीं होते। गन्ध के परमाणु सूक्ष्म होते हैं वे चारों ओर फैलते हैं, वे नासिका के पुट में प्रवेश करके सुगन्ध की बुद्धि उत्पन्न करते हैं, तो यह आक्षेप तुच्छ है। क्योंकि परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने पर भी गन्ध की तो स्पष्ट उपलब्धि होती है। इसलिए गुणवान् द्रव्य से अलग होकर जैसे विशुद्ध गन्ध की ही जैसे चारों ओर अभिव्याप्ति होती है। इस प्रकार अणु इस जीवात्मा का यह चैतन्य गुण समस्त शरीर में अभिव्याप्त होता है। यही संभव है। शास्त्र ने भी हृदय को आयतन बनाने वाले अणु परिमाण वाले आत्मा का चैतन्य गुण के साथ योग होने पर समस्त शरीर में व्याप्त होना बतलाया है।

--"आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः"--

इति। तत्र यथा गन्धद्रव्यपरमाणुर्मूलस्थानादन्यत्रान्यत्राभिप्रसरंस्तत्र तत्र स्वं

गुणमनुभावयति एवमेवायमात्मा हृदयस्थानाद्रश्मिद्वाराऽभिप्रसरन् करचरणादिषु तत्र तत्रेदं चैतन्यमनुभावयति। तत्रावश्यमंशवत् प्रचरतोऽस्यात्मनोऽयं प्रज्ञागुणः सहात्मना विभवन् प्रत्यासीदतीति प्रतिपद्यामहे।

—"पृथगुपदेशात्"—

—"प्रज्ञया शरीरं समारुह्य"—

(कौ० ३।६) इत्येवं कौषीतकीयादौ चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापित्वं पृथक्त्वेनोपदिश्यते।

--"तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय"--

इति चास्य शरीरात् पृथग् विज्ञानोपदेशः। तस्मात् सिद्धमणुपरिमाणोऽयं जीवात्मेति।

इत्थं जीवस्याणुत्वमेके व्यवस्थापयन्ति। तत्र ब्रूमः। नेत्थं जीवस्याणुत्वं शक्यं कल्पयितुम्। यद्ययं जीवः कश्चिदपूर्वोऽर्थ उत्पद्येत स तर्हि कदाचिदणुत्वेनापि शक्येताध्यवसातुम्। वस्तुतस्तु नायमुत्पद्यते जीवो नाम कश्चिदपूर्वोऽर्थः। किन्तु

-"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति"-श्रुत्या परस्यैव ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात् तदात्मोपदेशाच्च तत्परब्रह्मैव कस्यांचिदवस्थायां जीव उच्यते इत्युक्तम्। तथा चैतत्परब्रह्मणो विभुत्वसिद्धान्तात् तदभिन्नस्यैतस्य जीवस्यापि चैतद्विभुत्वमेव निष्कृष्यते अतः—

—"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु।"

इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादाः संगच्छन्ते। न खलु हृदयमात्रस्थस्य जीवस्याणोर्गुणो गुणिव्यतिरेकेण सर्वां शरीरयष्टिमभिव्याप्तुं शक्नोति। गुणस्य गुणिदेशत्वात्। अनाश्रित्य तु गुणिनं गुणत्वमेवैतस्य गुणस्य हीयेत। प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम्। गन्धोपि गुणत्वाभ्युपगमात् साश्रय एव सञ्चरितुमर्हति। अन्यथा गन्धस्य गुणत्वहानिप्रसङ्गात् तथा चोक्तं भगवता द्वैपायनेन—

"उपलभ्याप्सु चेद् गन्धं केचित् ब्रूयुरनैपुणाः।

पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्॥" इति॥

—"केशों से लेकर नख पर्यन्त"—

वहां जैसे गन्ध द्रव्य का परमाणु मूल स्थान से अन्यत्र अन्यत्र घूमता हुआ वहां वहां अपने गुण का अनुभव कराता है, इसी प्रकार यह आत्मा अन्यत्र प्रसार पाता हुआ कर चरणादि सर्वत्र अङ्गोपांगों में इस चैतन्य का अनुभव करता है। वहां अवश्य ही

अंशों के रूप में घूमते हुए इस आत्मा का यह प्रज्ञा गुण आत्मा के साथ घूमता हुआ समीपस्थ रहता है ऐसा हम मानते हैं ।

– "पृथक् रूप वेश के कारण"—

— 'प्रज्ञा से शरीर पर आरोहण करके"—

उपदिष्ट इस प्रकार कौषीत की उपनिषद में चैतन्य गुण के द्वारा ही इसका शरीर में व्यापन पृथक् रूप से किया जाता है।

—"वह इन प्राणों के विज्ञान से विज्ञान ले कर"—

इस प्रकार इसको शरीर से पृथक् विज्ञान का उपदेश हुआ है । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि यह जीवात्मा अणु परिमाण वाला है।

इस प्रकार कुछ लोग जीव को अणु परिमाण का व्यवस्थापित करते हैं । इस पर हमें कहना है कि इस प्रकार जीव के अणु परिमाण की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि यह जीव किसी अपूर्व अर्थ के रूप में उत्पन्न होता तब तो कदाचित इसे अणु भी समझा जा सकता था । वास्तव में तो जीव नाम का अपूर्व अर्थ तो उत्पन्न होता नहीं है। किन्तु—

—"उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रविष्ट हो गया"—

इस श्रुति के द्वारा परब्रह्म का ही प्रवेश सुना जा रहा है और उसी आत्मा का उपदेश होने के कारण वही परब्रह्म किसी अवस्था में जीव कहा जाता है ऐसा बतलाया गया । पुनश्च इस पर ब्रह्म के विभुत्व सिद्धान्त से उससे अभिन्न इस जीव का भी विभु परिमाण ही है यही निष्कर्ष निकलता है। इसलिए—

—"वह यह महान् अज आत्मा है, जो प्राणों में विज्ञानमय है"—

इस प्रकार के जीव के विषय में विभुत्व के वाद संगत होते हैं । हृदय मात्र में स्थित अणु जीव का गुण गुणीको छोड़कर सारे शरीर में अभिव्याप्त नहीं हो सकता । क्योंकि गुण अपने आश्रयभूत द्रव्य के देश में स्थिर रहता है । यदि यह गुण अपने गुणी द्रव्य का आश्रय लेकर उसका आधार बना कर न रहे तब तो इसका गुण होना ही असिद्ध हो जाय । प्रदीप की प्रभा का जो दृष्टान्त इसके विरोध के लिए दिया जाता है तो उसके उत्तर में तो प्रदीप की प्रभा को पृथक् द्रव्य ही सिद्ध किया गया है । गन्ध भी गुण होने के कारण अपने आश्रय में ही संचरित हो सकता है । अन्यथा गन्ध को गुण नहीं कहा जा सकेगा । भगवान् द्वैपायन का इस सन्दर्भ में कथन है कि—

—"जल में यदि गन्ध प्राप्त करके कुछ अनिपुण लोग यदि जल को गन्धवान्

कहने लगें, तो यह उनकी नासमझी है। गन्ध को तो पृथिवी का गुण ही मानना चाहिए, वह जल या वायु में तो संश्रित मात्र होता है।"—

यत्तु गन्धविप्रसारे गन्धाश्रयस्यापि मूलद्रव्याद्विश्लेषश्चेद् गुणवतो मूलद्रव्यस्य तर्हि केनचित् कालेन क्षयः प्रसज्येतेति केचिदाक्षिपन्ति तदप्यवैज्ञान्यम्। गन्धापसरणद्वारा गन्धद्रव्याणामपक्षयस्यावश्योपलब्धेः। मूलद्रव्यतो विश्लिष्टानामेव चाणूनां सर्वतः प्रसारेण गन्धोपलब्धेरुपपन्नत्वात्। तथा चेदं जीवस्य चैतन्यं यदि कृत्स्नं शरीरमभिव्याप्नोति न स तर्हि जीवोऽणुः संभवति। औष्ण्यप्रकाशयोरग्निस्वरूपधर्मत्ववच्चैतन्यस्यैव जीवस्वरूपधर्मतया गुणगुणिनोरविभागेनावस्थानाच्चैतन्यवति शरीरे कार्त्स्न्येन जीवाभिव्याप्तेरभ्युपगन्तुमौचित्यात्। ननु यद्येवं विभुर्जीव इत्यभ्युपगम्यते कथं तर्हि तदणुत्वतदुत्क्रान्त्यादिव्यपदेश इति चेत् तत्र ब्रूमः।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश इति।

अयं भावः।

—"स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः, पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति" इति वाजिश्रुतेः—

—"मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्। आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"—

इति छान्दोग्यश्रुतेश्च।

शरीरमभिसंभवतो जीवस्य भवति पाप्मना गुणेनाभिसम्बन्ध इति कृत्वा तस्य जीवस्य ये गुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादयः तत्प्राधान्यात्तु बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वं भजतोऽस्य नित्यमुक्तस्यासंसारिणोऽकर्तुरभोक्तुरात्मनः संभवत्ययमणुव्यपदेशः तदुत्क्रान्त्यादिव्यपदेशश्च, न स्वतः।

—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।"—

इत्यणुत्वं जीवस्योपदिश्य तस्यैव पुनरानन्त्यविधानात् औपचारिकाणुत्ववतः पारमार्थिकानन्त्याभ्युपपत्तावेवैतद्विरुद्धोपदेशसामञ्जस्यं संभवति। न चेदमानन्त्यमेवौपचारिकं शक्यते विज्ञातुम्। सर्वोपनिषत्सु जीवे ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपन्नत्वात्।

—"आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः" —

इत्येतदपि बुद्धिगुणसंबन्धेनैव शिष्यते।

—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य"—

इत्येतदणुपरिमाणत्वमप्यस्योपाध्यभिप्रायं दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायं वा द्रष्टव्यम् ।

यह जो आक्षेप है कि गन्ध के फैलने पर गन्ध के आश्रयभूत मूल द्रव्य से उसका यदि विश्लेषण होता है तो गुणवान् मूल द्रव्य का कुछ काल में क्षय हो जायगा तो यह आक्षेप बिना जानकारी के कारण किया गया है । गन्ध के अपसारण के द्वारा गन्ध युक्त द्रव्य के अपक्षय की तो अवश्य ही उपलब्धि होना युक्ति युक्त है । इस प्रकार यदि यह जीव का चैतन्य समस्त शरीर में फैलता है तो इससे वह जीव अणु नहीं हो जाता । उष्णता और प्रकाश के अग्नि के स्वरूप धर्म की तरँह चैतन्य का भी जीव स्वरूप कर्म होने से गुण और गुणी के अविभाग से संस्थित होने के नियम के कारण चेतनावान् शरीर में पूर्णतया जीव की अभिव्याप्ति स्वीकार करना उचित है । प्रश्न होता है कि यदि जीव विभु है तो उसका अणुत्व और उसको उत्क्रान्ति कैसे सम्भव है उसके उत्तर में हमें कहना है—

—"उसके गुण के सार ग्रहण के कारण उसका कथन होता है"—

भाव यह है कि—

—"वह यह पुरुष शरीर को प्राप्त करता हुआ पापों के संसर्ग में आता है, वह उत्क्रमण करता हुआ, मृत्यु को प्राप्त करता हुआ पापों को छोड़ता है"—

इस वाजि श्रुति से तथा

—"यह मर्त्य शरीर मृत्यु को प्राप्त है (मरण धर्म है), वह इस अमृत आत्मा का अधिष्ठान है । शरीर प्रिय और अप्रिय से युक्त है, यही इसका संप्रसाद है कि इस शरीर से उठकर परम ज्योति में उपसम्पन्न होकर अपने रूप में अभिनिष्पन्न होता है ।"—

इस छन्दोग्य श्रुति से ज्ञात होता है कि शरीर में संभूत जीव का पाप से सम्बन्ध होता है । अतः इस जोव के जो गुण हैं बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि हैं उनकी प्रधानतावश बुद्धि की उपाधि के धर्मों के अध्यास के निमित्त से कर्तृत्य, भोक्तृत्व आदि स्वरूप वाले संसारित्व को प्राप्त हुए जीव का, जो स्वयं नित्ययुक्त, असंसारी, अकर्त्ता, अभोक्ता है, उसको अणु कहा जाता है, उसको उत्क्रान्ति वाला कहा जाता है, ये सब बातें शरीर के कारण उसमें कही जाती हैं, स्वतः नहीं ।

—"केश के आगे का जो शत भाग (सौ वां अंश) है, उसको भी जब सौ भागों में बांटा जाय तब जो भाग बनता है वह जीव है, और वह अनन्त में कल्पित होता है"—

इस प्रकार जीव की अणुता का उपदेश देकर उसी को अनन्त बतलाकर गौण रूप से उसमें अणुत्व कहना और परमार्थिक रूप से अनन्त मानने पर ही इन विरुद्ध धर्मों में

समञ्जसता सम्भव होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि जीव की यह अनन्तता ही गौण है क्योंकि सभी उपनिषदों में जीव में ब्रह्मात्मभाव का प्रतिपादन हुआ है—

"अवर भी (जीव भी) आराग्र मात्र दिखाई देता है"—

यह बात भी बुद्धि गुण के सम्बन्ध से ही कही गई है।

—"यह अणु आत्मा चित्त से ज्ञातव्य है"—

यहां अणु परिमाण जो आत्मा का बतलाया गया है वह भी उपाधि के अभिप्राय से या दुर्ज्ञेय है यह प्रकट करने के अभिप्राय से है। यह समझ लेना चाहिए।

"प्रज्ञया शरीरं समारुह्येत्यादिष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया शरीरसमारोहणमस्य जीवस्य प्रतिपत्तव्यम्। हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात्। अथैतस्योत्क्रान्त्यादयोऽपि धर्माः प्राणोपाधिनिमित्ता एवोच्यन्ते।

—"कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत"—

इति श्रवणात्। उत्क्रान्त्यभावादेव चैतस्य गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते। न हि विभोरनपसृप्तस्य देहाद् गत्यागती संभवतः।

एष चौपाधिकधर्माध्यासो जीवे प्राज्ञवद् द्रष्टव्यः। प्रज्ञा प्राणाः प्राज्ञ आत्मा। स खलु प्रज्ञया वाचं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं जिह्वां हस्तौ शरीरमुपस्थं पादौ धियं च समारुह्य तास्ता नामगन्धरूपाद्या भूतमात्रा आप्नोति। न हि प्रज्ञामात्रापेतास्तास्ताः प्राणमात्रा इमा भूतमात्रा प्रज्ञापयेरन्। तेनायं प्राज्ञ एवात्मा वक्ता घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता कर्ता भोक्ता रमयिता गन्ता मन्ता भवति न त्वेते दश प्राणाः--इति विद्यात्। ता एता दशभूतमात्रा अधिप्रज्ञं दशप्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यदि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः। यदि वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः। ता एता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः। प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः—

—"स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। एष सर्वेश्वरः स मे आत्मेति विद्याद्"—

—इति कौषीतकश्रुतौ श्रूयते। तत्र तथा मात्रात्रयोपाधिसंबंधनिमित्तमस्य चिदात्मनः प्राज्ञस्य वक्तृत्वादिकमुपपद्यते एवमस्य जीवस्य मनोबुद्धिगुणसारत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणसंसारित्वव्यपदेशो द्रष्टव्यः।

इह खलु शङ्करः प्राज्ञशब्देनेश्वरं प्रतिपद्य सर्वत्रेश्वरपरत्वेन व्याचष्टे तदेतदुपेक्ष्यम्। प्राज्ञशब्दस्येश्वरपरतया वेदे कुत्राप्यश्रूयमाणत्वात्। वस्तुतस्तु स्वयंभूः परमेष्ठी

सूर्यः पृथ्वी चन्द्र इत्येते पञ्चाधियज्ञाः प्रतिमाप्रजापतयो यथेश्वरेण परमप्रजापतिनाधिष्ठिता ईश्वरपुरुषसम्बन्धिप्रकृतिगतान्तरात्मत्वेनेष्यन्ते तथा - अव्यक्तं महान् क्षेत्रज्ञः प्राज्ञः शरीरमित्येते पञ्चाधियज्ञाः प्रतिमाप्रजापतयो जीवेन परमप्रजापतिनाधिष्ठिता जीवपुरुषसम्बन्धिप्रकृतिगतान्तरात्मत्वेनेष्यन्ते । जीवश्चायमीश्वरांश इत्यन्यत् ।

"प्रज्ञा से शरीर पर आरोहण करके"

आदि वाक्यों में जो भेद का उपदेश है वह भी उपाधिभूता बुद्धि के द्वारा इस जीव का शरीर पर समारोहण समझना चाहिए । जो हृदय को जीवात्म का आयतन बतलाया गया है वह भी बुद्धि के लिए ही है क्योंकि बुद्धि का आयतन हृदय ही है । उसके जो उत्क्रान्ति आदि धर्म हैं प्राण की उपाधि के निमित्त से हैं—

—"किसके उत्क्रमण से मैं उत्क्रान्त हो जाऊंगा, तथा किसके प्रतिष्ठित होने पर मैं प्रतिष्ठित रहूंगा यह सोच कर उसने प्राण का सृजन किया"—

ऐसा सुना गया है । उत्क्रान्त के अभाव के कारण ही इसमें गति तथा आगति का भी अभाव ज्ञात होता है । जो व्यापक है, जो अपसर्पण नहीं करता उसकी देह से गति और आगति नहीं सम्भव है ।

जीव में उपाधि के धर्म का यह अध्यास प्राज्ञ की तरँह समझना चाहिए । प्रज्ञा अर्थात प्राण, प्राज्ञ अर्थात आत्मा । वह प्रज्ञा के द्वारा वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, हाथ, शरीर, उपस्थ, पैर तथा बुद्धि पर आरोहण करके उन बायु गन्ध, रूप आदि भूत मात्राओं को प्राप्त करता है, प्रज्ञा से दूर होकर वे प्राण मात्राएं इन भूत मात्राओं का ज्ञापन नहीं कर सकतीं, अतः यह समझ लेना होगा कि यह प्राज्ञ आत्मा ही वक्ता, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रस ग्रहणकर्त्ता, कर्त्ता, भोक्ता, रमयिता, गन्ता, मन्ता होता है, ये दस प्राण नहीं । ये दस भूत मात्राएं प्रज्ञा में हैं और दस प्रज्ञा मात्राएं भूत में हैं । यदि भूत मात्राएं नहीं होंगी तो प्रज्ञा मात्राएं नहीं होंगी । और यदि प्रज्ञा मात्राएं नहीं होंगी तो भूत मात्राएं भी न होंगी, ये भूत मात्राएं प्रज्ञा मात्राओं में अर्पित होती हैं । प्रज्ञा मात्राएं प्राणों में अर्पित होती हैं ।

—"वह प्राण ही प्रज्ञात्मा होता हुआ आनन्द अजर और अमृत है । वही सर्वेश्वर है, वह मेरा आत्मा है, ऐसा जाने"—

ऐसा कौषीतकी श्रुति में सुना जाता है । वहां जैसे तीन मात्राओं के सम्बन्ध के निमित्त से इस चिदात्मा प्राज्ञ का वक्तृत्व आदि निष्पन्न होता है, उसी प्रकार इस जीव के मन बुद्धि. गुण का सार होने के कारण कर्तृत्य, भोक्तृत्व आदि संसारी रूप से कथन और व्यवहार देखना समझना चाहिए ।

यहां श्री शंकराचार्य प्राज्ञ शब्द से सर्वत्र ईश्वर का ग्रहण करके सर्वत्र ईश्वर परक

व्याख्या कर रहे हैं, वह उपेक्षणीय है। क्योंकि वेद में कहीं भी प्राज्ञ शब्द का प्रयोग ईश्वर के लिए नहीं हुआ है। वस्तु स्थिति तो यह है कि स्वयंभू परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र, ये पांच अधियज्ञ प्रतिमा वाले प्रजापति जैसे परम प्रजापति ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित होकर ईश्वर और पुरुष के सम्बन्ध के प्रकृतिगत अन्तरात्मा के रूप में अभीष्ट हैं वैसे ही अव्यक्त, महान्, क्षेत्रज्ञ, प्राज्ञ तथा शरीर ये पांच अधियज्ञ में प्रतिमा प्रजापति अपने परम प्रजापति जीव के द्वारा अधिष्ठित होकर जीव तथा पुरुष की प्रकृति में प्रविष्ट अन्तरात्मा के रूप में अभीष्ट हैं। यह जीव ईश्वर का अंश है, यह बात तो स्पष्ट ही है।

अथ जीवस्य बुद्धियोगविमर्श:

ननु ईश्वरेणाभेदादेकत्वेन प्रतिपन्नस्य सर्वंजगद्व्यापिनोऽस्य जीवस्य बुद्धियोगाद् बुद्धिगुणसंबन्धवशादौपाधिकमणुपरिमाणत्वमाख्यायते चेत्तर्हि "संयोगा विप्रयोगान्ता" इति न्यायात् संयुक्तयोरनयोर्बुद्धयात्मनोरवश्यंभाविनि वियोगे तदणुत्वं नोपपद्यतेति स दोषस्तत्र प्राप्नोति इति चेत् तत्र ब्रूमः

—"यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्"

इति यावदस्य जीवात्मनः संसारित्वं सम्यगदर्शनादिना न निवर्तते यावदेव चैतस्मिन् बुद्ध्युपाधिसंम्बन्धस्तावदेवास्य जीवस्यायं जीवभावश्चोपपद्यते। बुद्धिसम्बन्धोपाधिविगमे पि स आत्मा नेश्वराद् व्यतिरिच्यते। तथा चैतस्यात्मनो यावद् बुद्धिवत्वं तावदवश्यंभावी बुद्धियोग इत्यदोषः। तच्चैतस्मिन् जीवे बुद्धियोगित्वं दर्शनादवगम्यते। तथा हि दर्शयति विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमय इति। अपि च योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीवेति। एतेन लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्धयादेर्दर्शयति।

जीव का बुद्धियोग विचार

प्रश्न होता है कि ईश्वर से अज्ञेय होने के कारण एकत्व को प्राप्त समस्त जगत में व्याप्त होने वाले इस जीव का बुद्धियोग से बुद्धिगुण सम्बन्ध के कारण उपाधिवत् अणु परिमाण यदि कहा जाता "जितने संयोग हैं वो विप्रयोगान्त अर्थात् अन्त में वियोग में बदलते हैं" इस न्याय से इन बुद्धि और आत्मा के संयुक्त रूप का भी वियोग अवश्यम्भावी है, तब वह अणुत्व उपपन्न नहीं हागा। यह दोष यहां प्राप्त होता है, इस प्रश्न पर उत्तर यह है कि

—"जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध है तब तक यह स्थिति है ऐसा मानने पर दोष नहीं होता, यही देखा जाता है"—

इस प्रकार जब तक इस जीवात्मा का सांसारिक भाव सम्यक् दर्शन आदि से निवत्त नहीं होता और जब तक इस आत्म में बुद्धि की उपाधि से सम्बन्ध बना हुआ है

तभी तक इसका जीव भाव है। बुद्धि सम्बन्ध की उपाधि के हट जाने पर वह आत्मा ईश्वर से भिन्न नहीं रह जाता।

तथा च जब तक यह आत्मा बुद्धि से युक्त है तब तक इसका बुद्धि के साथ योग अवश्यम्भावी है। ऐसा मानने पर दोष समाप्त हो जाता है। इस जीव में बुद्धि का यह योग दर्शन से अनुगत हो रहा है। इस बात को दिखाया जा रहा है कि

—"यह विज्ञानमय है मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुर्मय है, श्रोत्रमय है"—

पुनश्च"—जो यह विज्ञानमय प्राणमय है हृदय में अन्तर्ज्योति पुरुष है वह समान होता हुआ दोनों रूपों में ध्यान करता हुआ सा, लीला करता हुआ सा संचरण करता है" इससे लोकान्तर गमन में भी बुद्धि के साथ इसका वियोग नहीं है यह दिखाया जा रहा है।

ननु सुषुप्तप्रलययोरेष बुद्धिसम्बन्धो नावकल्पते। सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवतीति प्रतिज्ञानादिति चेन्न।

—"पुंस्त्वादिवत् तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्।"

सुषुप्ते प्रलये वात्मसत्तया विद्यमान एवायं बुद्धिसंबन्धः प्रबोधे प्रसवे वा पुनराविर्भवति। दर्शयति हि तदविद्यात्मकबीजसद्भावकारितमेतत्सुषुप्तादुत्थानं—

"सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे" इति।

अवश्यं चैतदेवं मनोबुद्ध्याद्यन्तःकरणमस्मिन्नात्मनि यावदात्मभावितयाऽध्यवसातव्यम्।

—"नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा।"—

यदि मनोबुद्ध्यादिसहकारित्वमात्मनित्यं न स्यात् तर्हि विषयोपलब्धिसाधनानामात्मेन्द्रियविषयाणां संनिधाने नित्यमेवोपलब्धिः स्यात्। अथैषामुपलब्धिहेतुत्वानभ्युपगमे वा नित्यमेवानुपलब्धिः स्यात्। अथवाऽन्यन्तरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धो वक्तव्यः स्यात्। स च नोपपद्यते आत्मनस्तावदविक्रियत्वात्। इन्द्रियाणामाकस्मिकशक्तिप्रतिबन्धानवक्लृप्तेश्च। तस्मादवश्यमुपलब्ध्यनुपलब्धितारतम्यसाधनत्वेनेदं मनोऽभ्युपगन्तव्यम्। तथा च श्रूयते मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। अन्यत्र मना अभूवं नादर्शं नाश्रौषमिति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति।

प्रश्न होता है कि सुषुप्त और प्रलय में भी इसका बुद्धि के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

—"हे सौम्य, यह कब सत् से सम्पन्न होता है स्वयं प्रलय में नहीं जाता"—

ऐसी प्रतिज्ञा के कारण सुषुप्ति और प्रलय में इसका सम्बन्ध नहीं है यह यदि माना जाय तो ऐसा नहीं है"—

पुंस्त्व आदि के समान उसका सत् होकर अभिव्यक्ति का योग होने के कारण सुषुप्ति और प्रलय में आत्मा की सत्ता से विद्यमान रहता हुआ ही यह बुद्धि का सम्बन्ध प्रलय और उत्पत्ति में पुनः आविर्भूत होता है। अविद्यात्मक बीज की सत्ता को बनाने के लिए सुषुप्ति से इसका उत्थान वेद में दिखाया गया है,—

—"सम्पन्न होकर हम नहीं जानते कि हम सम्पन्न हो रहे हैं"—

अवश्य ही इस प्रकार मन बुद्धि अन्तःकरण को रस आत्मा में आत्मा के सम्बन्ध रहने तक मानना होगा। यदि ऐसा न हो तो "नित्य उपलब्धि अथवा नित्य अनुपलब्धि का प्रसंग आ जाएगा। यदि मन, बुद्धि आदि के सहकार से आत्मा की नित्यता न हो तो विषयोपलब्धि के साधन आत्मा इन्द्रिय और विषयों के समीप रहने से, इसकी नित्य ही उपलब्धि होगी और यदि इन उपलब्धि के हेतुओं को स्वीकार न किया जाये तो इसकी सर्वदा अनुपलब्धि ही रहेगी। अथवा आत्मा या इन्द्रिय की शक्ति का प्रतिबन्ध मानना होगा और वह प्रतिबन्ध सिद्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा में कोई विकार नहीं आता और इन्द्रियों में अकस्मात् शक्ति का प्रतिबन्ध हो जाना अकल्पित है। इसलिए अवश्य ही उपलब्धि और अनुपलब्धि के तारतम्य के साधन के रूप में इस मन को स्वीकार करना होगा। इसी के सन्दर्भ में सुना जाता है कि,

—'मन से ही देखता है मन से ही सुनता है मेरा मन अन्यत्र था इसलिए हमने न देखा, न सुना। काम, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही है"—

नन्वयं जीवः स्वकर्मकरणे स्वतन्त्रः कर्त्ताभ्युपेयते आहोस्वित् पारतन्त्र्येण कर्माणि कुर्वाणस्तेषां फलमपीष्टमनिष्टं वा पारतन्त्र्येणैवायं भुंक्ते इति जिज्ञासायां जीवः स्वकर्मकरणे स्वतन्त्रः कर्त्ता वक्तव्यो भोक्तृत्वात्। न ह्यन्यः कर्त्ता स्यादन्यो भोक्तेति संभवति—इति मीमांसका आहुः। अथ भोक्तैवायं जीवो न कर्त्ता। विद्यात्मकस्य तस्य प्रकाशमात्रत्वेनाक्रियत्वात्। अक्रियत्वेपि भोक्तृत्वं नापोद्यते ज्ञानघने तस्मिन् प्रकाशमये सुखदुःखसाक्षात्काररूपस्य भोगस्यानिवार्यत्वादिति सांख्या आहुः। अपि चाचक्षते—यद्ययं जीवः स्वतन्त्रः कर्ता स्याद्—इष्टमेव तर्हि सर्वं कुर्यान्नानिष्टम्। दृश्यते त्वयमनिष्टफलोपयिकान्यपि कर्माणि कुर्वाणः। तस्मात् कर्मण्यस्वतन्त्रत्वादयमकर्तास्तीति सांख्यानां सिद्धान्तः। तथा चैवं विप्रतिपत्तौ निर्णयः क्रियते—

कर्ता शास्त्रार्थवत्वाद्।

कर्ता शास्त्रार्थवत्वाद्२।३।३३
विहारोपदेशाद् २।३।३४
उपादानात् २।३।३५
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्यय २।३।३६
उपलब्धिवदनियमः २।३।३७
शक्तिविपर्ययात् २।३।३८
समाध्यभावाच्चेति २।३।३९

जीवः कर्ताऽभ्युपगन्तव्यः । यजेत, जुहुयात् दद्यादित्यादीनां शास्त्राणां सार्थकताया अपेक्षितत्वात् । यदि हि जीवः कर्ता न स्यात् तर्हि जीवं प्रति कर्तव्यत्वेनोपदेशोयमनर्थकः स्यात् ।

—"एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः"—

इति चेदं शास्त्रमनर्थकं प्रसज्येत । अर्थवत्त्वं तु शास्त्राणामवकल्पते । तस्मात् स कर्ता प्रतिपत्तव्यः । विहारश्च सन्ध्ये स्थाने जीवायोपदिश्यते ।

—"स ईयतेऽमृतो यत्र कामात्"—इति ।

यदि जीवः कर्तव्ये स्वतन्त्रो न स्यात् स तर्हि 'स्वे शरीरे यथा कामं परिवर्तते' इत्येवमस्यादिष्टमिदं याथाकाम्यमनवक्लृप्तं स्यात् । अपि चेदं जीवकर्तृ कमर्थोपादानं श्रूयते ।

—"तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय"—इति ।
प्राणान् गृहीत्वेति च ।

स कथमयं करणान्युपादद्याद् यदि कर्ता न स्यात् । अपि च क्रियायामस्य जीवस्य कर्तृत्वं व्यपदिश्यते—

—विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चेति ।

अत्र विज्ञानमिति विज्ञानात्मा जीवो विवक्ष्यते । न चेज्जीवो विवक्षितः स्यात् तर्हि द्वौ दोषौ प्रसज्येयाताम् । प्रथमतस्तावद् विज्ञानमिति कर्तृत्वबोधकस्य प्रथमानिर्देशस्य विपर्ययः कृतः स्यात् । द्विविधो हि विज्ञानपदोपनेयोऽर्थो – जीवात्मा च बुद्धिश्चेति । तयोर्यद्यत्र बुद्धिर्विवक्षिता स्यात् तर्हि करणे तृतीयानिर्देशः कृतः स्यात् प्रथमानिर्देशात्तु जीवस्य कर्तृत्वमवगम्यते ।

प्रश्न है कि यह जीव अपने कर्म के करने में स्वतन्त्र कर्ता स्वीकार किया जाता है अथवा परतन्त्र रूप से कर्मों को करते हुए उनके इष्ट या अनिष्ट फल को भी यह परतन्त्रता से ही भोगता है। इस जिज्ञासा पर जीव अपने कर्मों को स्वतन्त्र रूप से करता है, यह कहना होगा क्योंकि वह कर्म फल का भोक्ता है, यह मीमांसा का

सिद्धान्त है। यह जीव भोक्ता ही है कर्त्ता नहीं, क्योंकि वह विद्यात्मक होने से प्रकाश मात्र है और अक्रिय है। सांख्य दर्शन वाले कहते हैं कि अक्रिय होने पर भी उसका भोक्ता होना बाधित नहीं हैं, क्योंकि उस ज्ञान घन में जो प्रकाशमय है उसे सुख दु:ख का साक्षात्कार रूप भोग अनिवार्य है। पुनश्च ये कहते हैं कि यदि यह जीव स्वतन्त्र रूप से कर्त्ता हो तब वह इष्ट ही सब कुछ करेगा, अनिष्ट नहीं करेगा। परन्तु देखते हैं कि अनिष्ट फल को देने का कार्य भी जीव करता है। इसलिए कर्मों के करने में यह कर्त्ता स्वतन्त्र नहीं हैं। यह सांख्यों का सिद्धान्त है। इस प्रकार विप्रतिपत्ति उत्पन्न होने पर निर्णय यह किया जाता है कि

—"वह कर्त्ता है शास्त्र का अर्थ होने के कारण"— २।३।३३

—"बिहार के उपदेश के कारण"— २।३।३४

—"उपादान के कारण"— २।३।३५

"कथन की क्रिया में यदि न हो तो निर्देश का विपर्यय होने में उपलब्धि के कारण अनियम प्राप्त होता है। २।३।३६-३७

—"शक्ति के वियर्यय के कारण"— २।३।३८

—"समाधि के अभाव के कारण"— २।३।३९

जीव को कर्त्ता स्वीकार करना चाहिए। यज्ञ करे, हवन करे, दान दे, इत्यादि शास्त्रों की सार्थकता के अपेक्षित होने के कारण जीवकर्त्ता न हो तो जीव के प्रति कर्तव्यों के ये उपदेश व्यर्थ हो जायें।

—"यह द्रष्टा, श्रोता, मननकर्त्ता, बोद्धा कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुष है"

इत्यादि शास्त्र वचन व्यर्थ हो जायें। जो शास्त्र वचन हैं वे अर्थवान, हैं यह निश्चय है। अत: जीव को कर्त्ता मानना आवश्यक है। अथवा सन्धि के स्थान में जीव का विहार उपदिष्ट होता है।

— अमृत वह कामना के अनुसार विहरण करता है —

यदि जीव कर्तव्य में स्वतन्त्र न हो तो वह अपने शरीर में कामना के अनुसार परिवतन करता है। इस प्रकार इस जीव के लिए यह जो आदेश है, जो कामना के अनुसार है वह निरर्थक हो जायगा। पुनश्च जीव का किया हुआ अर्थ ग्रहण श्रुति ने बतलाया है—

— वह उन प्राणों के विज्ञान से विज्ञान लेकर —

— प्राणों से लेकर —

वह कैसे इन्द्रियों का ग्रहण करेगा यदि कर्ता न होगा। पुनश्च क्रियामय जीव को कर्ता कहा गया है—

— वह विज्ञान, यज्ञ का विस्तार करता है तथा कर्मों का विस्तार करता है —

यहां विज्ञान शब्द से विज्ञानात्मा जीव अभीष्ट है। यदि यहां जीव अभीष्ट न तो दो प्रकार के दोष आजायंगे। पहिला तो यह कि "विज्ञानम्" यह कर्तव्य बोधक प्रथमा विभक्त्यन्त के कथन में अर्थ में उलट फेर करना होगा। विज्ञान शब्द से उपस्थित होने वाला अर्थ दो प्रकार का है, जीवात्मा तथा बुद्धि। इन दोनों में उपर्युक्त मन्त्रगत विज्ञानम्" शब्द के द्वारा जीव का ग्रहण न कर यदि बुद्धि का ग्रहण किया जाता है तब वहां करण अर्थ में तृतीया विभक्ति का निर्देश करना होगा "विज्ञानेन" ऐसा। जब 'विज्ञानम्' ऐसा प्रथमा निर्देश किया गया है तो उससे जीव का कर्तृत्व अवगत होता है।

अपि चायं द्वितीयो दोषः प्राप्नोति यदेतस्यां श्रुतौ विज्ञानशब्देन यदि बुद्धिर्विवक्षिता स्यान्न चेज्जीवः, तर्हि यथा बुद्धेः समवधाने जीवस्यार्थोपलब्धिर्जायते असमवधाने तु न जायते इति बुद्धिसहकारसापेक्षत्वान्नियमेनोपलब्धिर्नास्ति। एवमेवोपलब्धिवत् क्रियायामपि अनियमः संभाव्येत। बुद्धिसमवधाने सत्येव क्रिया स्याद्, असमवधाने तु न स्यात्। दृश्यते तु क्रिया बुद्धिपूर्वा चाबुद्धिपूर्वा च। तस्माद् विज्ञानमिति जीवात्मा कर्माणि तनुते इत्येवैतस्याः श्रुतेरर्थः साधीयानुपपद्यते। तथा चैष जीवः कर्ता इत्यर्थः सिद्धः।

अपि चेह श्रुतौ विज्ञानशब्देन जीव एवायं विवक्षणीयो न तु बुद्धिः। बुद्धेर्विवक्षायां शक्तिविपर्ययापत्तेः। बुद्धेरस्याः करणत्वशक्तिविपर्ययेण कर्तृत्वशक्तिरुक्ता स्यात्। तथा चैतस्या बुद्धेरेवाहंप्रत्ययविषयत्वं संभाव्येत। अहं गच्छामि, अहं ब्रवीमीत्यादिरूपेणाहंकारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दृष्टत्वात्। तस्मादिह योऽन्यो बुद्धिं करणत्वेन संगृह्य तनुते स जीवः कर्त्तेत्यभ्युपगन्तव्यम्।

समाध्यभावाच्चैवं बुद्धेः कर्तृत्वं नेष्यते।

तथा हि आत्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिश्यते :

—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"—

इत्येवमादिरूपः। सोऽप्यस्या बुद्धेः कर्तृत्वे बुद्धावेव कृतः स्यान्नात्मनि। आत्मनश्चायमिष्यते समाधिः। तस्मादात्मनो जीवस्य कर्तृत्वं वक्तव्यम्। इत्थं चैभिः षड्भिर्हेतुभिर्जीवः कर्तेति सिद्धम्।

और फिर एक यह दूसरा दोष भी आता है कि "विज्ञानम्"इस शब्द का जीव अर्थ न करने में कि यदि इस श्रुति में विज्ञान शब्द से बुद्धि ही विवक्षित है जीव नहीं तब जैसे बुद्धि की समीपता में जीव को अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है, उसकी समीपता न होने

पर जीव को अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, अतः जीव को अर्थ की उपलब्धि में बुद्धि की सहकारिता की अपेक्षा रहेगी तथा जीवात्मा को अर्थ की उपलब्धि नियम से होती है ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अर्थ की उपलब्धि के समान ही क्रिया में भी अनियम की सम्भावना हो जायगी। बुद्धि की समीपता होने पर हो क्रिया होगी। क्रिया तो बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक दोनों ही प्रकार की देखने में आती है। इसलिए "विज्ञानम्" शब्द से जीवात्मा का ही ग्रहण करके यह तात्पर्य समझा जाना उचित है कि जीवात्मा कर्मों का विस्तार करता है यह इस श्रुति का सम्यक् अर्थ सिद्ध होता है। और इस प्रकार यह जीव कर्त्ता है यह अर्थ सिद्ध हुआ।

पुनः जोर देकर कहा जाता है कि उपर्युक्त श्रुतिवचन में अथवा सन्दर्भ में विज्ञान शब्द से जीवात्मा को ही समझा जाना उचित है। यहां 'विज्ञानम्' शब्द का अर्थ बुद्धि किया जायगा तो शब्द की शक्ति के उलट फेर का दोष आयेगा कि करणत्व शक्ति को उलटकर कर्तृत्व शक्ति वहां कही जाने लगेगी। और फिर इस बुद्धि को ही वहां 'अहं' इस ज्ञान का अथवा मैं इस ज्ञान का विषय माना जाने लगेगा, मैं जाता हू मैं बोलता हू इत्यादि से अहंकार पूर्विका प्रवृत्ति को ही सर्वत्र देखा जाता है। इसलिए यहां जो अन्य बुद्धि का साधन बना कर उसका संग्रह करते हुए कर्मों का विस्तार करता है वह जीव कर्त्ता है यह स्वीकार करना चाहिए। समाधि के अभाव में इस प्रकार बुद्धि को कर्त्ता माना जाना अभीष्ट नहीं है।

क्योंकि आत्मज्ञान के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए समाधि का उपदेश दिया जाता है।

—"आत्मा द्रष्टव्य है मन्तव्य है निदिध्यासितव्य है, वह अन्वेषणीय है, वह जिज्ञासा करने योग्य है"—

—"ॐ इस प्रकार आत्मा का ध्यान करके"—इत्यादि रूप से श्रुति में समाधि का उपदेश है। वह भी इस बुद्धि को कर्त्ता मानने पर बुद्धि में ही किया हुआ मानाजाने लगेगा। और यह समाधि बुद्धि का नहीं अपितु आत्मा का ही कर्तव्य बतलाया जाना उचित है, इस प्रकार इन छः हेतुओं से जीव कर्त्ता है यह बात सिद्ध हुई।

—"अपि चेदमन्यदिह द्रष्टव्यम्। उपलब्धिवदित्यादिना सूत्रत्रयेणाऽधिकरणान्तरमपीह पश्यन्ति। तथा हि—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तोऽयं जीवः कर्त्ता स्यात् स तर्हि स्वतन्त्रत्वादात्मनः प्रियं हितमेव चार्थं नियमेन संपादयेन्नतु वा जात्वहितमप्रियं वा इत्याक्षेपे तत्समाधानायोच्यते।

उपलब्धिवदनियमो द्रष्टव्यः।

इति। यथायमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभते एवमयमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति। न चोपलब्धावपि तस्य तत्स्वातन्त्र्यं नास्तीत्या-

क्षेप्यम् । चैतन्ययोगादात्मनः सर्वत्रार्थोपलब्धावनन्यापेक्षत्वात् । अपि च ब्रूमः उपलब्धो यथानुपलब्धिहेतूपादानोपलम्भतारतम्यनिबन्धनोऽयमनियमः प्राप्नोति एवमस्यां जीवकर्तृकायामर्थक्रियायामपि देशकालनिमित्तविशेषापेक्षित्वादिष्टानिष्टायोरनियमः संभवति । न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं व्यावर्तते । पक्तुरेधोदकादिसापेक्षस्य पक्तृत्ववत् सहकारिसापेक्षस्यापि सर्वत्र कर्तृताया लोके दृष्टत्वात् । सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनः संभवति । शक्तिविपर्ययात् । समाध्यभावाच्च ।

अपि च एक दूसरी बात यह भी देखना उचित है कि उपलब्धि करने वाला इत्यादि तीन सूत्रों के प्रकरण को यहां एक नया अधिकरण या विषय देखा गया है, स्पष्ट यह है कि यदि बुद्धि के अतिरिक्त यह जीव कर्त्ता होगा तो वह स्वतन्त्र होकर आत्मा के प्रिय तथा अप्रिय धर्म की भी नियम से चिन्ता करेगा और उसी का सम्पादन करेगा न कि अहित या अप्रिय का भी वह सम्पादन करेगा, यह जो आक्षेप पहले किया गया था उस पर यह समाधान कहा जाता है कि—

उपलब्धिवान् में अनियम देखा जाना चाहिए । जैसे यह आत्मा उपलब्धि के लिए स्वतन्त्र होता हुआ भी अनियम से इष्ट और अनिष्ट को प्राप्त करता है उसी प्रकार अनियम से भी यह इष्ट का सम्पादन और अनिष्ट का सम्पादन करेगा ।

ऐसा नहीं है कि उपलब्धि में भी वह उस स्वतन्त्रता को नहीं प्राप्त करता । चैतन्य के योग से आत्मा की सर्वत्र उपलब्धि होना किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता ।

पुनश्च हम यह कहते हैं कि आत्मा की अर्थों के उपलब्धि के विषय में जैसे अनुपलब्धि के कारणों का ग्रहण होने के तरतम भाव से बन्धन में अनियम प्राप्त होता है उसी प्रकार इस जीव के द्वारा होने वाली या की जाने वाली अर्थ क्रिया में भी देश, काल, निमित्त आदि विशेष बातों की अपेक्षा होने के कारण इष्ट और अनिष्ट का अनियम सम्भव है ।

ऐसा नहीं है कि सहायक की आवश्यकता रखने वाले कर्त्ता का कर्त्तापन हट जाता हो । जैसे भोजन बनाने वाला पाचक अपनी पाचन क्रिया में ईंधन, जल आदि की आवश्यकता रखता है तो भी वह पकाने वाला कहा जाता है । सहकारियों की विचित्रता के कारण इष्ट और अनिष्ट पदार्थों और क्रियाओं में आत्मा की प्रवृत्ति अनियम से होती है यह कहना होगा,

—"शक्ति के विपर्यय के कारण"—तथा—"समाधि के अभाव के कारण"—

अथातः प्रकृतं ब्रूमः । जीवस्येदमुच्यमानं कर्तृत्वं प्रकृत्युपाधिकं द्रष्टव्यं नत्वेतस्य तत् स्वाभाविकं भवति । कर्तृत्वस्यौपाधिकत्वाच्चायं जीवो यथा च तक्षा तथोभयथा प्रतिपत्तव्यः । कर्ता चाकर्ता चेति । तथा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनिय-

तानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति। स्वशरीरेण त्वकर्तैव। एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव बुद्धिमनः प्राणादीनि करणानि कर्त्ता भवति। स्वात्मनात्वकर्तैवेति। यथा हि तक्षा वास्यादिकरणहस्तो व्यापारवान् कर्त्ता भवति। अथ विमुक्तवास्यादिकरणो निर्व्यापारः स्वस्थो भवति। तस्यैतस्य कर्तृत्वमौपाधिकं कार्यकालं नैमित्तिकमुपपद्यते। न त्वस्य तत् स्वाभाविकम्। सर्वदा तद्व्यापारावेशादर्शनात्। एवमयं जीवात्मा प्रकृतिकरणोपेतः प्रकृतिरूपोपाधिवशात् कर्ता भवति सेनायां युध्यमानायां विजयिन्यां चैष राजा युध्यते विजयते इत्यादिव्यवहारवत्। तथा च स्मर्यते।

"प्रकृत्या क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते"। इति

अत एव च सुषुप्तौ संप्रसादावस्थावस्थायां विमुक्तौ च कैवल्यावस्थायामस्य व्यावृत्ताशेषकरणस्य स्वस्थस्याकर्तृत्वं निष्पद्यते। यद्यस्य कर्तृत्वं स्वाभाविकमभविष्यत् तस्य तर्हि कैवल्ये संप्रसादेऽपि कर्तृत्वमनिवृत्तमभविष्यत्। तथा चायं निष्कर्षः सिद्धः। द्विविधोऽयं जीवात्मोपपद्यते - प्रकृतिविशिष्टः पुरुषः प्रजापतिरात्माऽयमेकः। अथैष एव च केवलः पुरुषो विशुद्ध आत्मा यो गूढात्मा स पर इति। तत्रायं प्रजापतिर्जीवात्मा कर्तैव। अथ विशुद्धोऽयं गूढोत्मा जीवात्मा भवत्यकर्तैवेत्युभयथायं द्रष्टव्य इति।

अब प्रकृत बात पर आते हैं। जीव का यह जो कर्त्तापन बतलाया जा रहा है उसका कारण प्रकृति उपाधि है। जीव में स्वभाव सिद्ध कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य की उपाधि के कारण यह जीव बढई की तरँह कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों हैं। बढई विशिष्ट लकड़ी काटने आदि की क्रियाओं में ही विशेष और औजारों (साधनों) की अपेक्षा करता हुआ ही कर्त्ता होता है। वह अपने शरीर से तो अकर्त्ता हो है। जैसे बढई, फरसा आदि औजारों को छोड़ने पर क्रिया रहित होकर अपने में स्थित हो जाता है। उसका कर्त्तापन उपाधिवश कार्य के काल में निमित्तवश होता है। वह कर्त्तापन उस मनुष्य में स्वभाव सिद्ध नहीं है। क्योंकि वह सर्वदा उस क्रिया से आविष्ट नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार यह जीवात्मा प्रकृति रूपी साधन से युक्त होने पर प्रकृति रूपी उपाधि के वश से कर्त्ता होता है। जैसे सेना के युद्ध करने पर यह व्यवहार किया जाता है कि—

—"यह राजा युद्ध कर रहा है, विजय प्राप्त कर रहा है"—

स्मृति में भी कहा गया है कि—

—"प्रकृति के गुणों के द्वारा सब और कर्म किये जा रहे हैं, जिन्हें अहंकार से विमूढात्मा होकर, यह "मैं इनका कर्त्ता हूं" ऐसा समझता है।"—

इसलिए सुषुप्ति में संप्रसाद अवस्था में तथा विमुक्ति की कैवल्य अवस्था में जब समस्त इन्द्रियां तथा साधन हट जाते हैं तब अपने में स्थित होने पर इसका कर्त्तापन

हट जाता है। यदि इसका कर्त्तापन स्वाभाविक होता तब कैवल्य में तथा संप्रसाद में भी कर्त्तापन हटता नहीं। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि यह जीवात्मा दो प्रकार का है प्रकृति से विशिष्ट पुरुष प्रजापति आत्मा यह एक है। यह वह केवल पुरुष है विशुद्ध आत्मा जो गूढ़ आत्मा है, वह अन्य है। वहां यह प्रजापति रूप जीव आत्मा कर्त्ता ही है और जो विशुद्ध गूढ़ आत्मा है, जीवात्मा है वह अकर्त्ता ही है, इस प्रकार दो प्रकार का इसे देखना चाहिए।

अथ प्रकृत्युपाधिकं यदिदं कर्तृत्वं जीवास्याख्यातं तदपि नेश्वरनिरपेक्षं स्वतस्तस्य संभवति परात्तु तच्छ्रुतेर्द्रष्टव्यम्। अस्ति हि जीवः संपरिष्वक्तः कश्चिदीश्वरो नामैकः पर आत्मा।

—"कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।"

तदनुग्रहप्रयुक्तेन विज्ञानेनास्य कर्मणां सर्वेषामुपपन्नत्वात्। तथा हि तच्छ्रूयते।

—"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते"— इति।

—"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति"—

इत्यादि। नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये स्याताम् इति चेन्न। कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः। यथा तृणलतौषधिवनस्पत्यादीनां स्वस्व-साधारणबीजेभ्यो जायमानानामुद्भिदां बीजगुणानुरोधिना प्रतिभेदेनोत्पादने तत्तद्बीज-प्रयत्नानपेक्ष्यैव स्वयं भवति पर्जन्यः साधारणं निमित्तम्। एवमेव खलु जीवकृतधर्माधर्म-वैषम्यानुरोधिना प्रतिभेदेनेष्टानिष्टादिफलोत्पादने तत्तज्जीवकृतप्रयत्नानपेक्ष्यैव स्वयं भवतीश्वरः साधारणं निमित्तमिति वैषम्यनैर्घृण्ये नास्य भवतः। स्वप्रयत्नैरुत्पद्यमानं बीजं पर्जन्यो यथा जनयति एव स्वप्रयत्नैः कुर्वन्तं जीवमयमीश्वरः कारयति। तथा च नात्यन्त-मयमीश्वरपरतन्त्रो जीवः। अपि तु जीवात्मनः प्रकृतिपञ्चकं स्वतन्त्रमित्यतः स्वप्रकृत्युप-स्थापिते कर्मणि जीवस्य स्वातन्त्र्यात् तत्कृतभोगस्य तत्प्रकृत्युपहिते जीवात्मन्येवोपपन्न-त्वात्। अस्ति हि प्रकृतिकृतमस्य जीवस्य स्वातन्त्र्यमिति कृत्वैव तु विधिनिषेधादेशाः शास्त्रकृता अव्यर्था भवन्ति। अन्यथा जीवस्यैकान्ततः सर्वत्रेश्वरपरतन्त्रत्वे तमुद्दिश्य विधि-निषेधादेशाः सर्वेऽपि व्यर्थाः संभाव्येरन्। लौकिकाश्च सर्वे पुरुषकारा व्यर्थाः स्युः। तस्मादीश्वरपरतन्त्रा अपीमे जीवाः स्वकामकारे स्वप्रकृतितन्त्रत्वात् स्वतन्त्रा इष्यन्ते। इति निष्कर्षः।

प्रकृति की उपाधिवश जीव का जो कर्तव्य व्याख्यात हुआ है वह भी ईश्वर की अपेक्षा के बिना स्वतः जीव में नहीं संभव है। परसे प्रेरित होना उसका श्रुति से जानना चाहिए।

संपरिष्वक्त जीव है, ईश्वर नाम का एक पर आत्मा है।

—"कर्म का अध्यक्ष, सबभूतों में निवास करने वाला, संक्षिप्त रूप, चेतनामय जो केवल है तथा निर्गुण है।"—

उसके अनुग्रह से युक्त विज्ञान के द्वारा इसके सारे कर्मों की सिद्धि होती है। प्रमाण के रूप में श्रुति कहती है—

—"यह जिस जिस को उन्नत करना चाहता है उस उस से साधु कर्म करवाता है, जिस जिस को नीचे की ओर ले जाना चाहता है, उस उस से यह ही असाधु कर्म करवाता है"—

—"जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा को नियमित करता है"—

सन्देह होता है कि जब साधु असाधु कर्म कराने वाला ईश्वर है, तब उसमें विषमता और क्रूरता के दोष आएंगे, तो ऐसा नहीं है।

—"इसके किए हुए प्रयत्न की अपेक्षा है, क्योंकि विहित और प्रतिषिद्ध व्यर्थ नहीं होने चाहिए'—

जैसे अपने अपने साधारण बीजों से उत्पन्न तृण, लता, औषधि वनस्पति आदि उद्भिदों का बीज के गुण के अनुरोध से एक दूसरे से भिन्न उत्पत्ति होने पर भी वर्षा विना किसी बीज के गुण के अनुरोध के साधारणतया सर्वत्र होती है, वह सभी की उत्पत्ति का साधारण निमित्त है, इसी प्रकार जीव के सम्पादित धर्म अधर्म की विषमता के कारण प्रत्येक में इष्ट और अनिष्ट फल को उत्पन्न करने में उन उन जीवों के प्रयत्न की अपेक्षा के बिना ही ईश्वर साधारण निमित्त होता है, इसलिए विषमता तथा निर्घृणता ईश्वर में नहीं आती। अपने प्रयत्न से पैदा होने वाले बीज को जैसे वर्षा उत्पन्न करती है, वैसे ही अपने प्रयत्न से कर्म करने वाले इस जीव से ईश्वर कराता है। अतएव यह जीव ईश्वर के अत्यन्त परतन्त्र नहीं है अपितु जीवात्मा की पांच प्रकृतियां स्वतन्त्र हैं अतः अपनी प्रकृतियों द्वारा उपस्थित किए गए कर्मों में जीव की स्वतन्त्रता है, और उन कर्मों के फल का उपभोग उन प्रकृतियों से आवृत जीव ही करता है। यही युक्तिसिद्ध बात ठहरती है। अपनी प्रकृति का किया हुआ कर्मों का स्वातन्त्र्य जीव को प्राप्त है। यही कारण है कि शास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट विधि और निषेध व्यर्थ नहीं होते। यदि ऐसा न होता और जीव एकान्त रूप से ईश्वर से नियन्त्रित होता तो जीव को उद्देश्य बनाकर शास्त्रों के सारे विधि और निषेध सभी व्यर्थ हो जायेंगे यह सम्भावना रहेगी। तथा लौकिक समस्त पुरुषार्थ व्यर्थ हो जांयगे। इसलिए ईश्वर के नियन्त्रण में रहते हुए भी ये जीव अपनी कामनाओं के सम्पादन में स्वतन्त्र होने के कारण स्वतन्त्र रूप वाले अभीष्ट हैं। यह निष्कर्ष है।

जीवस्येश्वरांशत्वप्रतिपत्तिः ।

अथ ब्रूमः 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि" ।।२।३।४३।।

जीवोऽयमीश्वरांशः प्रतिपत्तव्यः । ईश्वरापेक्षयैतस्य जीवस्य भेदेनाभेदेन च व्यपदिष्टत्वात् ।

—"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"—

—"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति"—

—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति" ।

इत्येवमादयो हि भेदव्यपदेशा दृश्यन्ते । अथ जीवाभेदेन चायमीश्वरः स्तूयते ।

—"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यः । अपि च ।

—"दाशकितवादित्वमधीयत एके" ।

यथाऽथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते प्राहुः ।

—"ब्रह्मदाशाः ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवा उत" इत्यादि । दाशाः कैवर्ताः । ये च दासाः स्वामिन्यात्मानमुपक्षिपन्ति । अथ येऽन्ये कितवा द्यूतवृत्ताः तेऽप्येते सर्वे ब्रह्मैवेत्यभेदो व्यपदिश्यते । इत्थम् उभयथा व्यपदेशदर्शनान्न जीवोऽयमत्यन्तमीश्वरेणाभिन्न एव न वात्यन्तं भिन्न एव । अपि त्वयमंशांशिभेदात् तादात्म्यापन्नो द्रष्टव्यः । तत्रायमंशाशिभावोऽनेकधा लोके दृष्टः । शरीरशिरोवत्, महाकाशघटाकाशवत्, सूर्यरश्मिवत्, बिम्बप्रतिबिम्बवत् सूर्यरश्मिवद्वायमीश्वराज्जीवो द्रष्टव्यः । उक्तरीत्या भेदाभेदोपदेशात् ।

मन्त्रवर्णाच्च ।

—"पादोऽस्य सर्वा भूतानि "—

इति हि मन्त्रवर्णः श्रूयते । पादो भागोंश इत्येकार्थाः । भूतशब्देन चाविशेषाज्जीवप्रधानानि सर्वाणि स्थावरजङ्गमानि विवक्ष्यन्ते । अपि च स्मर्यते–ईश्वरगीतासु—

—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"—

इति । तेनायं न स एव साक्षान्न वस्त्वन्तरमिति सिद्धम् ।

जीव के ईश्वरांश होने का विचार

अब कहते हैं—

—"अनेक प्रकार से कथन के कारण जीव ईश्वर का अंश भी हैं तथा अन्यथा भाव भी है"—

यह जीव ईश्वरांश समझा जाना चाहिए। क्योंकि ईश्वर के साथ इसका भेद और अभेद दोनों कथित होते हैं।

—"वह अन्वेषणीय है, वह जिज्ञासा करने योग्य है"—

—"उसी को जानकर मुनि होता है"—

—"जो आत्मा में रहता हुआ भीतर से आत्मा का नियमन करता है"—

इस प्रकार भेद के कथन देखे जाते हैं। पुनश्च जीव से अभिन्न श्रुतियों में इस ईश्वर की भी स्तुति है—

—"तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार या कुमारी हो, तुम जीर्ण अवस्था में दण्ड के सहारे चलते हो, तुम उत्पन्न होकर चारों ओर मुख वाले हो'—

—"इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है"—

अपि च

—"कुछ लोग दास कितवादित्व को भी पढ़ते हैं"—

जैसे अर्थवेद को पढ़ने वाले ब्रह्म सूक्त में कहते हैं—

"ब्रह्म के दाश हैं, ब्रह्म के दास है या ये हम ब्रह्म ही कितव है"—इत्यादि।

दाश का अर्थ है केवट, दास वे भी हैं जो स्वामी के समीप अपने को समर्पित करते हैं। इनके अतिरिक्त जो कितव हैं, जो द्यूत व्यवहार वाले हैं, वे भी ये सभी ब्रह्म ही हैं यह कहा जाता है। इस प्रकार दोनों तरँह से कहे जाने के कारण यह जोव न तो ईश्वर से अत्यन्त भिन्न ही है न अत्यन्त अभिन्न ही है, अपितु यह अंश अंशी के भेद से तादात्म्य को प्राप्त है ऐसा देखना चाहिए। वहां यह अशांशि भाव लोक में अनेक प्रकार से देखा जाता है, शरीर और सिर की तरँह, महाकाश घटाकाश की तरह, सूर्य तथा उसकी किरणों की तरँह, बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब की तरँह, अग्नि तथा उसके अंगारों की तरँह इत्यादि। इनमें अग्नि और उसके अंगारों की तरँह, बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब की तरँह, अथवा सूर्य और उसकी किरणों की तरँह इस ईश्वर से जीव को समझना चाहिए। क्योंकि उक्त रीति से इन दोनों में भेद और अभेद का उपदेश हुआ है।

—"और मन्त्र के अक्षरों के कारण"—

—"सारे भूत इसका एक चरण हैं"—

ऐसे मन्त्राक्षर सुने जाते हैं। पाद, भाग या अंश एक ही बात है। भूत शब्द से बिना किसी भेद के जीव को प्रधान रखने वाले समस्त स्थावर तथा जंगम का ग्रहण है। ईश्वरीय गीता में भी इसका स्मरण हुआ है—

—"जीव लोक में सनातन जीव मेरा ही अंश है"—

इससे यह न तो साक्षात वही है, और न कोई दूसरी वस्तु है यह सिद्ध हुआ।

जीवेश्वरयोर्भोक्तृत्वाभोक्तृत्वाभ्यां वैधर्म्यप्रतिपत्तिः। ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्। हस्तपादादन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो दुःखितस्य लोके दृष्टत्वात्। इति चेत्। तत्र ब्रूमः।

प्रकाशादिवन्नैवं पर—

इति। यथाऽयं सौरश्चान्द्रो वा प्रकाशो वियद् व्याप्यावतिष्ठमनोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात् तेषामृजुवक्रादिभावप्रतिपत्तौ तत्तद्भावं प्रतिपद्यमानो दृश्यते किन्तु न स परमार्थतस्तत्तद्भावं प्रतिपद्यते, यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निवाभासमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपाधिमति जीवे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते जीवानामीश्वरांशत्वेऽपि तदुपाधिभूतमनोबुद्ध्याद्यवच्छेदेनोत्पद्यमानानां दुःखादिभोगानाममुष्मिन्नीश्वरेंऽशिनि संप्रसक्तिर्नास्तीति जीवेश्वरवैधर्म्यप्रतिपादकश्रुतिभ्योऽध्यवसीयते। तथा हि—

—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्डक)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। (श्वेता०)

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। (कठ०)

इत्यादिषु जीवानां भोक्तृत्वमभोक्तृत्वं चेश्वरस्याम्नायते।

स्मरन्ति च—भगवन्तो वेदव्यासादयः—

"तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः।
पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च।

जीव और ईश्वर में भोक्तापन और अभोक्तापन को लेकर धर्म में विपरीतता है। प्रश्न होता है कि जीव को ईश्वर का अंश मान लेने पर जीव के संसार में दुःख का उपभोग करने से उसका अंशी जो ईश्वर है उसमें दुखी होने की प्रतीति होने लगेगी। हाथ

पैर आदि किसी एक अंग के दुःखी होने से अंगी शरीर भी संसार में दुःखी देखा जाता है। तो इस सन्देह पर यह कहना है कि—

—"प्रकाश आदि की तरँह दूसरा वैसा नहीं है"—

जैसे यह सूर्य का या चन्द्रमा का प्रकाश आकाश को व्याप्त करके स्थित रहता हुआ अङ्गुली आदि उपाधि के सम्बन्ध से उनके सीधे टेढ़ेपन के कारण उस उस रूप को प्राप्त होता हुआ दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह प्रकाश उस उस आकार का नहीं होता, अथवा जैसे आकाश घट आदि के चलने से चलता हुआ सा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः चलता नहीं है, अथवा जैसे तालाब या बर्तन में पानी के हिलने डुलने पर उसमें दिखाई देने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब भी हिलता डुलता प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में सूर्य में कोई हिलने डुलने की क्रिया नहीं होती, इसी प्रकार अविद्या से उपस्थापित बुद्धि आदि की उपाधि से युक्त जीव में, दुःखी दिखाई देने वाला भी यह ईश्वर दुःख का अनुभव नहीं करता, जीवों के ईश्वर का अंश होने पर भी उसकी उपाधि भूत मन बुद्धि आदि से आवृत होने से उत्पन्न होने वाले सुख दुःख आदि का भोग इस अंशी ईश्वर में प्रसक्त नहीं होते, यह बात जीव और ईश्वर के विरुद्ध धर्मों को बतलाने वाले श्रुति वाक्यों से सिद्ध होती है।

—"संयुक्त रूप से रहने वाले, मित्र भावापन्न दो सुपर्ण पक्षी, एक ही वृक्ष का आश्रय लिए हुए है, उनमें एक से स्वादिष्ट पीपल को खा रहा है, दूसरा बिना खाता हुआ देदीप्यमान हो रहा है"—

—"समस्त भूतों में गूढ़ रूप से विद्यमान, सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा कर्मों का अध्यक्ष, समस्त भूतों में निवास करने वाला, साक्षी, चैतन्यवाला, केवल और निर्गुण एक देव है"—

—"जैसे समस्त लोक का नेत्र सूर्य, नेत्र के बाहरी दोषों से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त भूतों का एक अन्तरात्मा वह लोकों के दुःखों से बाहर रहता हुआ लिप्त नहीं होता"—

इत्यादि मन्त्रों में जीव को भोक्ता कहा गया है और ईश्वर को अभोक्ता बतलाया गया है।

भगवान् वेद व्यास आदि भी स्मरण करते हैं कि—

—"वहां जो परमात्मा है वह नित्य, निर्गुण रूप से स्मृत होता है। वह कर्मों के फलों से जल में स्थित पद्म पत्र की भांति लिप्त नहीं होता।"

—"परन्तु यह जो दूसरा कर्मात्मा है, वह मोक्ष और बन्ध से युक्त होता है। वह पुनः सत्रह राशि से युक्त होता है'—

—"पुर में वह प्राण आदि आठ लिङ्गों से युक्त होता है, उससे बंधने पर उसका बन्धन होता है और उससे मुक्त होने पर उसका मोक्ष होता है।"—

अत्र पूर्वेण कर्माध्यक्षस्य परमात्मनः कर्मफलाभोक्तृत्वम्——उत्तरेण तु कर्मात्मनो जीवस्य कर्मफलभोक्तृत्वमाख्यायते। तत्र जीवेश्वरांशत्वाज्जीवभागे प्रवृत्तानां बन्धमोक्षादीनाममुष्मिन्नंशिनीश्वरेऽप्यवश्यं संप्रसक्तिः संभाव्यते——इत्यतस्तदाक्षेपपरिहारायैवास्मिन् जीवेश्वरापेक्षया वैलक्षण्यमाह—स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनरिति। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्चप्राणा मनोबुद्धी—इति सप्तदशको गण इत्याहुः। वस्तुतस्तु पशुनित्यः प्राणः प्राणनित्यश्चात्मा इति कृत्वा स आत्मा प्राणः पशुरित्येवं त्रिपर्वा सत्यप्रजापतिरध्यवसीयते। अस्ति चायं जीवः सत्यप्रजापतिः। तत्र वैश्वानरस्तैजसः प्राज्ञ इत्येवं त्रेधा विभक्तोऽग्निविशेषस्तावदात्मा। अथैतस्मिन्नात्मनि चन्द्रसूर्याभ्यामीश्वरमनोबुद्धिभ्यामुपसंक्रान्तो मनोबुद्धिलक्षणः प्राणः। अथैतदाश्रिता पञ्चदश पशवो भवन्ति। तथा हि—विद्याचतुष्कं, कर्मषट्कं, ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, प्राणपञ्चकं कामः, शुक्रद्वयम्—इत्येताः सप्तविभूतयः। अथ पञ्च क्लेशाः, त्रयः कर्मविपाकाः द्वावाशयौ, त्रयो बन्धाः, षडूर्मयः, सप्तावस्थाः, अपूर्णत्वं संसारः, इत्यष्टौ पाप्मानः। अथ मनोबुद्धी। इत्येवमेतैः सप्तदशभिराक्रान्तोऽयं जीवः परतन्त्रो भूत्वा दुःखेनानुयुज्यते। ईश्वरप्रतियोगिका हीमे सप्तदशधर्मा नेश्वरेणानुयुज्यन्ते, अतोऽसावीश्वरस्तादृशोपाध्यनाक्रान्तत्वान्न दुःखेनानुयुज्यते। जीवेऽपि चास्मिन् चिदाभासेऽयं दुःखयोगो भवत्यौपाधिको न वास्तविकः। जलस्थप्रतिबिम्बे जलप्रकम्पहेतुकप्रकम्पोपचारवत्। उपाध्यपाये त्वयं कैवल्यावस्थो जीवो नेश्वरादतिरिच्यते। जलापाये प्रतिबिम्बस्य परदेवतानतिरिक्तत्ववत्। वस्तुतस्तु जलोपाधिकस्यापि प्रतिबिम्बस्य सत्यपि जलप्रकम्पे स प्रकम्पो यथा नासज्जते—एवमिहाप्युपाधिभूतयोर्मनोबुद्ध्योरेवायं दुःखानुयोगो न तु वस्तुगत्याऽस्मिन् जीवे चिदाभासे। तस्य मनोबुद्धिपरिग्राहित्वेऽपि तदनुगतपाप्मधर्मपरिग्राहित्वात्। स्मरन्ति च।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (२।२३) गी०
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ इति॥ (२।२४) गी०

यहां पूर्व पद्य से कर्म के अध्यक्ष परमात्मा का कर्मों के फल का भोक्ता न होना, तथा आगे के पद्यों में कर्मात्मा जीव का कर्म फल का भोक्ता होना बतलाया जाता है। वहां जीव के ईश्वर का अंश होने से जीव भाग में प्रवृत्त होने वाले बन्ध मोक्ष आदि की

उसके अंशी ईश्वर में भी अवश्य प्रसक्ति या सम्बन्ध संभावित है. इसलिए इस आक्षेप के परिहार के लिए ही इसमें जीवेश्वर की अपेक्षा से विलक्षणता को बतलाया है कि—

—"वह पुनः सत्रह की राशि से युक्त होता है"—

पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, मन, बुद्धि, यही सत्रह का समूह ऐसा कहा गया है। वास्तव में तो पशु में नित्य रहने वाला प्राण है, तथा प्राण में नित्य रहने वाला आत्मा है, इस प्रकार वह आत्मा प्राण और पशुपति यह त्रिपर्वा सत्य प्रजापति निश्चित होता है, और यह जीव सत्य प्रजापति है। वहां वैश्वानर तैजस, प्राज्ञ इस प्रकार तीन रूपों में विभक्त अग्नि विशेष आत्मा है। अब इसमें आत्मा में चन्द्र और सूर्य या ईश्वर की मन और बुद्धि से उपसंक्रान्त होने वाला, मन और बुद्धि स्वरूप वाला प्राण है। अब इसके आश्रित होते हैं पन्द्रह पशु। विभक्त करके बतलाने के लिए चार विद्याएं, छ कर्म, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, काम, दो प्रकार के शुक्र, ये सात विभूतियां हैं। अब पांच क्लेश, तीन कर्म विपाक, दो आशय, तीन बन्ध, छ ऊर्मियां, सात अवस्थाएं, अपूर्णत्व रूप संसार ये आठ पापात्मा हैं। मन तथा बुद्धि को लेकर इस प्रकार सत्रह तत्त्वों से आक्रान्त यह जीव परतन्त्र होकर दुःख से संयुक्त होता है। ईश्वर के अभाव से युक्त ये सत्रह धर्म ईश्वर के साथ संयुक्त नहीं होते। अतः ईश्वर उस प्रकार की उपाधि से आक्रान्त न होने के कारण दुःख से अनुयुक्त नहीं होता।

इस चिदाभास जीव में भी दुःख का यह योग औपाधिक होता हे जैसे जल स्थित प्रतिबिम्ब में जल की हलचल से बिम्ब सूर्य आदि को भी भ्रमवश हलचल युक्त समझ लिया जाता है, वास्तव में जीव में दुःख का कोई योग नहीं होता। उपाधि के हट जाने पर तो यह केवल अवस्था में स्थित जीव ईश्वर से अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। जल के हट जाने पर जैसे प्रतिबिम्ब मूल बिम्ब से एक हो जाता है। वास्तव में तो उपाधि रूप जल में स्थित प्रतिबिम्ब में भी जल के प्रकम्पित होने पर भी जैसे कोई कम्प नहीं होता, वैसे ही उपाधि भूत मन और बुद्धि में ही यह दुःख का कोई योग है। वह मन और बुद्धि का परिग्रह तो अवश्य करता है परन्तु उनमें होने वाले पापयुक्त धर्म का परिग्रह वह नहीं करता। इस सन्दर्भ में गीता स्मृति इस प्रकार है—

—"शस्त्र नहीं करते इसका छेदन, नहीं जलता अग्नि इसे जल भी नहीं गलाता इसको मारुत इसे सुखाता नहीं यह छेदन के अयोग्य है, जलने की सीमा में नहीं है यह नित्य, सर्वगत स्थाणु है, यह अचल है सनातन है"—

अत्राह। जीवेश्वरभेदस्यौपाधिकतया वस्तुगत्या तयोर्भेदो नास्तीत्यभ्युपगमे ईश्वरस्यैकत्वाद् विभुत्वाच्चैतेषां जीवानामेकत्वं विभुत्वं च प्राप्नोति। तथा सति।

—"ऋतौ भार्यामुपेयाद्—

—गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्।"

—"अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—

—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि ।"

"मित्रं स्वच्छभावेन परिशीलयेत्,,'

--"शत्रुणा न संदध्याद्"—

—इत्येवमादिरूपौ जीवानां भेदे सत्येवोपपद्यमानौ वैदिकौ लौकिकौ वानुज्ञा-परिहारौ नोपपद्येयाताम् । अपि वा एकपुरुषकृतानां कर्मणामीश्वरांशत्वाविशेषात् सर्वेष्वेव जीवपुरुषेषु कर्मफलव्यतिकरः प्रसज्यते—इति चेत् तत्र ब्रूमः—

—"अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्योतिरादिवत्"—

अयं भावः ।

—"स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते"—

—"मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना । तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनो-ऽधिष्ठानम्"—

इत्यादि श्रुतेः शरीरमभिसंपद्यमानस्यात्मनः प्राक् सम्यग्दर्शनादनिवार्योऽयमस्मिन् शरीरेऽहंममात्माभिमानः तथा चाविद्यामूलकदेहाद्युपाधिसंबन्धवशात् तदवच्छेदेनैतावनुज्ञा-परिहारौ प्रवर्तेते । यथा खलु ज्योतिष एकत्वेऽपि यज्ञाग्निरादीयते क्रव्यादग्निः परिहृयते । अन्यान्यवर्णकैः काचफलकैः कृतावच्छेदानां सूर्यांशूनां भिन्नवर्णत्वोपपत्त्या भेदेन तेष्वनुज्ञा-परिहारावुपपद्येते एवमिहापि द्रष्टव्यम् ।

यहां यह सन्देह उपस्थित होता है कि जीव और ईश्वर का भेद औपाधिक है, वस्तुतः उनमें भेद नहीं है ऐसा मानने पर ईश्वर के एक होने से तथा व्यापक होने से इन जीवों का भी एकत्व और विभुत्व प्राप्त होता है । और ऐसा होने पर

—"ऋतु काल में भार्या के समोप जाय"—

—"गुरु की अंगना के समीप न जाय"—

—"अग्नीषोमीय पशु का आलभन करे"—

—"सब भूतों की हिंसा न करे"—

—"मित्र को साथ स्वच्छ भाव से रहे"—

—"शत्रु के साथ सन्धि न करें"—

इत्यादि रूप से जीवों में भेद रहने पर ही सिद्ध होने वाले वैदिक और लौकिक विधि और निषेध संगत नहीं होते । और भी बात यह है कि एक पुरुष के द्वारा किए हुए

कर्मों के ईश्वरांश में समानता होने के कारण सभी जीव पुरुषों में कर्म के फल का प्रकटीकरण होने लगेगा। इस प्रश्न पर उत्तर में यह कहना है कि—

—"अनुज्ञा और परिहार देह से सम्बन्ध के कारण ज्योति आदि की तरँह होते हैं"—

भाव यह है कि—

—"वह यह उत्पन्न होने वाला पुरुष है, यह शरीर से अभिसम्पन्न होता हुआ पाप से संयुक्त होता है"—

—"यह मर्त्य शरीर मृत्यु से गृहीत है, यह अमृत अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा शरीर में अभिसम्पन्न होने वाले आत्मा का सम्यक् दर्शन से पूर्व इस शरीर में "मैं, मेरा" का अभिमान अनिवार्य है। और इस प्रकार अविद्या मूलक देह आदि की उपाधि के सम्बन्ध के कारण उसी से सीमित में ये विधि निषेध प्रवृत्त होते हैं। जैसे ज्योति के एक होने पर भी यज्ञाग्नि का ग्रहण होता है, श्मशानाग्नि का परिहार होता है, भिन्न भिन्न रंगों वाले काच के टुकड़ों से सीमा बद्ध होकर देखे जाने वाली सूर्य किरणें के भिन्न वर्ण का होने के कारण भेद से उनमें विधि निषेधों की संगति होती है, वैसे ही यहां भी देखना चाहिए।

असन्ततेश्चाव्यतिकरः द्रष्टव्यः। यथा खल्वेकस्मिन्नुदकाशये प्रवर्तमानस्य तद्गतप्रतिबिम्बप्रकम्पप्रयोजकस्य वाय्वाघातादिदोषस्यान्यस्मिन्नुदकाशये संततिर्नास्तीत्यतस्तत्र प्रतिबिम्बो न कम्पते एवं स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरैकव्यूहे प्रवर्तमानस्य तत्तददृष्टादिदोषस्यान्यस्मिन् शरीरव्यूहे संततिर्नास्तीत्यतस्तदवच्छेदेनायमात्मा न तं दोषं व्यतिकरेण गृह्णाति।

ननु यदिदमसंततेरव्यतिकर इत्युक्तं तदयुक्तम्। जीवानामेकेश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदालम्बिनां तेषां जीवानां समानभावेन सर्वतः प्रतायमानतया तेषु कर्मसंततेरनिवार्यत्वात् फलव्यतिकरस्य नाप्राप्तत्वात्। तथा हि-यथा सूर्यस्य खग्रासवेलायामेकतो दिशि चन्द्रमण्डलावरुद्धे किञ्चिदंशे सर्वेऽशा अवरुद्धा दृश्यन्ते, यथा वायोर्यत्किञ्चिदंशस्य मृगमदस्पृष्टस्य गन्धसंस्कारात् सुदूरभूता अप्यस्य कतिपयेंऽशास्तद्गन्धसंस्कृता भवन्ति। यथा पात्राहितजलस्यांशविशेषे लवणखिल्योपसृष्टे सर्वं तज्जलं क्षारं भवति। वारिस्तोकेन क्षीरमाक्रान्तं भवति। एवमीश्वरांशे जीवेऽप्यस्मिन् क्वचिदेकत्र कर्मसंस्कारे विभुत्वादविशेषेण सर्वात्मनामेवैतेन कर्मफलेनोपसंस्कारोऽतिव्यासक्तः स्यात्। इति चेन्नैतदेवं शक्यं वक्तुम्। अंशांशिभावानां नानाविधतया कस्मिंश्चिदंशांशिभावे तथासंततिसत्त्वेऽपि सर्वाविधे

तस्मिंस्तथासंततिनियमादर्शनात् । न खल्वाभासरूपे ज्योतिषोंऽशे पूर्वोक्तदिशेयं संततिर्दृश्यते । अस्ति हि स आभास एव च तच्छरीरव्यूहेऽयं जीवात्मा । एतच्च अदृष्टानियमात् प्रतिपद्यामहे । यथैतज्जलगताभासस्थाने प्रतिबिम्बाधिष्ठानभूतजलाध्याहितानां वाय्वाघातादिदोषाणामनियमनात् प्रतिबिम्बेऽप्यनुगतिर्दृश्यते एवमिहात्माधिष्ठानभूतशरीरव्यूहाऽध्याहितानामदृष्टानामनियमादस्मिन् भोक्तात्मन्यनुगतिर्दृश्यते । प्रतिबिम्बे खल्वयमसन्नेव कम्पोऽनुगतो भासते एवमत्र जीवात्मन्यसन्नेव भोगोऽनुगतो भासते । तथा चैतत्साधर्म्यानुगमादस्य जीवस्य चिदाभासत्वं विज्ञायते । आभासे चैतस्मिन्नौपाधिके तदुपाधिप्रसक्तानां दोषाणामाभासान्तरेऽनुगतिर्नास्ति । दोषाणामाभासाधिष्ठानपरतन्त्रतया तेषामाभासाधिष्ठानानां जलादीनामसन्ततेरेव दोषाणां वाय्वाघातादीनामप्यसन्ततेः । आतश्चैतेषां चिदाभासाधिष्ठानानां शरीरव्यूहानामसन्ततेरेव कर्मसंस्कारादीनामदृष्टानामसन्ततेः कर्मफलव्यतिकरो नास्तीत्युक्तं प्राक् ।

—"सन्तति के अभाव के कारण व्यतिकर नहीं है"—यह देखना चाहिए ।

जैसे एक जलाशय में विद्यमान उसके भीतर समाये हुए प्रतिबिम्ब को कंपित करने के प्रयोजक वायु के आघात आदि दोष की अन्य जलाशय में सन्तति या सातत्य नहीं है । इसलिए अन्य जलाशय का प्रतिबिम्ब मथित नहीं होता । इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के एक व्यूह या इकाई में विद्यमान विशेष प्रकार के अदृष्ट आदि दोष की अन्य शरीर व्यूह में सन्तति या सातत्य नहीं है । इसलिए उसी सीमा में रहता हुआ यह आत्मा उस अदृष्ट आदि दोष को समूह के रूप में स्वीकार नहीं करता ।

प्रश्न होता है कि यह जो आपने संतति के अभाव में समूह ग्रहण का अभाव बतलाया वह ठीक नहीं है । जीवों के एक ही ईश्वर के अंश के रूप में स्वीकार कर लिये जाने पर उसका आलम्बन करने वाले समस्त जीवों का समान भाव से सर्वत्र विस्तार होने के कारण उनमें कर्म संतति की अनिवार्यता होगी और इस प्रकार फल समूह भी उनमें अवश्य प्राप्त रहेगा । उदाहरणार्थ जैसे सम्पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय एक दिशा में चन्द्रमण्डल से कुछ अंश के अवरुद्ध होने पर सभी अंश अवरुद्ध दिखाई देते हैं । अथवा जैसे वायु के किसी अंश के मृग के मद या कस्तूरी से स्पर्श के हो जाने पर सुगन्ध के संस्कार से बहुत दूर रहने वाले भी वायु के कुछ अंश उस गन्ध से संस्कार युक्त या सुगन्धित हो जाते हैं, अथवा किसी पात्र में भरे हुए जल के एक अंश के नमक के टुकड़े से संयुक्त हो जाने पर वह सारा जल नमकीन हो जाता है, जैसे जल से दूध आक्रान्त हो जाता है, इस प्रकार ईश्वर के अंश इस जीव में भी कहीं एक जगह कर्म के संस्कार हो जाने पर भी व्यापकता के कारण बिना किसी रुकावट के सर्वात्मना ही इस कर्म फल से उपसंस्कार फैल जायेगा । जब यह प्रश्न सामने आता है तो उत्तर में कहा जाता है कि इस बात को इस रूप में समझना असगत होगा । क्योंकि अंशांशि भाव अनेक प्रकार के होते हैं । उनमें किसी अंशांशि भाव में उस प्रकार के संतति या सातत्य या निरन्तरता के

रहने पर भी सभी प्रकार के अंशांशि भावों में वैसे ही सातत्य का नियम नहीं माना जा सकता। ज्योति के आभास रूप अंश में पूर्वोक्त रूप से यह सातत्य या निरन्तरता नहीं दिखाई देती। उस शरीर के व्यूह में यह जीवात्मा आभास ही तो है। इस बात को हम अदृष्ट के नियम न रहने के कारण समझते हैं।

जैसे इस जल में स्थित आभास के स्थान में प्रतिबिम्ब के आश्रय भूत जल में होने वाले वायु के आघात आदि दोषों का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि कब जल पर वायु के आघात से तरंग उठने पर प्रतिबिम्ब चंचल हो उठेगा, उसकी अनुगति प्रतिबिम्ब में भी होती है। उसी प्रकार जीवात्मा के आश्रय भूत शरीर समूह में प्रकट होने वाले या उद्‌बुद्ध होने वाले अदृष्टों का कोई नियम नहीं कहा जा सकता कि कब कौन सा अदृष्ट उद्‌बुद्ध या फलोन्मुख होगा तो उसकी अनुगति इस भोक्ता जीवात्मा में भी होगी। प्रतिबिम्ब में जो कम्प भासित हो रहा है वह वस्तुतः प्रतिबिम्ब में है नहीं। इसी प्रकार इस जीवात्मा में भी जो सुख दुःख आदि का भोग भासित होता है वह वस्तुतः जीवात्मा में है नहीं। और इस समानधर्मता के अनुगमन के कारण जीव में चिदाभासत्व का विज्ञान होता है। यह उपाधि के सम्बन्ध के कारण जीवात्मा में औपाधिक है और उस उपाधि में प्रसक्त दोषों की दूसरे आभासों में अनुगति नहीं होती। जो दोष हैं वे आभास के अधिष्ठान के परतन्त्र हैं। अतः उन आभास के स्थानों में जल आदि का अनुगमन जैसे दूसरे जलाशयों में नहीं होता उसी प्रकार वायु के जल स्तर पर आघात आदि दोषों की भी अनुगति अन्य आभास के अधिष्ठान भूत जलाशयादि में नहीं है। इसलिए कर्म के अधिष्ठान भूत इन चिदाभासों के अधिष्ठान रूप शरीर समुदाय की सन्तति या निरन्तरता के अभाव के कारण ही कर्म के संस्कारक अदृष्टों के सातत्य का अभाव है और उसके कारण कर्मों के फलों की समुदाय प्रतीति नहीं होती।

अपि चास्मिन्नाभासे त्वेव चादृष्टानियमादस्मिन् चिदाभासे जीवे कर्मफलान्युपसंक्रान्तानि प्रतीयन्ते। किन्त्वेषां तत्र प्रतीतानां कर्मफलानामौपाधिकतया स आभास एव च प्रत्येतव्यः। न त्वेते भासमानाः फलभोगा वस्तुतस्तस्मिन् जीवे सन्ति। इन्द्रियारूढमनोधर्माणां तेषामात्मन्यनुपपन्नत्वात्। तथा चेहाभ्युपगम्यमानेप्यात्मैक्ये न तेषु जीवपुरुषेषु कर्मफलव्यतिकरः प्राप्नोति।

नन्वात्मना कृतानामभिसन्ध्यादीनामेवादृष्टविशेषोत्पत्तिप्रयोजकतया तेषामात्मनिष्ठत्वात् तत्सामानाधिकरण्येनैवादृष्टोत्पत्तेरौचित्यादात्मनिष्ठान्येवैतान्यदृष्टानि संभाव्यन्ते—इति चेद्—अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् प्रत्येतव्यमिति ब्रूमः। मनोविज्ञानधर्माणामभिसन्ध्यादीनां मनोविज्ञानाश्रये जीवात्मनि भासमानत्वेऽपि वस्तुतस्तेषामात्मन्यसत्त्वात्।

यत्तु कश्चिद् ब्रूयात्—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसः संयोगः शरीरावच्छिन्ने एवात्मप्रदेशे भविष्यति। तेन चैतत्प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसन्ध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्चात्मनि स्यादिति तत्रेदं ब्रूमः।

इस चिदाभास में ही अदृष्टों के प्रकट होकर फल देने के नियम के कारण इस चिदाभास जीव में कर्मों के फल का संक्रमण होता है ऐसा प्रतीत होता है।

किन्तु वहां प्रतीत होने वाले इन कर्मों के फलों की उपाधि से सम्बद्धता के कारण वह आभास ही यहां समझना चाहिए। ऐसा नहीं है कि ये भासित होने वाले फलों के भोग तो इन्द्रियों से सम्बद्ध मन के धर्म हैं, उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं बनता। इस प्रकार यहां आत्मा की एकता के स्वीकार होने पर भी इन जीव पुरुषों में कर्म के फलों की सामूहिकता या सभी जीवों में एक साथ कर्म फलों का भोग होना प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न होता है कि आत्मा के द्वारा सम्पादित अभिसन्धि आदि ही अदृष्ट की उत्पत्ति के प्रेरक होते हैं, और वे अभिसन्धि आदि रहते हैं आत्मा में। उन्हीं के साथ उन्हीं के आधार में अदृष्ट आदि की उत्पत्ति मानना उचित है। तब ये अदृष्ट भी आत्मनिष्ठ ही सम्भावित हैं। यह प्रश्न होने पर उत्तर में कहा जाता है कि अभिसन्धि आदि में भी ऐसा ही समझना चाहिए। अभिसन्धि आदि हैं मनोविज्ञान के धर्म और जीवात्मा हैं मनोविज्ञान का आश्रय तो वे अभिसन्धि आदि भी जीवात्मा में ही भासमान होते हैं परन्तु वास्तव स्थिति यह है कि जीवात्मा में वे केवल भासमान ही होते हैं, वास्तविक स्थिति उनकी जीवात्मा में नहीं है।

यहां यदि कोई यह आशंका प्रकट करे कि आत्मा के व्यापक होने पर भी उसका शरीर में प्रतिष्ठित मन के साथ संयोग तो शरीर की सीमा में जो आत्मा का प्रदेश है उसी से होगा, तब इस शरीर के प्रदेश की जो अभिसन्धि आदि अदृष्ट तथा सुख दुःख आदि की अवस्थाएं हैं वे आत्मा में होंगी। वहां उत्तर है।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्।

सर्व एवैते जीवात्मानो विभुत्वाविशेषादेषु सर्वेष्वेव शरीरेषु निर्विशेषमन्तर्भवन्ति। अथवा सर्वाण्येवैतानि शरीराणि विभुत्वादस्मिन्नात्मन्यन्तर्भवन्ति। तत्र नायं शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः। कल्प्यमानोऽप्ययं प्रदेशः काल्पनिकत्वादेवैतस्य निष्प्रदेशस्यात्मनः पारमार्थिकं कार्यं न त्वेव नियन्तुं शक्नोति। सर्वाणि चैतानि शरीराण्येकस्यैव तस्यात्मनः प्रतिपन्नानि स्युः। तस्मात् प्रदेशानुरोधेनापि न त्वेते सुखदुःखादयो भोगा, न च तद्धेतवोऽमी अदृष्टादयो दोषा नापि च तन्निमित्तानि कर्माणि वस्तुतस्तस्मिन्नात्मनि शक्यन्तेऽध्यवसातुम्। जीवानामीश्वरांशतया परमार्थतस्तत्र तेषामयुक्तत्वात्। औपाधिकास्तु भ्रान्तिकल्पितास्ते तस्मिन्नवश्यमभ्युपगम्यन्ते लौकिकैरविद्वद्भिरित्यन्यत्। इति जीवचिन्ता नामाधिकरणं तृतीयं वृत्तम्।

तत्रैते विमर्शाः। १–जन्ममृत्युविमर्शः। २–चैतन्यविमर्शः। ३–परिमाणविमर्शः। ४–बुद्धियोगविमर्शः। ५–कर्तृत्वविमर्शः। ६–ईश्वरानुग्रहापेक्षित्वम्। ७–ईश्वरांशत्वम्।

इति द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः समाप्तः

—"प्रदेश का कारण नहीं होंगी क्योंकि अन्तर्भाव है"—

ये सभी जीवात्मा समान रूप से व्यापक हैं अतः ये समान रूप से सभी शरीरों में अन्तर्भूत हैं। अथवा दूसरे शब्दों में आत्मा की व्यापकता के कारण ये सभी समस्त शरीर आत्मा में ही अन्तर्भूत हैं। वहां शरीर से सीमाबद्ध आत्मा का प्रदेश कल्पित नहीं किया जा सकता। यदि समझने की दृष्टि से ऐसी कल्पना कर भी ली जाय तो वह समझने के लिए कल्पना मात्र होगी और प्रदेश रहित आत्मा के पारमार्थिक कार्यों पर इस कल्पना का कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा। ये समस्त शरीर उस एक ही आत्मा के समझ में लेने होंगे। इसलिए शरीर रूपी प्रदेश के अनुरोध से भी ये सुख दुःख आदि भोग, और उनके कारण के रूप में स्वीकृत अदृष्ट आदि दोष, और उनके भी निमित्त भूत कर्म उस आत्मा में नहीं समझे जा सकते। जीवों के ईश्वरांश होने के कारण पारमार्थिक रूप से इन सबका आत्मा में रहना अयुक्त है। उपाधि के कारण भ्रम से कल्पित की हुई अवस्था में ये भोग, अदृष्ट, कर्म आदि अवश्य आत्मा में समझे जाया करते हैं। परन्तु यह समझ नितान्त लोकासक्त अविद्वानों की ही होती है।

इस प्रकार यह जीव चिन्ता नाम का तृतीय अधिकरण पूर्ण हुआ।

इस अधिकरण में जन्म मृत्यु विमर्श, चैतन्य विमर्श, परिमाण विमर्श, बुद्धियोग विमर्श, कर्तृव्य विमर्श, ईश्वरानुग्रहापेक्षित्व, ईश्वरांशत्व व्याख्यात हुए।

—□—

अथ शारीरकविज्ञाने द्वितीयाध्यये चतुर्थः पादः

अथ सप्तभिर्विमर्शैः प्राणप्रकरणमारभ्यते । तत्र प्राणानां संख्या—परिमाणम् —मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठत्वम्—स्वरूपोपकरणत्वम्—पञ्चवृत्तित्वम्—देवतासाधिष्ठानत्वम्—जीवाधिष्ठितत्वम्—मुख्यप्राणतत्त्वामरत्वम् च प्रतिपाद्यते ।

तथा प्राणाः ।२।४।१।

गौण्यसंभवात् ।२।४।२।

तत्प्राक् श्रुतेः ।२।४।३।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।२।४।४।

यथैतानि भूतानि यथा वैतान्यन्तःकरणान्यात्मनो जायन्ते तथा प्राणा अप्येतेऽधिदवतमीश्वरात्मनोऽध्यात्मं तु जीवात्मन एव जायन्ते ।

—"एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि च व्युच्चरन्ति ।"—

—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।"—

—"सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् ।"—

—"स प्राणमसृजत । प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वीन्द्रियमनोऽन्नम्"—

इत्यादिश्रुतिभ्यस्तथाऽवगमात् ।

ननु "असद्वा इदमग्र आसीत्" । ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । प्राणा वाव ऋषयः"—इत्येवं प्रागुत्पत्तेः– प्राणानां सद्भावश्रवणात् गौणीयं प्राणानामुत्पत्तिर्भविष्यति इति चेन्न । "गौण्यसंभवात्" । अवान्तरप्रकृतिविषयं हीदं स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणं प्रतिज्ञायते नत्वेतन्मूलप्रकृतिविषयं भाव्यम् ।

—"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः"—

इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वावधारणात् ।

शारीरकविज्ञान द्वितीय अध्याय चतुर्थपाद

अब सात विमर्शों में प्राण तत्त्व के विवेचन का प्रकरण प्रारम्भ होता है। यहां ये विचार बिन्दु हैं—प्राणों की उत्पत्ति, संख्या, परिमाण, मुख्य प्राण की श्रेष्ठता, स्वरूप संपत्ति, पांच वृत्तियां, देवताओं का अधिष्ठान होना, जीव के द्वारा अधिष्ठित होना, तथा मुख्य प्राण की अमरता का प्रतिपादन किया जाता है।

—"वैसे ही प्राण उत्पन्न होते हैं"— २।४।१।

—"असंभव होने से उत्पत्ति गौण नहीं है"— २।४।२।

—"प्राण से पूर्व उत्पत्ति का श्रवण होने से"— २।४।३।

—"वाणी प्राण पूर्वक उत्पन्न है"— २।४।४।

जैसे ये महाभूत अथवा जैसे ये अन्तःकरण आत्मा से उत्पन्न होते हैं वैसे ही ये प्राण भी अधिदैवत भाव में ईश्वरात्मा से तथा अध्यात्म भाव में जीवात्मा से ही उत्पन्न होते हैं।

—"इस आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देव, तथा सभी भूत उत्पन्न होते हैं"—

—"इसी से प्राण तथा मन एवं समस्त इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं"—

—"उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं"—

—"उसने प्राण को उत्पन्न किया, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन तथा अन्न को उत्पन्न किया"—

इत्यादि श्रुतियों से यह अवगत होता है। प्रश्न होता है कि—

—"यह प्रारम्भ में असत् था, वह प्रारम्भ में ऋषि रूपी असत् थे, प्राण ही ऋषि हैं"—

इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति के पहिले प्राणों की सत्ता वेद में सुनाई दे रही है, तब यहां उत्पत्ति के क्रम में जो अनेक तत्त्वों के अनन्तर प्राणों की उत्पत्ति सुनी जा रही है, वहां उत्पत्ति शब्द का गौण अर्थ में प्रयोग मानना उचित है। इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है अर्थात् प्राण की उत्पत्ति कहते समय उत्पत्ति शब्द का अर्थ गौण नहीं है। क्योंकि ऐसा अर्थ विपर्यय करना असंभव है। प्राणों की प्रारम्भ में जो सत्ता कही गई है उसका तात्पर्य है प्राण जिन आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों की प्रकृति या कारण है उन्हीं की अपेक्षा प्राणों की उत्पत्ति को पहिले बतलाया गया है, वहां प्राण अवान्तर

प्रकृति रूप हैं। ऐसा नहीं है कि प्राणों को आत्मा या ब्रह्म के स्थान पर मूल प्रकृति मान कर सर्वादि में उसका सद्भाव बतलाया गया है।

—"अप्राण, अमन, शुभ्र, वह पर तत्त्व अक्षर से पर है"—

इन वचनों से मूल प्रकृति रूप पर तत्त्व को प्राण आदि समस्त विशेषों से रहित निश्चित किया गया है।

ननु कुतोऽस्याः प्राणोत्पत्तेः गौणत्वासंभव इति चेदुच्यते तत्प्राक् श्रुतेः हीदमवगम्यते। एकत्र निर्दिष्टानां सर्वेषां जन्यजातानामविशेषेणोत्पत्तिबोधकत्वं जायते इति पदस्य सर्वप्रथमं श्रवणात् ततो भूतादिजन्मनां मुख्यत्वे प्रतिपन्ने तत्सामान्यात् प्राणेष्वपि मुख्यमेवेदं जन्मोपपद्यते। न ह्येकस्मिन् प्रकरणे एकस्मिन् वाक्ये सकृदुच्चरितः कश्चन शब्दो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौण इत्यध्यवसातुं युज्यते। अपि च

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः—

प्राणानामात्मजन्यत्वमध्यवसीयते। तथा हि

—"सदेवेदमग्र आसीत्। तत् तेजोऽसृजत। तदपोऽसृजत। ता अन्नमसृजन्तेति"—

श्रवणात् क्रमेणैषां तेजोऽबन्नानामात्मजन्यत्वं विज्ञायते तत्र च

—"अन्नमयं मनः। आपोमयः प्राणः। तेजोमयी वागिति"—

श्रुत्या वाक्प्राणमनसामप्यात्मजन्यत्वं सुतरामुपपद्यते। प्राणतः पूर्वोपदिष्टायाः वाचस्तेजोमय्याः सत्पदोपनीतात्मपूर्वकत्वोपदेशात्। तस्मात् प्राणानामात्मजन्यत्वं सिद्धम्।

इति प्राणोत्पत्तिविमर्शः

प्रश्न होता है कि इस प्राण तत्त्व की उत्पत्ति को गौण क्यों नहीं कहा जा सकता, तो उसका उत्तर है कि उत्पत्ति का प्रकरण पहिले सुना जा रहा है। उसी से यहां उत्पत्ति का गौण अर्थ नहीं लिया जा सकता यह अवगत होता है। जितने उत्पन्न होने वाले तत्व हैं उनका कथन एक स्थान पर हुआ है। उन सबकी उत्पत्ति का बोधक "जायते" यह शब्द व्यवहार में लाया गया है, उसके अनन्तर भूत आदि के जन्म के कथन में मुख्य अर्थ ही लिया गया है, तब आगे प्राण की उत्पत्ति या जल के सन्दर्भ में आये उत्पत्ति शब्द का भी अर्थ मुख्य उत्पत्ति ही माना जायेगा। एक ही प्रकरण के एक ही वाक्य में एक बार ही बोला गया अनेकों से सम्बद्ध शब्द किसी के साथ गौण अर्थ दे रहा है और अन्य के साथ मुख्य अर्थ को बतला रहा है ऐसा नहीं हो सकता। पुनश्च वाणी की सृष्टि प्राण पूर्वक बतलाई गई है। प्रणों का आत्मा से उत्पन्न होना निश्चित किया जाता है। कहा गया है—

—"यह प्रारम्भ में सत् ही था, उसने तेज को उत्पन्न किया, उसने जल को उत्पन्न किया, उसने अन्न को उत्पन्न किया"--

इस श्रुति वाक्य के श्रवण से इन तेज, जल और अन्न की उत्पत्ति आत्मा से हुई यह ज्ञात होता है। और वहां—

—"अन्नमय मन है, जलमय प्राण है तेजोमयो वाणी है"—

इस श्रुति वाक्य के द्वारा वाक् प्राण और मन का भी आत्मा से उत्पन्न होना स्पष्टतया ज्ञात हो रहा है। प्राण से पहिले कही गई वाणी का, जो तेजोमयी है, उसका सत्पद से कहे गए आत्मा के अनन्तर उत्पन्न होना बतलाने से सभी आत्मा से उत्पन्न सिद्ध होते हैं। इसलिए प्रणों की आत्मा से उत्पत्ति सिद्ध हुई।

यह हुआ प्राण तत्त्व की उत्पत्ति का विचार।

अथैतेषां प्राणानां संख्या विमृश्यते।

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।५।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।२।४।६।

--"सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्"।

—"गुहाशया निहिताः सप्त सप्त"।

—"अष्टौ ग्रहाः अष्टावतिग्रहाः"।

—"सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ"।

—"नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी"—

--"दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः"—

—"सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायतनम्" इत्यत्र द्वादशः 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं चे' त्यादौ त्रयोदश इत्येवमनेकधा प्राणाः संख्यायन्ते।

तत्र तावत् कैश्चिन्निगमनं क्रियते।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्चेति। सप्तैव प्राणा अवगन्तव्याः। तेषां सप्तानामेव सतां वृत्तिभेदादन्यान्यसंख्योपगतेः संभवात्।

"साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

—"मनैनु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ।"

"सप्त चेति य एवेमे सप्त शीर्षण्याः प्राणाः तानेतदाह" (शत. ७।२।४।१६) इति ।

अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न्यस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।

तस्याऽऽसतऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना" ।

"असद् वा इदमग्र आसीत् । ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । प्राणा वा ऋषयः । स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रः । तानेष प्राणान् मध्यत ऐन्ध । त इद्धाः सप्त नानापुरुषान-सृजन्त । त एतान् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् । अथ यैतेषां पुरुषाणां श्रीः यो रसः आसीत्—तमूर्ध्वं समुदौहत् । तदस्य शिरोऽभवत् । स एष पुरुषः प्रजापतिरभवत् । सवै सप्तपुरुषो भवति ।।" (शतः ६।१।१)

इत्यादिषु प्रतिपुरुषशरीरं सप्तसंख्याया एवं विशिष्योपपादितत्वाच्चेति : तत्रैतत् प्रतिब्रूमः—

"हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्"—इति ।

स्थिते तु तस्मिन् प्राणसप्तके ततोऽन्ये हस्तादयः प्राणाः श्रूयन्ते—"

"हस्तो वै ग्रहः । स कर्मणातिग्रहेण गृहीतः । हस्ताभ्यां हि कर्म करोति"

इत्यादिषु । ते हैते श्रोत्रादिभ्यः सप्तभ्योऽतिरिच्यन्ते । ननु हस्तादिभिरेवेयं प्राणानां सप्तसंख्या विनिगम्यते । अतो नैवं सप्तैव संख्या प्राणानां शक्यतेऽभ्युपगन्तुम् । ननु यदि सप्तसंख्या नास्ति तर्हि संख्यान्तरं निर्धार्य वक्तव्यमिति चेत् उच्यते । अत्र सूत्रे संख्यान्तरम-प्रदर्शयताऽऽचार्येण तूष्णींकार एवेहादिश्यते । श्रूयते हि तथैवाहवनीयचयने आत्मविकर्षण-श्रुतौ—

य एवेमेऽन्तरात्मन् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीम् । को हि तद्वेद यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः':

तस्मात् सन्ति खल्वसंख्याता बहुविधाः प्राणाः इति स्थितम्

इति प्राणसंख्याविमर्शः

अब प्रारंभ होता है प्राण की संख्या का विचार

—"सप्त की गति से विशेषित होने से"— २।४।५।

—"हस्त आदि की भी स्थिति है, अतः ऐसा नहीं है ।"— २।४।६।

—"उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं, गुहा के स्थान में सात सात निहित है"—

—"आठ ग्रह हैं, आठ अतिग्रह है"—

—"सात शीर्ष स्थित प्राण है, दो नीचे के प्राण हैं"—

—"पुरुष में नौ प्राण हैं, दसवीं नाभि है"—

—"पुरुष में ये दस प्राण हैं, आत्मा ग्यारहवां है"—

—"सभी स्पर्शों की त्वचा ही एक आयतन है"—

यहां बारह

—"चक्षु और द्रष्टव्य"—

इत्यादि में तेरह, इस प्रकार अनेक रूपों में प्राणों की संख्या कही गई है। यहां कुछ लोग संगति लगाते हैं—

—"सप्त की गति से विशेषित होने से"—

सात ही प्राण समझने चाहिए। उन सात के ही व्यवहारों के भेदों की गणना करना अन्यान्य संख्याओं की भी संगति हो जाना संभव है।

—"साथ में उत्पन्न हुए एक से उत्पन्न सात का समूह कहा गया है उनमें ६ देवों से उत्पन्न ऋषि हैं, उनके अभीष्ट धामशः (स्थान बनाकर) निर्मित हुए हैं, वें स्थितिमान् के प्रति विकृत रूप से पहुंचते हैं"—

—"प्रथम तीन युगों में देवों के लिए जो ओषधियां हुईं, उन्हें हमने एक सौ सात स्थानों पर एकत्र किया"—

—"और सात ही ये शीर्ष में प्राण हैं, उन्हें ऐसा बतलाया गया है"—

(शतपथ ७।२।४।२६)

—"नीचे बिल वाला और ऊपर बुध्न्य (ढक्कन वाला) चमस (पात्र) है। उसमें विश्वरूप यश निहित है, उसके तट पर सात ऋषि स्थित हैं तथा ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली आठवीं वाणी भी वहां है'—

—"प्रारम्भ में यह असत् था, प्रारंभ में ऋषि ही असत् थे। प्राण ही ऋषि हैं। यह जो मध्य प्राण है वही यह इन्द्र है। इसने मध्य से उन प्राणों को दीप्त किया। उन्होंने दीप्त होकर अनेक प्रकार के सात पुरुषों को उत्पन्न किया। उन्होंने इन सात पुरुषों का एक पुरुष बनाया। अब इन पुरुषों की जो श्री थी, जो रस था, उसको ऊर्ध्वाभिमुख बनाया। वह इसका सिर हुआ। वही यह पुरुष प्रजापति हुआ। निश्चय ही वही यह सप्त पुरुष है"—

(शत पथ—६।१।१।)

इत्यादि सन्दर्भों में प्रत्येक पुरुष के शरीर में सात संख्या का ही विशेष रूप से ग्रहण हुआ है। यहां प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि—

—"हस्त आदि की स्थिति होने के कारण प्राणों की संख्या सात तक सीमित नहीं है"—

प्राणों की सात संख्या के सुनने के अनन्तर उनके अतिरिक्त हस्त आदि प्राण सुने जाते हैं।

—"निश्चय ही हस्त ग्रह है। वह अति ग्रहण युक्त कर्म से गृहीत है, दोनों हाथों से कर्म करता है"—

ये हाथ आदि प्राण श्रोत्र आदि सात प्राणों के अतिरिक्त सुने जाते हैं, प्रश्न होता है कि प्राणों की सात संख्या हस्त आदि से ही निर्धारित होती है। इसलिए प्राणों की संख्या सात तक ही सीमित समझना उचित नहीं है। प्रश्न होता है कि यदि प्राणों की संख्या सात तक सीमित नहीं है तो उसकी सीमा के निर्धारण के लिए अन्य कोई संख्या होनी चाहिए। इस पर यह कहना है कि इस सूत्र में दूसरी संख्या न बतलाते हुए आचार्य ने इस विषय में मौन हो जाने का ही उपदेश दिया है। आहवनीय के चयन में आत्म विकर्षण के मन्त्र में इसी प्रकार सुना जाता है कि

—"अन्तरात्मा में जो ये प्राण है, उसको मौन भाव से वहां स्थापित किया जाता है, यह कौन जानता है अन्तरात्मा में ये इतने प्राण हैं"—

(शतपथ ७।१)

इसलिए असंख्य अनेक प्रकार के प्राण हैं, यह स्थिर हुआ।

यह हुआ प्राणों की संख्या का विचार

—अथैषां प्राणानां सूक्ष्मत्वपरिच्छिन्नत्वविमर्शः

"अणवश्च"।

अणवश्च एते प्राणा इति प्रतिपत्तव्यम्। अणुत्वं चैतेषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वम्। कृत्स्नदेशव्याप्तिकार्यानुपपत्तिप्रसंगात्। यदि स्थूलाः स्युः र्तह मरण-काले शरीरान्निर्गच्छन्तो बहिर्धा दृश्येरन्। न दृश्यन्ते तस्मात् सूक्ष्माः। अनुद्भूतरूप-स्पर्शत्वं सूक्ष्मत्वम्। एवमेते प्राणाः यदि सर्वगताः स्युस्तर्हिउत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात्। तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिद्ध्येत्। तस्मात् परिच्छिन्नाः। अल्पत्वं परिच्छेदः। इति प्राणानामाणुत्वविमर्शः (परिमाणम्)

—अथ अनूचीनप्राणापेक्षया मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठत्वविमर्शः—

श्रेष्ठश्च। २।४।८।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् २।४।६।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । २।४।१०।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति । २।४।११।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते । २।४।१२।

अणुश्च । २।४।१३।

तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति । प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति । यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते एवमेष प्राण इतरान प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते । तुभ्यं प्राणप्रजास्त्विमाथ प्राणैः प्रतितिष्ठसि ।"

इत्यादि श्रुतिभ्योऽयं प्राणो द्विधा विभक्तो विज्ञायते—मुख्यः प्राणोऽन्यः । तदनूचानाः प्राणा अन्ये चेति ।तत्रैते अनूचानाः प्राणा उक्ताः ।

अथ मुख्यप्राण उच्यते । प्राणेष्वेतेषु कश्चिदेकः प्राण इतरेषां प्राणानामाश्रयोऽङ्गी भवतीति कृत्वा स मुख्यः प्रतिपत्तव्यः । तथा च श्रूयते—

"ते ह प्राणाः प्रजापति पितरमेत्योचुः—भगवन् ! को नः श्रेष्ठ इति । तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत । स वः श्रेष्ठ इति । प्राणो वाव ज्येष्ठश्च । तं हाभिसमेत्योचुः-त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, इति न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति ।

"अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा पथिभिश्चरन्तम् । स सध्रीचीः च विषूचीर्वसाना आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः । (ऋ० १०।१२।१५)

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ता शाश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्य चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् । (ऋ० १।२२।१६४)

इति च । तमेतं प्राणं प्रज्ञात्मानमिन्द्रं विजानीयात् ।

'प्राणों की सूक्ष्मता तथा सीमा का विचार'
"ये अणु हैं"

ये प्राण अणु होते हैं ऐसा मानना चाहिए । इन प्राणों की अणुता का अर्थ है इनकी सूक्ष्मता तथा सीमा बद्धता, न कि परमाणु से समानता । परमाणु की समानता मानने पर समस्त शरीर में इनकी व्याप्ति तथा कार्यों में योग के अभाव का प्रसंग आता है । यदि प्राणों को स्थूल माना जाय तो मरण काल में शरीर से निकलते हुए इन्हें बाहर दिखाई देना चाहिए । ऐसा नहीं होता अतः ये स्थूल नहीं है सूक्ष्म हैं । जिनमें रूप और स्पर्श का उद्भव न हुआ हो उन्हें सूक्ष्म कहा जाता है । इस प्रकार यदि ये प्राण सर्वत्र व्याप्त हों तो उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि बतलाने वाली श्रुतियों का कोप भाजन

बनना होगा। तथा जीव उनके गुण का सार है यह बात भी सिद्ध नहीं होगी। इसलिए प्राण परिच्छिन्न या सीमित हैं। अल्पता का नाम ही परिच्छेद है।

यह हुआ प्राणों की अणुता का विचार

अब अन्य प्राणों की अपेक्षा मुख्य प्राण की श्रेष्ठता का विचार होता है।

—"वह श्रेष्ठ है"— (२।४।८)

—"वह वायु या क्रिया नहीं है, क्योंकि उनसे पृथक् निर्देश है— (२।४।६)

—"साथ कहे जाने के कारण यह चक्षु आदि के समान है— (२।४।१०)

—"इन्द्रिय न होने के कारण दोष नहीं आता, आगे वही दिखाया जाता है— (२।४।११)

—"यह पांच वृत्तियों वाला है, मन की तरह कहा जाता है— (२।४।१२)

—"और यह अणु है"— (२।४।१३)

—"उसका उत्क्रमण होने पर प्राण का उत्क्रमण होता है। प्राण का उत्क्रमण होने पर सभी प्राणों का उत्क्रमण होता है। जैसे सम्राट अपने अधिकृतों को नियुक्त करता है वैसा ही यह प्राण अन्य प्राणों को पृथक् पृथक् संस्थापित करता है। हे प्राण यह प्रजा तुमसे ही है, जो तुम प्राणों से प्रतिष्ठित हो"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से यह प्राण दो प्रकार का समझाया गया है, एक मुख्य प्राण तथा दूसरे उसके अनन्तर होने वाले अन्य प्राण। उनमें अनन्तर उत्पन्न होने वाले प्राण बतलाए गए। अब मुख्य प्राण का विवेचन किया जाता है। इन प्राणों में कोई एक प्राण अन्य प्राणों का आश्रय अङ्गी के रूप में समझा जाता है अत. उसे मुख्य समझना चाहिए। उसके विषय में श्रुति कहती है—

—"वे प्राण अपने पिता प्रजापति के समीप जाकर बोले हे भगवन् हममें से श्रेष्ठ कौन है। प्रजापति ने उत्तर दिया कि जिसके निकलने पर शरीर पापिष्ठसा दिखाई देने लगे, तुम में वही श्रेष्ठ है। प्राण ही ज्येष्ठ है। उसके समीप जाकर बोले तुम हम सबमें श्रेष्ठ हो। तुम उक्थ हो। तुम ही यह सब हो। हम तुमारे हैं। तुम हमारे हो। हम तुमारे बिना जीवित नहीं रह सकते।"

—"हमने इन्द्रियों के रक्षक, स्वयं रक्षित रह कर सभी मार्गों में से चरणशील प्राण तत्त्व को देखा, वह सीधी और टेढी रेखाओं को समेटता हुआ भुवनों के अन्तर में विद्यमान है"— (ऋग्वेद १०।१२।१५)

—"स्वधा के द्वारा अपाङ् तथा प्राक् रूप में गृहीत, अमर्त्य होता हुआ भी मर्त्य को निर्मित करता है तथा अन्य को नहीं निर्मित करता"— (ऋग्वेद १।२२।१६४)

इस प्राण को प्रज्ञात्मा इन्द्र समझना चाहिए।

—"अथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय सत्यं हीन्द्रः। स होवाच। मामेव विजानीहि। एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मा मायुरमृतमित्युपास्स्व। आयुः प्राणः। प्राणो वा आयुः। यावद्धचस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।"

इति कौषीतकिश्रुतेः।

"विश्वामित्रं हीन्द्र उपनिषसाद तमिन्द्र उवाच वरं ते ददामीति स होवाच। त्वामेव जानीयामिति। तमिन्द्र उवाच प्राणो वा अहमस्मि ऋषे।"

इत्यैतरेयश्रुतेश्च।

यत्तु—"यः प्राणः स वायुः। स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इति"—

इति श्रुतौ प्राणस्य वायुत्वमुपदिश्यते। सांख्ये च पुनः—

"सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चे"

त्येवं समस्तकरणवृत्तित्वेनायं प्राणः स्मर्यते। तथा चायं प्राणो वायुर्वा स्यात करणव्यापारो वा इति प्राप्नोति। तत्रोच्यते।

—"श्रेष्ठश्च न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्"—

इति। द्विविधः प्राण इत्युक्तम्। तत्रैतेऽनूचीनाः प्राणा भवन्तु वायवः, करणव्यापारा वा, श्रेष्ठस्त्वयं मुख्यः प्राणो न वायुः। न वा करणव्यापारः।

—"प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति चेति"—

वायोः प्राणस्य च पृथक्त्वेनोपदेशात्।

—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। वायुर्ज्योति"—

रिति चेन्द्रियेभ्यो वायोश्चायं प्राणः पृथगुपदिश्यते। तस्मादयं श्रेष्ठः प्राणो न वायुर्नवेन्द्रियमिति विद्यात्।

—"यः प्राणः स वायु"—

—रिति श्रुतिः वायोः प्राणानुगृहीतत्त्वे तात्पर्यं ग्राहयति। एक एवायं वायुरध्यात्मं प्रविष्टः प्राणवशात् पञ्चधा व्यूहितो विशेषात्मनाऽवतिष्ठते। प्राणाधीनवृत्तित्वाच्चायं वायुः प्राण इति व्यपदिश्यते। न त्वयं वायुः प्राणो वायमभिन्नोऽर्थ इति भाव्यम्।

वह इन्द्र सत्य से विचलित नहीं हुआ। सत्य ही इन्द्र है। उसने कहा। मुझे ही जानो। मैं मनुष्य के लिए इसी को हिततम समझता हूं कि वह मुझे जाने। मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं। ऐसे स्वरूप वाले मेरी आयु तथा अमृत के रूप में उपासना करो। आयु ही प्राण है। अथवा प्राण आयु है। जब तक इस शरीर में प्राण का निवास है तभी तक आयु है।"

यह कौषीतकी श्रुति का वाक्य है।

—"विश्वामित्र के समीप इन्द्र गया। उससे इन्द्र ने कहा, मैं तुम्हें वर दूंगा। उसने कहा, मैं तुम्हें ही जान जाऊं। इन्द्र ने उससे कहा, हे ऋषिवर, मैं प्राण हूं।

यह ऐतरेय श्रुति का वाक्य है।

—"जो प्राण है, वह वायु है। वह यह वायु पांच प्रकार का है—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान।" यह जो श्रुति में प्राण को वायु बतलाया गया है, तथा सांख्य दर्शन में—

"सामान्य रूप से इन्द्रियों में व्यवहार चलाने वाले प्राण आदि पांच वायु हैं"

इस प्रकार समस्त इन्द्रियों के व्यवहार के संचालक के रूप में इस प्राण का स्मरण किया गया है। इससे यह प्राण या तो वायु है, या इन्द्रियों का व्यापार या व्यवहार यह अर्थ भाषित होता है। इस पर कहना यह है कि—

—"प्राण श्रेष्ठ है, वह वायु या क्रिया नहीं है, क्योंकि उनका उपदेश पृथक् है"—

प्राण दो प्रकार का है यह कहा गया है। उनमें ये अनूचान जो प्राण है, वे भले ही वायु रूप होते हों, अथवा वे इन्द्रियों के व्यापार रूप हों, जो यह श्रेष्ठ रूप से निर्दिष्ट मुख्य प्राण है, वह तो वायु या व्यापार नहीं है।

—"प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह वायु और ज्योति से आभासित होता और तपता है"—

इस वाक्य में वायु और प्राण का पृथक् उपदेश है।

—"इससे प्राण, मन, समस्त इन्द्रियां, वायु तथा ज्योति उत्पन्न होते हैं"—

यहां भी इन्द्रियों तथा वायु से प्राण का पृथक् निर्देश हुआ है। अतः जिस प्राण को श्रुति ने श्रेष्ठ कहा है, वह न वायु है न इन्द्रियां यह समझ लेना चाहिए।

—"जो प्राण है, वह वायु है"

यह श्रुति वचन वायु के प्राण के द्वारा अनुगृहीत होने में तात्पर्य दिखला रहे हैं। एक ही यह वायु अध्यात्म में प्रविष्ट होकर प्राणवश पांच रूपों में व्यूह बनता हुआ विशेष

रूप से अवस्थित होता है। प्राण के अधीन होकर व्यवहार चलाने के कारण यह वायु प्राण भी कह दिया जाता है। इससे वायु और प्राण अभिन्न अर्थ है यह नहीं समझना चाहिए।

मुख्यप्राणस्य जीवोपकरणत्वविमर्शः ।

ननु यद्ययमिन्द्रस्तर्हि जीववदयं स्वतन्त्रः स्यात्। नैवम्। चक्षुरादिवत्तु स प्राणो जीवोपकरणत्वेन द्रष्टव्यः।

—"तत् सहशिष्ट्यादिभ्यः।

तैश्चक्षुरादिभिर्जीवोपकरणैः सहैवायं प्राणः शिष्यते। तथाहि

—"यथा प्राणो वाव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च। वाग् वशिष्ठा। चक्षुः प्रतिष्ठा। मनः आयतनम्। श्रोत्रं संपत्"—

इति प्राणसंवादे।

—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत। तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक् पादः। प्राणः पादः चक्षुः पादः। श्रोत्रं पादः"—

इति ब्रह्मपादेषु।

—"अष्टौ ग्रहाः। अष्टावतिग्रहाः—प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतः। वाग् ग्रहः। स नाम्ना गृहीतः। चक्षुर्ग्रहः। स रूपेण गृहीतः। श्रोत्रं ग्रहः। स शब्देन गृहीतः"—

इति ग्रहातिग्रहेषु।

—"ता एताः शीर्षन् श्रियः श्रिताः। चक्षुः श्रोत्रं मनः वाक् प्राण"—

इति शीर्षण्यश्रीषु।

—"स एष गिरिः चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् प्राणः"—

इति ब्रह्मगिरिषु। इत्येवमन्यत्रान्यत्रैतस्य प्राणस्य चक्षुरादिभिः सहानुशासनाच्चक्षुरादिवदस्यापि प्राणस्य जीवोपकारित्वं विज्ञायते।

नन्वेकादशैव प्राणाः एकादशैव चैषां प्रातिस्विकानि रूपालोचनादीनि कर्माण्युपलभ्यन्ते। स यद्ययं प्राणश्चक्षुरादिवदेवान्यज्जीवोपकरणं स्यादवश्यं तर्हि चक्षुरादीनां रूपादीनां रूपादिवदस्य प्राणस्यापि प्रातिस्विकः कश्चिद् विषयविशेषः स्यात् तेनायं जीवोपकाराय प्रभवेदिति चेदुच्यते।

—"अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति"—

नेदमिन्द्रियमिष्यते तस्मान्नास्मिन् विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः प्राप्नोति। तथाहि दर्शयति श्रुतिरेतस्य प्रातिस्विकं कार्यान्तरम्।

--"कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिास्यामीति। स प्राणमसृजतेति"--

प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे। आह।

—"प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायमिति"--

सप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षामाह।

--"यस्मात् कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति। तेन यदश्नाति यत् पिबति तेनेतरान् प्राणानवति"--

इति प्रणकृतां शरीरेन्द्रियप्रतिष्ठामाह।

--"तान् वरिष्ठः प्राणः उवाच। मा मोहमापद्यथ। अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामि"--

--"यस्मिन् व उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः"--

इत्येवं प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिमाह।

मुख्य प्राण के जीव का उपकरण होने का विचार

प्रश्न होता है कि यदि यह इन्द्र है तो यह जीव की तरँह स्वतन्त्र होगा। ऐसा नहीं है। नेत्र आदि की तरह उस प्राण को जीव के उपकरण या साधन के रूप में देखना चाहिए।

—"उनके साथ कथन आदि के कारण"—

उन चक्षु आदि जीव के साधनों के साथ ही इस प्राण का भी उपदेश हुआ है। उदाहरणार्थ—

"जैसे प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। वाक् वशिष्ठा है। चक्षु प्रतिष्ठा है। मन आयतन है। श्रोत्र सम्पत्ति है।" यह प्राण संवाद का उद्धरण है।

—"मन ही ब्रह्म है, यह उपासना करनी चाहिए, वह ब्रह्म चार पैर वाला है। वाक् पद है, प्राण पाद है, चक्षु पाद है, श्रोत्र पाद है"—

यह ब्रह्म के पाद के प्रकरण का उद्धरण है।

"आठ ग्रह हैं, आठ अति ग्रह हैं, वह अपान नाम के अतिग्रह से गृहीत है। वाणी-ग्रह है, वह नाम से गृहीत है। चक्षु ग्रह है, वह रूप से गृहीत है, वह शब्द से गृहीत है।"

यह ग्रह अतिग्रह प्रकरण का उद्धरण है ।

—"वे ये शीर्षस्थ श्री हैं, वे हैं चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, प्राण"—

यह शीर्षण्य श्री के प्रकरण का उद्धरण है ।

—"वह यह गिरि है, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, प्राण"—

यह ब्रह्म गिरि प्रकरण का उद्धरण है ।

इस प्रकार अन्यत्र अन्यत्र स्थलों पर प्राण के चक्षु आदि के साथ अनुशासन किये जाने से चक्षु आदि की तरँह इस प्राण का भी जीव का साधन रूप से उपकारी होना ज्ञात होता है ।

पूर्व पक्ष होता है कि प्राण ग्यारह ही हैं, तथा ग्यारह की संख्या में ही इनके रूप आलोचन आदि कर्म भी उपलब्ध होते हैं । तो यह प्राण भी यदि नेत्र आदि की तरँह हो जीवात्मा का एक साधन मात्र हो तो अवश्य ही जैसे नेत्र आदि के रूप आदि विशेष विषय होते हैं वैसे ही इस प्राण का भी अपना कोई विशेष विषय अलग होना चाहिए । जिसके द्वारा यह प्राण जीव का उपकार करने में प्रवृत्त हो सके, इस पर उत्तर यह है कि—

—"करण न होने से कोई दोष नहीं आता, ऐसा ही दिखाया भी जाता है"—

प्राण कोई इन्द्रिय के रूप में स्वीकरणीय नहीं है । अतः प्राण के विषय में यह दोष नहीं आता कि उसका कोई स्वतन्त्र विषय होना चाहिए । श्रुति के द्वारा इसका अपना विशेष कार्य पृथक् रूप से दिखाया जाता है—

—"किसके उत्क्रान्त होने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊंगा, अथवा किसके प्रतिष्ठित रहने पर मैं प्रतिष्ठित रह सकूंगा । उसने प्राण को उत्पन्न किया"—

इस प्रकार प्राण ही निमित्त है जीवात्मा की उत्क्रान्ति या प्रतिष्ठा का यह समझा गया ।

"प्राण से अपने अवर कुलाय की रक्षा करते हुए"—

इस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों की शयन अवस्था में प्राण ही शरीर की रक्षा का निमित्त है यह कहा ।

"उनसे श्रेष्ठ प्राण ने कहा । तुम मोह से ग्रस्त मत बनो । देखो, यह मैं ही अपने को पांच रूपों में विभक्त करके इस प्राण (शरीर) को स्तब्ध होकर धारण कर रहा हूं ।"

—"तुम में से जिसके उत्क्रान्त होने पर (निकल जाने पर) शरीर पाप रूप हो जाता है, वही श्रेष्ठ है"—

इस प्रकार शरीर इन्द्रियों की स्थिति का निमित्त प्राण को बतलाया गया है ।

अथ मुख्यप्राणस्य पञ्चवृत्तित्वविमर्शः ।

अपि चायं प्राणः पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते । यथा तावन्मनसः श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषयाः पञ्चवृत्तयः प्रसिद्ध्यन्ति तथैतस्य प्राणस्यापि पञ्चवृत्तयो द्रष्टव्याः । प्राणः अपानः व्यानः उदानः समान इति वृत्तिभेदापेक्षः संज्ञाभेदः । वृत्तिभेदश्च कार्यभेदापेक्षः । प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा । अपानोऽवाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा । तयोः सन्धौ व्यानो वीर्यवत्कर्महेतुः । उदानः ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः । समानः समं सर्वेषु अङ्गेषु योऽन्नरसान्नयति । इत्येवमयं प्राणो मनोवत् पञ्चवृत्तिरुपपद्यते । चित्तेन चेदं मनो नातितराममतिरिच्यते । स्मर्यन्ते चैतस्य पञ्चवृत्तयो योगविद्यायाम् प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः इति । तद्वदयं प्राणः पञ्चवृत्तिः प्रवर्त्तते इति बोध्यम् ।

इत्थं चायं मुख्यः प्राणः कतिचिद्धर्मैर्विसदृशो भवतीति कृत्वा प्राणेषूपदिष्टमणुत्वमिहाप्यस्ति न वेति सन्दिह्यते । तत्रोच्यते । अणुश्च खल्वेष प्राणान्तरवद् द्रष्टव्यः । यत्तु सर्वं हीदं प्राणेनावृतमित्यादौ क्वचिदस्य विभुत्वमाम्नायते तदधिदैवतापेक्षं विद्यात् । अथवाऽध्यात्ममप्यस्य सूक्ष्मस्य परिच्छिन्नस्य यावच्छरीरं विभुत्वं भाव्यम् ।

समः प्लुषिणा समो मशकेन, समो नागेन, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण

इत्यादिभिः श्रुतिवाक्यैः परिच्छेदपुरस्कारेणैवास्य प्रत्यर्थं विभुत्वोपदशात् ।

इति प्राणान्तरपृथक्त्वेन मुख्यप्राणविमर्शः ।

मुख्य प्राण की पांच वृत्तियों का विचार

पुनश्च यह प्राण

—"पांच वृत्तियों वाला मन की तरँह कहा गया है"—

जैसे मन की श्रोत्र आदि के निमित्त से पांच वृत्तियां प्रसिद्ध हैं वैसे ही इस प्राण की भी पांच वृत्तियां समझी जानी चाहिए । प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये जो संज्ञा भेद है यह प्राण के व्यवहार या वृत्ति भेद के कारण ही है । वृत्ति भेद कार्य भेद के कारण है । प्राण की पहिली वृत्ति कला है । जिससे ऊपर की ओर श्वास आदि आते हैं । आपान् नीचे की ओर वृत्ति वाला है । जिसके कर्म निःश्वास आदि हैं । दोनों की सन्धि में शक्तिशाली कर्मों के सम्पादन का हेतु बनने वाला व्यान है । उदान ऊपर की ओर प्रवृत्ति रखने वाला है जिससे देह त्याग आदि उत्क्रान्ति रूपी कर्म होते हैं । समान नाम का प्राण वह है जो सभी अङ्गों में अन्न के रस भाग को पहुंचा रहा है । इस प्रकार जैसे पांच इन्द्रियों की वृत्ति वाला मन बतलाया है, वैसे ही पांच वृत्तियों वाला प्राण भी है । यह मन चित्त से अत्यन्त पृथक् वस्तु नहीं है । योग विद्या में इस चित्त या मन की, प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच वृत्तियां कही गई हैं । उसी प्रकार यह प्राण

भी पांच वृत्तियों से शरीर के संचालन में प्रवृत्त होता हुआ जीवात्मा का उपकरण बन रहा है यह समझना चाहिए।

इस प्रकार यह मुख्य प्राण कुछ धर्मों में समानता नहीं रखता इसलिए यह सन्देह होता है कि प्राणों के लिए कहा गया अणुत्व इसमें है या नहीं। उस पर कहना यह है कि

—"यह प्रधान प्राण भी दूसरे प्राणों के समान अणु है"—

जो कहीं यह कहा गया है कि

—"यह सारा प्रपंच प्राण से आवृत है"

इससे प्राण की व्यापकता प्रकट की जा रही है तो इस कथन को अधिदैवत पक्ष की अपेक्षा मान कर समझना चाहिए। अथवा अध्यात्मपक्ष में भी इसके सूक्ष्म परिच्छिन्न रूप को सारे शरीर में व्याप्त समझा जा सकता है।

—जो प्लुषी के समान है, जो मच्छर के समान है, जो नाग के समान है, जो इन तीनों लोकों के समान है, जो इस समस्त के समान है"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से परिच्छेद (सीमाबद्ध) पूर्वक ही इस प्राण तत्त्व को प्रत्येक पदार्थ में व्यापक बतलाया गया है।

यह हुआ अन्य प्राणों से पृथक् करण पूर्वक मुख्य प्राण का विमर्श—

अथ देवताधिष्ठितत्वविमर्श:

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्। २।४।१४।

प्राणवता शब्दात्। २।४।१५।

तस्य च नित्यत्वात्। २।४।१६।

—"त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीति"—

मन्त्रश्रुतेस्त्रीणि ज्योतींषि लोकत्रयाधिष्ठातारस्तावदाग्नेयास्त्रयो देवा अग्निर्वायुः सूर्यश्च। अथ द्वौ देवौ सोम्यौ—दिक्सोमश्चन्द्रसोमश्च। ते अन्ये ज्योतिषी।

—'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थेति'

मन्त्रश्रुत्या सोमस्यापि ज्योतिष्ट्वावगमात्। आदिपदेन चेह प्राणो विवक्ष्यते। तथा च तैरेतैर्ज्योतिरादिभिः प्राणसहकृतैः पञ्चभिर्देवैरधिष्ठितत्वमेषां वागादीनां प्राणानां प्रतिपत्तव्यम्। तथा ह्याम्नायते—

—"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी । दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ । चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयमिति"—

अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्माधिष्ठातृत्वेनोपपद्यते ।

—"वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति चे"—

त्यधिष्ठातृत्वश्रवणात् ।

—"स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्"—

इत्येवं पुनरेषां देवानामतिमृत्युत्वे स्वरूपसम्पत्तिराम्नायते । स्मर्यते च ।

—"वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः—

—"वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम्"—

इत्यादि । पञ्चानां चैषां देवानामेकैकेन तत्तदेकैकेन्द्रियेऽधिष्ठानं प्राणवता देवेन द्रष्टव्यम् । न च सर्वेन्द्रियसाधारणमेकमुख्यप्राणमनपेक्ष्यंते देवा इन्द्रियाधिष्ठातृत्वं भजन्ते शब्दात् तथावगतेः । तथा हि श्रूयते ।

—"यथा सम्राडधिकृतान् विनियुङ्क्ते एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव संनिधत्ते चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते" इति ।

—"या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।

—या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीरिति च ।"

—"प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयतीति च । प्राणो वाव संसर्गः । प्राणमेव वाव गम्येति, प्राणं चक्षु, प्राणं श्रोत्रम्, प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते इति च । न वै वाचो न च चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते । प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्तीति च ।

तस्य च प्राणस्य पृथक पृथगन्यान्यदेवाधिष्ठितेष्वपीन्द्रियप्राणेषु नित्यत्वादविशिष्टमधिष्ठातृत्वं प्रत्येतव्यम् । इति पञ्चानां प्राणानां मुख्यप्राणसहकृतपञ्चदेवताधिष्ठितत्वविमर्शः ।

प्राण के देवता से अधिष्ठित होने पर विचार

—"ज्योति आदि का यह अधिष्ठान है क्योंकि ऐसा माना गया है ।" [२।४।१४]

—"शब्द प्रमाण से वह प्राणवान् है"—[२।४।१५]

—"उसके नित्य होने के कारण"—[२।४।१६]

— "वह षोड़षी तीन ज्योतियों का सवन करता है" —

इस मन्त्र श्रुति में तीन ज्योतियों का तात्पर्य तीन लोकों के अधिष्ठाता आग्नेय तीन देवता अग्नि वायु तथा सूर्य से है। दो देवता सोम सम्बन्धी हैं-दिक् सोम और चन्द्र सोमा वे अन्यः ज्योति हैं।

—"तुम ज्योति से विशिष्ट व्यवहार लेते हो"—

इस मन्त्र श्रुति के द्वारा सोम का भी ज्योति के रूप में कथन हुआ है आदि शब्दों से यहां प्राण का ग्रहण अभीष्ट है। इस प्रकार इन ज्योति आदि पांच देवों से, जो प्राण के सहित हैं, उनसे ये वाक् आदि प्राण अधिष्ठित हैं ऐसा समझना चाहिए। इसी में प्रमाण रूप से श्रुति कहती है—

—"अग्नि वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण होकर नासिकाओं में प्रविष्ट हुआ। आदित्य चक्षु होकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएं श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हुई, चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। अग्नि का वाणी होना और मुख में प्रवेश करना देवात्मा के अधिष्ठातृत्व के रूप में समझ में आ सकता है।

—"वाक् ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वह अग्नि रूप ज्योति से प्रकाशित भी है और तपता भी है"—

इस प्रकार अधिष्ठाता होना बतलाया गया है।

—"उसने प्रथमा वाणी का अतिवहन किया, उसने जब मृत्यु को सर्वथा छोड़ दिया तब वही अग्नि हुआ"—

इस प्रकार पुनः इन देवताओं के अतिमृत्यु भाव में पहुंचने पर उनकी स्वरूप सम्पत्ति का कथन किया गया है। स्मरण भी हुआ है स्मृति में कि—

—"तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों ने वाक् को बतलाया है अध्यात्म में, जो वक्तव्य है उसे अधिभूत कहा है, और उसका अधिदेवता है अग्नि"—

और इन पांचों देवताओं में एक एक का उन उन एक एक इन्द्रियों में अधिष्ठान प्राणवान् देवता के साथ समझना चाहिए। ऐसा नहीं है कि सभी इन्द्रियों में समान रूप से कार्यशील एक मुख्य प्राण की अपेक्षा के बिना ये देवता इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनते हैं, क्योंकि शब्दों से यही ज्ञात हो रहा है। जैसा कि सुना गया है कि—

—"जैसे सम्राट् अपने अधीनस्थों को नियुक्त करता है, इसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणों के साथ पृथक् पृथक् जुड़ता है, नेत्र, श्रोत्र, मुख, नासिका आदि से प्राण स्वयं प्रतिष्ठा रखता है"—

– "जो तुमारा शरीर वाणी में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र और चक्षु में प्रतिष्ठित है जो मन में व्याप्त है उसको तुम कल्याणमय बना दो, वह उत्क्रमण न करे"—

—'तेज से संयुक्त प्राण आत्मा के साथ संकल्प के अनुसार लोक में ले जाता है"—

—"प्राण ही संसर्ग है, प्राण के ही समीप जाओ, प्राण ही चक्षु है, प्राण ही श्रोत्र है, प्राण ही मन है, प्राण ही इन सब को संयुक्त रखता है"—

—"वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन इनमें से किसी को नहीं कहा, प्राण को ही कहा"—

—"प्राण ही इन सब का रूप ग्रहण करता है"—

यद्यपि पृथक् पृथक् इन्द्रियों के प्राणों में अलग अलग देवों का अधिष्ठान बतलाया गया है परन्तु मुख्य प्राण नित्य हैं अतः उसका सभो का अधिष्टाता होना समझ लेना चाहिए।

अथ जीवात्मानुगतत्वविमर्शो व्याख्यानान्तरेण ।

—"ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।"

—"तस्य च नित्यत्वात् ।"

—"प्राणवता शब्दात् । इति ।

सर्वेषां ज्योतिषामादिरित्यात्मा विवक्ष्यते ।

—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वमिति"—

श्रुतेस्तस्यात्मना ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वात् । तस्याविशेषेण सर्वेन्द्रियैकाधिष्ठातृत्वं प्रतिपत्तव्यम् । तदामननात् । तथा हि श्रूयते ।

—"यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति । यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । इति ।

—"यस्मिन द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथे"—

ति च । विज्ञानमात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणभूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति च ।

यद्यप्येषां वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनसां प्राणानां पृथक्त्वेनाग्निवाय्वादित्यदिक्चन्द्रैरधिष्ठितानामात्मनाधिष्ठितत्वमनया श्रुत्याऽवगम्यते तथापि प्राणवता तेनात्मना तदधिष्ठानं द्रष्टव्यम्। शब्दात् तथा च प्रतिपत्तेः। तथा हि श्रूयते

—"इदं शरीरमशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्। एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्तः एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः। अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषः। दर्शनाय चक्षुः। अथ यो वेद–इदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्। अथ यो वेद इदं मन्वानीति स आत्मा। मनोऽस्य दैवं चक्षु"—

रित्यादि। न चैतत्प्राणसहयोगमन्तरेणात्मनः प्राणष्वधिष्ठातृत्वं संभवति। तस्य आत्मनि प्राणेषु च नित्यत्वात्। अतश्चायमेकेन मुख्यप्राणेन सम्पद्यमानोऽयमेक एवात्मा शारीरको भोक्ताऽस्मिन् शरीरे सर्वैरेभिः करणैरभिमनुते इत्यवगन्तव्यम्। अहं शृणोम्यहं पश्याम्यहं जिघ्राम्यहं ब्रवीमीत्येवमेतेषु सर्वेषु तत्तत्फलभोक्तृत्वेनैकस्यैवाहमात्मना नित्यं प्रतिपत्तिदर्शनात्। देवानां त्वेषां प्रतिकरणमधिष्ठातृणामनेकत्वान्नैकत्वेनाभिमानः संभवति। सर्वेषामेषामेकस्यापि कस्यचित् सर्वेन्द्रियनित्यत्वाभावात्। तस्यात्मनश्च नित्यत्वान्नित्यः प्राणेन सहैषां प्राणानामभिसंबन्धः।

—"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति"—

इत्येवम्—उत्क्रान्त्यादिषु सहैव तदनुवृत्तिश्रवणात्। अत एव चैतद्देवाधिष्ठितेन्द्रियजन्यभोगस्तस्मिन्नात्मन्येव शारीरके संभवति, न त्वेतेषां देवानां भोक्तृत्वमुपपद्यते। इत्थं चात्र प्राणानधिष्ठितो देवानेष मुख्यप्राणोऽधितिष्ठति, तं च तथाविधमयमात्मा शारीरकोऽधितिष्ठतीति निष्कर्षः सिद्धः।

इति प्राणानां जीवपुरुषानुगतत्वविमर्शः।

एक दूसरी व्याख्या जीवात्मा के अनुगमन के सन्दर्भ में—

—"ज्योति आदि का वह अधिष्ठान है, वैसा कथन होने से"—

—"उसके नित्य होने से"—

—"शब्द प्रमाण से प्रणयुक्तता के द्वारा"—

सभी ज्योतियों का आदि आत्मा को कहा गया।

—"उसी के भासित होने सब कुछ भासित होता है"—

इस श्रुति के द्वारा उस आत्मा को ज्योतियों की ज्योति कहा गया है। उसको बिना किसी व्यवधान के समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता मानना चाहिये। वैसा ही माना गया है। श्रुति कहती है—

"जो कहा नहीं जा सका, जिसके द्वारा वाणी प्रेरित है, जो मन के मनन में नहीं आता, जिसकी प्रेरणा से मन में मनन का सामर्थ्य है, जो नेत्रों से नहीं देखा जाता, जिससे प्रेरित होकर नेत्र देखते हैं, जो कानों से नहीं सुना जाता, जिसकी प्रेरणा से कान सुनते हैं, जो प्राण के द्वारा प्राणित नहीं है, जिसके द्वारा प्राण प्रेरित हैं, उसी को तुम ब्रह्म समझो, उसे ब्रह्म मत समझो जिसकी तुम उपासना करते हो"—

—"जिसमें स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष मन तथा समस्त प्रपंच प्राणों के साथ पिरोया हुआ है। उसी एक आत्मा को जानो, अन्य बातें छोड़ो"—

—'जहां विज्ञान, आत्मा, समस्त देवताओं के साथ प्राण और भूत प्रतिष्ठित हैं, हे सौम्य, उस अक्षर को जो जानता है, वह सर्वज्ञ है, उसका सभी में प्रवेश है,"—

यद्यपि इस श्रुति वाक्य के द्वारा यह अवगत हो रहा है कि वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन और प्राण ये पृथक् रूप से अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, और चन्द्र के द्वारा अधिष्ठित हैं। पुनश्च ये आत्मा के द्वारा भी अधिष्ठित हैं, तथापि प्राणवान् उस आत्मा पर इनका अधिष्ठित होना समझना चाहिए। क्योंकि शब्द के द्वारा ऐसा ही बोधित हो रहा है। जैसाकि सुना जा रहा है- -

—"यह शरीर बिना शरीर वाले आत्मा का अधिष्ठान है, यह संप्रसाद है कि इस शरीर से उठकर परम ज्योति में उपसंपन्न होकर, अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है, जैसे अनुचर को आचरण में नियुक्त किया जाता है, उसी प्रकार इस शरीर में प्राण नियुक्त है, जहां आकाश में नेत्र पहुंचते हैं, वह चाक्षुष पुरुष है, चक्षु दर्शन के लिए हैं, जो यह जानता है कि मैं उसका आघ्राण करूंगा, वह आत्मा है, घ्राण गन्ध के लिये है, जो यह जानता है कि में इसका मनन करूंगा, वह आत्मा है, मन इसका दैव चक्षु है"—

प्राणों में आत्मा का यह अधिष्ठातृत्व इस मुख्य प्राण के सहयोग के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वह आत्मा तथा प्राणों में नित्य विद्यमान है। इस प्रकार एक मुख्य प्राण से सम्पन्न होता हुआ, यह एक ही आत्मा, शारीरिक या भोक्ता इस शरीर में समस्त इन्द्रियों का अभिमान रखता है यह समझना चाहिये। "मैं सुनता हूं", "मैं देखता हूं", "सूंघता हूं", "मै बोलता हूं", इस प्रकार सभी इन्द्रियों में उनके फल के भोक्ता के रूप में एक है। आत्मा नित्य अनुभव करता है। प्रत्येक इन्द्रिय में पृथक पृथक् स्थितिशाली देवताओं का तो यह एक रूप अभिमान हो नहीं सकता। इन सभी में कोई भी एक ऐसा नहीं है, जो समस्त इन्द्रियों में नित्य विराजित हो। वह आत्मा नित्य हैं अतः प्राणों के साथ उसका सम्बन्ध नित्य है।

—"उसका उत्क्रमण होने पर उसके पीछे प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के उत्क्रमण करने पर सभी प्राण उत्क्रमण करते हैं"—

इस प्रकार उत्क्रान्ति आदि में साथ-साथ उसकी अनुवृत्ति बतलाई गई है । इसलिए देवताओं से अधिष्ठित इन्द्रियों का भोग उस शरीर स्थित आत्मा का ही है, न कि ये देवता भोक्ता समझे जा सकते हैं। इस प्रकार प्राणों तथा देवों पर यह मुख्य प्राण अधिष्ठित है, उस रूप वाले प्राण पर अधिष्ठान रखने वाला यह शारीरिक आत्मा है यह निष्कर्ष प्रतिफलित होता है।

यह पूर्ण हुआ प्राणों का जीव पुरुष अनुगत विचार

अथ मुख्यप्राणेन्द्रियप्राणयोर्भेदविमर्शः

मुख्यप्राण एकः इन्द्रियप्राणस्त्वेकादशेत्येवं प्राणद्वैविध्यमाख्यातम् । तत्रायं संशयः । किमस्य मुख्यस्यैव प्राणस्यैते वृत्तिभेदा इतरे प्राणा अथवा तत्त्वान्तराणीति । तत्र तावदुभयत्र प्राणैकशब्दत्वाविशेषाद् द्वैविध्यं नावकल्पते । यथा वा एकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्चवृत्तयो भवन्तीति मुख्यत्वलाक्षणिकत्वाभ्यामेकस्यैव द्वेधा प्रतिपत्तिस्तथैवामी एकादशप्राणा एकस्यैवास्य मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदाः स्युः ।

—"हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति । तस्यैव सर्वे रूपमभवन्"—

इति श्रुत्या तथैव प्रतिपत्तेरित्येवं कश्चित् प्रतीयात् ततस्तत्प्रतिवादिनेह सिद्धान्तः प्रदर्श्यते—

तं इन्द्रियाणि, तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् । २।४।१७।

भेदश्रुतेः । २।४।१८

वैलक्षण्याच्च । २।४।१६।

ते हीमे मुख्यप्राणभिन्ना एकादशप्राणा इन्द्रियाणीत्युच्यंते ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि—

चेत्यादिषु श्रेष्ठात् प्राणादन्यत्र तद्व्यपदेशात् । श्रेष्ठस्त्वेष प्राणो नेन्द्रियत्वेन व्यपदिश्यते । तथा च भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्चैष मुख्यप्राणः प्राणेभ्यो नूनमन्योऽर्थः प्रतिपत्तव्यः । ननु तर्हि मनसोऽप्येवं सति प्राणवदिन्द्रियत्वात् पृथक्त्वं स्यात् ।

—"मनः सर्वेन्द्रियाणि चेति"—

पृथक्त्वेन व्यपदेशभेदाद्—इति चेद् अत्रोच्यते—द्विविधं हीदं मनः प्रतिपत्तव्यम् । सुखदुःखादिवेदनीयवृत्तिकमिन्द्रियं किञ्चिदन्यदेकादशं भवति । सर्वेन्द्रियं त्वतीन्द्रियं तदन्यत् । तेन ।

—"मनः सर्वेन्द्रियाणि चेति"—

वाक्ये मनसः पृथगुपादानमतीन्द्रियमनोऽभिप्रायं न विरुध्यते। प्राणस्य त्वस्य पञ्चवृत्तेरिन्द्रियेभ्यो भेद एव नित्यं श्रूयते न तु मनोवत् क्वचिदिन्द्रियत्वम्। वैलक्षण्यं चास्य मुख्यप्राणस्येन्द्रियप्राणेभ्यो भवति। तथा हि—प्रसुप्तेषु वागादिषु एकोऽयं मुख्यः प्राणो जागर्तीति वैलक्षण्यं भवति।

अथ

—"वदिष्याम्येवाहमिति वाग् दधे"—

—"इत्येवमादीनीन्द्रियाणि प्रस्तुत्य"—

—'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे। तस्माच्छ्राम्यत्येव वाग्"—

इत्येवं श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामुक्त्वा—

—"अथेममेव नाप्नोत् योऽयं मध्यमः प्राणः" इत्येवं श्रमानभिभूतमेकमाह।

अपि च

—"प्रतिरूपं वदति। अप्रतिरूपं जिघ्रति पश्यति शृणोति संकल्पयति। एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्। एवमेताः पाप्मनाविध्यन्। अथ हेममासन्यं प्राणं पाप्मना विध्यन्। स यथाऽश्मानमृत्या लोष्टो विध्वंसेत एवं हैव विध्वंसमाना विश्वञ्चो विवेशुः"—

इति पाप्मनायमविद्धो मुख्यः प्राणो विद्धास्त्विन्द्रियप्राणाः। इति वैलक्षण्यं भवति। तस्माद् एक एवायं मुख्यप्राणो मृत्युना नाप्तोऽथेतरे सर्वे मृत्युनाप्ताः। सविषयाः प्राणाः निर्विषयः प्राणः, प्रकाशवृत्तयः प्राणा, न प्राणः विधरणवृत्तिः प्राणो न प्राणः—इत्थमनेकधा वैलक्षण्यं दृश्यते। तथा चैभ्यो हेतुभ्यस्तत्वान्तरभूता मुख्यादितरे इति सिद्धम्। इति मुख्यप्राणेन्द्रियप्राणयोर्भेदविमर्शः।

मुख्य प्राण तथा इन्द्रिय प्राणों के भेद का विचार

मुख्य प्राण एक है तथा इन्द्रिय प्राण ग्यारह हैं। इस प्रकार प्राण दो—प्रकार का कहा गया है। वहां यह सन्देह है कि अन्य प्राण मुख्य प्राण के ही वृत्ति से कल्पित भेद या व्यावहारिक भेद मात्र हैं अथवा ये अन्य इन्द्रिय प्राण पृथक् तत्त्व रूप हैं। क्योंकि दोनों ही को प्राण कहा जा रहा है अतः ये दोनों मूलतः पृथक् पृथक् तत्त्व हैं ऐसा तो हो नहीं सकता। अथवा जैसे एक ही प्राण की प्राण अपान आदि पांच वृत्तियां है अतः एक मुख्य और दूसरा गौण या लाक्षणिक समझ लिया जाता है और एक की ही प्रतिपत्ति या अनुभव दो प्रकार से हो जाता है वैसे ही ये ग्यारह प्राण भी इस एक ही मुख्य प्राण के व्यवहार भेद हो सकते हैं।

—"प्राण को छोड़ कर अन्य सभी इसी के रूप हैं, उसी के समस्त रूप हो गए"—

इस श्रुति के द्वारा वैसा ही ज्ञात हो रहा ऐसा कोई समझ सकता है, इसलिए उसका प्रतिवाद करते हुए सिद्धान्त बतलाया जा रहा है—

—"वे इन्द्रियां हैं, इसी नाम से उनका व्यवहार है, वे श्रेष्ठ से पृथक्— (२।४।१७)

—"भेद के श्रवण के कारण ऐसा है"— (२।४।१८)

—"विलक्षणता के कारण भी ऐसा है"-- (२।४।१९)

ये मुख्य प्राण से भिन्न ग्यारह प्राण इन्द्रिय कहे जाते हैं।

--"प्राण, मन, तथा समस्त इन्द्रियां इसी से उत्पन्न होती हैं"

इत्यादि वाक्यों में श्रेष्ठ प्राण से भिन्न इनका कथन है। तथा यह श्रेष्ठ प्राण कहीं इन्द्रिय शब्द से व्यवहृत नहीं हुआ है। इसलिए इनको भिन्न बतलाने वाले श्रुति वाक्यों से तथा विलक्षणता के कारण भी प्राणों से भिन्न अर्थ इसे मानना चाहिये।

प्रश्न होता है कि इस प्रक्रिया से तो मन भी प्राणवान् इन्द्रिय है अतः उसे भी पृथक् करके गिनना होगा। क्योंकि—

"मन तथा समस्त इन्द्रियां"

इस प्रकार पृथक् करके मनका भिन्न रूप से कथन किया गया है। यहां उत्तर यह है कि इस मन को दो प्रकार का समझना चाहिये। एक वह जो सुख दुःख आदि का ज्ञान प्राप्त करने वाला इन्द्रिय स्वरूप है, वह कुछ और है जो गणना में एकादशवीं संख्या पर आता है। एक अन्य वह है जो सब इन्द्रियों में रहता हुआ भी अतीन्द्रिय है।इस विवरण से—

--"मन तथा समस्त इन्द्रियां"—

इस वाक्य में मन का पृथक् निर्देश अतीन्द्रिय मन के अभिप्राय से होने के कारण विरोध नहीं आता। इस पांच वृत्ति वाले प्राण का तो इन्द्रियों से सर्वदा भेद ही सुनने में आया है न कि कहीं भी मन की तरँह प्राण को इन्द्रिय कहा गया है। इसका भेद तो मुख्य प्राण और इन्द्रिय प्राणों को लेकर हुआ है। क्योंकि जब वाक् आदि सब सुप्त अवस्था में चले जाते हैं तो मुख्य प्राण जाग्रत रहता है यह विलक्षणता है।

--"अब मैं अवश्य बोलूंगा, ऐसा निश्चय करने पर वाणी को धारण किया"—

इस प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति को प्रस्तुत करने के अनन्तर--

—"उनको मृत्यु ने श्रम का रूप धारण करते हुए ग्रहण किया। इसलिए वाणी को श्रम होता ही है"—

इस प्रकार श्रम रूपी मृत्यु से वाणी आदि को ग्रस्त बतलाकर

—"श्रम रूपी मृत्यु ने केवल मध्यम प्राण को ही अपने अधिकार में नहीं लिया"—

इस प्रकार एक को श्रम से अनाक्रान्त बतलाया। फिर प्रकरण आगे चलता है कि—

—"प्रति रूप को कहा जाता है। जो अप्रतिरूप है उसका घ्राण होता है, उसे देखता है, सुनता है, सकल्प करता है। इस प्रकार ये देवता पाप से युक्त हुए। इस प्रकार ये पाप से आविद्ध हुए। हमें पाप ने वेध दिया। वह जैसे पत्थर के लकड़ी के सहारे से लोहा तोड़ देता। इस प्रकार विध्वस्त होते हुए चारों ओर प्रविष्ट हो गए।"—

इस विवरण में भी मुख्य प्राण पाप से आक्रान्त नहीं हुआ, जब अन्य इन्द्रिय प्राण पाप से आक्रान्त हो गए, यह विलक्षणता है। इसलिए एक मात्र यह मुख्य प्राण मृत्यु से गृहीत नहीं हुआ अन्य सभी मृत्यु से आक्रान्त हुए। अन्य इन्द्रिय प्राण और मुख्य प्राण में अन्य भी विलक्षणताएं हैं कि अन्य प्राण सविषय हैं, मुख्य प्राण निर्विषय हैं, प्राण प्रकाश वृत्ति वाले हैं, मुख्य प्राण ऐसा नहीं है, विधारण वृत्तिवाला प्राण है अन्य प्राण नहीं इत्यादि। इन हेतुओं से मुख्य प्राण से अन्य प्राण तत्त्वतः अलग हैं यह सिद्ध हुआ।

यह हुआ मुख्य प्राण तथा इन्द्रिय प्राणों के भेद का विचार

अथातः परं द्वाभ्यां विमर्शाभ्यां भूतप्रकरणमारभ्यते—

अथ प्राणमयभूतानामीश्वरात्मजन्यत्वविमर्शः।

अधिदैवतं प्राणा ईश्वरात्मनस्तथाध्यात्मं प्राणा जीवात्मनो जायन्ते इत्युक्तम्। तत्साम्येन तेजोऽबन्नानामपि जीवजन्यत्वं कश्चित् प्रतीयात्। अतस्तत्प्रतिवादेन तेषामीश्वरजन्यत्वं निर्धारयितुमिदं प्रकरणान्तरमारभ्यते।

भूतेषु नामरूपव्याकरणस्य परदेवताजन्यत्वविमर्शः।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्। २।४।२०।

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च। २।४।२१।

वैशेष्यात्तु तद्वादः। २।४।२२।

छान्दोग्यश्रुतौ तेजोऽबन्नसृष्टिः श्रूयते।

सदेवेदमग्र आसीत्। तत्तेजोऽसृजत्। तदपोऽसृजत। ता अन्नमसृजन्त। सेयं देवतैक्षत। हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् यद्रोहितं रूपं तेजसस्तत्। यच्छुक्लं तदपाम्। यत्कृष्णं तदन्नस्य। यद्विज्ञानमिवाभूदिति। एतासामेव देवतानां समास इति। तद्विदांचक्रु। यथा नु खलु सौम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहि। अन्नमशितं त्रेधा। यः स्थविष्ठो धातुः तत् पुरीषम्। यो मध्यमस्तन्मांसम्। योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा—मूत्रं लोहितं प्राणः। तेजोऽशितं त्रैधा अस्थि मज्जा वाक्। अन्नमयं हि सौम्य मनः। आपोमयः प्राणः। तेजोमयी वागिति। इति।

अत्रेदं मीमांस्यते। इदं तावन्नामरूपव्याकरणं जीवकर्तृकं वेश्वरकर्तृकं वेति तत्राह—

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृद् कुर्वत उपदेशादिति।

संज्ञानाम् मूर्ती रूपम् क्लृप्तिर्व्याकृतिः। सा त्रिवृत् कुर्वतः क्रियाऽभ्युपगन्तव्या। श्रुतौ तथैवोपदेशात्। तथा हि—प्रत्यर्थमिदं नामरूपव्याकरणं त्रिवृत्करणसामानाधिकरण्ये-नोपदिश्यते। तथा चेयमेकैव सा परदेवता तेजोऽवन्नानि सृष्ट्वा, तेषु जीवरूपेण प्रविश्य तेषामेकैकं त्रिवृत् कृत्वा नामरूपाभ्यां व्याकरोत। तत्रैतत्तेजोऽबन्ननिर्मात्र्याः परदेवताया एवैतेषु जीवरूपेण प्रत्यर्थमनुप्रवेशात् तस्या एव त्रिवृत्कर्तृत्वं नामरूपव्याकर्तृत्वं चोपपद्यते न तु जीवस्य। नानाविधेष्वेतेष्वनन्तेषु गिरिनदीसमुद्रादिषु अनीश्वरस्य जीवस्य नामरूप-व्याकरणसामर्थ्यासम्भवात्। यावता वा दृश्यते सामर्थ्यं तत्रापि च परदेवतायत्तमेवैत-द्विद्यात्। जीवभावस्योपाधिमात्रनिबन्धनतया एतस्य जीवस्य वस्तुतः परदेवतानति-रिक्तत्वात्। ईश्वरः परदेवता। तया कृतमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति सिद्धान्तः। आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता—इत्येवमादिश्चोपदेशस्तमर्थं गमयतीति विद्यात्।

अब इसके अनन्तर दो विमर्शों में भूत प्रकरण का विचार किया जाता है।

प्राणमय भूतों का ईश्वरात्मा से उत्पन्न होने का विचार

कहा गया है अधिदैवत में प्राण ईश्वरात्मा से समुत्पन्न है तथा अध्यात्म में प्राण जीवात्मा से उत्पन्न होते हैं। इसी की समानता के आधार पर कोई यह समझ सकता है कि तेज, अप् और अन्न भी जीव से समुत्पन्न हैं अतः उसके प्रतिवाद के लिए इनका ईश्वर के द्वारा उत्पन्न होना सिद्ध करने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

भूतों में नाम और रूप के विभाग का पर देवता से उत्पन्न होने का विचार

संज्ञा और आकार की कल्पना तो शास्त्रीय कथन से त्रिवृत होने पर होती है ।२।४।२०।

शब्द प्रमाण के द्वारा मांसादि भौम हैं तथा अन्य दोनों भो पार्थिव ही हैं

।२।४।२१।

नामकरण तो अधिकता के कारण है— ।२।४।२२।

छन्दोग्य उपनिषद में तेज, अप् तथा अन्न की सृष्टि सुनी जातो है—

यह प्रारम्भ में सत् ही था। उसने तेज को उत्पन्न किया। उसने जल को उत्पन्न किया। उसने अन्न को उत्पन्न किया। इस देवता ने देखा (सोचा) कि मैं अब इन तीनों देवताओं में प्रविष्ट होकर नाम और रूप का विभाजन करूं। इनको तीन तीन के विभाजन से एक एक बनाऊं। उस देवता ने इन तीनों देवताओं को इस जीवात्मा के साथ प्रवेश करके नाम और रूप का विभाजन किया। उनमें से प्रत्येक को तीन तीन गुणित किया। इनमें जो रोहित (लाल) रूप था, वह तेज का था, जो श्वेत रूप था, वह जल का था, जो काल रूप था, वह अन्न का था। वह जानने योग्य जैसा हो गया। वह इन्हीं देवताओं का समस्त रूप था। उसको समझ लिया। जाना यह कि हे सौम्य जैसे ये तीनों देवता पुरुष को प्राप्त करके तीन तीन मिलकर एक एक हो जाते हैं उसे मुझे जानो। भोजन किया हुआ अन्न तोन रूपों में जाता है, जो स्थूल धातु है, वह पुरीष (मल) होता है। जो मध्यम है, वह मांस होता है। जो सूक्ष्म है, वह मन हो जाता है। पिया हुआ जल तीन विभाजनों में जाता है मूत्र, रक्त तथा प्राण। तेज का भक्षण होने पर तीन विभाग बनते हैं, अस्थि, मज्जा तथा वाक्। हे सौम्य, यह मन अन्नमय है, प्राण आयोमय है, वाक् तेजोमयी है।"—

यहां यह विचार करना है कि यह नाम और रूप का विभाजन जीव का किया हुआ है अथवा यह ईश्वर का किया हुआ है। उसका उत्तर होगा कि—

—"संज्ञाओं की मूर्ति की रचना तीन गुनी की जाती है उपदेश के आधार पर"—

संज्ञाओं की मूर्ति अर्थात् रूप की कृति अर्थात् विभाजन। वह तीन को एक में मिलाने की (त्रिवृत करण) क्रिया समझनी चाहिए। क्योंकि श्रुति में ऐसा ही उपदेश है। स्पष्ट यह है कि प्रत्येक पदार्थ के नाम और रूप का यह विभाजन त्रिवृत् कारण के होने के अनन्तर उन्हीं पदार्थों का होता है जिनका त्रिवृत् करण हो चुका है, ऐसा वेदों में उपदिष्ट है। जैसाकि एक ही यह पर देवता तेज, अप् तथा अन्न की सृष्टि करके उनमें

जीव के रूप से प्रवेश करके उनमें एक एक को तीन तीन से मिलाकर (त्रिवृत करके) उनके नाम और रूप का विभाजन करता है। क्योंकि अनेक प्रकार इन अनन्त पर्वत, नदी, समुद्र आदि में ईश्वर से भिन्न जीव के द्वारा नाम और रूप का विभाजन करना असम्भव है। जीव में जितना भी सामर्थ्य है वह भी पर देवता के ही आयतन है यह ध्यान रखना चाहिए। जीव भाव तो केवल उपाधि मात्र के सम्बन्ध होने से है। वस्तुतः तो यह जोव पर देवता से अतिरिक्त है ही नहीं, ईश्वर ही पर देवता है। उसी के द्वारा किया हुआ यह नाम तथा रूप का विभाजन है यही सिद्धान्त है।

—"आकाश नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है"—

इत्यादि उपदेश उसी अर्थ की ओर सकेत कर रहे हैं यह समझना चाहिए।

अथैतस्यामेव तेजोऽबन्नसृष्टौ त्रिवृद्भावे प्रकारान्तरं दृश्यते। स्थविष्ठमध्यमाणिष्ठभेदात् धातुत्रैविध्यमिति। तवान्नमशितं त्रेधा भवति। पुरीषं मांसं मन इति। आपः पीतास्त्रेधा मूत्रं लोहितं प्राण इति तेजोऽशितं त्रेधा अस्थि मज्जा वागिति तेष्विदं। मांसमन्नं च भौमं वाच्यम्। तेजोऽबन्नेषूक्तस्मान्नशब्दस्य भूमिवचनत्वात्। त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यते। तेनैतस्याः पुरीषु स्थूलं मांसं मध्यमम् मनः सूक्ष्मम् इत्येवं त्रेधा विकाराः भौमाः प्रत्येतव्याः। अथैवामितरयोश्च तत्रापतेजसोस्त्रिवृद्भावे यथा शब्द आह तथा द्रष्टव्यम्। अर्थोपपादकः श्रुतिवाक्यं शब्दः। श्रुतौ च रक्तादीमाप्यत्वमस्थिमज्जादीनां तैजसत्वमुपपाद्यते। पारम्परिकत्वे तेषां परदेवता जन्यत्वेऽपि संवरक्रमे तेषामन्योन्यस्य तेजोऽबन्नादि समुत्पन्नत्वस्यापरिहार्यत्वात्।

यत्तु कश्चिद्ब्रूयात् सर्वस्यैवास्य भूतभौतिकप्रपञ्चस्याविशेषतस्त्रिवृद्भावात् सर्वद्रव्याणां सर्ववृत्तित्वलाभात् मांसं भौमं लोहितमाप्यं मज्जा तैजसः इत्येवमयं तत्रतत्र विशेषव्यपदेशो नावकल्पते इति। तत्रोच्यते—

वैशेष्यात्तु तद्वादः संभवति।

विशेषस्य भावो वैशेष्यं भूयस्त्वम्। त्रिवृद्भावेन सर्वसत्वेऽपि क्वचित् कस्यचिद्भूतधातोर्भूयस्त्वं निष्कृष्यते। यथाऽग्नेस्तेजोभूयस्त्वम् उदकस्याब्भूयस्त्वम् पृथिव्या अन्नभूयस्त्वमिति। भूयोदर्शनाच्च लोके व्यवहाराः प्रकल्पन्ते। तस्मात् सर्वत्र सर्वोपचयेऽपि सर्वत्र भेदपुरस्कारेणैव सर्वेषां नामरूपव्याकरणं सिद्धम्।

इति प्राणमयभूतानामीश्वरजन्यत्वविमर्शे नामरूपव्याकरणस्य परदेवताजन्यत्वविमर्शः।

प्राणविमर्शप्रकरणेऽस्मिन् पादे भूयो भूतप्रकरणसंनिवेशः सर्वेषामेषां भूतवर्गादूर्ध्वं

निरूपितानामन्तःकरणजीवप्राणानां भूतग्रामान्तर्निविष्टत्वं सूचयति । मंगलार्थं चेदमेकैकस्य भूयःकरणमीश्वरस्मरणं च संसिद्धम् ।

इति शारीरकविज्ञानभाष्ये द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः संपूर्णः
द्वितीयाध्यायः सम्पूर्णः ।

अब इसी तेज, अप् और अन्न की सृष्टि में जब त्रिवृत्भाव या तीन तीन का मिश्रीकरण होता है तो एक दूसरा प्रकार भी देखने में आता है । और वह है स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म भेद से धातुओं की त्रिविधता । जो अन्न भक्षित होता है वह तीन भागों में चला जाता है, विष्ठा, मांस और मन । पिया हुआ जल तीन भागों में जाता है मूत्र, रक्त तथा प्राण । तेज भक्षित होकर तीन रूपों में जाता है, हड्डी, मज्जा तथा वाणी । उनमें मांस और अन्न को भूमि सम्बन्धी कहना चाहिए । क्योंकि तेज, अप् और जल में आया अन्न शब्द भूमि का वाचक है त्रिवृत्करण के उपरान्त यह भूमि ही चावल, जौ आदि के रूप में भुक्त होती है । इसलिए इसका स्थूल भाग विष्ठा, मध्यम भाग मांस तथा सूक्ष्म भाग मन होता है और ये तीन भूमि के ही विकार समझे जाते हैं । अब इसी प्रकार अन्य दोनों, जल और तेज का जब त्रिवृत्करण हुआ तब जैसे शब्द प्रमाण ने कहा वैसा समझना होगा । शब्द प्रमाण अर्थ को प्रस्तुत करने वाले श्रुति वाक्यों को कहा जाता है । श्रुति में रक्त आदि को जल का विकार तथा अस्थि, मज्जा आदि को तेज का विकार बतलाया गया है । परस्पर क्रम से इनके परम देवता से उत्पन्न होने पर भी संचर क्रम में इनमें एक दूसरे के तेज, अप्, अन्न आदि से उत्पन्न होने की बात भी अपरिहरणीय है ।

अब यहां किसी को जो यह शंका होती है कि इस समस्त भूत भौतिक प्रपञ्च का ही जब बिना किसी भेद भाव के त्रिवृत्करण होता है तब सभी द्रव्य सभी के रूप में व्यवहार में आते हैं तब मांस तो भूमि का विकार है, रक्त जल का विकार है, मज्जा तेज का विकार है । इस प्रकार उन उन पदार्थों के लिए विशेष उत्पत्ति बतलाना ठीक नहीं बैठता । इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि—

—"विशेषता के कारण उसका नाम रखा जाता है"—

विशेषता का अर्थ है अधिकता त्रिवृत् कारण की प्रक्रिया में तीनों का ही समावेश होने पर भी कभी कहीं किसी भूत के धातु की अधिकता की पहिचान होती है । जैसे अग्नि में तेज अधिक मात्रा में है, उदक में अप् तत्त्व अधिक मात्रा में है, पृथिवी में अन्न अधिक है । अधिकता को देखकर ही लोक में व्यवहारों की कल्पना होती है । इसलिए सर्वत्र सब तत्त्वों के एकत्र रहने पर भी सर्वत्र प्रधानता के भेद के अधार पर नाम और रूप का विभाजन होता है यह सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार प्राणमय भूतों के ईश्वर से उत्पन्न होने के विचार में नाम और रूप के विभाजन के विचार में पर देवता से उत्पन्न होने का विमर्श हुआ।

प्राणतत्व के विचार के इस प्रकरण में इस पाद में पुनः भूतों के प्रकरण का संनिवेश करना भूत वर्ग से पहिले निरूपित इन सभी अन्तःकरण जीव और प्राण का भूत समूह के भीतर समावेश है यह सूचित करता है। एक एक को पुनः निरूपित करना मंगलार्थ है और इससे ईश्वर के स्मरण की भी सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार शारीरक विज्ञान भाष्य के द्वितीय अध्याय का चतुर्थ पाद पूर्ण हुआ।

डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी द्वारा यह इस अंश का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट

मूल उद्धरण	पृष्ठ सं०	संकेत स्थल
"अ"		
असद्वा इदमग्र आसीद्	२३९	तै. उ. २:७:१
असन्नेव स भवति	२४२	तै. उ. २:६:१
अविज्ञातं विजानतां	४१	तल. उ. ११:६
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं	४८	गी. ७:२४
अव्यक्तातु परः पुरुषो	२१७	क. उ. २:७:८
अयंआत्मा ब्रह्म	१०७	मां. सं. २:
अजामेकां लोहित	२२९	श्वे. उ. ४:५
अदृश्यमग्राह्यम्	५८	म. उ. १:६
अनश्नन्नन्योऽभि	१०९	श्वे. उ. ४:६
अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य	२५७	छा. उ. ६:३:२
अग्निर्यथैको भुवनं	६१	क. उ. २:५:९
अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य	६७	श. ब्र. ११:१:१
अग्नि मूर्द्धाचक्षुषी	१३१	म्र. उ. २:१:४
अचिकित्वांश्चिदत्र	२९	ऋ. वे. १:१६४:६
अथेन्द्राग्नि वा असृज्येताम्	६७	मां. सं. १०:२
अथ यदतः परोदिवो	८९	छा.ब्रा. २:३:७
अशब्दमस्पर्श रूपमव्ययं	४१	क. उ. १:३:१५
अस्य लोकस्य का गति.	८४	छा. उ. १:९:१
अणोरणीयान्महतः	५२	क. उ. १:२:२०
"आ"		
आत्मा वा इदमग्र	१०	ऐ. उ. १:२
आत्मन एष प्राणो	१२	प्र. उ. ३:१२
आत्मन एवेदं सर्वम्	१३	छा.उ. ७:२५:२
आत्मैवेदं सर्वम्	२३	छा.उ. ६:२४:२
आत्मा वा इदमग्रआसी	२३	ऐ. उ. १:४:७
आत्मामन्विच्च गुहां	२३	क. उ. १:२:१९
आत्मानं रथिनं विद्धि	१२४	क. उ. १:३:३
आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता	१६६	छा. उ. ८:१
आनन्दो ब्रह्मे ति व्यजानात्	२५	तै. उ. ६:१
आननंद ब्रह्मणो विद्वान्नविभेति	२५	तै. उ. २:४:१
आनन्दं चेद् विजानीयाद	३२	वृ. उ. ४:४:१२

मूल उद्धरण	पृष्ठ सं०	संकेत स्थल
आनन्दात्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा	३३	तै. आ. ८:५
आचार्य्यवान् पुरुषो वेद	१३	छा.उ.६:१४:२
आविर्भूतप्रकाशानां	१८	वा. प, १:३७
"इ"		
इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चा	७०	ऐ. उ. २८
इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था:	२१६	क. उ. १:३:१०
इन्द्रियेभ्य: परं मनोमनस:	२.९	क. उ. २:६:७
इन्द्रियाणि हयानाहु	२१८	क. उ. १:३:४
ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति	१०५	गी. १८:६१
"उ"		
उत् तमादेशमप्राक्षी:	१६	छा. उ. ६:१:३
उत्तम पुरुषस्त्वन्य:	४४	गी. १५:१७
उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास	५६	श. ब्रा. १०:१:४
उमा जिग्युथुर्न	७०	ऋ.वे.६:६९:८
		य. वे. ३१:१
"ए"		
एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़	४७	श्वे. उ. ६:११
एकोवशी निष्क्रियाणां	६१	क. उ. २:५:१३
		श्वे. उ. ६:१३
एतावानस्य महिमा ततो	९०	ऋ. वे. १०:७:९०:५
एतस्माज्जायते प्राण:	१३३	मु. उ. २:१:३
एतद्योनीति भूतानि	२२१	गी. ७:६
एष आत्माऽपहतपाप्मा	२९	छा. उ. १:४:१०
एष सर्वेश्वर:"	८३	मां. सं. १:६
एष साधुकर्म कारयति		कौ. उ. ३:९
"ऐ"		
ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्	२८६	छा. उ. ६:१२:३
"ऋ"		
ऋतोअक्षरे परमेव्योमन्	८६	श्वे. उ. ४:८
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य	१११	क. उ. १:३

मूल उद्धरण	पृष्ठ सं०	संकेत स्थल
यद्वचो यद्यजूंषि मत्सामानि	७२	श. ब्रा. ५:४:७
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह	५५	क. उ. २:४:१०
यदेष आकाशो आनन्दो न स्यात्	८६	बृ. उ. ३:६:२८
यदादित्य गतं तेजः जगत् भासयतेऽखिलम्	१७४	गी. १३:३०
"य"		
योनिमध्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय दोहनः	२२७	क. उ. १:५:७
यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति	४१	छा. उ. ७:२४:१
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्	१६०	श्वे. उ, ६:१८
यो वेद निहितं गुहायाम्"	११२	तै. उ. २:१
यस्य ब्रह्म चक्षत्रंचोभे भवत ओदनः	१०६	क. उ. १:२:२५
येयं प्रेते विचिकित्सेति	११३	क. उ. १:२:२०
यो विज्ञाने तिष्ठन्	११३	बृ. उ. ३:७:२२
"र"		
रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी	२५	तै. उ. २:७
"व"		
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्"	२१८	श्वे. उ. ३:८
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"	३४	बृ. उ. ३:६:२८
विज्ञान सारथिर्यस्तु"	२१८	क. उ. १:३:६
"स"		
सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय	२७	तै. उ. ६:१
स इमाल्लोकान सृजत्	२३६	ऐ. उ. १:१
सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेव	७	छा. उ. ६:२:३
स ब्रह्म विद्या सर्वविद्या	१२०	मु. उ. १:१
स प्राणस्तदुवाङ्मन	६१	मु. उ. २१२
स प्राणम सृजतः प्राणाच्छ्रद्धां	२३६	प्र. उ. ६:२
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः	११४	श्वे. उ. ४:७
सेयं दैवतैक्षत् जीवेनात्मना	७	छा. उ. ६:३:२
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	२७	तै. उ. २:१:१
सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुः	६१	क. उ. २:५:११
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	१३	छा. उ. ३:१४:४
संवदन्ति यं वेदाः	४०	तै. उ. ४:१

—□—

शुद्धि पत्र

ग्र० पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२६	लाकिक	लौकिक
१२	१८	विप्रतष्ठन्ते	विप्रतिष्ठन्ते
४४	३	ये	इन
४७	१३	सवभूतेषु	सर्वभूतेषु
४९	१	तनायमव्ययो	तेनायमव्ययो
५१	५	द्वेवा	द्वेधा
६२	१	यद्भतं	यद्भूतं
७५	१	आधिदविकानां	आधिदैविकानां
८१	७	अन्तपुरुष	अन्तःपुरुष
९०	२६	चरण स्वर्ग है"—	चरण स्वर्ग में हैं"—
९६	२३	गृश्यत	दृश्येत ।
१००	२४	सुझे ही जानो	मुझे ही जानो,
१०१	२	तात्पय	तात्पर्य
१०३	२०	क्रतमय	क्रतुमय
१२१	१	सवगत	सर्वगत
१५३	१८	भूमशब्दमिरूक्तत्ता	भूमशब्दभिरूक्तता
१७१	८	बुद्धमुक्तस्वभावे	बुद्धेमुक्तस्वभावे
१७१	२२	सवदा	सर्वदा
१७२	३	उत्तरत	उत्तरित
१७२	१४	उद्दश्य	उद्देश्य
१७३	१९	उसका	उसकी
१७५	१२	सन्दभ	सदर्भ
१८५	५	इसा	इसी
१९७	२	अघ्यितव्य	अध्येतव्य
१९७	२३	सन्दह	सन्देह
२००	४	सकीतनमस्य	संकीर्तनमस्य
२०९	५	समुत्थायोयद्यत्युत्या	समुत्थायोपद्येत्युक्त्या
२१७	१०	प्रकृतन	प्रकृतिर्न
२१९	२	इह	वह
२१९	६	विष्ण	विष्णु
२२२	२७	नुझे	मुझे

२२४	६	हेश्वर	महेश्वर
२३३	२०	अन्त	अन्न
२३४	८	समझना	सम्मतता
२३५	३	वसे	वैसे
२३८	२६	कारण प्रमाण	कारण वाद प्रमाण
२४१	१६	सवत्र	सर्वत्र
२४८	१६	समापस्थ	समीपस्थ
२४६	१	केवलमेषा	न केवलमेषां
२५१	६	स्वछता	स्वच्छता
२५१	१७	आकास	आकाश
२५६	१५	सौन्था	सौम्य
२५६	२८	और कुण्डल से	और स्वर्ण कुण्डल में
२५७	२१	पुष्ठि	पुष्टि
२६३	७	सूष्टि	सृष्टि
२८१	५	आष	आर्ष
२८१	७	प्रतित्तव्य	प्रतिपत्तव्य
२८१	१८	काहण	कारण
२८२	२५	स्वाकार	स्वीकार
२८३	६	यथाथता	यथार्थता
२८४	२८	वाचारम्भणंवकारो	वाचारम्भणंविकारो
३०६	५	व्याहार:	व्यवहार:
३१०	२६	श्रति	श्रुति
३१३	१०	सर्ववषम्यस्य	सर्ववैषम्यस्य
३२०	२०	निमित्तापक्षाया	निमित्तापेक्षाया
३२२	१३	निष्क्रय	निष्क्रिय
३२५	१७	समाहस्व	समानह्लस्व
३२५	२३	घनपेक्षा	अनपेक्षा
३४५	२२	प्रस	एष
		किन्त्न	किन्त्व
३५१	६	स्वतन्त्र	तन्त्री
३६०	२२	प्रतिज्ञादते	प्रतिज्ञायते

-=★=-